भारत में स्थानीय प्रशासन

(LOCAL GOVERNMENT IN INDIA)

हरीशचन्द्र शर्मा एम० ए०

इंगलैंड में स्थानीय प्रशासन, फ्रांस में स्थानीय प्रशासन, अमेरिका में स्थानीय प्रशासन, भारत में लोक प्रशासन, तुलनात्मक लोक प्रशासन आदि पुस्तकों के लेखक

एवं

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की विचारभूमि, लोक प्रशासन के नये क्षितिज आदि पुस्तकों के सहलेखक

राजनीति शास्त्र विभाग

राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

कालेज बुक डिपो, जयपुर

विषय--सूची

PART—ONE

स्थानीय प्रशासन पर प्रारम्भिक विचार

[PRELIMINARY THOUGHTS ON LOCAL ADMINISTRATION]

PART—TWO

भारत में स्थानीय प्रशासन

[LOCAL GOVERNMENT IN INDIA]

PART – ONE

स्थानीय प्रशासन पर प्रारम्भिक विचार

[Priliminary Thoughts On Local Administration]

१. आधुनिक राज्य में स्थानीय सरकार का महत्व

२. स्थानीय निकायों का क्षेत्र एवं बनावट व विचारकर्त्ता एवं कार्य-पालिका शाखायें

१

आधुनिक राज्य में स्थानीय सरकार का महत्व

[IMPORTANCE OF LOCAL GOVT. IN MODERN STATE]

व्यक्ति को एक राजनैतिक प्राणी मानने वालों का कहना है कि व्यक्ति राज्य में ही जन्म लेता है, राज्य में ही बड़ा होता है तथा इसी में जीवन के सुख-दु:ख, आनन्द-क्लेप, उन्नति-अवनति आदि का अनुभव एवं अवगमन करता है और राज्य में ही उसका प्राणान्त हो जाता है। इन विचारकों की भाषा में केवल देवता अथवा जानवर ही राज्य की परिधियों से बाहर रह सकते हैं, किसी साधारण अथवा असाधारण व्यक्ति के लिए यह सर्वथा असम्भव है। राजनीति शास्त्र के विद्वान् 'राज्य' के मूलत: जिन चार आवश्यक तत्वों का उल्लेख करते हैं उनमें से ही एक 'सरकार' भी है। राज्य एवं व्यक्ति का अभिन्न सम्बन्ध तथा सरकार एवं राज्य का अटूट सम्पर्क तार्किक रूप से व्यक्ति एवं सरकार के बीच भी एक ऐसी कड़ी स्थापित कर देता है जिसके द्वारा एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही संदेहशील बन जाये। सरकार का कार्य, महत्व एवं उद्देश्य समय के अनुसार बदलता चला गया है। युग की आवश्यकताओं ने तथा व्यक्ति की आकांक्षाओं ने उसके जीवन में सरकार के स्थान का निश्चय किया है। फाईनर (Herman Finer) महोदय के कथनानुसार 'सरकार' किसी भी समाज द्वारा स्थापित कार्यों एवं यंत्रों की व्यवस्था है जो कि अपने भूभाग में सभी व्यक्तियों एवं समुदायों पर सर्वोच्च एवं अन्तिम नियंत्रण रखती है।[1] यह नियंत्रण मानव समाज में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना की दृष्टि से रखा जाता है। राज्य में रहने वाले सभी व्यक्ति अपनी योग्यताओं का यथासम्भव विकास कर सकें तथा कोई भी व्यक्ति अनुचित रूप से अपनी शक्तियों का प्रयोग करके इस प्रकार के विकास में बाधा न पहुंचाये—यह देखना राज्य का एक प्रमुख उत्तरदायित्व माना जाता है जिसे वह सरकार के माध्यम से सम्पन्न करता है।

---

1. "Govt. is the system of functions and machinery established by any society for the supreme and ultimate control of all individuals and groups within its territory."
—*Herman Finer*, English Local Govt.

अठारहवीं शताब्दी में राज्य के कार्यों एवं महत्व के सम्बन्ध में व्यक्तिवादी विचारधारा को प्रभावपूर्ण माना जाता था। इसके अनुसार सरकार को केवल सीमित कार्य ही सौंपे गये थे। व्यक्तिवादी विचारधारा के समर्थक राज्य को एक आवश्यक बुराई मानते थे और इसलिए उनका कहना था कि सरकार को बाह्य आक्रमणों एवं आन्तरिक उपद्रवों से व्यक्ति की रक्षा करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करना चाहिए क्योंकि वह इससे अधिक कुछ कर नहीं सकता, क्योंकि यह व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए घातक होगा तथा क्योंकि इससे व्यक्ति की कार्य करने की क्षमता एवं पहल पर घातक प्रभाव पड़ेगा। सरकार के कार्यों के इस सीमित स्वरूप के साथ यह जरूरी नहीं था कि उसके संगठन को व्यापक बनाया जाये। यद्यपि अपने पुलिस कार्यों का निर्वाह करने के लिए भी सरकार को केन्द्रीय संगठन एवं स्थानीय शाखाओं में विभाजित किया जाता था किन्तु यह विभाजन स्थानीय अंगों को किसी प्रकार की विशेष शक्ति नहीं देता था। लोक कल्याणकारी राज्य की मान्यता को महत्व प्राप्त होने के बाद जब राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक हो गया तो सरकार के स्थानीय अंगों का महत्व भी बढ़ने लगा। स्थानीय सरकारें नागरिकों के प्रतिदिन के जीवन की छोटी से छोटी आवश्यकता को पूरा करने में महत्वपूर्ण योगदान देने लगीं। समय की गति के साथ-साथ स्थानीय सरकार व्यक्ति के जीवन का एक अविभाज्य अंग बन गई जिसके सक्रिय सहयोग के बिना न केवल उसके व्यक्तित्व का समुचित विकास रुक सकता है वरन् उसके सामान्य जीवन के संचालन में भी अड़चनें आ सकती हैं। ऐसी स्थिति में कई बार यह प्रश्न विचारणीय बन जाता है कि किन परिस्थितियों ने स्थानीय सरकार को इतना अधिक प्रभाव एवं गौरवपूर्ण बना दिया जितना कि वे अब हैं तथा इनका संगठन ही क्यों किया गया? दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि स्थानीय संस्थाओं को क्यों स्थापित किया गया तथा इनका आधुनिक राज्य के संदर्भ में क्या महत्व है?—यह प्रश्न आज अत्यन्त सामान्य बन चुका है। इस प्रश्न का महत्व दो तथ्यों को देखते हुए और भी अधिक है। प्रथम तो इसलिए कि समय की मांग के अनुसार स्थानीय सरकारों को अधिक कार्य एवं उत्तरदायित्व सौंपना आवश्यक बन गया है और ऐसा तब तक नहीं किया जा सकता जब तक कि जनमत ऐसा करने की अनुमति न दे। दूसरे, स्थानीय सरकार के कार्यों की सफलता एवं सार्थकता के लिए जनता का अधिकाधिक सहयोग वांछनीय है और जब तक यह नहीं प्राप्त हो जाता उस समय तक इनका अच्छा से अच्छा संगठन भी निरर्थक रहेगा। इस सहयोग की प्राप्ति के लिए भी स्थानीय सरकार के महत्व एवं उपयोगिता का व्यापक रूप से प्रचार किया जाना अत्यन्त आवश्यक है।

स्थानीय सरकार का अर्थ
[The Meaning of Local Govt.]

स्थानीय सरकार को संगठित करने का कारण तथा उसका महत्व जानने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है कि उसके स्वरूप एवं अर्थ के सम्बन्ध में कुछ विचार कर लिया जाये। स्थानीय सरकार का अर्थ इसके

शब्दों से ही प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि यह वह सरकार होती है अथवा सरकार का वह अंग होता है जिसमें प्राय: स्थानीय लोगों द्वारा स्थानीय हितों की सिद्धि के लिए प्रयास किये जाते हैं। किसी भी देश की सरकार केवल केन्द्रीय संगठन द्वारा ही समस्त देश में शान्ति व्यवस्था बनाये रखने तथा जन जीवन के चहुंमुखी विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करने का कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता। ऐसा करने के लिए उसे हजारों स्थानीय सत्ताओं का सक्रिय सहयोग प्राप्त करना होता है। ये स्थानीय सत्तायें; जागते हुए-सोते हुए तथा कार्य करते हुए-खेलते हुए लोगों के जीवन को निरीक्षित निर्देशित एवं नियंत्रित करती हैं। ये सभी नागरिकों को कम से कम-स्तर की शिक्षा, स्वास्थ्य, कल्याणकारी सेवायें, सड़कें, शान्ति एवं सुरक्षा, सुन्दर वातावरण आदि प्रदान करती हैं। इनके कार्यों के क्षेत्र एवं विस्तार का वर्णन इतनी आसानी के साथ नहीं किया जा सकता। 'स्थानीय सरकार' शब्द को दो भिन्न अर्थों में समझा जा सकता है। मोन्टेग्यू हैरिस (Montagu Harris) के मतानुसार इन दो में से प्रथम तो यह उस सरकार की ओर इंगित करती है जो कि केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त तथा केवल उसी के प्रति उत्तरदायी स्थानीय एजेन्टों की एक देश के सभी भागों की सरकार होती है।[1] यह स्थानीय सरकार का एक रूप है। किन्तु यथार्थ में इसको केन्द्रीय व्यवस्था का ही एक भाग मानना अधिक उपयुक्त रहेगा। स्थानीय सरकार के इस रूप के लिए प्राय: स्थानीय राज्य सरकार (Local State Govt.) शब्द का प्रयोग किया जाता है। स्थानीय सरकार का एक दूसरा रूप वह है जहां कि स्थानीय निकाय स्वतन्त्र निर्वाचन द्वारा गठित होते हैं और राष्ट्रीय सरकार की सर्वोच्चता के आधीन रह कर ही कुछ मात्रा में शक्ति, स्वेच्छा एवं उत्तरदायित्व का उपभोग करते हैं। ऐसा करते समय उनकी निर्णय शक्ति पर उच्च सत्ता का नियंत्रण नहीं रहता है।[2] स्थानीय सरकार की शक्ति, स्वेच्छा, एवं उत्तरदायित्वों की मात्रा देश की स्थिति के अनुसार बदलती रहती है। कई बार इसे सामुदायिक स्वायत्तता का नाम भी दे दिया जाता है। किन्तु अधिकांश देशों में इसके लिए स्थानीय स्वायत्त शासन शब्द का प्रचलन है।

---

1. "The Govt. of all parts of a country by means of local *agents appointed and responsible only to the Central Govt.* This is local govt. of a kind, but is part of a centralized system and may be called "Local State Govt."."

—*G. Montagu Harris*, Comparative Local Govt,, P. 9

2. "Govt. by local bodies, freely elected, which, while subject to the supremacy of the national government are endowed in some respects with power, discretion and responsibility which they can exercise without control over their decisions by the higher authority."

—Ibid.

स्थानीय राज्य सरकार एवं स्थानीय स्वायत्त सरकार पदों के लिए कभी-कभी क्रमश: अनेकाग्रता (deconcentration) तथा विकेन्द्रीकरण (decentralization) शब्दों का प्रयोग किया जाता है। इन दोनों ही शब्दों का शाब्दिक अर्थ शक्ति को बांटने से है। एनसाईक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार आधुनिक स्थानीय सरकारों के दो महत्वपूर्ण पहलू हैं अर्थात् ये अनेकाग्रता एवं विकेन्द्रीकरण के अद्भुत समन्वय का परिणाम है जो कि केन्द्रीय सत्ता की सुविधा की दृष्टि से किया जाता है किन्तु ऐसा करते समय स्थानीय निकायों को यह आश्वासन प्रदान किया जाता है कि केन्द्र द्वारा सारी सत्ता का प्रयोग नहीं किया जायेगा। इसके अतिरिक्त स्थानीय सरकार राज्य के कार्यों का विभागीकरण है जो कि सेवाओं के क्षेत्रीय वितरण पर निर्भर करता है। शक्तियों का प्रादेशिक वितरण स्थानीय सरकार का मूल तत्व है।[1] कार्ल० जे० फ्रेडरिक (Carl. J. Friedrich) के मतानुसार यदि स्थानीय उद्देश्य की दृष्टि से देखा जाये तो 'स्वायत्त सरकार' स्थानीय समाज की एक प्रशासनिक व्यवस्था है जो कि व्यवस्थापन के नियमों द्वारा इस प्रकार विनियमित होती है कि सरकार की सत्ता का उस समय प्रतिनिधित्व करे जब कि वह स्थानीय रूप से सक्रिय है।[2] एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटेनिका के अनुसार स्थानीय सरकार का अर्थ है पूर्ण राज्य की अपेक्षा एक अन्दरूनी प्रतिबन्धित एवं छोटे क्षेत्र में निर्णय लेने एवं उनको क्रियान्वित करने की सत्ता। स्थानीय सरकार को इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि यह निर्णय लेने तथा कार्य करने की स्थानीयता की स्वतन्त्रता पर जोर देती है।[3]

स्थानीय सरकार की परिभाषा करते हुए एक अन्य लेखक जॉन जे. क्लार्क (John J. Clark) ने लिखा है कि स्थानीय सरकार एक राष्ट्र अथवा राज्य की सरकार का वह भाग होती है जो कि मुख्य रूप से ऐसे विषयों पर

---

1. "In Local Government, territorial distribution of power is the essence."

—Encyclopedia Britannica, 14.

2. "Looked at from the local end, Self Govt. is an administrative system of the [Local] community which is regulated by legislative norms in such a way as to represent the government's authority [Staatsgewalt] when it is locally active;.."

—*Carl J. Friedrich,* Constitutional Government and Democracy, 1966, P. 244.

3. "Local government means authority to determine and execute measures within a restricted area inside and smaller than the whole state. The variant Local Self-government is important for its emphasis upon the freedom of the locality to decide and act."

विचार करती है जिनका सम्बन्ध एक विशेष जिले या स्थान के लोगों से होता है। साथ ही यह उन विषयों पर भी विचार करती है जिन्हें संसद द्वारा इनके द्वारा प्रशासित होने के लिए निश्चित कर दिया जाये। ये स्थानीय सत्तायें केन्द्रीय सरकार के आधीन रह कर कार्य करती हैं। इन कार्यों का प्रशासन करने के लिए उत्तरदायी ठहराई गई ये स्थानीय सत्तायें प्राय: निर्वाचित होती हैं।[1] मि० एल० गोल्डिङ्ग के कथनानुसार स्थानीय सरकार को कई प्रकार से परिभाषित किया गया है किन्तु सम्भवत: इसकी सबसे सरल परिभाषा यही है कि यह एक बस्ती के लोगों द्वारा अपने मामलों का स्वयं ही प्रबन्ध है।[2]

स्थानीय सरकार को राष्ट्रीय स्वायत्त सरकार का आधार माना जाता है। इसके समर्थन में यह कहा जाता है कि राष्ट्रीय स्वायत्त सरकार के लिए मस्तिष्क की कुछ आदतों की जरूरत होती है तथा इसके लिए एक विशेष प्रकार का सार्वजनिक व्यवहार आवश्यक होता है। इन सब के लिए आवश्यक प्रशिक्षण स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्रदान किया जाता है। स्थानीय संस्थायें भावी नेताओं की पाठशालायें होती हैं जो कि उन्हें सही रूप से शासन व्यवस्था के संचालन का कार्य सिखाती हैं। यह विचार यद्यपि कुछ सत्यता रखता है किन्तु यह इतना महत्वपूर्ण नहीं है इस पर बहुत अधिक जोर दिया जाये। मि० ग्लेडस्टन (Gladstone) ने एक बार यह कहा था कि स्थानीय सरकार की प्रशिक्षण शाला से भारत के भावी नेता उत्पन्न हो सकते हैं। भारतीय नेता, जैसे गोखले एवं फिरोजशाह मेहता आदि इस मत के समर्थक थे। उन्हीं के शब्दों में—"हम स्थानीय सरकार को इसलिए महत्व प्रदान करते हैं कि यह विभिन्न जातियों एवं धर्मों के लोगों को एक सामान्य लक्ष्य के लिए कार्य करने की शिक्षा देती है।" भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अनेक सेनानियों ने स्थानीय सरकार संस्थाओं में प्रशिक्षण प्राप्त किया था। मि० आर० एम० जेक्सन (R.M.Jackson) स्थानीय सरकार

---

1. "Local Government is that part of the government of a nation or state which deals mainly with such matters as concern the inhabitants of a particular district or place together with those matters which Parliament has deemed it desriable should be administered by local authorities, subordinate to the Central Government.

   The Local bodies so charged with the administration of these functions are, in the main, elective."

   —*John J. Clarke*, The Local Government of the United Kingdom, 15th ed; 1955, P. 1

2. "Local Government has been defined in various ways, but perhaps the simplest definition is "the management of their own affairs by the people of a locality"

   —*L. Golding*, Local Government, English Universities Press Ltd., London, 1955., P. 19

की संस्थाओं को इतना अधिक महत्व प्रदान करने के पक्ष में नहीं हैं। वे यह मानते हैं कि ब्रिटिश संसदीय जीवन में अनेक ऐसे व्यक्तित्व देखने को मिलते हैं जिनको कि स्थानीय सरकार की संस्थाओं में प्रशिक्षण प्राप्त हुआ था किन्तु उनके कथनानुसार यह भी एक तथ्य है कि राष्ट्रीय स्तर के अनेक उल्लेखनीय राजनैतिक व्यक्तित्व ऐसे भी रहे हैं जिनका स्थानीय सरकार की संस्थाओं के साथ कुछ भी लेना-देना नहीं था। वे लिखते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार ब्रिटिश स्थानीय सरकार ने अपना वर्तमान रूप ग्रहण किया तथा यह अधिक प्रजातंत्रात्मक बन गई। इसका कारण यह है कि स्थानीय सरकार ने राष्ट्रीय सरकार का अनुगमन किया है, उसका नेतृत्व नहीं किया है।[1] जैक्सन महाशय का कहना है कि स्थानीय सरकार मूल रूप से समाज के लाभार्थ विभिन्न सेवाओं को सम्पन्न किया जाना है। यह एक व्यवहारिक व्यवसाय है और इस रूप में देखने पर ही हम इसकी सही प्रकृति को देख सकते हैं। यदि हम इसे नागरिकों को प्रशिक्षण देने वाले के रूप में देखेंगे तो इसका सही स्वरूप इतना दिखाई नहीं देगा।[2] दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि स्थानीय सरकार की संस्थायें मूल रूप से उस स्थान विशेष के निवासियों की सुख सुविधा एवं विभिन्न समस्याओं के निवारण का प्रयास करती हैं। इस बीच में यदि किसी कार्यकर्त्ता में नेतृत्व के गुणों एवं प्रशासकीय योग्यताओं का भी विकास हो जाये तो यह एक प्रासंगिक बात है।

स्थानीय सरकार के अर्थ का अध्ययन करते समय यह उचित रहेगा कि स्थानीय स्वायत्त सरकार (Local Self-Govt.) और स्थानीय स्वायत्त प्रशासन (Local Self-Administration) के बीच स्थित अन्तर को समझ लिया जाये। डा० गोयेज (Goetz) के मतानुसार 'स्वायत्त सरकार' शब्द केवल साम्प्रदायिक प्रशासन का ही द्योतक है। दूसरे शब्दों में 'स्वायत्त सरकार' स्वायत्त शासन से कुछ कम है। इसके विपरीत मोन्टेग्यू हैरिस (Montagu Harris) के मतानुसार सत्यता इसके विपरीत है। इनका कहना है कि स्थानीय स्वायत्त शासन केवल वहीं रहता है जहां पर कि स्थानीय स्वायत्त सरकार होती है।

---

1 "As a matter of historical fact, English Local Government took its present form and was made more democratic because Parliament has become more democratic. Local government has followed national government and has not led it."

—*R. M. Jackson*, The Machinery of Local Government, 1958, P. 1

2. "Local Government is essentially a method of getting various services run for the benefit of the community. It is a practical business, and if we *think of it in this way*, we are more likely to see its real nature than if we think in terms of training for citizenship."

स्थानीय सरकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

[The Historical Backgrourd of Local Govt.]

स्थानीय सरकार का संगठन जैसा कि हमें आज विश्व के अधिकांश विकसित देशों में प्राप्त होता है, एक लम्बे विकास का परिणाम है। जिन परिस्थितियों में स्थानीय सरकार की स्थापना हुई उन्हीं के विकास ने इसके संगठन को भी विभिन्न मोड़ प्रदान किये तथा समय-समय पर इनके रूप को ढाला और संवारा। आज प्रायः सभी सभ्य देशों में स्थानीय सरकार का रूप एक जैसा ही प्रतीत होता है। कई बार स्थानीय सरकार के संगठन तथा कार्य प्रणाली की तुलना एक ऐसे बड़े व्यापार से की जाती है जो कि राष्ट्रव्यापी अथवा अन्तर्राष्ट्रीय कार्य-क्षेत्र रखता है और जिसने अपने कार्य संचालन के लिए अनेक स्थानों पर विभिन्न कार्यालय खोल रखे हैं। इन स्थानीय शाखाओं को समय-समय पर मुख्यकार्यालय से आदेश एवं निदेश प्राप्त होते रहते हैं तथा वे उससे प्रभावित होकर कार्य संचालित करती हैं। जो तत्व एवं आवश्यकतायें एक बड़े स्तर के व्यापार को स्थानीय शाखायें खोलने के लिए बाध्य अथवा प्रेरित करते हैं सम्भवत वे ही मिलकर एक देश की केन्द्रीय सरकार को स्थानीय सरकारों का संगठन करने के लिए प्रभावित करती हैं। केन्द्रीय सरकार अपनी शाखाओं को कितनी स्वतंत्रता प्रदान करेगी तथा उन पर केन्द्र का कितना नियंत्रण रहेगा यह बात परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित की जाती है।

राज्य के उद्भव काल में, जबकि उसका आकार, कार्य क्षेत्र एवं उत्तरदायित्व कम होते थे उन्हें ये स्थानीय शाखायें नियुक्त करने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इन छोटे राज्यों में इनके कार्यों का प्रशासन केवल एक ही केन्द्रविन्दु से विस्तार के साथ संचालित किया जाता था। स्थानीय सरकार का अस्तित्व नहीं था। प्रारम्भिक विश्व–राज्य अर्वाचीन काल के राज्यों की तुलना में बहुत छोटे होते थे। उनकी शासन व्यवस्था के संचालन के लिए एक छोटी सी परिषद तथा एक राजा ही काफी होता था। केन्द्रीय एवं स्थानीय–दोनों ही स्तर के कार्यों का सम्पादन ये आसानी से कर सकते थे। मि. जैक्सन (W. E. Jackson) के कथनानुसार यह कहना सच है कि सभ्यता के प्रारम्भिक दिनों में सभी सरकारें स्थानीय होती थीं क्योंकि प्रशासित किये जाने वाले क्षेत्र छोटे थे। केन्द्रीय सरकार को तो स्थानीय अधीनस्थ सहायता की आवश्यकता उस समय हुई जबकि राष्ट्र बड़े हो गये तथा कार्य अधिक जटिल बन गये।[1]

---

1. "In a sense it is true to say that in the early days of civilization, all government was local; for the areas to be governed were small. It is when nations grow big, and affairs become more complex, that the Central government needs Local Subordinate help."

—*W. Erick Jackson*, Local Government in England, 1951 P. 11.

सभ्यता के विकास के साथ-साथ राज्य के रूप एवं उत्तरदायित्व में भी क्रान्तिकारी रूप से परिवर्तन हुए। प्रारम्भ में शक्ति एवं व्यवस्था को सरकार की एक मुख्य विशेषता माना जाता था। सरकार का नाम सुनते ही जिस संस्था का चित्र सामने खड़ा हो जाता था वह आतंक, सत्ता, विनाशकारी शक्ति, दमन आदि से पूर्ण था। राजा का कार्य मुख्य रूप से केवल यही था कि वह चोरों, लुटेरों, धोखेबाजों, हत्यारों, एवं अन्य प्रकार की बदमाश प्रकृति के लोगों को पकड़ कर दण्ड दे। साथ ही वह अन्य राज्यों के आक्रमण से भी नागरिकों की रक्षा करे। ज्यों-ज्यों एक राजा का राज्य-क्षेत्र बढ़ता गया तथा उसका साम्राज्य व्यापक बनता गया त्यों-त्यों उसके साम्राज्य के विभिन्न भागों में शासन का संचालन करने के लिए स्थानीय सहायता की आवश्यकता भी बढ़ती गई। आवागमन के साधनों के अभाव एवं संचार व्यवस्था के समुचित रूप में न होने के कारण केन्द्रीकृत व्यवस्था दूरस्थ प्रदेशों के शासन का समुचित प्रबन्ध नहीं कर सकती थी। इस समस्या के समाधान के रूप में स्थानीय स्तर पर वहीं के निवासियों की कुछ संस्थायें संगठित की गई जो केन्द्रीय निर्देशन एवं आदेश के आधार पर स्थानीय समस्याओं को सुलझा सकें। प्रारम्भ में जिन स्थानीय संस्थाओं का जिस रूप में संगठन किया गया था वे भूल और सुधार की प्रक्रिया के आधार पर विकसित होती चली गई तथा उन्होने वर्तमान ग्रहण कर लिया। स्थानीय समस्याओं में ज्यों ही परिवर्तन होते त्यों ही उनसे सम्बन्धित संस्थायें भी असामयिक बन जाती थी और उनको सार्थकता प्रदान करने के लिए उनके संगठन तथा कार्यों में आवश्यक परिवर्तन किये जाते। इसी प्रक्रिया बढ़ते-बढ़ते ये संस्थायें वर्तमान के द्वार पर आकर पहुंच गई। जो स्थानीय संस्था में प्रारम्भ में बहुत कुछ देहाती इलाकों के लिए बनाई जाती थी वे ही बाद में चल कर बहुत कुछ शहरी क्षेत्रों पर केन्द्रित होती चली गई। जैक्सन महाशय के शब्दों में असल में यह कहना सच है कि आधुनिक स्थानीय सरकार बहुत कुछ एक शहरी मामला है।[1] स्थानीय सरकार के रूप में इतना अधिक परिवर्तन के बाद भी यह एक तथ्य है कि उसका वर्तमान रूप अपने अतीत का बहुत कुछ ऋणी है। यदि हम किसी देश की स्थानीय संस्थाओं के वर्तमान रूप का अध्ययन करना चाहें तो इसके लिए इन संस्थाओं को हमें ऐतिहासिक प्रसंग में देखना चाहिए। क्योंकि यद्यपि इन संस्थाओं का वर्तमान रूप, संविधान शक्तियां एवं कर्त्तव्य आदि आधुनिक कानून द्वारा निश्चित किये गये हैं किन्तु कोई भी कानून देश के इतिहास से अलग रहकर अपने आपको निराधार नहीं बनाना चाहता। इन देशों में स्थानीय सरकार की बनावट बहुत कुछ प्रशासन के उन क्षेत्रों पर आधारित है जो प्राचीन काल में भी कुछ अन्तर के साथ सक्रिय थे। आज स्थानीय संस्थायें जिन उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती हैं उनमें से अधिकांश के साथ पहले भी उनका सम्बंध था।

---

1. "In fact it is true to say that modern local government is very largely an urban affair."

—*W. E. Jackson.*, op. cit., P. 12

स्थानीय सरकार का महत्व

[The importance of Local Govt.]

आधुनिक काल में, जबकि समाजवादी विचारधारा एवं कल्याणकारी राज्य की मान्यता के कारण राज्य के कार्यों में उल्लेखनीय रूप से विस्तार हो गया है, यह कल्पना करना भी अव्यावहारिक ही रहेगा कि केवल केन्द्रीय स्तर पर से ही प्रशासन के समस्त कार्यों को सम्पन्न किया जा सके। यदि ऐसा करने का प्रयास भी किया गया तो यह न केवल प्रभावहीन रहेगा वरन् इसके कई एक गलत परिणाम भी उत्पन्न हो सकते हैं। जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) का कहना था कि एक देश के सार्वजनिक कार्यों का एक छोटा भाग ही ऐसा होता है जिसे केन्द्रीय सत्ताओं द्वारा अच्छी प्रकार से एवं सुरक्षित रूप से किया जा सके।[1] उन्होंने ग्रेट ब्रिटेन की सरकार को उदाहरण के लिए प्रस्तुत करते हुए बताया है कि यह योरोप की सर्वाधिक केन्द्रीयकृत सरकारों में से एक है किन्तु यहाँ भी राज्य की सर्वोच्च शक्ति को अनेक छोटी-छोटी इकाइयों में विभाजित कर दिया गया है। केन्द्रीय सरकार स्थानीय विषयों के प्रशासन को संचालित करने में दो कारणों से असमर्थ रहती है। प्रथम तो उसके पास रहने वाला समय का अभाव है। केन्द्रीय संसद में व्यक्तिगत या गैर सरकारी काम, काज में एक बहुत बड़ा समय ले लिया जाता है। इसके विभिन्न सदस्यों द्वारा एक विषय पर जब विचार प्रकट किये जाते हैं तो उसमें भारी समय व्यतीत हो जाता है। अनेक विचारक इसे एक बुराई मानते हैं किन्तु जब तक यह एक तथ्य है तब तक केन्द्रीय सरकार स्थानीय समस्याओं में अपना ध्यान केन्द्रित नहीं कर सकती। एक ही केन्द्रीय सरकार द्वारा सारे देश की प्रशासनिक समस्याओं को नहीं सुलझाया जा सकता। इसका एक अन्य कारण यह है कि ये समस्यायें स्थान-स्थान पर बदलती रहती हैं। प्रत्येक स्थान के लिए केवल एक जैसी प्रशासनिक नीतियाँ अपनाना पूर्णतय: अन्य अव्यवहारिक समझा जायेगा क्योंकि ऐसा करने से शक्ति, साधन, श्रम एवं समय का दुरुपयोग होने की सम्भावना रहेगी। स्थानीय समस्याओं के बीच भारी विभिन्नतायें रहती हैं इनके साथ जब तक भिन्न-भिन्न प्रकार से व्यवहार न किया जाय तब तक आशा जनक फल प्राप्त होने की आशा नहीं की जा सकती। एक केन्द्रीय सरकार द्वारा जो कार्य किये जाते हैं यदि उन सभी को एक साथ मिलाकर देखा जाये तो भी इतने कार्य शेष रह जाते हैं कि शक्ति-विभाजन के सिद्धांत को अपनाते हुए स्थानीय एवं केन्द्रीय सरकार के बीच कार्यों का वितरण करना अत्यन्त आवश्यक बन जायेगा। शुद्ध रूप में स्थानीय श्रेणी में आने वाले कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पृथक कार्य-

---

1. 'It is but a small portion of the public business of a country which can be well done or safely attempted, by the Central authorities."

—*J. S. Mill*, Consideration on Representative Govt. Forum Books, Inc New York, 1958, P. 212.

पालिका अधिकारियों की आवश्यकता होती है। इन के ऊपर रखा गया सार्वजनिक नियन्त्रण भी तभी लाभप्रद माना जा सकता है जब कि वह एक पृथक इकाई द्वारा रखा जाये। जॉन स्टुअर्ट मिल के शब्दों में इन स्थानीय संस्थाओं की मौलिक नियुक्ति, उनकी देखभाल एवं रोकथाम का कार्य, उनके कार्य संचालन के लिए आवश्यक सामग्री प्रदान करने अथवा न प्रदान करने का उत्तरदायित्व राष्ट्रीय संसद अथवा राष्ट्रीय कार्यपालिका का न होकर बस्ती की जनता का होना चाहिए।[1]

स्थानीय सरकार के महत्व के सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने अपना-अपना मत प्रकट किया है। इन विचारकों के बीच कई बातों पर मतैक्य है जब कि कुछ एक बात किसी-किसी ने अपूर्व रूप से कही है। महत्व के विभिन्न पहलुओं का वर्णन करते समय प्रभावशीलता एवं प्राथमिकता की दृष्टि से भी इनके मतों के बीच भारी असमानता विद्यमान है। स्थानीय सरकार एवं उसकी विभिन्न संस्थाओं के महत्व का एक समग्र तथा संतुलित रूप में अध्ययन करने के लिए यह अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है कि इनमें से मुख्य विचारकों के मतों का संक्षेप में अध्ययन कर लिया जाये।

१. जे० एस० मिल का मत (According to J. S. Mill):—जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाओं पर अपने विचार प्रस्तुत करते समय इन संस्थाओं के महत्व से सम्बन्धित कुछ बातें भी कहीं हैं। उनके मत का मन्थन करने के बाद जो निष्कर्ष प्राप्त होते हैं उनमें सर्वप्रथम यह है कि स्थानीय सरकार द्वारा प्रशासनिक यंत्र को वह समर्थता प्रदान की जाती है जिसके द्वारा वह अपने लक्ष्य प्राप्ति की दिशा में सुविधाजनक रूप से अग्रसर हो सके। यदि स्थानीय सरकार की ये संस्थायें न हों तो एकमात्र केन्द्रीय कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका सारे देश के प्रशासन को कार्यकुशलता, ईमानदारी, शीघ्रता, उपयुक्त एवं जनहितपूर्ण रूप से नहीं चला सकतीं। स्थानीय समस्याओं की सही प्रकृति को समझने में ही उसे इतना समय लग सकता है कि जब तक वह कोई कदम उठाये उस समय तक उस समस्या का सुलझना ही दुरूह बन जाये। इस व्यवस्था का दोष केवल समय की देरी तक ही सीमित नहीं है। इसके अतिरिक्त इनका स्थानीय समस्या को समझपाना भी संदिग्ध रहता है। स्थानीय संस्थाओं का संगठन इन सारे दोषों को दूर करने का यद्यपि एकमात्र कदम अथवा रामबाण औषधि नहीं कहा जा सकता तो भी यह एक तथ्य है कि यह कदम (एक प्राथमिक कदम है) और जब तक इसे नहीं उठाया जाता

---

1. "Their original appointment the function of watching and checking them, the duty of providing or the discretion of with holding, the supplies necessary for their operations should rest, not with the national Parliament or the nationa,l executive, but with the people of the locality."

—*J, S, Mill,* op. cit, P. 213

उस समय तक इस दिशा में किये गये अन्य सभी प्रयास प्रायः निरर्थक ही रहेंगे। स्थानीय संस्थाओं की स्थापना का एक दूसरा महत्व यह है कि इनके माध्यम से जनता को महत्वपूर्ण राजनैतिक एवं प्रशासनिक शिक्षा प्राप्त होती है। स्वतन्त्र संस्थाओं का कार्य सदैव ही प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से जनता को अनेक प्रकार का शिक्षण प्रदान करता है। अधिक से अधिक स्थानीय नागरिक इन संस्थाओं के सम्पर्क में आते हैं। उनको कार्य करने की प्रणालियों के अतिरिक्त स्वयं के अधिकारों एवं कर्तव्यों का ज्ञान होता है। इसके अतिरिक्त प्रजातन्त्र का यह सिद्धान्त कि-जूता पहनने वाला ही इस बात को भली प्रकार जानेगा कि वह कहाँ चुभता है इन संस्थाओं के माध्यम से साकार किया जा सकता है। सामान्यतः यह देखा जाता है कि अधिकांश लोग समाज के सामान्य मामलों के आचरण में व्यक्तिगत रूप से भाग नहीं ले पाते। साधारण नागरिक को प्रायः निर्वाचन के समय ही राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है जब कि वह समाचारपत्र पढ़ता है तथा उनके लिए अपने विचार लिखकर भेजता है, साथ ही बड़े-बड़े नेताओं द्वारा दिये जाने वाले भाषणों को सुनता है। राष्ट्रीय स्तर पर जब ये सभी कार्य होते हैं तो जनता को पूरी तरह अधिक समय तक शिक्षा प्राप्त नहीं हो पाती। स्थानीय संस्थाओं के कारण आम जनता को चुनाव करने का एक अतिरिक्त अवसर हाथ आता है। इसके अतिरिक्त अनेक नागरिकों को चुने जाने का अवसर भी प्राप्त होता है। स्थानीय कार्यपालिका में अनेक कार्यालय होते हैं उन पर चुनाव द्वारा अथवा प्राथमिकता द्वारा नियुक्त होकर अधिकांश नागरिक कार्य का अनुभव प्राप्त करते हैं। इन पदों पर रहकर स्थानीय व्यक्तियों को जनहित एवं समाज कल्याण के लिए कार्य करने होते हैं। वास्तविक व्यवहार का निरीक्षण करने के बाद कई विचारकों ने यह मत प्रस्तुत किया है कि राज्य के सामान्य मामलों की अपेक्षा स्थानीय विषयों में अधिक मानसिक संतुलन रहता है।

स्थानीय संस्थायें जो कार्य करती हैं उनके सम्बन्ध में अधिक खतरा नहीं रहता। यदि उनका संविधान उचित रूप से बना दिया जाये तो वे ठीक प्रकार से कार्य करती रह सकती हैं। इन संस्थाओं पर जो सिद्धान्त लागू होते हैं, वे मूल रूप से राष्ट्रीय स्तर की संस्थाओं जैसे ही होते हैं। यदि एक देश की स्थानीय संस्थायें ठीक प्रकार से कार्य कर रही हैं तो वहां इस बात की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं कि वहाँ की राष्ट्रीय सरकार भी सफलता एवं सार्थकता के साथ कार्य कर सकती है।

स्थानीय संस्थाओं का यथेष्ठ लाभ उस समय प्राप्त हो सकेगा जब कि उनको निर्वाचित रखा जाये। यदि इन संस्थाओं को हम अधिकाधिक प्रजातंत्रात्मक आधार देना चाहते हैं तो इसके लिए इन संस्थाओं का रूप निर्वाचित ही रखना पड़ेगा। स्थानीय संस्थाओं का एक मुख्य कार्य यह भी होता है कि वे कर का संग्रह भी करें। इसीलिए यह जरूरी हो जाता है कि जो लोग कर देते हैं उन सभी को मताधिकार प्रदान किया जाये। स्थानीय संस्थायें प्रायः अप्रत्यक्ष कर नहीं लगातीं और लगाती भी हैं तो वह अपेक्षा

कृत गौण होता है स्थानीय संस्थायें जनता के धन का दुरुपयोग करने के अवसर बहुत कम रखती है। यदि वे कभी ऐसा प्रयास भी करें तो शीघ्र ही उनके विरुद्ध प्रतिक्रिया होने लगती है। राष्ट्रीय स्तर पर किये जाने वाले कई बड़े-बड़े घोटालों का भी बहुत दिन बाद में पता लग पाता है। किन्तु स्थानीय स्तर पर यह बात नहीं होती। यहाँ जनता का निकट का सम्बन्ध रहता है तथा अनेक लोगों के आर्थिक हित इनमें उलझे रहते हैं जिसके कारण ये लोग इन संस्थाओं की क्रियाओं का निकट से निरीक्षण करते हैं।

स्थानीय संस्थाओं के संगठन के पक्ष में एक तर्क यह दिया गया है कि इनसे समय, साधन एवं शक्ति के अपव्यय पर रोक लग जाती है। यह तर्क देखने में तो अजीब सा लगता है तथा एकाएक गले से नीचे नहीं उतर पाता किन्तु असल में यह एक वास्तविकता है। यह सच है कि अलग-अलग स्थान के लिए पृथक संस्थायें बनाने, उनका निर्वाचन कराने, उनके लिए अलग से कार्यकर्त्ता एवं पर्यवेक्षणकर्त्ता नियुक्त करने में भारी व्यय करना पड़ता है। किन्तु यह सब अपव्यय नहीं कहा जा सकता क्योंकि इस सबका प्रतिदान प्राप्त हो जाता है। इसके विपरीत यदि हम इन संस्थाओं का संगठन नहीं करेंगे तो एक ही केन्द्रीय यंत्र से सारे देश का प्रशासन संचालित करना पड़ेगा। ऐसा करने में स्थानीय समस्याओं एवं विभिन्नताओं को उनका उपयुक्त स्थान प्रदान नहीं किया जा सकेगा। एक जैसे व्यवहार के चाहे अपने कुछ भी लाभ हों किन्तु इसका एक स्पष्ट दुष्परिणाम तो यह है कि प्रशासन एक ऐसे स्थान को भी इस आधार पर वही चीजें एवं सुविधायें प्रदान करेगा जो कि उसने दूसरे स्थान को प्रदान हैं सभी के साथ समान व्यवहार किया जाना चाहिए; इस प्रकार यह उस स्थान की दृष्टि से अपव्यय ही माना जायेगा। स्थानीय संस्थाओं के द्वारा स्थानीय विभिन्नताओं को पर्याप्त स्थान प्रदान करके यह अपव्यय रोका जा सकता है।

इन सभी तर्कों के आधार पर स्थानीय संस्थाओं के महत्व एवं उपयोगिता का वर्णन करते हुए 'मिल' महाशय ने बताया है कि इन संस्थाओं को केन्द्रीय नियंत्रण से यथा सम्भव स्वतंत्रता प्रदान की जानी चाहिए। स्थानीय संस्थाओं का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य स्थानीय जनता को सामाजिक एवं राजनैतिक शिक्षा प्रदान करना होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए यह जरूरी है कि उनके कार्यों को सम्पन्न करने के हेतु उन्हें पूरी स्वतंत्रता दी जाये चाहे उनकी सम्पन्नता का स्तर कितना ही अपूर्ण एवं हल्का क्यों न हो। एम० चार्ल्स डी रेमसट [M. Charles de Remusat] को उल्लेख करते हुए 'मिल' महाशय ने बताया है कि जो सरकार सब कुछ स्वयं ही करने का प्रयास करती है उसकी तुलना एक ऐसे स्कूल अध्यापक से की जानी चाहिए जो अपने विद्यार्थियों के सारे कार्यों को स्वयं ही कर देता है। वह अध्यापक अपने विद्यार्थियों में बहुत लोकप्रिय हो सकता है किन्तु असल ये वह उनको बहुत कम सिखा पायेगा।[1]

1. "A government which attempts to do everything is aptly oompared by M. Charles de Remusat to a school master who does all the pupils' tasks for tor them; ae way betvero popular with the pupils, but he will teach them little."
—*G, S. Mill*, op. cit , P. 228.

२. जी० मोन्टेग्यू हैरिस का मत [According to G. Montagu Harris]—मि० हैरिस का कहना है कि अधिक से अधिक प्रतिक्रियावादी देश में भी स्थानीय सरकार आवश्यक रूप से रहती है। एक बड़े देश में प्रशासन का सारा कार्य केवल एक ही केन्द्र से सम्पन्न नहीं किया जा सकता।[1] यही कारण है कि एक विशेष क्षेत्र के प्रशासन की कुछ शाखाओं का कार्य संचालित करने के लिए केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त तथा उसी के प्रति उत्तरदायी, उसी के एजेन्ट रहते हैं। यद्यपि स्थानीय सरकार का यह सही रूप नहीं है क्योंकि इसमें उन प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण आदर भाव नहीं रखा गया है जो कि स्थानीय संस्थाओं का आधार माने जाते हैं। स्थानीय सरकार का यह रूप पूर्णतावादी राज्यों (Totalitarian States) में पाया जाता है। अप्रजातंत्रात्मक प्रकृति होते हुए भी यहाँ इन संस्थाओं का अस्तित्व यह सिद्ध करता है कि ये प्रत्येक देश के लिए अपरिहार्य हैं।

३. हर्मन फाइनर का मत [According to Finer]:—प्रसिद्ध सांविधानिक लेखक हर्मन फाइनर के विचारानुसार जब हम प्रशासन में एकसापन लाना चाहते हैं तो केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति का प्रभाव बढ़ जाता है किन्तु स्थानीय समस्यायें अनेकरूपी होती हैं इसलिए कुछ सीमा तक एकसापन को और इस प्रकार केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को रोकना जरूरी हो जाता है। जब एक व्यवस्था को स्थानीय आवश्यकताओं के अनुरूप बनाने की मांग जोर पकड़ती है तो स्वतन्त्र रचनात्मक प्रवृत्ति जन्म लेती है, जिसके परिणाम स्वरूप स्थानीय, व्यक्तिगत एवं स्वभावगत अन्तरों को भी महत्व दिया जाने लगता है। इन सबके फलस्वरूप सरकार का रूप लचीला हो जाता है। वह व्यक्तिगत एवं विशेषीकृत परिस्थितियों के संदर्भ में तथावत् होने की आदत डाल लेती है। निष्कर्षरूप में यह कहा जा सकता है कि स्थानीय सरकार केन्द्रीकरण के बढ़ते हुए खतरे के प्रति प्रतिक्रिया है।[2] मि० फाइनर के मतानुसार स्थानीय सरकार की स्थापना से व्यय में बचत हो जाती है। उनका कहना है कि प्रत्येक देश में, चाहे उसकी शासन व्यवस्था का रूप कुछ भी क्यों न हो, किसी न किसी प्रकार के जनसम्पर्क की आवश्यकता तो अवश्य ही रहती है। स्थानीय स्तर की जनता के साथ एक सम्पर्क बनाये रखने के लिए यदि केन्द्रीय सरकार को माध्यम बनाया जाये तो वह अत्यन्त खर्चीला पड़ता है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार इसमें वांछित रुचि भी नहीं ले पायेगी। स्थानीय सरकार के संगठन का एक अन्य

---

1. "Even in the most reactionary states, local government necessarily existed, for, in a large country, all the business of administration cannot be carried on from one centre."
—*G. Montagu Harris*, 'Comparitive Local Govt." P. 10.

2. "Local government is a reaction to increasing danger of centralisation."
—*Herman Finer*, 'English Local Government.

लाभ यह बताया गया है कि इसके द्वारा उस कठोर स्तरीकरण, नियमबद्धता एवं औपचारिकता की समाप्ति हो जाती है जो कि इसके अभाव में केन्द्रीय शासन के अधीन हो सकता था। स्थानीय सरकार की संस्थायें उन स्थान के लोगों की अपनी संस्थायें होती हैं जिनमें किसी प्रकार के भय, घृणा एवं विध्वंसकारक प्रवृत्तियों के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता।

४. मि० जेक्सन का मत [According to W. Eric Jackson] :– जेक्सन महाशय की यह मान्यता है कि स्थानीय सरकार का सम्बन्ध प्रत्येक से होता है। एक देश का प्रत्येक स्त्री-पुरुष, बच्चा तथा बुड्ढा किसी न किसी समय किसी भी रूप में स्थानीय सरकार के कार्यों से अवश्य ही प्रभावित होता है। एक स्थान के नागरिकों का कल्याण एवं प्रगति बहुत कुछ इस पर अवलम्बित रहती है कि वहाँ की स्थानीय संस्थायें कितनी सक्रिय एवं प्रभावशील हैं। स्थानीय सरकार के कार्य हमको विभिन्न दिशाओं से प्रभावित करते हैं। जीवन की अनेक आवश्यकताओं को पूरा करके यह अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध होती है। शहर से महामारी को रोकना, अग्नि दुर्घटना का बचाव करना, बच्चों के स्कूल का प्रबन्ध करना, नागरिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना, सार्वजनिक सड़कों का निर्माण एवं सफाई आदि कार्य स्थानीय संस्थाओं के ही जिम्मे होते हैं। ये सभी कार्य अच्छी प्रकार से किये गये हैं अथवा बुरे प्रकार से, इस बात से सभी निवासियों की प्रसन्नता प्रभावित होती है। इस प्रकार स्थानीय सरकार के महत्व का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारण वे सेवायें बताई जा सकती हैं जो कि इसके द्वारा प्रदान की जाती हैं। स्थानीय सरकार का दूसरा महत्व यह है कि इसकी प्रकृति प्रजातंत्रात्मक होती है। स्थानीय परिषदें जनता द्वारा चुनी जाती हैं। इनके माध्यम से लोगों को यह शक्ति प्राप्त हो जाती है कि वे स्थानीय सेवाओं के संचालन से अपने हितों की रक्षा कर सकें।[1] प्रजातंत्रात्मक प्रकृति के द्वारा ये संस्थायें अपने कार्यकर्त्ता एवं उपभोक्ता दोनों को ही पर्याप्त रूप से लाभान्वित कराती हैं। स्थानीय सरकार के महत्व का एक तीसरा आधार वर्तमान काल की जटिलताओं को भी बताया जाता है जिनके कारण इनका संगठन एक महती आवश्यकता बन गया है। जिस समय ये जटिलतायें अपने वर्तमान उग्र रूप में नहीं थीं उस समय स्थानीय सरकार की आवश्यकता का अनुभव ही नहीं किया जाता था। धीरे-धीरे जब यूनान के नगर राज्यों ने आज के विशाल राष्ट्रीय राज्यों का रूप धारण कर लिया तो केन्द्रीय सरकार को अपने मातहत स्थानीय संस्थाओं की सहायता लेना जरूरी बन गया। स्थानीय सरकार का एक अन्य महत्व यह है कि इसके द्वारा जो कार्य किये जाते हैं वे कुल मिलाकर एक व्यक्ति को सभ्य नागरिक की श्रेणी में लाने का कार्य करते हैं। जेक्सन लिखते हैं

---

1. "*Local government is* democratic. The local ouncils are elected by the people. The people *therefore have it in* their hands to guard their own interests in the working of the local services."
   —*W. E. Jackson*, Local Government in; England P. 7.

कि उनका मुख्य सम्बन्ध उससे रहता है जिसे कि एक सभ्य समाज का घरेलू कार्य कहा जा सकता है।[1] स्थानीय संस्थायें निवास स्थान को ऐसा बनाती हैं जहाँ कि रहा जा सके, गलियों को साफ कराती हैं, घरों का निर्माण ठीक प्रकार से कराती हैं, युवकों एवं वृद्धों के मनोरंजन के लिए बगीचे लगाती हैं, बालकों को शिक्षा प्रदान करती हैं, बीमारों को राहत प्रदान करती हैं, गरीबों तथा वृद्धों की देखभाल करती हैं। ये सभी स्थानीय सरकार के कार्य हैं। ये कार्य इतने आवश्यक एवं महत्वपूर्ण हैं कि इनको भली प्रकार सम्पन्न किये बिना कोई भी देश अपने आपको सभ्य कहने का साहस नहीं कर सकता।

स्थानीय संस्थाओं द्वारा जो सेवायें प्रदान की गई हैं उनके माध्यम से स्थानीय उत्तरदायित्व एवं स्थानीय देशभक्ति की भावना का विकास हुआ है। स्थानीय संगठनों का प्रजातंत्रात्मक रूप नागरिकों को स्वायत्त शासन के क्षेत्र में शिक्षित करने का महत्वपूर्ण कार्य करता है। इसके अतिरिक्त वर्तमान समाज के लिए आवश्यक सेवाओं की बढ़ती हुई जटिलता ने भी यह उचित बना दिया है कि अर्थ-स्वतन्त्र स्थानीय संगठनों का उपयोग किया जाये जिनको कि थोड़ी बहुत स्वेच्छा एवं उत्तरदायित्व के अधिकार दिये जायें तथा इन पर केन्द्रीय सरकार का केवल सीमित पर्यवेक्षण रखा जाये। यह व्यवस्था उससे अच्छी है जिसमें कि सभी सेवाओं के प्रशासन का भार केन्द्रीय मेज पर डाल दिया जाता है।[2]

५. लास्की का मत [According to Harold J. Laski]:— प्रसिद्ध राजनीतिक विचारक लास्की महोदय का कहना है कि यदि सैद्धान्तिक रूप से देखा जाये तो इसका कोई कारण नजर नहीं आता कि सरकार के सभी आवश्यक कार्यों को क्यों नहीं एक ही निकाय को सौंप दिया जाये। इस निकाय द्वारा स्थानीय अधिकारी नियुक्त किये जा सकते हैं जो कि

---

1. "Their chief concern is with what may be called the domestic work of a civilized community."

—*W. E. Jackson*, op cit., P. 13

2. "It has inculcated a sense of local responsibility and local patriotism; the fact that these local organisation were to some extent democratic has had an educative effect in nurturing citizens in the practice of Self-Government; and, further the growing complexity of the services which modern communities have come to regard as essential has made it more suitable to make use of semi-independent local organisations, with a certain measure of discretion and responsibility and subject to only limited supervision from the Central Government, rather then to burden the central machine with the administration of all services through its own local officers and branches."

—*W. E Jackson*, op. cit, I P 16–17

प्रत्यक्ष रूप से इसको प्रतिवेदन प्रस्तुत करें तथा इसके निर्देशन के अनुसार आवश्यक सुझावों को व्यवहृत करें। ऐसा किया जा सकता है और कुछ देशों में किया भी जाता है किन्तु इस व्यवस्था की अपनी कुछ समस्यायें हैं। यदि स्थानीय संस्थाओं को शक्ति न सौंपी जायें तो इससे उनकी रचनात्मक शक्ति एवं पहल करने की प्रवृत्ति पर विरोधी प्रभाव पड़ेगा। इसके अतिरिक्त यह स्थानीय ज्ञान एवं स्थानीय रूचि के उस स्रोत को भी रोक देगा जिसके बिना स्थानीय संस्थायें अपना कार्य बखूबी नहीं कर सकतीं। स्थानीय सरकार का दूसरा महत्व यह है कि इसके माध्यम से ही प्रजातंत्र का पूरा-पूरा लाभ उठाया जा सकता है। लास्की के कथनानुसार किसी भी राज्य में स्थानीय सरकार की शक्तिशाली व्यवस्था की आवश्यकता विवाद के परे की बात है। वे लिखते हैं कि हम प्रजातंत्रात्मक सरकार का पूरा लाभ तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि यह मानना प्रारम्भ न कर लें कि सभी समस्यायें केन्द्रीय समस्यायें नहीं होतीं तथा जो केन्द्रीय घटनायें नहीं होतीं उनके परिणामों पर उसी स्थान पर निर्णय लिया जाना जरूरी होता है। यह निर्णय उन लोगों द्वारा ही लिया जाना होता है जिनमें कि वह घटना घटी है तथा जिन्होंने उसे गहराई से अनुभव किया है।[1]

प्राय: प्रत्येक क्षेत्र के निवासियों में सामान्य लक्ष्यों एवं सामान्य आवश्यकताओं के प्रति एक प्रकार की जागरूकता रहती है जिसके द्वारा उनकी क्रियायें प्रभावित होती हैं। यह जागरूकता दूसरे क्षेत्र में रहने वाले लोगों की इसी प्रकार की जागरुकता से भिन्न होती है। जयपुर शहर में रहने वाला एक व्यक्ति इस बात में विशेषत: रुचि लेगा कि यहां नल, बिजली, सफाई एवं पुस्तकालय आदि की पूरी व्यवस्था की जाये। उसकी यह रुचि इस शहर के अन्य निवासियों के साथ सामान्य है। किन्तु न तो उस व्यक्ति और न ही शहर के अन्य निवासियों को ही भारी चिन्ता होती है जबकि वे यह सुनते हैं कि दिल्ली में पीने के पानी का भारी संकट है। यह सब व्यक्ति के व्यावहारिक एवं मनोवैज्ञानिक जीवन के कुछ तथ्य हैं। वह स्वभाव से ही अपने पड़ौसियों की समस्याओं में रुचि लेता है। किन्तु अपने पड़ौसी की वे समस्यायें उसे अधिक प्रभावित कर पाती हैं जिनका सम्बन्ध उसके स्वयं के जीवन से भी है। कोई भी प्रशासन लोक मत एवं स्थानीय रुचि के बिना अथवा उसकी अवहेलना करके अधिक दिन तक जिन्दा नहीं रह सकता, सार्थक होना तो दूर की बात है। ऐसे प्रशासन द्वारा स्थानीय समस्याओं के

---

1. "We cannot realise the full benefit of democratic Government unless we begin by the admission that all problems are not central problems, and that the results of problems not central in their incidence require decision at the place, and by the persons, where and by whom the incidence is most deeply felt."

—*Harold J. Laski*, A Grammar of Politics, Fourth Ed, 1963, P. 411

प्रति दिये गये सुझाव मान्यता की दृष्टि से पर्याप्त अर्थपूर्ण तथा व्यवहार में पूरे कुशल हो सकते हैं किन्तु वे पड़ौसियों में इनके पूरे लाभ उठाने के लिए सक्रिय योगदान की इच्छा जागृत करने में असफल रहेंगे ।[1]

प्रोफेसर लास्की ने शक्तिशाली स्थानीय सरकार के पक्ष में एक अन्य महत्वपूर्ण तर्क भी प्रस्तुत किया है । उनका कहना है कि यदि एक सेवा पूरी तरह से एक विशेष जिले के लोगों की ही की जानी है तो यह पूर्णतः न्यायपूर्ण समझा जायेगा कि उस जिले के निवासी ही उस सेवा के लिए आवश्यक धन की व्यवस्था करें । जब उन लोगों से कर के रूप में धन वसूल किया जायेगा तो वे उस पर अपना नियंत्रण रखने की मांग भी करेंगे । यदि ऐसी सेवा के संचालक का कार्य भी उन लोगों के हाथों में सौंप दिया गया तो वे उसे कुशलतापूर्वक संचालित करेंगे ताकि उसका व्यय कम आये और वे कम से कम कर देकर अधिक से अधिक लाभान्वित हो सकें । इस प्रकार स्थानीय सरकार का संगठन प्रशासन में कार्य-कुशलता के साथ-साथ मितव्ययता भी लाता है । इसका एक अन्य महत्व इस तथ्य में निहित है कि किसी भी आम-नागरिक को चार या पांच वर्ष बाद केवल चुनावों में भाग लेने भर से ही नागरिकता के रचनात्मक पहलू का अवगमन नहीं हो पाता । उसकी रुचियों को प्रशासनिक क्रियाओं में जागृत करने का अर्थ होता है उसको अधिक से अधिक प्रशासनिक उत्तरदायित्व सौंपना । ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक लोकप्रिय बनाया जाये । लास्की के मतानुसार स्थानीय सरकार के महत्व का एक अन्य कारण यह है कि राजनैतिक निकाय जितना दूर का होता है उसमें भ्रष्टाचार की सम्भावनायें उतनी ही अधिक बढ़ जाती हैं । जब एक व्यक्ति को यह ज्ञात होता है कि उसकी गली इस कारण गन्दी है क्योंकि उसके आधीन जो निकाय है वह अकार्यकुशल है तो वह आवश्यक कार्यवाही करता है । इसी कारण लास्की ने स्थानीय सरकार को सरकार के अन्य सभी प्रकारों की तुलना में अधिक शिक्षाप्रद कहा है ।[2] स्थानीय सरकार की रचना करके एक ऐसी व्यवस्था की जाती है जिसमें कि आम जनता उन लोगों के साथ निकट का सम्बन्ध रख सके जो कि निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी है । केन्द्रीयकृत व्यवस्था का एक बड़ा दोष यह बताया जाता है कि उसमें नौकरशाही का जोर रहता है । इस नौकरशाही व्यवस्था का स्थानीय सरकार के संगठन में कोई स्थान नहीं रहता । इनके अतिरिक्त केन्द्रीय व्यवस्थापिका के कार्यों की

1. "Its solutions may be well meant in conception, and efficient in application But they fail to arouse in the neighbourhood a desire actively to participate in the realisation of their best result"

—*Harold J. Laski*. op. cit., P. 412}

2. "Local Government, in other words, is educative in perhaps a higher degree, at least contingently, than any other part of Government."

—*Harold J. Laski*, op. cit, *P. 413*.

भी एक सीमा होती है। एक संसद चाहे वह शक्ति के लिए कितनी भी 'लालची क्यों' न हो, वह स्थानीय समस्याओं के सभी पहलुओं पर व्यवस्थापन नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप उसे केवल विस्तृत रूपरेखा बनाने के बाद स्थानीय समस्याओं का विस्तार विभागों के जिम्मे छोड़ देना पड़ेगा। इन विभागों में कार्य करने वाले अधिकारीगण का स्थानीय समस्याओं पर आधिपत्य हो जायेगा जो कि जनमत को समझने में प्राय: असमर्थ रहते हैं। यदि इन अधिकारियों के व्यवहार के विरुद्ध शिकायत की जाये तो परिणामस्वरूप निर्णय को बदला जा सकता है किन्तु यह दूसरा निर्णय भी प्राय: अपने पूर्ववर्ती की भांति ही दोषपूर्ण होगा। इन सभी प्रकार की उलझनों से बचने के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि स्थानीय संस्थाओं का संगठन किया जाये जो कि स्थानीय समस्याओं को सुलझाने का दायित्व संभाल सके। इस प्रकार अनेक तर्क, सुझाव एवं उपयोगिताओं का प्रदर्शन करने के बाद लास्की महोदय स्थानीय सरकार की स्थापना का समर्थन करते हैं।

६. **फ्रेडरिक का मत [According to Carl J. Friedrich]**:— इनके विचार हैं कि स्थानीय समाज सांवैधानिक सरकार के संचालन में अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करता है। ये डीवे (Dewey) के इस मत का समर्थन करते हैं कि प्रजातन्त्र को अपने घर से प्रारम्भ होना चाहिए। इसके लिए यह जरूरी है कि स्थानीय संस्थाओं को सक्रिय बनाया जाये। राष्ट्रीय स्तर पर सरकारी कार्यों का विस्तार होने के कारण ही स्थानीय सरकार की आवश्यकता, महत्व एवं कार्य भी कई गुने बढ़ गये हैं। आधुनिक तकनीकी ज्ञान के विस्तार के फलस्वरूप अनेक ऐसी जरूरतें एवं आवश्यकतायें पैदा हो गई हैं जिनका कि स्थानीय सरकार के लिए महत्व होता है। उत्पन्न नवीन समस्याओं पर किस प्रकार नियन्त्रण रखा जाये यह स्थानीय संस्थाओं की एक मुख्य समस्या होती है। जितनी अधिक समस्यायें होती हैं उतना ही अधिक स्थानीय संस्थाओं का महत्व भी बढ़ जाता है। फ्रेडरिक ने लिखा है कि दुनिया विश्व समाज के लिए संघीय संगठन की ओर समूहीकृत होती जा रही है। इससे यह प्रमाणित हो चुका है कि ऊपर की ओर तथा बाहर की ओर सरकार का और विस्तार अवश्य ही नीचे की ओर तथा अन्दर की ओर संघीय सिद्धान्तों के प्रसार में फलीभूत होगा।[1]

७. **हिक्स का मत [According to U. K. Hicks]** :—हिक्स महाशय ने स्थानीय सरकार पर आर्थिक विकास की दृष्टि से विचार किया है। उनका कहना है कि एक प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था वाले देश में विकास की सभी योजनाओं को केन्द्रीय स्तर पर ही संचालित नहीं किया जा सकता,

---

1. "As the world is grouping toward a federal organisation for the world community it is becoming increasingly evident that any such further broadening of government upward and outward will have to be accompanied by the extension of the federal principle downward and inward."

—*Carl J. Friedrich,* Constitutional Govt. and Democracy, P. 256

इसके लिए स्थानीय योगदान भी परम आवश्यक है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए यदि एक सरकार यह सोचले कि विकास के अधिकांश उत्तरदायित्व व्यक्तिगत उद्यम पर छोड़ दिये जायें तो भी सरकार का अंशदान महत्वपूर्ण ही रखना पड़ेगा और ऐसी स्थिति में यह खतरा बढ़ जाता है कि सम्पूर्ण उद्यम में असंतुलित निर्देशन केन्द्रीय सरकार का रहेगा। इन खतरों एवं सम्भावनाओं से बचने के लिए यह जरूरी है कि यह कार्य स्थानीय सरकार के हाथों में सौंपा जाये। हिक्स (Hicks) के शब्दों में स्थानीय सरकार द्वारा की गई आर्थिक क्रियायें ही सबसे अच्छा रास्ता हो सकती हैं जिसमें कि जनता अपने विकास के संगठन में योगदान कर सकती है।[1] स्थानीय संस्थाओं को विकास योजनाओं के छोटे-छोटे भाग सौंपे जाने चाहिए जिनको कि वे सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सकें। बड़ी योजनाओं की प्रकृति अप्रत्यक्ष रूप से स्थानीय सरकार के महत्व को बढ़ा देती है। बड़े प्रोजेक्टों की यह प्रकृति होती है कि वे पूरा होने में कई वर्ष ले लेते हैं। उनके पूरे होने तक प्रतीक्षा में जो समय व्यतीत होता है वह अत्यन्त कष्टकारी होता है। इसके विपरीत छोटे स्थानीय प्रोजेक्ट की प्रतिक्रिया बड़ी शीघ्र हो जाती है। यदि अच्छी स्थानीय सड़कें अथवा अच्छे बाजार बना दिये जायें तो एक ही मौसम में फसल के धन की मात्रा बढ़ सकती है। इस प्रकार स्थानीय संस्थायें आर्थिक विकास को सुगम बनाने में महत्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं। स्थानीय सरकार एक अन्य प्रकार से भी आर्थिक विकास में सहयोगी बन सकती हैं। बड़े प्रोजेक्टों की यह एक सामान्य समस्या होती है कि उनके पूर्ण हो जाने के बाद भी उनका पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए कुछ समय की आवश्यकता होती है। राष्ट्रीय प्रोजेक्टों के प्रसार (Extension) के लिए जिन सेवाओं की आवश्यकता होती है वे स्थानीय स्तर पर भली प्रकार सम्पन्न की जा सकती हैं। स्थानीय सरकार इनको संगठित करने का सुगम मार्ग है।[2]

८. आर्थर मास का मत [According to Arthur Mass]:— इनका विचार है कि शक्ति का वितरण एवं विभाजन प्रारम्भिक काल से ही राजनीति विज्ञान की रुचि का विषय रहा है। आज भी सांवैधानिक सरकार तथा प्रजातंत्रात्मक राज्यों से सम्बन्धित पुस्तकें लिखने वाले विचारक स्पष्ट रूप से यह मत प्रकट करते हैं कि शक्ति का विभाजन सभ्य सरकार का आधार है। यही एक प्रकार से संविधानवाद है। राजनैतिक शक्ति को

---

1. "Economic activity by local government may well be the best way in which the 'people' can play a part in the organisation of their own development."

—*U. K. Hicks*, Development from Below, 1961, P. 7

2. "Much of the 'extension' work which is required for the national projects can, however be carried out at the local level; Local government organisations are a convenient way of organising it."

—*U. K. Hicks*, op. cit., P. 8.

क्षेत्रीय आधार पर विभाजित करने का आधार वे मूल्य एवं मुख्य उद्देश्य हैं जिनको कि एक राजनैतिक समुदाय प्राप्त करना चाहता है। किसी भी शक्ति-विभाजन को समाज के मूल्यों का साधन माना जा सकता है। किसी भी समय में किये गये शक्ति वितरण के रूप उस समय के मूल्यों को प्रतिबिम्बित करते हैं।

मास (Mass) महोदय ने इस समस्या पर काफी गहराई से विचार किया है कि वर्तमान प्रजातंत्रात्मक राज्य के मूल्य क्या होते हैं जिनके आधार पर कि एक राज्य में शक्तियों के विभाजन को निर्धारित करना चाहिए। ये मूल्य मुख्य रूप से तीन बताये गये हैं-स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality) तथा कल्याण (Welfare)। 'स्वतन्त्रता' को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी शक्ति को इस प्रकार विभाजित किया जाना चाहिए ताकि व्यक्तियों एवं समूहों की आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति के केन्द्रीयकरण के विरुद्ध रक्षा की जा सके। 'समानता' को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी शक्ति को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है कि नागरिकों को सार्वजनिक नीतियों में अधिक से अधिक भाग लेने के अवसर प्राप्त हो सकें। 'कल्याण' को प्रोत्साहन देने के लिए सरकारी शक्ति का वितरण इस प्रकार किया जा सकता है कि सरकार के कार्य समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में प्रभावशील रूप से कार्य कर सकें। शक्ति-विभाजन के ये तीनों ही आधार क्रमश: सांवैधानिक, प्रजातंत्रात्मक एवं सुविधाजनक प्रभाव रखते हैं। स्थानीय सरकार की स्थापना के पीछे ये तीनों ही प्रभाव कार्य करते हैं।

स्थानीय सरकार के महत्व से सम्बन्धित विभिन्न विचारकों के मतों का अध्ययन करने के बाद हमारे सामने यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय सरकार का महत्व एक आदर्श के रूप में ही नहीं वरन् एक आवश्यकता के रूप में भी है। यह आवश्यकता भी इतनी प्रभावशील है कि साधारण रूप से इसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। प्रसिद्ध सांवैधानिक लेखक लार्ड ब्राइस ने स्वायत्त सरकार द्वारा छोटे क्षेत्रों की जनता को प्रदान की जाने वाली विभिन्न सेवाओं के सम्बन्ध में विस्तार के साथ लिखा है जिनके द्वारा कि वे एक स्वतन्त्र देश के सभ्य नागरिक बन पाते हैं। इनके द्वारा नागरिकों में कुछ सामान्य मामलों में सामान्य रुचि पैदा की जाती है, वे सार्वजनिक हित की बातें सोचने लगते हैं तथा गांव के मामलों में अपने आपको पूरी तरह उलझा लेते हैं। इस प्रकार स्थानीय स्तर पर उनको प्रजातंत्रात्मक राज्य के नागरिक का महत्वपूर्ण पाठ पढ़ा दिया जाता है। दूसरे, स्थानीय संस्थायें लोगों को न केवल दूसरों के लिए कार्य करना सिखाती हैं वरन् दूसरों के साथ कार्य करना भी सिखाती हैं। वे सामान्य-जागरूकता, बुद्धिमता, निर्णयात्मकता एवं सामाजिकता आदि गुणों का विकास करती हैं। ब्राइस महोदय ने स्थानीय संस्थाओं को प्रजातंत्र की सर्वश्रेष्ठ पाठशाला माना है। प्रजातंत्र की सबसे बड़ी गारन्टी, उनके मतानुसार, स्थानीय स्वायत्त सरकार के व्यवहार की सफलता है।

यदि हम ऊपर वर्णित सभी राजनैतिक, सांवैधानिक एवं अन्य विचारकों की विचारधारा का मन्थन करें तो कई एक सामान्य तत्व हमारे

सामने आते हैं। इनको हम आधुनिक राज्य में स्थानीय सरकार के महत्व का प्रतीक मान सकते हैं। यह महत्व निम्न प्रकार से वर्णित किया जा सकता है—

१. प्रजातंत्र की पाठशाला—स्थानीय सरकार को प्रजातंत्र की पाठशाला माना जाता है क्योंकि इसमें अधिक से अधिक लोग को प्रशासनिक कार्यों में भाग लेने का अवसर प्राप्त होता है। ये सभी लोग जब विभिन्न प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हैं तो इन्हें स्वत: ही उन कार्यों का प्रशिक्षण प्राप्त होता जाता है। राष्ट्रीय स्तर पर वे अपने इस अनुभव से देश को तथा समाज को लाभान्वित कराते हैं। स्थानीय सरकार की संस्थायें प्रजातंत्र की जड़ों को गहरी कर देती हैं। जिस देश में इनका व्यवहार सफल रूप से किया जाता है वहाँ इस बात की सम्भावना बहुत कम रह जाती है कि प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था समाप्त हो जायेगी।

२. जनता की सेवा—स्थानीय संस्थाओं को प्राय: ऐसे कार्य सौंपे जाते हैं जिनका सम्बन्ध उस स्थान के निवासियों की दैनिक समस्याओं से होता है। राष्ट्रीय स्तर पर इन सेवाओं का एक जैसा रूप नहीं होता और इसलिए यह स्वाभाविक है कि विशेष रूप से ये स्थानीय लोगों की ही हित-साधक होती हैं। गली की सफाई, सड़क बनवाना, पानी की व्यवस्था करना, बच्चों के स्कूल खोलना, मनोरंजन के साधन जुटाना, पुस्तकालयों की व्यवस्था करना आदि। ये सभी कार्य कुल मिलाकर इस प्रकार के होते हैं कि इनके जीवन एवं अच्छा जीवन दोनों ही सम्भव नहीं हो सकते। स्थानीय संस्थाओं के कार्यों एवं जन-सेवाओं का महत्व उस समय मालुम पड़ता है जबकि किसी भी कारण से ये इनको कुछ समय के लिए रोक दी जायें। कभी-कभी जब अपनी मांगों को लेकर नगरपालिका के कर्मचारी हड़ताल कर देते हैं तो सारा शहर गन्दगी से सड़ने लगता है। स्थानीय संस्थायें जितनी अधिक सक्रिय होती हैं उस क्षेत्र का जीवन उतना ही अधिक सुखद एवं आनन्द दायक बन जाता है।

३. विभिन्नताओं का पोषक—प्रशासन एवं राजनीति में एकरूपता सदैव ही प्रजातंत्र का प्रतीक नहीं होती। जब यह एकरूपता अबौद्धिक रूप धारण कर लेती है तो इसके परिणाम तानाशाही शासन व्यवस्था से भी अधिक घातक होते हैं। किसी भी देश में सभी स्थानों की समस्यायें एक जैसी नहीं होतीं। प्राय: सभी देश देहाती एवं शहरी क्षेत्रों में विभाजित रहते हैं। देहाती क्षेत्रों में शिक्षा, चिकित्सा, व्यवसाय, उद्योग आदि की सुविधायें तुलनात्मक रूप से बहुत कम होती हैं। यदि यह कहा जाये कि वे इन शहरी इलाकों से बहुत पिछड़े हुए रहते हैं तो अतिशयोक्ति नहीं मानी जा सकती। इन दोनों ही प्रकार के क्षेत्रों के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी इलाके होते हैं जिनमें इन दोनों की ही विशेषतायें पाई जाती हैं किन्तु वे इन दोनों की ही कमियों से भी प्रभावित रहते हैं। इनको अर्ध-शहरी एवं अर्ध-देहाती क्षेत्र कहा जा सकता है। इन तीनों ही प्रकार की श्रेणियों में आने वाले स्थान भी मात्रा एवं गुण की दृष्टि से परस्पर पर्याप्त अन्तर रखते हैं। इन अन्तरों का ध्यान रखे बिना यदि पूरे देश के लिए एक जैसी प्रशासनिक सेवायें प्रदान

का गई तो परिणाम आशाजनक होने के स्थान पर गम्भीर रूप से नुकसान-दायक होंगे।

स्थानीय सरकार की व्यवस्था करके प्रत्येक विशेष स्थान की विशेष समस्याओं का उपयुक्त रूप से समाधान करने की व्यवस्था कर दी जाती है। स्थानीय संस्थाओं के व्यवहार की एक उल्लेखनीय बात यह है कि एक स्थान पर इनकी असफलताओं से दूसरे स्थान पर लाभ उठाया जा सकता है।

४. प्रशासनिक कुशलता—स्थानीय सरकार की व्यवस्था द्वारा प्रशासन से लाल फीताशाही एवं नौकरशाही को दूर करके उसके स्थान पर प्रशासनिक कार्यकुशलता लाने का प्रयास किया जाता है। जब स्थानीय संस्थाओं के कार्यकर्त्ता व्यक्तिगत रूचि लेकर अपने दायित्वों का निर्वाह करते हैं तो इस बात की कोई गुंजायश ही नहीं रह जाती कि कार्यकुशलता के साथ नहीं किया जाये। इन संस्थाओं द्वारा जिन समस्याओं पर विचार किया जाता है वे प्राय: इनके कार्यकर्त्ताओं के साथ निकट का सम्बन्ध रखती हैं। यदि किसी कारणवश स्थानीय सरकार अपने दायित्वों के प्रति उदासीनता का रुख अपनाती है तो वहाँ के निवासियों द्वारा उन्हें ऐसा करने से रोका जा सकता है।

५. कार्य-विभाजन—स्थानीय सरकार का संगठन कार्य-विभाजन के सिद्धान्त की ही व्यावहारिक अभिव्यक्ति है। इस रूप में इसके वे सभी लाभ गिनाये जा सकते हैं जो कि श्रम विभाजन की विशेषता समझे जाते हैं। यदि स्थानीय सरकार की व्यवस्था न की जाये तो केन्द्रीय सरकार पर कार्य-भार इतना अधिक बढ़ जायेगा कि वह उसे कुशलता, श्रेष्ठता, सफलता एवं पर्याप्त विचार पूर्णता के साथ सम्पन्न नहीं कर सकेगी। एक स्थानीय संस्था को जब कुछ निश्चित कार्य सौंप दिये जाते हैं तो वह अपनी पूरी शक्ति इस बात में लगा देती है कि उनको अपनी पूरी कुशलता के साथ सम्पन्न करे।

६. विकास-योजनाओं की सफलता—स्थानीय संस्थायें विकास कार्यक्रमों को सफल बनाने में जो महत्वपूर्ण योगदान करती हैं वह भी कम उल्लेखीय नहीं होता। राष्ट्रीय स्तर का कोई भी विकास कार्यक्रम क्रियान्वित होने के लिए इस बात की मांग करते हैं कि सभी देशवासी इनमें अपना योगदान करें। यह योगदान बाध्यकारी होने पर महत्वहीन एवं फीका बन जाता है। इसे प्रभावपूर्ण तभी माना जा सकता है जबकि यह स्वेच्छापूर्वक दिया गया हो। देश के सभी नागरिक अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार विकास कार्यों में इच्छापूर्वक हाथ तभी बटा सकते हैं जबकि स्थानीय संस्थाओं के माध्यम से उनमें पर्याप्त राजनैतिक चेतना एवं देशभक्ति के भाव भर दिये जायें।

७. जनता का सक्रिय योगदान—यह मनोवैज्ञानिक तथ्य बताया जाता है कि कोई भी व्यक्ति उस समय तक किसी भी कार्य करने में आगा-पीछा देखता रहता है जब तक कि उसे इसके लिए उत्तरदायी न ठहरा दिया जाये। उत्तरदायित्व सौंपने के साथ ही उस कार्य को करने के लिए शक्ति सौंपना भी जरूरी हो जाता है। स्थानीय सरकार आम जनता को उनकी खुद की

समस्यायें सुलझाने के लिए उत्तरदायित्व और शक्तियां दोनों ही देने का प्रयास करती है । परिणामस्वरूप जनता द्वारा भी प्रशासन एवं विकास कार्यक्रमों में सक्रिय रूप से योगदान किया जाता है ।

८. **कम से कम अपव्यय**—अपनत्व की भावना से किया गया कार्य सदैव ही कम से कम साधनों में अधिक से अधिक परिणाम प्राप्त करने का प्रयास करता है । स्थानीय संस्थाओं के कार्यकर्त्ता यह जानते हैं कि व्यय किया जाने वाला धन उनकी स्वयं की जेबों से ही इकट्ठा किया गया है । यदि वे इसका अपव्यय करेंगे तो इसका अर्थ होगा उनके स्वयं के ऊपर ही अधिक कर जिसे कि कोई भी व्यक्ति पसन्द नहीं करता । इसके विपरीत जो भी कर प्रदान किये गये हैं वे उनका अधिक से अधिक लाभ प्राप्त करना चाहेंगे । फलतः कम से कम अपव्यय होगा, मितव्ययता के साथ कार्य किया जायेगा तथा सार्वजनिक धन के दुरुपयोग की सम्भावनायें नहीं रहेंगी ।

९. **भ्रष्टाचार की कम सम्भावनाः**—भ्रष्टाचार का प्रसार प्रायः उच्छृंखलता, बन्धन के अभाव एवं स्वतन्त्रता के अतिशय के बीच हुआ करता है । जहां उत्तरदायित्व बहुत हो जाते हैं और उनका निर्वाह करने के लिए शक्ति नहीं दी जाती अथवा शक्ति बहुत हो जाती है और उसका प्रयोग करने के लिए पर्याप्त उत्तरदायित्व नहीं सौंपे जाते हों परिणामस्वरूप भ्रष्ट आचरण का जन्म होता है । प्रशासन में भ्रष्टाचार एक ऐसी समस्या है जो कि देश की आर्थिक, राजनैतिक, मनोवैज्ञानिक, शैक्षणिक, चारित्रिक आदि विभिन्न दशाओं से प्रभावित होती है । प्रतिकूल दशाओं में प्रशासन से भ्रष्टाचार को दूर करना तो एक दुःसाध्य कार्य है किन्तु फिर भी स्थानीय सरकार की व्यवस्था द्वारा भ्रष्टाचार के प्रसार एवं प्रभाव को कम किया जा सकता है । स्थानीय संस्थाओं में लोग भ्रष्ट आचरण से इसलिए कतराते हैं क्योंकि प्रथम तो ये कार्य छोटे स्तर के होते हैं । कई लोगों के ईमानदारी पूर्ण आचरण की एक सीमा होती है जिसके आगे वे बेईमानी के प्रलोभनों से अपने आपको नहीं बचा सकते । स्थानीय सरकार के कार्य प्रायः इस सीमा को पार नहीं करते । दूसरे, स्थानीय संस्थाओं के अधिकारी कार्य को अपनत्व की भावना से प्रेरित होकर करते हैं । यह उनका स्वयं का कार्य होता है । ऐसी स्थिति में भ्रष्टाचार की सम्भावना बहुत कम रह जाती है । तीसरे, यदि किसी कारणवश स्थानीय संस्था का कोई अधिकारी अनुचित कार्य करना भी चाहे तो वह अपने ऊपर स्थित निकट के जन नियन्त्रण द्वारा ऐसा न करने के लिए प्रेरित होगा ।

१०. **सभ्यता का सृजनः**—स्थानीय संस्थाओं के कार्यों का विस्तृत अध्ययन यह स्पष्ट कर देता है कि यदि ये संस्थायें अपना कार्य सम्पन्न न करें अथवा कुछ समय के लिए बन्द करदें तो परिणामस्वरूप मानवीय सभ्यता के विकास की गति रुक जाती है और कभी-कभी तो वह उसी दिशा की ओर चल देती है जिधर से कि उसने प्रगति प्रारम्भ की थी । जब हम एक स्थान के लोगों की सभ्यता का स्तर मापना चाहते हैं तो यह जानकारी प्राप्त करते हैं कि वहां के लोगों का रहन-सहन कैसा था, वे कैसे घरों में रहते थे, उनके सार्वजनिक स्थान कैसे थे, गलियों एवं सड़कों की बनावट कैसी थी,

सफाई का प्रबन्ध कैसा था, मनोरंजन के साधन क्या थे, प्राइमरी शिक्षा की व्यवस्था कैसी थी आदि-आदि। ये सभी कार्य प्रायः स्थानीय संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। इनको सक्रिय एवं कुशलतापूर्वक तभी सम्पन्न किया जा सकता है जबकि ये संस्थायें निर्बाध रूप से कार्य करती रहें। स्थानीय संस्थाओं का रूप एवं कार्य ही एक स्थान विशेष के लोगों की सभ्यता के स्तर का द्योतक माना जाता है।

इस प्रकार आधुनिक राज्य में स्थानीय सरकार का महत्व जितना अधिक है उतना सम्भवतः किसी भी काल में न रहा होगा। विज्ञान के विकास ने शहरी जीवन तथा देहाती जीवन के बीच जो भारी अन्तर ला दिया है उसे मिटाने के लिए तथा औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप शहरी जीवन के आकर्षण को अपेक्षाकृत कम करने के लिए यह जरूरी बन गया है कि स्थानीय संस्थाओं को अधिक से अधिक दायित्व सौंपे जायें तथा उनके मार्ग की हर बाधा को दूर करने का प्रत्येक प्रयास किया जाये। कल्याणकारी राज्य की मान्यता एवं समाजवादी राज्य के सिद्धान्तों ने सरकार के कार्य भार को इतना अधिक बढ़ा दिया कि केवल केन्द्रीय स्तर से उस सबका निर्वाह करना असम्भव बन गया। स्थानीय सरकार की स्थापना इस स्थिति का ही एक अनिवार्य परिणाम था।

२

स्थानीय निकायों का क्षेत्र एवं बनावट-विचारकर्ता एवं कार्य-पालिका शाखायें

[AREA AND STRUCTURE OF LOCAL BODIES–DELIBERATIVE AND EXECUTIVE WINGS]

स्थानीय सरकार का अर्थ होता है कि राज्य का प्रादेशिक आधार पर उपविभाजन कर दिया जाये। इस उपविभाजन का निर्णय किन आधारों पर किया जाना चाहिए यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न होता है। इसके अतिरिक्त उन क्षेत्रों का निर्धारण, जो कि एक स्थानीय सरकार की व्यवस्था में इकाइयां होनी चाहिए, भी अनेक कठिन समस्यायें पैदा करता है। स्थानीय सरकार के क्षेत्र को निश्चित करने का अर्थ संस्थाओं के केवल आकार का निश्चय करना ही नहीं है किन्तु साथ ही यह भी देखना है कि स्वीकृत इकाइयों की बनावट किस प्रकार की होनी चाहिए।

एक स्थानीय सरकार की इकाई का उपयुक्त आकार पूर्णत: एक महत्वपूर्ण प्रश्न है किन्तु फिर भी आकार का अर्थ क्या है इस सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक मापदण्ड नहीं है। आकार का एक अर्थ **भौगोलिक रूप** में सत्ता के क्षेत्र से हो सकता है अर्थात् प्रदेश के आधार पर यह निर्धारण कर दिया जाये कि एक इकाई को कितने क्षेत्र के प्रशासन का उत्तरदायित्व सौंपा जाये। एक दूसरे रूप में **जनसंख्या** को आधार बना कर भी इकाइयों का निश्चय किया जा सकता है। यदि एक स्थानीय संस्था को अधिकार क्षेत्र के रूप में एक बहुत बड़ा प्रदेश सौंप दिया जाये तो उस संस्था की स्थानीय प्रकृति समाप्त प्राय: सी हो जाती है क्योंकि एक बड़े क्षेत्र के प्रशासन में स्थानीय तत्व तो रह ही नहीं जाता। जब हम किसी क्षेत्र को एक स्थानीय संस्था की इकाई का आधार बनाते हैं तो यह देख लिया जाता है कि क्या सामाजिक एवं राजनैतिक दृष्टि से भी वह एक इकाई है। अर्थात, क्या उस क्षेत्र के निवासी दूसरे भाग में रहने वाले लोगों के साथ भावनात्मक सम्बन्ध रखते हैं अथवा नहीं। भावनात्मक कड़ियों के अभाव में बनाई गई एक प्रादेशिक इकाई अधिक समय तक सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती।

इसके अतिरिक्त जब भौगोलिक आधार पर इकाइयों का निश्चय किया जाता है तो एक बात यह भी देखी जाती है कि वह क्षेत्र इतना बड़ा हो कि उसकी परिषदों एवं समितियों की बैठकें आवश्यकता के समय आसानी से बुलाई जा सकें। परिषद के सदस्यों को अपने कार्य में अनुभव एवं प्रौढ़ता केवल तभी आ सकती है जबकि वे अपने अतिरिक्त समय में परिषद के कार्यों में भाग लेते रहें और ऐसा वे प्रायः तभी कर सकते हैं जबकि परिषद का कार्यालय तथा उनका घर अधिक दूर-दूर न हों तथा बिना अधिक समय खर्च किये ही वे आ जा सकें। इसके विपरीत जब संसद की भांति स्थानीय परिषदों का संगठन किया जाता है तथा यह सोचा जाता है, कि परिषद के सदस्य अस्थायी रूप से वहीं रहें जहां कि उसका कार्यालय है तो यह भी जरूरी बन जाता है कि उसके सदस्यों को वेतन-भत्ते के रूप में धन प्रदान किया जाये।

भौगोलिक दृष्टि से बड़े प्रदेशों पर जो तर्क लागू होते हैं वे ही आवश्यक रूप से जनसंख्या की दृष्टि से बड़े प्रदेशों पर लागू नहीं होते। किसी भी ऐसे जिले के लिए निर्वाचित परिषद को रखना अधिक आपत्तिजनक नहीं है जो कि घने रूप में बसा हुआ है। उस क्षेत्र में सामान्य हित के अनेक मामले हो सकते हैं तथा वहां के सभी निवासी एक दूसरे के प्रति आत्मीयता की भावना भी रख सकते हैं। इसके अतिरिक्त शहरी क्षेत्रों में संचार के साधन इतने व्यापक एवं पर्याप्त होते हैं कि परिषद के सदस्य, परिषद एवं समितियों की बैठकों में आसानी से भाग ले सकते हैं। घनी जनसंख्या वाले प्रदेशों का स्थानीय शासन एक परिषद के माध्यम से भी किया जा सकता है और यदि आवश्यक हो तो इसमें एक या दो टायर (Tier) भी हो सकते हैं। इस सबके कहने का अर्थ यह है कि जनसंख्या की दृष्टि से बड़े प्रदेश को, जहां के लोगों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध है, आसानी से स्थानीय सरकार की इकाई बनाया जा सकता है। किन्तु भौगोलिक रूप में बड़ा क्षेत्र स्थानीय सरकार की इकाई बनने के लिए यदि पूरी तरह से अनुपयुक्त नहीं है तो कम से कम असुविधाजनक अवश्य होगा।

भौगोलिक एवं जनसंख्या की दृष्टि से जिस प्रकार बड़े आकार के क्षेत्र स्थानीय संस्था के रूप एवं कार्य पर प्रभाव डालते हैं उसी प्रकार छोटे आकार वाले क्षेत्र भी डाल सकते हैं। एक क्षेत्र की जनसंख्या की मात्रा ही इस बात का निश्चय करती है कि वहां के आर्थिक स्रोत कितने रहेंगे तथा वहां कौन सी सेवायें प्रदान की जायेंगी। स्थानीय सरकार की इकाई यद्यपि बहुत छोटी नहीं हो सकती किन्तु फिर भी उसका छोटा होना अपने आप में एक अच्छाई है; क्योंकि सामान्य अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अपने दूरस्थ देशवासियों की अपेक्षा अपने निकट के पड़ौसियों की समस्याओं में अधिक रुचि लेता है।

यह कहा जाता है कि एक क्षेत्र का आकार तथा उसके लिए प्रदान की जाने वाली सेवाओं की मात्रा परस्पर अवलम्बित रहते हैं। जब तक कि हम एक स्थानीय सत्ता के आकार का पता न लगालें तब तक इस बात का निश्चय नहीं कर सकते कि वहां कौन सी सेवायें प्रदान करना आवश्यक

एवं उपयोगी रहेगा। इसी प्रकार से स्थानीय सत्ता का सर्वश्रेष्ठ आकार भी उस समय तक निश्चित नहीं किया जा सकता जब तक यह स्पष्ट न हो जाये कि आखिर करना क्या है। स्थानीय सरकार की इकाई का निश्चय करते समय अनेक बातों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। इन बातों का उल्लेख करना अत्यन्त सरल है किन्तु उनके अनुसार व्यवहार करना उतना ही कठिन है। इस बात को और अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए उन सिद्धान्तों का उल्लेख करना उपयोगी रहेगा जो कि सीमा आयोग (Boundary Commission) के निर्देशन के लिए रखे गये थे। यह आयोग १९४६ से १९४८ तक ब्रिटिश स्थानीय सरकार की सीमाओं पर विचार करने का कार्य करता रहा। सीमा आयोग की स्थापना करने वाले अधिनियम ने क्षेत्रों में फेर-बदल करने के सम्बन्ध में परिनियम बनाये जिनको कि संसद के प्रत्येक सदन द्वारा पास किया गया। एक अनुसूची में मुख्य-मुख्य सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया। इनमें से कुछ निम्न प्रकार हैं:—

(१) स्थानीय सरकार की सत्ता में फेर-बदल तथा स्थानीय सरकार के क्षेत्रों की सीमाओं में फेर-बदल इस उद्देश्य से किया जाये ताकि स्थानीय सरकार प्रशासन की व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से प्रभावशील तथा सुविधाजनक इकाइयां निश्चित कर सके। यह लक्ष्य एक मुख्य सिद्धान्त था जिसके आधार पर आयोग को कार्य करना था।

(२) इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आयोग द्वारा क्षेत्र से सम्बन्धित सभी पहलुओं पर विचार किया जायेगा। इन पहलुओं में प्रमुख थे:—

(i) हितों का समाज;
(ii) विकास अथवा इच्छित विकास;
(iii) आर्थिक एवं औद्योगिक विशेषतायें;
(iv) विशेषत: आर्थिक आवश्यकताओं के सम्बन्ध में मापित वित्तीय स्रोत;
(v) भौतिक विशेषतायें जैसे कि उपयुक्त सीमायें, संचार के साधन, प्रशासनिक केन्द्रों तक पहुंचने की सुविधा, व्यापार एवं सामाजिक जीवन के केन्द्र आदि;
(vi) जनसंख्या—आकार, वितरण एवं विशेपतायें;
(vii) सम्बन्धित स्थानीय सत्ताओं के प्रशासन का अभिलेख;
(viii) क्षेत्रों का आकार एवं बनावट;
(ix) निवासियों की इच्छायें।

उक्त तत्वों में से किस पर अधिक जोर दिया जायेगा और किस पर कम—इस विषय का निर्धारण विचारणीय क्षेत्र के आधार पर ही किया जा सकेगा किन्तु फिर भी इनमें से प्रत्येक को यथोचित महत्व प्रदान किया जाना प्राय: जरूरी होता है।

(३) एक शहरी केन्द्र तथा उसके चारों ओर फैले लोगों के हितों को आवश्यक रूप से न तो भिन्न रूप ही मानना चाहिए और न ही परस्पर अनुपूरक ही। सभी तत्वों पर विचार करने के बाद ही यह ज्ञात करना चाहिए कि शहरी एवं देहाती प्रदेशों का यह मेल संतुलित रहेगा अथवा नहीं।

इस सबका मूल लक्ष्य वही है, जिसका पहले भी उल्लेख किया जा चुका है कि व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से स्थानीय सरकार की प्रभावशील एवं सुविधाजनक इकाइयां उपलब्ध की जायें। इस लक्ष्य को ध्यान में रखने से कई बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि किसी भी इकाई को केवल उसी की दृष्टि से नहीं सोचा जा सकता। उस पर विचार करते समय उसकी निकटवर्ती एवं सम्बन्धित इकाइयों को भी ध्यान में रखना होगा। इसलिए जब एक विशेष स्थान के लिए कोई प्रबन्ध किया जायेगा तो वह केवल अपने आप में ही सर्वश्रेष्ठ नहीं होगा बल्कि उससे सम्बन्धित क्षेत्रों की आवश्यकताओं के संदर्भ में वह सर्वश्रेष्ठ होगा। इसके साथ ही इकाई का प्रभावशील एवं सुविधाजनक होना भी अत्यन्त आवश्यक है। इस प्रथम सिद्धान्त की भांति शेष दो सिद्धान्त भी दिखने में अत्यन्त प्रभावशील प्रतीत होते हैं किन्तु असल में वे ऐसे नहीं हैं। व्यावहारिक दृष्टि से वे महत्वहीन से लगते हैं।

क्षेत्रीय शक्ति विभाजन का उचित मापदण्ड

[A proper criteria for areal divsion of powers]

स्थानीय सरकार की विभिन्न संस्थाओं को कितने अधिकार सौंपे जायें तथा उनको कितने क्षेत्र में सेवायें करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाये; यह एक ऐसी समस्या है जिसके सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ भी कहना बाधा से परे नहीं है। कुछ विचारकों ने इसके समाधानार्थ कुछ मापदण्ड प्रस्तुत किये हैं जिनके आधार पर शक्ति के क्षेत्रीय विभाजन के औचित्य को तय किया जा सके। ये मापदण्ड बौद्धिक एवं तार्किक आधार पर उतने खरे नहीं उतरते जितने कि ये विश्वास एवं श्रद्धा के आधार पर। पॉल ल्विसकर (Paul Ylvisaker) के मतानुसार शक्ति का क्षेत्रीय विभाजन जितना अधिक संतोषजनक होगा वह स्वतन्त्रता, समानता, शक्ति विभाजन का मापदण्ड एक प्रकार से कुछ कहावतों का संग्रह है। ये कहावतें मुख्य रूप से निम्न-लिखित हैं—

(१) शक्ति के क्षेत्रीय विभाजन को मूल रूप से शासन करने की शक्ति (Power to govern) से सम्बन्धित होना चाहिए। क्षेत्र की इकाइयों को शक्ति सामान्य रूप में सौंपनी चाहिए अर्थात् उन्हें सभी सरकारी कार्यों को सौंप देना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि केवल कुछ कार्यों से सम्बन्धित आंशिक शक्ति ही उनको सौंपी जाये। यह मापदन्ड केवल दो अपवादों को अपनी सीमा से बाहर रखता है। प्रथम अपवाद है अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का औपचारिक आचरण जिसमें कि युद्ध की घोषणा करने की शक्ति भी समाहित है और दूसरी है मुद्रा सम्बन्धी मापदण्डों पर नियंत्रण रखना। जब क्षेत्रीय शक्तियों का विभाजन इस रूप में किया जाता है

अर्थात् समाज द्वारा अपने समय की सरकारी प्रक्रियाओं से सम्बन्धित सभी प्रक्रियायें कानूनी रूप से एक ही इकाई को सौंप दी जायें तथा उसी के द्वारा निर्णय लिये जायें तो इससे कई अच्छे परिणामों की आशा की जा सकती है। उदाहरण के लिए प्रत्येक स्तर पर सरकारी कार्य को अच्छी प्रकार से विचारा जायेगा तथा वह प्रभावशाली रहेगा, इसके अतिरिक्त स्थानीय सरकार के कार्यों में योगदान करने वाले सभी लोगों को एक ही जैसा माना जा सकेगा; साथ ही शक्ति संतुलित करने वाले प्रयास भी अर्थपूर्ण रहेंगे।

इस मापदण्ड के अनुसार आगे बढ़ने पर एक अन्देशा यह रहता है कि संतुलन करने एवं मूल्यों के भार को उचित रूप से संयोजित करने के कार्य में वस्तुगत तत्व के स्थान पर कहीं विषयगत तत्व प्रभावशील नहीं हो जायें। इस अन्देशा से बचने का एक सुझाव यह दिया जाता है कि एजेन्डा को इस प्रकार निश्चित किया जाये कि अनेक विकल्प सामने रहें। इस कहावत का यह अर्थ कदापि नहीं समझा जाना चाहिए कि विशेष आवश्यकता वाले विशेष क्षेत्रों में विशेष कार्य न किये जायें। ये सभी तो इस कहावत के क्षेत्र में ही अन्तर्निहित हैं। यह कहावत तो उनकी शक्ति के क्षेत्र को व्यापक बनाना चाहती है साथ ही उनको अधिक प्रभावशीलता देना चाहती है। सामान्य शक्ति से युक्त क्षेत्रीय संस्थायें अपना अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ हो पाती हैं साथ ही सार्थक बनी रहती हैं।

(२) एक दूसरी कहावत यह है कि स्तरों की आदर्श संख्या जिसमें कि शासन की शक्ति को विभाजित किया जाये, तीन होनी चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से यह माना जाता है कि दो संख्या प्रायः झगड़े की जड़ होती है। वे बहुधा विवाद में ही फंसे रहते हैं। दो इकाइयों के बीच में संतुलनकर्त्ता एक तीसरी इकाई भी होनी चाहिए। अनेक विचारक इस मत का समर्थन करते हैं कि तीसरी शक्ति सदैव ही एक गत्यात्मक तत्व होती है जो कि सरकारी स्तरों के बीच सदैव सक्रियता बनाये रखती है। सरकार के तीन स्तरों में मध्यवर्ती स्तर यद्यपि दोनों ही तत्वों की काफी सहायता करता है किन्तु वह स्वयं कई प्रकार से घाटे में रहता है। तीसरे अर्थात् बीच वाले स्तर को न तो ऊपर वाले जैसी शक्तियां प्राप्त होती हैं और न ही नीचे वाले जैसा जनसम्पर्क ही उसके पास रहता है। इसी कारण इस स्तर के कार्यकर्त्ताओं में रुचि का अपेक्षाकृत अभाव रहता है, साथ ही कार्यकुशलता पर भी विपरीत प्रभाव पड़ता है। मध्यस्थ स्तर के अवगुणों से सजग रहते हुए भी लोक प्रशासन के सैद्धान्तिक ज्ञाता कई कारणों से तीन स्तरों का समर्थन करते हैं। प्रथम, दो-स्तरीय व्यवस्था स्वाभाविक रूप से मध्य स्तर की स्थापना का प्रयास करती है; दूसरे, मध्य स्तर की शक्तियाँ प्रायः प्रतिबन्धित एवं लोचशील रहती हैं। इस प्रकार ये विचारक तीन स्तरीय व्यवस्था की सिफारिश करते हैं। यद्यपि इस प्रकार की सिफारिश का वे कोई प्रमाण अथवा स्पष्ट तर्क नहीं दे पाते।

(३) संयोजक क्षेत्रों को हितों की पर्याप्त भिन्नता के साथ संरचित करना चाहिए ताकि प्रत्येक संयोजक के अन्दर पर्याप्त वाद-विवाद होता रहे। शक्ति विभाजन का यह सिद्धान्त अपने आप में अत्यन्त

महत्वपूर्ण है क्योंकि यह क्षेत्रीयकरण के लिए एवं स्वाभाविक अथवा एक-रूपी समाज की खोज नहीं करता। इस कहावत के अनुसार इस पूर्व मान्यता को ठुकरा दिया गया है कि साधनात्मक मूल्यों को बराबर का मूल्य प्रदान किया जाये। इसमें यह बात अन्तर्निहित रहती है कि वाद-विवाद को अन्य सभी बातों की तुलना में अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। कार्य-कुशलता, योगदान, स्वामिभक्ति तथा हित आदि की तुलना में वादविवाद का अपना महत्व है जिसकी साधना के लिए इन सभी को बलिदान किया जा सकता है। यद्यपि इस कहावत द्वारा यह सिद्ध नहीं कर दिया गया है कि वादविवाद तथा अन्य मूल्यों के बीच सदैव ही विरोध रहता है, किन्तु फिर भी इन दोनों के बीच परस्पर अनुपूरक का सम्बन्ध भी नहीं है। ऐसा बहुत कम देखा गया है जहाँ स्वाभाविक समाज होता है वहां आवश्यक रूप से योगदान, स्वामिभक्ति एवं हित आदि मूल्य अधिक बढ़ जायें। स्वामिभक्ति का जहाँ तक प्रश्न है वह तो बहुत कुछ सीमा की लाइनें निर्धारित कर देने पर तथा प्रतीकों की स्थापना कर देने पर स्वयं ही पनपने लगती है।

विभिन्न प्रकार के स्वार्थ एवं हित होने का अर्थ यह हो जाता है कि व्यवहार में इस प्रकार के क्षेत्र का अधिकार-क्षेत्र अधिक रखना पड़ेगा। इस प्रकार का परिवर्तन अपने आप में अपूर्व ही होगा साथ ही इसके परिणाम भी प्रसन्नतादायक ही होंगे किन्तु इसके लिए उन तर्कों को स्वीकार करना जरूरी होगा जो कि इसकी कार्यकुशलता, उत्तरदायित्व एवं नागरिकों की रुचि की वृद्धि के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। अधिकार क्षेत्र बड़ा हो जाने पर आर्थिक स्रोतों एवं नेतृत्व के स्रोतों का भी विस्तार हो जाता है।

(४) भागों को उच्च स्तरों की व्यवस्थापिकाओं में प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं किया जाना चाहिए। कई बार यह प्रश्न भी किया जाता है कि क्या अङ्गभूतों (Components) तथा उससे उच्चस्तर की व्यवस्था-पिकाओं के चुनाव क्षेत्रों को एक समान ही रखा जाये? इस कहावत का आधारभूत लक्ष्य अनेकता एवं विभिन्नता को रोकना है तथा उच्च स्तर पर सरकार की प्रक्रिया में सामान्यता एवं प्रवाह लाना है। यह कहावत किस मात्रा तक लागू हो सकेगी यह बात इस पर निर्भर करती है कि अङ्गभूत क्षेत्र स्वार्थों के विभिन्नता के मापदण्ड का कितना निर्वाह कर पाते हैं। इसी संदर्भ में एक अन्य बात यह भी कही जाती है कि यदि कार्य-पालिका को व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रखकर चुना जाये तो वह बहुत कुछ निर्वाचित ही होनी चाहिए। कार्यपालिका की निष्पक्षता को बनाये रखने के लिए तथा असृजनात्मक प्रतियोगिता को रोकने के लिए यह भी व्यवस्था कर दी जाये तो उपयोगी रहेगी कि व्यवस्थापिका के किसी सदस्य को ही न चुना जाये।

उपर्युक्त कहावतें क्षेत्रीय शक्ति के विभाजन में महत्वपूर्ण रूप से फलदायक सिद्ध हो सकती हैं। ये कहावतें वर्तमान काल के संदर्भ में कुछ नवीन विकासों के परिणामस्वरूप थोड़ी परिवर्तित हो गई हैं। राज-

धानी सरकार (Metropolitan Government) का जन्म होते ही तथा राजनैतिक जगत में उसका प्रभाव बढ़ने पर स्थानीय सरकार की मान्यता में भी कई महत्वपूर्ण मोड़ आये तथा क्षेत्रीय संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र में कई परिवर्तन हुए। इसके अतिरिक्त सरकारी तथा सामाजिक शक्ति का विस्तार भी इस दृष्टि से अत्यन्त उल्लेखनीय रहा।

प्रशासकीय क्षेत्र पर एच० जी० वेल्स के विचार
[H. G. Wells on Administrative Areas]

प्रसिद्ध इतिहासकार एच० जी० वेल्स ने प्रशासकीय क्षेत्र के आकार-प्रकार से सम्बन्धित एक पेपर फेबियन सोसायटी के सामने पढ़ा था।[1] इस लेख में उन्होंने नगरपालिका उद्यमों से सम्बन्धित व प्रशासकीय क्षेत्रों से सम्बन्धित वैज्ञानिक प्रश्न पर विचार किया है। उन्होंने तत्कालीन क्षेत्रों पर विचार करते हुए बताया कि इन में सार्वजनिक कार्यों को इस रूप में ढाला गया है जो कि पुराने समय की आवश्यकता एवं स्थिति में ठीक थे। यद्यपि इनमें समय-समय पर सुधार किये गये तथा सामयिक बनाने का प्रयास किया गया किन्तु वे तब भी समाप्त हुए संगठन की मूल मान्यताओं को निभा रहे थे। इनकी तुलना वेल्स महोदय ने पन्द्रहवीं शताब्दी के ऐसे घरों से की है जिसके मालिक तो समय-समय पर बदलते रहे किन्तु उसमें वे नवीनतायें न आ सकीं जो कि आधुनिक काल के घरों में होती हैं। उन्हीं के शब्दों में—आज के ये स्थानीय सरकार के क्षेत्र बहुत कुछ उसका प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसे कि कभी दूसरी प्रकार से संगठित, व्यक्तिवादी समाजों, पूरी तरह से गौण आर्थिक व्यवस्थाओं आदि का भाग माना जाता था। वे उन परम्पराओं को चलाते आरहे हैं जो कि एक समय प्रशासकीय सुविधा एवं आर्थिक बचत के प्रतीक थे। आज के वातावरण में वे समाज तक का प्रतिनिधित्व नहीं करते तथा आर्थिक आवश्यकता में प्रत्येक नये परिवर्तन के साथ अधिक अपव्ययी एवं असुविधाजनक बन गये हैं।[2] तत्कालीन क्षेत्र समाजों का प्रतिनिधित्व क्यों नहीं कर रहे थे इस सम्बन्ध में भी वेल्स महाशय ने आगे स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया

---

1. "This paper has been published as an Appendix in H. G. Wells' Mankind in the Making, London, Chapman and Hall, Ltd., 1903

2. "These local government areas of today represent for the most part what were once diatinct, distinctly organised, and individualized communities, complete minor economic systems, and they preserve a tradition of what was once administrative convenience and economy. Today, I submit they do not represent communities at all, and they become more wasteful and more inconvenient with every fresh change in economic necessity."

—*H. G. Wells*, op.. cit

है। उनके कथनानुसार रेलवे का प्रचलन होने के पूर्व अर्थात् उस युग में जब कि स्थानीय सरकार की वर्तमान मान्यताओं ने जन्म लिया, गांव, बॉरोज तथा काउन्टीज आदि व्यावहारिक रूप से पूर्णत: तुच्छ आर्थिक व्यवस्थायें थीं। उस बस्ती की सम्पत्ति, मोटे रूप से कहा जाये तो स्थानीय ही थी। मालदार लोग अपनी सम्पत्ति के आधार पर और दूसरे लोग अपने काम के आधार पर सम्बन्ध बनाते थे। उस समय यह मानना उचित एवं न्यायपूर्ण ही था कि एक मील का क्षेत्र अथवा कुछ मीलों का क्षेत्र ही उस बस्ती के लोगों के राजनैतिक एवं व्यावहारिक हितों को परिसीमित कर लेता था। उस समय मालिक-मजदूर, अमीर-गरीब, जमींदार–खेतीहर आदि के पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट एवं दृष्टव्य थे; किन्तु आज वस्तुस्थिति कुछ और ही है। आज आवागमन के साधनों में क्रान्ति और मुख्य रूप से रेलों के निर्माण के कारण यह सब सत्य नहीं रहा है। आज भी खेतों के फासले पर गांवों तथा शहरों को देखा जा सकता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि इन पुरानी सीमाओं में रहने वाले सभी लोग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं जिस प्रकार कि वे पुराने समय में रहे थे। आज एक स्थान की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग स्थानीय हित नहीं रखता। वह अपनी बस्ती को उस रूप में नहीं समझता जिसमें कि अठारहवीं शताब्दी के लोग समझा करते थे।

आज शहरी इलाकों का अधिकांश धन अस्थानीय है जिसका कि धन के स्थानीय उत्पादन से कोई सम्बन्ध ही नहीं है। इन स्थानों पर रहने वाले अधिक शिक्षित, बुद्धिमान एवं क्रियाशील लोग बस्ती के बाहर ही कमाते हैं, अपनी शक्तियों का व्यय करते हैं तथा वहीं पर उनकी रुचियां केन्द्रित रहती हैं। वे किसी भी मकान को किराये पर लेकर रह सकते हैं किन्तु उनका स्थानीय जीवन के किसी भी पहलू से थोड़ा भी सम्बन्ध नहीं रहता। अधिकांश कस्बों में अनेक होटल, झोंपड़ियां, आराम-गृह आदि होते हैं जिनसे प्राप्त होने वाला लाभ स्थानीय लोगों से प्राप्त नहीं होता, उनके द्वारा प्राप्त नहीं होता तथा उनमें उसे खर्च भी नहीं किया जाता। अनेक शहरों में जो कलकारखाने होते हैं उनके अधिकांश मजदूर लोग आस-पास के गांवों से रोजाना आते और जाते हैं। दिन प्रतिदिन इसी प्रकार के अस्थानीय निवासियों की संख्या बढ़ती जारही है। असल में स्थानीय लोग तो एक भारी जनसंख्या में डोरे के समान होते हैं। अस्थानीय निवासी (Non-local inhabitants) लोगों के बारे में यह भी नहीं कहा जा सकता कि वे उस स्थान के समाज के भाग नहीं है किन्तु वे एक प्रकार से एक नये प्रकार के बड़े समाज के भाग हैं जिसे खोजने में प्रशासक असफल रहे तथा जिसे स्थानीय सरकार की कामचलाऊ विचारधारा ने भुला दिया। समाज के विस्तार का सिद्धान्त न केवल कस्बों पर ही लागू होता है वरन् यह देश के कृषि प्रधान भागों पर भी लागू होता है जो कि धीरे-धीरे अर्धशहरी होते जारहे हैं।

आज जबकि एक ओर समाजों में इस प्रकार से प्रगति हो रही है तो पुरानी सीमा रेखाओं को बनाये रखना असामयिक प्रतीत

होता है क्योंकि नजदीक से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस क्षेत्र के अधिकांश लोग स्थानीयता की भावना से प्रभावित नहीं हैं। जो लोग पहले एक ही स्थान पर रहते, सोते, खाते, पीते, बच्चों का पालन–पोषण करते तथा कार्य करते थे वे आज एक प्रकार से विस्थापित हो चुके हैं। आज वे रहते एक क्षेत्र में हैं, काम किसी दूसरे में करते हैं तथा सामान खरीदने के लिए किसी अन्य क्षेत्र में जाते हैं। इस प्रकार के लोगों को दुबारा से स्थानीय बनाने का एक मात्र उपाय यह है कि अपने क्षेत्र को उनके नये प्रसार तक विस्तृत बना दिया जाये।

यह मानवीय परिस्थितियों के कुछ परिवर्तन हैं जिनके कारण उसके जीवन में अनेक क्रान्तिकारी विकास हो गये हैं। इस विकास की गति अभी भी गतिशील है। यातायात एवं संचार–साधनों के विकास ने इस गति को पर्याप्त प्रगति प्रदान की है। इन सबके फलस्वरूप इतना परिवर्तन आ गया है कि पहले चार या पाँच मील के वर्गक्षेत्र को समाज के आकार की अधिक से अधिक सीमा माना जाता था वहाँ आज के समाज की अधिक से अधिक सीमा सैकड़ों वर्गमील के क्षेत्र को माना जायेगा। आज प्रशासकीय क्षेत्र में संशोधन करना जरूरी हो गया है। यह आज के समय की एक सबसे बड़ी विशेषता है तथा यही सबसे विशेष समस्या है। वेबीलोनिया, मिश्र एवं रोमन साम्राज्य जैसी पुरानी सभ्यताओं के समय जिन नगरपालिका क्षेत्रों को उचित समझा जाता था वे उससे बड़े अथवा छोटे न थे जो कि सत्रहवीं शताब्दी के योरोप में भी बने रहे—यह पूर्णतः सम्भव था। किन्तु आज इस क्षेत्र में महान् और स्थायी क्रान्ति आगई है। इस क्रान्ति का सामाजिक एवं राजनैतिक पहलू, ऐसे लोगों की बढ़ती हुई संख्या है जो कि विस्थापित होते जा रहे हैं। वे असल में एक नये प्रकार के समाज का प्रतिनिधित्व करते हैं—एक महान् नये आधुनिक समाज का जो कि छंटते हुऐ, छोटे तथा अतीत के बहुत कुछ स्थानीय समाजों के स्थान पर स्थापित होते जा रहे हैं।

पुराने स्थानीय सरकार के क्षेत्रों में इस बड़े तथा बढ़ते हुए अस्थानीय अनुपात के कुछ व्यावहारिक परिणाम भी हैं। सर्वप्रथम यह है कि वे गैर-स्थानीय (Non-local) लोग स्थानीय राजनीति में भाग नहीं लेते। स्थानीय मामलों में रुचि लेने के लिए उनके पास न समय होता है न स्वतंत्रता होती है और न ही प्रेरणा ही। वे एक प्रकार से विदेशी ही होते हैं। स्थानीय राजनीति बहुत कुछ ऐसे लोगों के हाथों में केन्द्रित हो जाती है जिनके हित असल में बस्ती में ही घिरे हुए हैं किन्तु जिनकी संख्या धीरे–धीरे घटती जा रही है। ये मूल रूप से वे लोग हैं जो कि छोटे स्तर पर स्थानीय व्यापार करते हैं, स्थानीय भवन निर्माण का कार्य करते हैं, कभी–कभी डाक्टर भी होते हैं। जब कभी भी स्थानीय सत्ता के हाथ में शिक्षा, संचार, प्रकाश या अन्य किसी प्रकार का प्रबन्ध सौंपा जाता है तो वह मूल रूप से ऐसे ही लोगों को सौंपा जाता है। स्थान के आधार पर थोड़ी–बहुत भिन्नतायें भी हो सकती हैं। सामान्य नियम प्रायः यही रहता है कि 'नाकुछ स्थानीय स्वार्थों द्वारा स्थानीय नियंत्रण'। ऐसी स्थिति अधिक दिन तक नहीं चल सकती। शीघ्र ही गैर–स्थानीय निवासी यह अनुभव करने लगेंगे कि वे बिना

प्रतिनिधित्व के ही कर प्रदान कर रहे हैं जो कि एक गलत बात है। वे मतपत्र को प्रभावहीन एवं महत्वहीन मान कर उसकी अवहेलना करने लगेंगे। नगरपालिका द्वारा संचालित उद्यमों एवं व्यापारों के साथ उनके हितों का टकराव होगा। वेल्स महाशय द्वारा यह भविष्यवाणी की गई है कि भविष्य में स्थानीय एवं गैर स्थानीय वर्गों के लोगों के बीच का यह विरोध अथवा यों कहिये कि ऐसे लोगों के बीच का विरोध जिनमें से कुछ के विचार एवं जीवन तो एक छोटे से क्षेत्र तक सीमित है और दूसरों के जीवन एवं विचार बड़े क्षेत्र तक व्यापक हैं, इन दोनों के भेद राजनीति में भी एक विभाजक रेखा बना देंगे।[1] वस्तुस्थिति यह है कि छोटे समाज अपने अस्तित्व के लिए तथा अपने प्रिय पुराने तरीकों को बचाये रखने के लिए लड़ रहे हैं जबकि संश्लिष्ट बड़े समाज अस्तित्व में आने के लिए लड़ रहे हैं। वेल्स के मतानुसार तत्कालीन स्थानीय सरकार के क्षेत्र वास्तविक समाज का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थे फिर भी ये प्रशासकीय कार्य को बांटने की दृष्टि से उपयोगी थे। उनकी यह उपयोगिता भी केवल सैद्धांतिक ही थी, व्यावहारिक क्षेत्र में तो कार्य की दृष्टि से यह और भी अधिक बदतर थे। आज स्थानीय समस्याओं का रूप एवं आकार-प्रकार बदल चुका है। अनेक नवीन सेवाओं के संदर्भ में देखने पर यह ज्ञात हो जाता है कि इनका निर्वाह करने के लिए हमें विस्तृत दृष्टिकोण की आवश्यकता है। इसके लिए हमें विस्तृत मस्तिष्क और साथ ही विस्तृत क्षेत्रों की जरूरत पड़ेगी। इसके अतिरिक्त शिक्षा एवं व्यापार के लिए भी विस्तृत दृष्टिकोण की जरूरत पड़ेगी क्योंकि यह भी अब स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में आगया है। शिक्षा की दृष्टि से वस्तुस्थिति की जटिलताओं पर यदि विचार किया जाये तो केवल एक ही रास्ता नजर आयेगा कि स्थानीय सरकार का क्षेत्र बढ़ाकर बड़ा कर दिया जाये। उदाहरण के लिए यदि हम दिल्ली के नागरिकों को उच्च शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं और स्थानीय शासन के क्षेत्र को आधार बनाकर ही दिल्ली शहर की बढ़ती हुई भीड़ के बीच एक शिक्षणालय खोल दिया तो इसका परिणाम यह होगा कि शिक्षा तो उच्च प्राप्त हो जायेगी किन्तु हवा साफ नहीं मिल पायेगी। इसके विपरित यदि दिल्ली के बाहर शिक्षणालय बना दिया (जहाँ कि स्थानीय सरकार का क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है।) तो साफ हवा तो जरूर मिल जायेगी किन्तु वहाँ शिक्षा अच्छी प्रदान नहीं की जा सकेगी। इस समस्या का एक सफल सुझाव यह है कि दिल्ली प्रशासन के क्षेत्र को बड़ा कर दिया जाये। स्थानीय यातायात भी तभी सक्रिय होते हैं जबकि एक क्षेत्र पर्याप्त बड़ा होता है।

---

1. "I will confess that it seems to me that this opposition between the localised and the non-localised classes in the future, or to be more correct, the opposition between the man whose ideas and life ie in a small area, and the man whose ideas and life lie in a great area is likely to give us that dividing line in politics for which so many people are looking to day."

—*H. G. Wells, op. cit.*

यदि स्थानीय सरकार के क्षेत्र को बड़ा बना दिया जाये तो इसके परिणामस्वरूप अनेक लाभ प्राप्त होने की सम्भावना बढ़ जाती है। यह व्यवस्था छोटे आकार वाले क्षेत्रों की तुलना में अधिक कुशल होगी। दूसरे, यह व्यवस्था आज के युग में बढ़ते हुए स्थानीय सरकार के कार्यों को भी भली प्रकार से सम्पन्न कर पायेगी। तीसरे, यह कहा जाता है कि यदि स्थानीय स्वामिभक्ति की भावनाओं को पुनः स्थापित कर दिया जाये तो उपयोगी रहेगा। यह तभी हो सकता है जबकि लोग स्थानीय क्षेत्रों में अपनत्व का आभास करें और इसके लिए क्षेत्र का बड़ा होना जरूरी है। चौथे; बड़े आकार के आधार पर संगठित की गई परिषदें योग्य एवं कुशल व्यक्तियों की महत्वाकांक्षाओं को उभाड़ कर उन्हें अपनी ओर आकर्षित कर सकती हैं।

बड़े आकार के स्थानीय क्षेत्रों के वैकल्पिक रूप अर्थात् छोटे क्षेत्रों को अधिक से अधिक शक्तियाँ सौंपना निरी मूर्खता और अज्ञान है। वेल्स का कहना है कि यदि वर्तमान क्षेत्र ज्यों के त्यों बने रहते हैं तो कुल मिलाकर मेरा वोट नगरपालिका-व्यापार के विपरीत रहेगा और यहाँ तक कि प्रकाश, ट्रामवे, संचार साधन, टेलीफोन तथा प्रायः सभी ऐसी सेवाओं के लिए भी मैं यह चाहूंगा कि इनको कम्पनियों के हाथों में दे दिया जाये। उनके लेखों का अधिक से अधिक प्रकाशन किया जाय और व्यापार मण्डल के द्वारा उन पर विस्तृत नियंत्रण रखा जाये।

क्षत्रें के निर्धारण के आधार

[The basis on which Areas might be determined]

स्थानीय सरकार का क्षेत्र कितना बड़ा होना चाहिए तथा उसके प्रशासन की सीमायें कहां से कहां तक जानी चाहिए इस बात का निश्चय करना एक महत्वपूर्ण किन्तु जटिल समस्या है। इस समस्या के निराकरणार्थ समय-समय अनेक सुझाव प्रस्तुत किये जाते रहे हैं। विचारकों ने ऐसे कई आधार प्रस्तुत किये हैं जिनके आधार पर कि यह तय किया जा सके कि स्थानीय सरकार का क्षेत्र क्या हो? इन आधारों में से कुछ प्रमुख का अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है :—

आकार एवं सामर्थ्य

[Size and Strength]

व्यापार एवं उद्योग की प्रगति के कारण यह एक आम धारणा बन चुकी है कि कार्यकुशलता तभी प्राप्त हो सकती है जबकि बड़े स्तर के उद्यम अपनाये जायें। कुछ क्षेत्रों में, उदाहरण के लिए मोटरयानों के अतिशय उत्पादन में, यह निस्संदेह सत्य है कि केवल बड़े व्यापार ही नीची कीमत पर अपना माल तैयार करने के लिए पर्याप्त बचत के साथ कार्य करने की आशा कर सकते हैं। अन्य दूसरी दिशाओं में भी प्रवृत्ति यह पायी जाती है कि व्यापार का संचालन करने के लिए बड़ी से बड़ी इकाई की स्थापना की जाये। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि अधिकांश लोग अधिक से अधिक कार्यकुशलता प्राप्त करने के लिए स्थानीय सरकार को बड़ी से बड़ी बनाना चाहते हैं। स्थानीय सरकार का

संगठन कुछ अपनी विशेषतायें रखता है जो कि उसे उद्योग की तुलना में अधिक विशेषत्व प्रदान कर देती हैं। किसी भी समाज को देखकर सर्व-प्रथम इस बात का परीक्षण करना चाहिए कि कुछ सेवाओं को सम्पन्न करने के लिए क्या इसका आकार उपयुक्त है? जब हम यह देखते हैं कि एक कस्बे का आकार छोटा है तो हम उसमें मनमाना परिवर्तन नहीं कर सकते जैसे कि एक कारखाने या फैक्ट्री के छोटा होने पर आसानी से उसमें परिवर्तन कर सकते हैं। जहां तक क्षेत्रों का सवाल है उनको हमें ज्यों की त्यों लेना पड़ता है तथा उसके निवासी जैसे हैं उनको उसी रूप में मानना पड़ता है। यदि हम एक इकाई को बड़ी करना चाहते हैं तो उसका एक मात्र उपाय यह है कि दो छोटे–छोटे क्षेत्रों को जोड़ करके एक बड़ा क्षेत्र बना दिया जाये। संयुक्त किये जाने वाले स्थान परस्पर एकरूपी ही होने चाहिए। इसके साथ ही हमको यह भी देखना पड़ता है कि भौगोलिक आकार अधिक बड़ा न बन जाये। आकार आदि का लक्ष्य यह होना चाहिए कि सभी कार्य निम्नतर प्रशासकीय स्तर पर कार्यकुशलता एवं बचत के साथ व्यवहृत किये जा सकें। स्थानीय सत्ताओं के आकार में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व स्टाफ की समस्या होती है। यदि हम यह चाहते हैं कि प्राथमिक तथा उद्देश्यीय शिक्षा में उचित समन्वय तथा काम चलाऊ व्यवस्था बनी रहे तो इसके लिए एक शिक्षा संचालक तथा शिक्षा कार्यालय रखना जरूरी रहेगा। इसी प्रकार एक पुलिस शक्ति के पास भी मुख्य-कान्स्टेबुल तथा उच्च अधिकारी होने चाहिए। इसी प्रकार से स्वास्थ्य के लिये मैडीकल अधिकारी तथा इन्जीनियर एवं भवन निर्माता आदि के लिये भी उचित संगठन होना चाहिये।

स्थानीय सरकार पर होने वाले व्यय का अधिकांश भाग वेतन एवं भत्तों से मिलकर बनता है। मोटे रूप से कहा जाये तो यह खर्चा जनसंख्या के अनुपात में होता है। यदि हम भिन्न स्थानों को लेकर स्थानीय सरकार के उद्देश्य से उनको एक साथ मिलादें तो जनसंख्या दोहरी हो जायेगी और इसलिये उतने ही स्कूल, अध्यापक, पुलिस के सिपाही आदि की आवश्यकता होगी। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है और वह यह है कि जिस प्रकार एक कारखाने के आकार में वृद्धि कर देने पर उसके उत्पादन की मात्रा ब जाती है उसी प्रकार एक स्कूल के आकार में वृद्धि कर देने पर यह जरूरी नहीं है कि उसके परिणाम में भी उतनी ही वृद्धि हो जायेगी। दो क्षेत्रों के मिलाने पर जो बचत की जा सकती है वह केवल मुख्य कार्यालय के स्टाफ में ही हो सकती है। अब दो स्कूल संचालकों के स्थान पर एक ही संचालक से काम चलाया जा सकता है। इसी प्रकार दो उपसंचालकों के स्थान पर एक तथा दो शिक्षा कार्यालयों के स्थान पर एक शिक्षाकार्यालय स्थापित किया जा सकता है। व्यवहार में उतनी बचत नहीं हो पाती जितनी कि आशा की जाती है। यदि सचमुच ही दो शिक्षा कार्यालयों को मिला कर एक कर दिया जाये तो काम बहुत अधिक कम नहीं हो जाता। मिले-जुले उत्तरदायित्वों वाला संचालक एवं अन्य कोई भी अधिकारी यह सोचेगा कि क्योंकि अब उसके उत्तरदायित्व बढ़ गये

हैं इसलिये उसको अपेक्षाकृत अधिक वेतन प्राप्त होना चाहिये। उप-संचालक के पद की वेतन श्रृंखला भी उच्च हो जायेगी तथा सम्भवत: उसका ऐक सहायक नियुक्त करना होगा। स्थानीय सरकार के कार्यों पर जो कुछ भी खर्च किया जाता है उसका बहुत छोटा सा भाग ही मुख्य कार्यालय पर खर्च किया जा सकता है। शिक्षा सम्बंधी व्यय में मुख्य रूप से अध्यापकों का वेतन, स्कूलों का पूंजीगत खर्च, ताप, प्रकाश, सफाई, पुस्तकों की खरीद आदि पर भी व्यय किया जाता है। जब हम दो क्षेत्रों को मिलाते समय नागरिकों को यह आश्वासन देते हैं कि खर्चे में कमी की जायेगी तो बाद में प्राय: असफलता ही हाथ लगती है।

दो छोटी इकाइयों को मिलाकर ओक बनाने का मुख्य लक्ष्य यह होता है कि ओक ऐसी संयुक्त इकाई बनादी जाये जो कि आवश्यक प्रशासकीय कार्यों को आसानी से सम्पन्न कर सके। ज्यों ही हम उस आकार को प्राप्त कर लेते हैं त्यों ही सेवाओं को कुशलतापूर्वक सम्पन्न करने में भी समर्थ हो जाते हैं। यदि हम प्रशासन के क्षेत्र को बढ़ाते जायें अथवा वह पहले से ही बड़ा हो तो इसके परिणामस्वरूप सर्वप्रथम जो चिन्ह हमारे सामने आयेंगे वे कार्य कुशलता के अधिक उच्च स्तर का प्रतिनिधित्व करेंगे। उदाहरण के लिये ओक बड़ी इकाई में हमें ऐसी स्कूल मैडीकल सेवा प्राप्त हो सकती है जिसके सभी कार्यकर्त्ता सुयोग्य विशेषज्ञ हों। दूसरी ओर नक छोटे स्कूल में इस प्रकार के कार्यकर्त्ताओं का होना आवश्यक ओवं उचित नहीं माना जाता। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि बच्चों की देखभाल ठीक प्रकार नहीं होगी। क्योंकि छोटे स्कूल में जहाँ पर कि योग्य मैडीकल विशेषज्ञ नहीं हैं, यदि किसी विद्यार्थी की हालत अधिक खराब हो जाये तथा उसे विशेष देखभाल की आवश्यकता हो तो उसे स्थानीय सरकार स्टाफ से बाहर की सेवायें प्रदान की जा सकतीहैं तथा अन्य स्रोतों से विशेषज्ञों की सहायता ली जा सकती है। ओक छोटी सत्ता स्वाभाविक रूप से छोटा ही स्टाफ रखेगी और विशिष्ट सहायता की आवश्यकता के समय वह कहीं से भी इसका प्रबन्ध कर लेगी। इन छोटे संगठनों में ऐसा विशिष्टतापूर्ण कार्य बहुत ही कम निकलता है जिसके लिए कि बाहर के विशेषज्ञों की सहायता मांगी जाये। दूसरी ओर बड़े आकार की सत्ता में वस्तु-स्थिति पूर्णत: भिन्न है। वहां पर निकलने वाले विशेषज्ञतापूर्ण कार्य की मात्रा अपेक्षाकृत अधिक होती है अत: आवश्यक विशेषज्ञों का स्टाफ ही रख लिया जाता है ताकि आवश्यकता के समय इधर-उधर भागने की अपेक्षा प्राप्य स्टाफ की तुरन्त सेवायें प्राप्त की जाये।

एक दृष्टि से देखा जाये तो आकार सम्बन्धी ये प्रश्न आर्थिक प्रश्न भी हैं। जब हम यह कहते हैं कि इकाई को इतना बड़ा होना चाहिये कि पर्याप्त प्रशासन के कार्य सम्पन्न किये जा सकें तो हमारा एक मतलब उस कीमत से भी रहता है जोकि उचित योग्यता ओवम् स्तर के लोगों को नियुक्त करने में लगानी होगी। किन्तु फिर भी धन ही केवल मात्र विचार नहीं है; क्योंकि ओक ऐसा भी क्षेत्र हो सकता है जो कि आकार ओवं जनसंख्या में छोटा है किन्तु फिर भी किसी कारणवश उसका राजस्व बहुत

ऊंचा है। स्थिति में यदि उस क्षेत्र की सत्ता चाहे तो प्रत्येक कार्य के लिये विशेषज्ञों का स्टाफ नियुक्त कर सकती है। किन्तु फिर भी किसी कार्यको कर सकने मात्र से ही उसका औचित्य सिद्ध नहीं होजाता। अतः धन के अपव्यय से बचे हुये इस प्रकार की छोटे आकार वाली सत्ता को प्रत्येक कार्यके लिये अलग स्टाफ रखना कदापि उचित नहीं है। इस कथन के समर्थन में प्रभावशील तर्क यह भी दिया जाता है कि पर्याप्त रूप से योग्य अेवं प्रशिक्षित व्यक्तियों की संख्या सदैव ही कम होती है इसलिये उनका प्रयोग भी जहां तक हो सके कम से कम करना चाहिये अर्थात् केवल वहीं करना चाहिये जहां कि ऐसा किया जाना निहायत जरूरी है। यदि आर्थिक साधनों की सम्पन्नता के सहारे अनावश्यक रूप से अेक क्षेत्र में इन विशेषज्ञों को संगठित कर लिया गया तो यह स्वाभाविक है कि दूसरा क्षेत्र जहां पर कि ये और भी जरूरी है इनकी सेवा से वंचित रह जायेगा। अतः इनको भी उतना ही बचत के साथ काम में लाना चाहिये जितना कि आर्थिक साधनों को लाया जाता है। समस्या यह है कि इन सभी समस्याओं पर आर्थिक सामर्थ्य की भूमिका में विचार किया गया है। यह तर्क दिया गया है कि अेक ऐसी सत्ता को प्राप्त करने के लिये बड़ी से बड़ी इकाइयां गठित की जानी चाहिये जो कि आर्थिक दृष्टि से इतनी सशक्त हों कि इस या उस सेवा को सम्पन्न कर सके। यह विचार अत्यन्त जटिल है अतः इस पर अधिक विचार किया जाना वांछनीय है।

इकाइयों का संयोग सदैव ही इसलिये किया जाना चाहिये क्योंकि इससे अधिक सम्पत्ति प्राप्त हो जायेगी जिस पर कि कर लगाया जा सके, साथ ही कर दाता अधिक होजायेंगे जोकि स्थानीय सरकार के राजस्व की मात्रा को अधिक कर देंगे और इस प्रकार आमदनी अधिक हो जायेगी। दूसरे शब्दों में जब अेक प्रशासकीय क्षेत्र को बड़ा किया जाता है तो उसका मूल लक्ष्य आर्थिक साधनों की वृद्धि ही होता है। किन्तु यह वृद्धि कुछ दूसरे प्रकार की होती है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि क्षेत्र की आय की कुल मात्रा बढ़ जाती है वरन् असल में इसका अर्थ यह है कि किये जाने वाले खर्च की तुलना में सम्भावित अेवं वास्तविक आय का अनुपात अधिक हो जाता है। जैसे जब हम दो छोटे क्षेत्रों को मिला कर अेक कर देते हैं तो यह सच है कि उस बड़े क्षेत्र की कुल आय अधिक होगी किन्तु साथ ही उस क्षेत्र का खर्च भी बढ़ जायेगा और इसलिये यह मानना अनुचित नहीं होगा कि क्षेत्र की आर्थिक सामर्थ्य में कोई अन्तर नहीं आया। किन्तु इतना अवश्य है कि जब इकाई पास आने वाले धन की कुल मात्रा अधिक हो जायेगी तो यह अधिक कुशल प्रशासन लाने में समर्थ हो जायेगी। इसका अर्थ केवल यही है कि वह अपने बढ़े हुये धन को अधिक अच्छी प्रकार से काम में लाये।

दो क्षेत्रों को मिलाने पर वास्तविक परिवर्तन केवल तभी दिखाई देता है जबकि असमान साधनों वाले क्षेत्रों को एक साथ मिला दिया जाये। यदि क्षेत्रों से एक के पास मूल्यवान सम्पत्ति है, समर्थ एवं सम्पन्न निवासी हैं, तथा जनसंख्या पर्याप्त दूर-दूर बसी है ताकि सेवाओं की सम्पन्नता में

बचत से काम लिया जा सके और इस क्षेत्र के साथ मिला दिया जाये जो कि गरीब है तो यह स्वाभाविक है कि संयोग के परिणामस्वरूप उस गरीब क्षेत्र की जनता अधिकाधिक लाभान्वित होगी क्योंकि मिले जुले क्षेत्र की सेवाओं के लिये कर लेते समय स्वत: ही यह व्यवस्था हो जाती है कि धनवान भाग वाले लोग गरीब भाग वालों की सहायता करें। इस व्यवस्था को उन लोगों की दृष्टि से अन्यायपूर्ण कहा जा सकता है जो कि सम्पन्न क्षेत्र में रह रहे हैं क्योंकि उस क्षेत्र के लोगों के लिये अपेक्षाकृत कम सेवायें प्रदान की जाती हैं और कर संचय का अनुपात प्रदत्त सेवाओं की अपेक्षा अधिक होता है किन्तु इस तथ्य से बचने का कोई उपाय ही नहीं है कि स्थानीय सेवाओं के सन्तोपजनक संचालन के लिये संतोपजनक राजस्व के स्रोतों की आवश्यकता है। जब संयुक्त किये जाने वाले सभी क्षेत्र गरीब होते हैं तो उनकी आर्थिक क्षमता में किसी प्रकार का सुधार लाने की व्यवस्था सरकारी ग्रान्ट द्वारा की जाती है अर्थात् राज्य के करदाता उस धन की व्यवस्था करते हैं जोकि उस समय स्थानीय स्तर पर एकत्रित नहीं किया जा सकता है।

विभिन्न सेवाओं के लिए आवश्यक जनसंख्या का आकार

[The size of population needed for the various Services]

कई बार इस प्रकार के तर्क दिये जाते हैं कि एक कम से कम आकार होना चाहिए जिसके लिए एक पृथक स्थानीय सत्ता सेवा की रचना की जाये। कहने की आवश्यकता नहीं कि केवल आठ लोगों के लिए किसी माध्यमिक शाला की स्थापना नहीं की जा सकती और न ही मुट्ठी भर रोगियों के लिए सर्वसाधन सम्पन्न अस्पताल की स्थापना की जा सकती है। किन्तु फिर भी आकार के सम्बन्ध में कोई कठोर नियम नहीं बनाया जा सकता। यद्यपि निर्देशक के रूप में कुछ मात्रा निश्चित की जा सकती है तो भी इसकी कुछ सीमायें हैं।

प्रथम, आकार का प्रश्न मुख्य रूप से वहां महत्वपूर्ण रहता है जहां कि औद्योगिक फैक्ट्री से तुलना किये जाने योग्य कुछ होता है। यदि हम विभिन्न योग्यताओं एवं साधनों के स्टाफ के साथ-साथ भवन को खुला रखना चाहते हैं तो हम स्तर को तब तक नहीं घटा सकते जब तक कि सेवाओं में कमी न करें। ऐसा नहीं हो सकता कि एक सैकन्डरी स्कूल में कला पक्ष के अध्यापकों की वेतन श्रृंखला कम कर दी जाये और विज्ञान पक्ष के अध्यापकों को छूआ भी न जाये। इसके साथ ही यह भी है कि यदि हम एक अस्पताल बनाना चाहते हैं तो हमको विशेषज्ञ तथा एक्स-रे साधन भी रखने होंगे। किन्तु जिस सेवा में किसी यन्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती वहां यह बात ज्यों की त्यों लागू नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए दूकानों, हाटों, दुग्धशालाओं, मनोरंजन-गृहों, फैक्ट्रियों आदि के निरीक्षण के लिए इन्सपेक्टरों तथा सहायक स्टाफ की आवश्यकता होगी। यदि इनमें से कोई भी एक कार्य इस योग्य नहीं कि वह एक योग्य निरीक्षक के लिए पूरे समय का कार्य निकाल सके तो वह निरीक्षक दो या उससे अधिक छोटी सत्ताओं द्वारा आंशिक समय कार्यकर्त्ता के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। यही बात

उन सेवाओं पर भी इसी प्रकार लागू होती है जो कि मूल रूप से 'प्रचार' मात्र हैं, उदाहरण के लिए सड़क सुरक्षा समिति की क्रियायें।

दूसरे, इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान में रखने योग्य है कि कुछ सेवायें ऐसी होती हैं जिनका सम्बन्ध पूरी जनसंख्या के आकार से होता है जबकि दूसरी सेवायें निवासियों के केवल एक समूह मात्र से ही सम्बन्ध रखती हैं। सुरक्षात्मक सेवायें जैसे पुलिस एवं स्वास्थ्य के वातावरण सम्बन्धी पहलू (साफ भोजन, पानी, सफाई आदि) प्राय: पूरी जनसंख्या से ही सम्बन्ध रखते हैं। प्रसूति गृह, बालकल्याण सेवायें तथा शिक्षा आदि पूर्णत: गर्भवतियों, बच्चों, छोटे बालकों एवं स्कूल की उम्र के बच्चों की संख्या पर निर्भर करता है। इसी प्रकार पुस्तकालयों का सम्बन्ध केवल ऐसे लोगों से रहता है जो कि अध्ययन कक्षों का प्रयोग करते हैं तथा किताबें निकलवाते हैं। वृद्धों की सेवा के लिए खोले जाने वाले गृह भी एक विशेष समूह से ही सम्बन्ध रखते हैं। यदि विभिन्न समाजों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो हम पायेंगे कि इन समूहों में आने वाली जनसंख्या का उनका अनुपात विभिन्नतापूर्ण है। यदि हम एक जैसी जनसंख्यावाले दो प्रदेशों को लें तो पायेंगे कि उनकी सुरक्षा सम्बन्धी आवश्यकतायें लगभग एक जैसी ही होंगी किन्तु अन्य आवश्यकताओं का एक जैसा होना जरूरी नहीं है। ये आवश्यकतायें भी लगातार एक जैसी नहीं होतीं। जब एक क्षेत्र विशेष में अनेक नये घर बन जाते हैं तो वहां अधिकतर युवा युगल अपने परिवार प्रारम्भ करते हैं। उस क्षेत्र में बच्चों एवं महिलाओं से सम्बन्धित आवश्यकताओं की मांग अधिक रहती है। इन सभी तत्वों पर विचार करते समय पूरी जनसंख्या की दृष्टि से सोचा जाता है तथा विभिन्न समुदायों के लिए समय-समय पर समायोजन भी कर दिये जाते हैं।

एक सेवा की इकाई के बचतपूर्ण आकार का निश्चय करने के लिए अनेक पर्यवेक्षण किये गये हैं। उदाहरण के लिए सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपबन्ध को लिया जा सकता है। पुस्तकालय अध्यक्ष यह बता सकता है कि विभिन्न रुचियों वाले पाठकों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कम से कम कितनी पुस्तकें होनी चाहिए। मान लो यह संख्या दस हजार निर्धारित
गई तो यह जरूरी है कि पुस्तकालय का प्रयोग करने वाले बीस हजार
अनु को इतने लोग अवश्य ही पैदा करने होंगे जो कि पुस्तकालय को सार्थक
अ क के लिए उसका अधिक से अधिक उपयोग कर सकें। कहने का अर्थ
किन्तु से पुस्तकालय एक ऐसी चीज है जिसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष रूप से जनता
अनुचित न बहुत कम है। ऐसा नहीं हो सकता कि यदि आबादी आधी है
आया। किन्‍ल पांच हजार पुस्तकों का ही पुस्तकालय होना चाहिए।
मात्रा अधिक ही जनसंख्या वाले प्रदेश के लिए भी यह आवश्यक नहीं है कि
जायेगी। इसका ना ही बनाया जाये। इस प्रकार की सेवाओं के लिए एक
अच्छी प्रकार से ग तो तय की जा सकती है किन्तु इस सम्बन्ध में कोई

दो क्षेत्रों कोनाया जा सकता।

देता है जबकि असमान भांति ही स्कूल खोलने का कार्य भी अत्यन्त जटिलता-
यदि क्षेत्रों से एक के पा रीक्षण के आधार पर हम एक ऐसी संख्या के ऊपर
हैं, तथा जनसंख्या पर्याप्त

पहुंचने का प्रयास यहां भी कर सकते हैं। स्कूल का सर्वश्रेष्ठ आकार वह समझा जाता है जिसमें कि स्कूल की कक्षायें उचित आकार की बन सकें, विभिन्न उम्र वाले बच्चों के लिए विभिन्न योग्यताओं वाली कक्षायें बनायी जा सकें। इस मापदण्ड के आधार पर हम यह तय कर सकते हैं कि स्कूल खोलने के लिए जनसंख्या का सबसे अच्छा आकार क्या रहेगा।

स्वास्थ्य सेवाओं द्वारा क्षेत्रों की और भी अधिक कठिन समस्या खड़ी की जाती है। एक पूर्ण स्टाफ एवं साधनों से सम्पन्न अस्पताल अपने निकट की बस्ती की साधारण समस्याओं को निपटा सकता है। इसके अतिरिक्त वह बड़े क्षेत्र के नागरिकों के विशेष मामलों एवं बीमारियों के लिए केन्द्र का कार्य भी कर सकता है। केवल सबसे बड़ी जनसंख्या वाली बस्तियां ही इस प्रकार के अस्पताल को चला सकती हैं किन्तु इसे बस्ती की सीमा के बाहर के बड़े क्षेत्र के लिए भी सदैव उपलब्ध रहना होता है। जहां तक ग्रेट ब्रिटेन का सम्बन्ध है वहां अस्पताल सेवाओं को इसी विधि से राष्ट्रीयकृत कर दिया गया था। यह व्यवस्था वहां की वर्तमान स्थानीय सरकार व्यवस्था में उचित नहीं ठहरती।

ग्रेट ब्रिटेन में अनेक स्थानीय सत्तायें विद्युत उद्यम को संचालित करती थीं जब कि दूसरे क्षेत्रों में यह व्यक्तिगत उद्यम के क्षेत्र में आती थी किन्तु १९४७ में विद्युत उद्यमों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इसका एक मुख्य कारण यह बताया गया था कि अधिक कार्यकुशलता प्राप्त करने के लिए यन्त्र को बड़ा होना चाहिए तथा सारे देश के विद्युत उत्पादन यन्त्रों को एक सम्बन्धित व्यवस्था में रखा जाना चाहिए। यह सब स्थानीय सरकार की इकाइयों द्वारा नहीं किया जा सकता था और इसीलिए यह कार्य एक विशेष वैधानिक निगम को सौंपा गया। इस व्यवस्था में यह भी सम्भव था कि विद्युत के उत्पादन एवं बड़े स्तर के वितरण को राष्ट्रीयकृत कर दिया जाता तथा स्थानीय सत्ताओं से कहा जाता कि वे विद्युत खरीदें और उसे उपभोक्ताओं को वितरित करें। किन्तु ऐसा करने की बजाय पूरे उद्योग को ही राष्ट्रीयकृत कर दिया गया तथा उद्योग को विभाजित नहीं किया गया।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि सेवाओं के लिए क्षेत्रों का विचार कोई एक उत्तर नहीं देता। यहां निम्न बातें मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं:—

(१) यद्यपि हम यह निश्चित कर सकते हैं कि एक इकाई का आकार क्या होना चाहिए किन्तु अनेक परिस्थितियों में हमें आदर्श से छोटी इकाइयों को भी स्वीकार करना पड़ता है। हम यह तर्क नहीं कर सकते क्योंकि एक स्कूल की स्थापना के लिए पांच हजार की जनसंख्या का होना अच्छा रहता है इसलिए इससे कम जनसंख्या वाले किसी भी स्थान पर स्कूल खोले ही नहीं जा सकते। गांवों में भी स्कूल स्थापित करने पड़ जाते हैं। यदि किसी गांव में पर्याप्त बच्चे पढ़ने के लिए एकत्रित न हो सकें तो इसके लिए कुछ अन्य व्यवस्था करनी पड़ती है, उदाहरण के लिये वहां के बच्चों को ऐसे स्थान तक ले जाने की व्यवस्था करनी पड़ती है जहां कि आस-पास के गांवों से

पर्याप्त संख्या में बालक एकत्रित हो सकें। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हम सेवा के लिये उपयुक्त जनसंख्या का आकार चाहे कितना भी निश्चित करें, हमको जनसंख्या के वर्तमान वितरण के आधार पर भी इन सेवाओं को प्रदान करने की व्यवस्था करनी होती है। यहां इस प्रकार का तर्क काम नहीं दे सकता क्योंकि कुछ प्रकार की सेवाओं के लिये कम से कम दो हजार की संख्या का होना जरूरी है इसलिये इससे कम की जनसंख्या वाले गांवों को छोड़ दिया जाये। लोगों की इस प्रकार अवहेलना करना असम्भव है। प्रजातन्त्र में जनता ठन्डेदिमाग से प्रशासकों की इच्छा पर ही अवलम्बित नहीं रह सकती।

(२) इस सम्बन्ध में कोई सार्वभौमिक (Universal) नियम नहीं हो सकता। सभी सेवाओं के विभिन्नतापूर्ण क्षेत्र होते हैं। उदाहरण के लिये एक आग बुझाने वाला यन्त्र उस सारे क्षेत्र की सेवा कर सकता है जहां कि ये यन्त्र अपने स्थान से सुविधापूर्वक पहुंच सकें तथा जहां काफी लोग सहायतार्थ प्राप्त हो सकें। यहां ऐसी व्यवस्था नहीं होती कि छोटी आग का सामना करने के लिये छोटे इंजन रखे जायें। यह एक ऐसी सेवा है जिसको इस आधार पर विभाजित नहीं किया जा सकता तथा इसकी सेवायें जनसंख्या के आकार के आधार पर नहीं वरन् रास्ते की सड़कों तथा अन्य सुविधाओं पर निर्भर करती है। अनेक सेवाओं का एक जनसंख्या के आधार पर क्षेत्र बन जाता है किन्तु ये सेवायें प्रायः अविभाज्य चीज नहीं हुआ करतीं। उदाहरण के लिए हम स्वास्थ्य सेवा को लेकर यह नहीं कह सकते कि इस सेवा के लिये कम से कम इतने हजार लोगों का होना जरूरी है। सेवा के अनेक भाग होते हैं और वे अनेक स्तरों पर व्यवहृत की जाती है। अस्पतालों के लिए बड़े क्षेत्र की आवश्यकता होती है। एक नर्स अथवा दाई अनेक लोगों की देखभाल कर सकती है। प्राइमरी तथा माध्यमिक स्कूलों द्वारा जनसंख्या के विभिन्न आकारों की सेवा की जाती है।

(३) एक ऐसा आकार जिस पर कि सेवा के केवल एक भाग को ही लागू किया जा सके, प्रशासन के लिये आवश्यक रूप से एक उचित आकार नहीं होता। एक प्राथमिक स्कूल केवल एक ही गांव की सेवा कर सकता है तथा उसी क्षेत्र के लिये एक जिला नर्स की आवश्यकता हो सकती है। यह भी हो सकता है वह अपनी संरक्षता में दो या इससे अधिक गांवों को ले ले।

(४) जब प्रशासनिक संगठन में दो स्तर होते हैं तो मुख्य सत्ता के मुख्य रूप से दो अलग-अलग कार्य बन जाते हैं—प्रथम तो यह उन हिस्सों का भी प्रशासन करती है जिनको कि बड़े क्षेत्र की आवश्यकता है; दूसरे, इसे हिस्सों के लिये कुछ संयुक्त नियोजन करना चाहिये जिसे कि दूसरे स्तर पर प्रशासित किया जा सके। किन्तु सामान्य नियोजन के अन्तर्गत वास्तविक प्रशासन सबसे नीचे के प्रशासकीय स्तर पर होना चाहिये।

सामाजिक ढांचा

[The Social Pattern]

यदि यह सम्भव हो सके कि हम लोगों के व्यवहार एवं जीवन के

तरीके का एक सामाजिक ढांचा बना सकें तो इससे हमें स्थानीय सरकार का ढांचा बनाने में बड़ी मदद मिलेगी। कई बार यह सोच लिया जाता है कि जाति, भाषा, धर्म आदि के आधार पर यदि लोगों का विभाजन हो जाये तो स्थानीय सरकार की इकाई के लिये एक संतोषजनक आधार प्राप्त हो जायेगा क्योंकि जातीय एवं भाषायी आधार पर जो समूह बनते हैं वे उस क्षेत्र से पर्याप्त बड़े बनते हैं जिसको कि हम स्थानीय सरकार के लिय उचित समझते हैं। यह विचार वास्तविक व्यवहार का परीक्षण करने के बाद अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं होता।

स्थानीय जानपहचान स्पष्ट रूप से एक महत्वपूर्ण तत्व होता है। इङ्गलैण्ड में यह विशेष रूप से अधिक है क्योंकि क्रिकेट तथा फुटबाल के मैचों का आधुनिक रूप इसमें बहुत सहायक बनता है जिसे कि हजारों लोगों द्वारा देखा जाता है तथा उससे भी अधिक लोग अखबार, रेडियो, टेलीविजन आदि के माध्यम से उसे देखते, सुनते या पढ़ते हैं। किन्तु यहाँ हमको स्थानीय पहचान के तत्व के सम्बन्ध में अधिक अतिशयोक्तियां नहीं करनी चाहिए क्योंकि इसके प्रभाव की भी अपनी सीमा होती है।

आज शिक्षा का अधिक प्रचार हो जाने के कारण पहले की अपेक्षा अधिक लोग पढ़ने लगे हैं। इसी प्रकार आवागमन के साधनों के विकास के फलस्वरूप उनमें यहां से वहां जाने की क्षमता का भी विकास हुआ है। जब एक कस्बा निरन्तर गति के साथ विकास करता जा रहा है तथा उसके नगरपालिका क्षेत्र से बाहर भी जनता बसती जा रही है तो ऐसी स्थिति में यह निश्चित प्रायः सा ही होता है कि आने वाली अधिकांश नई जनसंख्या दूसरे और कम सम्पन्न क्षेत्रों से आई है। ये आने वाले लोग भी कुछ समय बाद उस स्थान के प्रति अपनत्व के भाव विकसित कर लेंगे किन्तु उनके भावों का आकार एवं प्रकार उन लोगों की तुलना नहीं कर सकता जो कि बहुत समय से ही उस क्षेत्र की नगरपालिका सीमाओं में रह रहे हैं।

यह निर्धारित करना बड़ा कठिन होता है कि लोगों के दिलों में कितनी स्थानीय पहचान है तथा वे कितनी अपनत्व की भावना रखते हैं। इसे नाप सकना तो और भी असम्भव है। जो लोग अधिक कट्टर विचारों वाले हैं वे जोर से चिल्लाते हैं और जो लोग कुछ परवाह नहीं करते उनकी किसी बात को सुना ही नहीं जाता। यदि हम यह देखने का प्रयास करें कि लोग किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करते हैं तो हम व्यवहार का एक ऐसा तरीका निर्धारित कर सकते हैं जो कि तथ्यों के निरीक्षण पर आधारित है। हम यह आसानी से देख सकते हैं कि लोग काम करने के लिए, दूकानदारी करने के लिए, व्यापार करने के लिए, बैंकिंग तथा व्यावसायिक सेवा करने के लिए, तथा मनोरंजन आदि करने के लिए कहां जाते हैं। इस सबके परिणामस्वरूप एक जटिल तरीका बन जायेगा।

यदि हम ग्रेट ब्रिटेन के देहाती पेरिसों में रहने वाली जनता का अध्ययन करें तो पायेंगे कि वे लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए गांव जाते हैं, उदाहरण के लिए साधारण चीजों की खरीद जो कि प्रायः आवश्यक होता हैं। कुछ ऐसी भी चीजें होती हैं जो कि गांवों में प्राप्त नहीं

हो पातीं, उसके लिए कस्बों में जाना होता है । ये कस्बे जिस रूप में विकसित हुए हैं उसमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव बाजारों की व्यवस्था द्वारा हुआ है। अब उनमें धीरे-धीरे कुछ व्यापार एवं उद्योग का भी विकास होता जा रहा है किन्तु मूल रूप से ये अभी भी बाजारनुमा बिक्री और खरीददारी के केन्द्र बने हुए हैं। इस अर्थ में यदि हम कस्बे को लें तो उसका आकार अत्यन्त छोटा होता है तथा उसकी जनसंख्या पांच हजार से सम्भवतः कम ही होती है किन्तु धीरे-धीरे इसके अधिक होने की हर सम्भावना रहती है। संगठन एवं बनावट की दृष्टि से दोनों के बीच जो एक प्रकार का अन्योन्याश्रितता का सम्बन्ध रहता है, वह सम्बन्ध देहाती क्षेत्रों को तथा कस्बे को परस्पर समायोजित करने में महत्वपूर्ण रूप से भाग लेता है।

एक कस्बे की सामाजिक बनावट का विश्लेषण करना बड़ा ही असम्भव है। किसी भी कस्बे में सभी लोग प्रत्येक चीज के लिए कस्बे के केन्द्रीय स्थान पर नहीं जाते क्योंकि एक केन्द्रीय स्थान पर आना न उपयोगी ही लगता है और न प्रभावशील ही। यहां माध्यमिक केन्द्र भी होते हैं जहाँ कि कुछ दुकानें होती हैं, डाकघर होता है, केफ होता है तथा सिनेमा आदि भी होते हैं वे एक प्रकार से पड़ौसीपन का कार्य करते हैं। यह पड़ौसपन पांच हजार लोगों के बीच में भी हो सकता है। इस संख्या को सामान्य रूप से प्राथमिक शिक्षा के लिए स्वीकृत आकार समझा जाता है और इस लिए वहां एक स्कूल भी खोला जा सकता है। कभी-कभी यह पड़ौसपन बड़ा भी हो जाता है और ऐसी स्थिति में यहां बैंक की अनेक शाखायें खुल जाती हैं तथा मुख्य-मुख्य स्टोर भी खुल जाते हैं।

एक बड़े शहर में मुख्य रूप से तीन स्तर पाये जाते हैं। पड़ौसनपन वाले समूह सबसे प्रथम स्तर पर होते हैं, उनके बाद माध्यमिक केन्द्र होते हैं जिनको कस्बा कहा जा सकता है और ये कस्बे अपने ऊपर वाले तीसरे केन्द्र 'शहर' की ओर देखते हैं। लोग आम तौर से अपने पड़ौसपन के केन्द्रों (Neighbourhood Centres) पर इसलिए जाते हैं ताकि अपनी साधारण एवं अधिक नियमित आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। किन्तु ऊपर के केन्द्रों की ओर वे प्रायः उन आवश्यकताओं की संतुष्टी के लिए जाते हैं जो कि अधिक महत्वपूर्ण एवं विशेषीकृत होती हैं। जब तक स्थानीय संगठन के इस रूप की उपयोगिता को न समझा जाये उस समय तक सही व्यवस्था नहीं की जा सकती। इसके अतिरिक्त माध्यमिक केन्द्रों का संगठन भी नहीं किया जा सकता। आजकल यह स्पष्ट हो चुका है कि यदि हम शहरी क्षेत्रों का विकास करना चाहते हैं तो इसके लिए हमको संगठन की प्रथम इकाई अर्थात् पड़ौसीपन के समूहों पर भी पर्याप्त ध्यान देना होगा। साथ ही वहाँ पर प्राथमिक स्कूल, युवक मण्डल, समुदाय केन्द्र, दुकान आदि के लिए भी विशेष व्यवस्था का ध्यान रखना होगा। पुराने शहरों का पुनर्विकास करने से सम्बन्धित योजनाओं का भी इस विचार पर निर्भर रहना जरूरी है कि पड़ौसपन एवं नगर केन्द्र के बीच एक मध्यस्तरीय शहरी केन्द्र भी रहता है। यहां यह खतरा रहता है कि सामाजिक बनावट का एक विस्तृत

ढांचा देखकर इसे एक कठोर रूप ही माना जायेगा। कस्बे के जीवन का एक सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि रोजगार, दुकानदारी, आनन्द, पड़ौसपन आदि बातों में बहुत कुछ इच्छा शक्ति एवं पसन्द का प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि इसके द्वारा नगर की किसी समस्या का उल्लेखनीय रूप से समाधान नहीं किया जाता।

सामाजिक बनावट का अध्ययन करने के बाद दो बातें स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती हैं। प्रथम यह कि प्रत्येक इकाई में एक केन्द्र होता है तथा इसको चारों ओर से घेरे हुए एक क्षेत्र भी होता है जो कि अपनी अनेक आवश्यकताओं के लिए केन्द्र की ओर देखता है तथा केन्द्र द्वारा उसकी सेवायें की जाती हैं। एक कस्बे तथा काउन्टी के बीच कोई विभाजक रेखा नहीं होती। दूसरे यह कि स्थानीय संगठन में कई स्तर अथवा टायर होते हैं। जहाँ कहीं भी हम रहते हैं उस छोटे क्षेत्र से कुछ बड़े क्षेत्र की ओर देखते हैं और बाद में उससे भी बड़े क्षेत्र की ओर निगाह फैलाते हैं। हमारे ये प्रयास आवश्यकता के स्तर एव प्रभाव पर आधारित हैं। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि हमारे पास कोई एकमात्र केन्द्र नहीं रहता जो कि सभी आवश्यकताओं को पूरा कर सके।

क्षेत्र से सम्बन्धित कुछ व्यावहारिक प्रश्न
(Some practical questions concerning Areas)

स्थानीय सरकार के क्षेत्र का निश्चय करते समय अनेक व्यावहारिक प्रश्न सामने आते हैं। इन प्रश्नों पर विचार किये बिना ही स्थानीय सरकार के क्षेत्र से सम्बन्धित हमारा अध्ययन अधूरा ही रहेगा। इस सम्बन्ध में प्रथम महत्वपूर्ण बात यह है कि स्थानीय सरकार के क्षेत्र पर सरकार अथवा राज्य के रूप का उल्लेखनीय प्रभाव होता है। ऐसे देशों में जहां पर कि संघीय सरकार होती है तथा जहाँ पर कि प्रत्येक निर्मायक भाग चाहे वह राज्य है अथवा प्रान्त हैं, अपनी स्थानीय सरकार की व्यवस्था के लिये उत्तरदायी होता है वहाँ पर राज्य अथवा प्रान्तों के क्षेत्र स्थानीय सरकार के क्षेत्र नहीं होते। यह कथन संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ राज्यों, स्विट्जरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, कनाडा, आदि देशों के सम्बन्ध में लागू होता है। इन देशों में से किसी में भी संघीय सरकार स्थानीय सत्ता से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती। राज्य अथवा प्रान्त उनके बीच मध्यस्थ की स्थिति रखते हैं। स्विट्जरलैण्ड को छोड़कर योरोप के अन्य देशों में स्थानीय सरकार का क्षेत्र केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। इनमें कुछ मामले ऐसे भी हैं जहां पर कि ये स्थानीय सम्भागों पर आधारित रहते हैं जिनको कि केन्द्रीय सरकार ने जन्म से पहले ही मान्यता प्रदान की थी।

क्षेत्र के सम्बन्ध में एक दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इसकी इकाई (Unit) क्या रखी जाये? फ्रांस में 'कम्यून' स्थानीय सरकार की मूल इकाई होती है। यह कम्यून कभी-कभी तो लिले (Lille) या नाइस (Nice) जितना बड़ा होता है और कभी-कभी यह सौ के करीब निवासियों जितना

छोटा होता है। कम्यून चाहे छोटा हो अथवा बड़ा हो, स्थानीय सत्ता का संविधान, उसकी शक्तियां और कर्त्तव्य, उसका कानून स्तर आदि बातें एक जैसी ही होती हैं। दोनों ही प्रकार के कम्यून 'विभाग' के निर्णायक भाग होते हैं। फ्रांस में लगभग ३७००० कम्यून हैं जिनका क्षेत्रफल दस एकड़ से लेकर चार सौ एकड़ मील तक है। इनका अनुपात ३६४५ मील है। कम्यून तथा विभाग के बीच भी संभाग होते हैं जिनको केन्टन (Cantons) कहा जाता है। इनमें से कुछ को एरोन्डिसमेन्ट्स (Arrondissements) भी कहते हैं किन्तु इनका अधिक प्रशासकीय महत्व नहीं होता।

विभागों की स्थापना फ्रांस में क्रान्ति के समय की गई थी। ये कम्यूनों का संयोग मात्र हैं। इनका आकार उतना ही है जितना कि उस समय उपयुक्त समझा गया। आकार का निश्चय करते समय यह ध्यान रखा गया है कि सभी कम्यूनों के प्रतिनिधि विभागीय राजधानी या काउन्टी टाउन में बैठकों में भाग ले सकें। विभागों के नाम किसी भौतिक विशेषता या किसी स्थिति की घटना के आधार पर रखे जाते हैं।

फ्रांस में कम्यून की व्यवस्था इंगलैंड की व्यवस्था से पूरी तरह भिन्न है। यद्यपि क्षेत्र की दृष्टि से ब्रिटिश पेरिस को फ्रांसीसी देहाती कम्यून के समकक्ष माना जा सकता है किन्तु दोनोंके कार्यों में यह साम्य नहीं है। यह केवल देहाती जिलों में ही रहती है और देहाती जिले शहरी जिले तथा बॉरो एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न हैं। इसी प्रकार ब्रिटिश काउन्टी को गौण स्थानीय सरकार के क्षेत्रों का योग मात्र नहीं कह सकते किन्तु यह अेक भौगोलिक इकाई के रूप में दूसरों की अपेक्षा अेक लम्बा इतिहास रखती है। यह प्रशासकीय क्षेत्र के रूप में १८८८ में अस्तित्व में आई जबकि इसमें अेक निर्वाचित परिषद रखने का भी प्रावधान था। इसका अर्थ यह है कि इसका आगमन शहरी जिलों, देहाती जिलों तथा पेरिसों से भी पहले हो चुका था।

अधिकांश योरोपीय देशों में फ्रांस की भांति ही 'कम्यून' स्थानीय सरकार की मूल इकाई हैं। किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटिश समुद्र पार के उपनिवेशों में स्थानीय सरकार की ऐसी कोई इकाई नहीं होती जिसकी तुलना कम्यून से की जा सके। इन देशों की अधिकांश भूमि आज भी प्रशासकीय दृष्टि से राज्य अथवा प्रान्त के अधिकार क्षेत्र में है। जब अेक उचित क्षेत्र में पर्याप्त जनसंख्या अेकत्रित हो जाये तो वह क्षेत्र अेक प्रार्थना पत्र के आधार पर अेक गांव के रूप में या अेक देहाती नगरपालिका या जो कुछ भी इसे नाम दिया जाये, के रूप में बना दिया जायेगा। ज्यों-ज्यों इस क्षेत्र का महत्व बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों यह अेक कस्बा, अेक शहरी नगरपालिका या अेक नगर का रूप धारण करता जायेगा।

स्थानीय सरकार के क्षेत्र की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमरीका के क्षेत्र अत्यन्त उल्लेखनीय हैं। कुछ अमरीकी राज्यों में अत्यन्त छोटा शहरी समाज अेक 'नगर' (City) होता है। दूसरों में कम से कम जनसंख्या की सीमा २५० से लेकर पांचसौ तक रखदी जाती है। न्यूयार्क, टेक्सास, पेन्सिलवानिया आदि राज्यों में कम से कम जनसंख्या

दस हजार है। संयुक्त राज्य अमरीका में वर्त्तमान प्रवृत्ति बड़े तथा श्रेष्ठ शहरों की ओर चलती दिखाई देती है। राष्ट्रीय स्रोत समिति (१९३७) की शहरीकरण समिति के प्रतिवेदन में यह कहा गया कि राजधानी के कार्यों का उचित व्यवहार यह मांग करता है कि स्थानीय सरकार के क्षेत्रों का, शक्ति का अेवं तकनीकों का विस्तार अेवं विकास किया जाये तथा उन राजनैतिक सीमा रेखाओं की परवाह न की जाये जो कि इन जटिल शहरी जिलों को पार करती हैं।[1]

संयुक्त राज्य अमरीका में राजधानी जिलों का विचार भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सेन्सस के ब्यूरो द्वारा इसे परिमापित करते हुअे कहा गया है कि पचास हजार या उससे अधिक की जनसंख्या वाले नगर या नगरों के समूह के चारों ओर विखरे हुये रूप में स्थापित सभी क्षेत्रों को राजधानी क्षेत्र कहा जा सकता है। इसके केन्द्रीय नगरों तथा उनके आस–पास लगे छोटे नगरों के सम्भाग भी इसमें आ जाते हैं जिनका क्षेत्रफल १५० वर्गमील या इससे अधिक होता है। इन राजधानी क्षेत्रों के लिये अभी तक कोई विशेष प्रशासकीय संगठन नहीं वनाया गया है। यह अेक ऐसी समस्या है जो कि संयुक्त राज्य अमरीका के अतिरिक्त अन्य देशों को भी प्रभावित करती है। महान लन्दन इसका एक स्पष्ट उदाहरण है किन्तु इस समस्या को सुलझाने का अंग्रेजी तरीका अमरीकी तरीके से भिन्न है। नगरों के आकार को बढ़ने की सुविधा देने की अपेक्षा प्रवृत्ति यह रहती है कि उनके विकास को रोक दिया जाये तथा उनके चारों ओर या तो नये गांव वना दिये जायें अथवा वने हुये गांवों को विकसित कर दिया जाये।

अमरीकी काउन्टीज तथा टाउनशिप का संगठन इससे कुछ भिन्नता रखता है। शहरों के वाहर तो यहां प्रशासकीय संगठन प्राय: रहता ही नहीं। संघ का प्रत्येक राज्य काऊन्टीज में बंटा रहता है। अेक राज्य में १० से लेकर १५० तक काउन्टीज होती है तथा पूरे संयुक्त राज्य अमरीका में इनकी संख्या लगभग ३००० से भी ऊपर है। अेक काउन्टी का क्षेत्र औसतन १६० वर्गमील होता है किन्तु उनमें से लगभग दो तिहाई ३०० से ६०० वर्गमील के वीच में है। यह औसत पश्चिमी क्षेत्रों के बड़े क्षेत्रों में वढ़ रहा है, जहां १२८ काउन्टीज ऐसी हैं जिनमें से प्रत्येक, चार हजार वर्गमील का क्षेत्र रखती है। अधिकांश क्षेत्र चार सौ तथा छ:सौ पचास वर्गमील के वीच में हैं। अेक काउन्टी की औसतन जनसंख्या ३९००० है। आधी से अधिक काउन्टीज १००० से ३०००० तक की जनसंख्या वाली है किन्तु कुछ छोटी देहाती काउन्टीज में केवल कुछ सौ निवासी ही होते हैं।

---

1. "Proper conduct of metropolitan affairs requires an enlargement and development of local government areas, powers and techniques, irrespective of the political boundary lines which criscross these complex urban Distts."

—Report of the Urbanism Committee to the National Resources Committee (1937)

अमरीका के कुछ राज्यों में क्षेत्र की कम से कम सीमा रखदी गई है तथा कुछ में कम से कम जनसंख्या सीमा भी बता दी गई है।

कुछ राज्यों में एक काउन्टी से छोटे भी देहाती क्षेत्र होते हैं जिनको टाउन या टाउनशिप कहा जाता है। यह व्यवस्था न्यू इण्डलेण्ड राज्यों में बहुत आम है। टाउन का क्षेत्र बीस से चालीस वर्गमील तक का होता है।

ग्रेट ब्रिटेन में प्रशासकीय काउन्टीज का क्षेत्र बहुत विभिन्नतापूर्ण है। यह ८३ से २६०० वर्गमील तक होता है। यहां की मध्यम आकार की काउन्टी संयुक्त राज्य अमरीका की औसतन काउन्टी की तुलना में छोटी होती है। फ्रांस में पाये जाने वाले विभागों का आकार बहुत कुछ अेक जैसा रहता है। इनका औसत दो हजार वर्गमील से ऊपर होता है। सन् १९३२ में प्रूसियन घेरा ८० से ५०० वर्गमील के क्षेत्र में था।

स्थानीय सरकार के क्षेत्रों के सम्बन्ध में अेक उल्लेखनीय बात यह है कि इनकी सीमाओं अेवं स्तर में लगातार परिवर्तन होता रहता है। अेक पेरिस अथवा पूरा देहाती जिला, यह आकांक्षा रखेगा कि अेक शहरी जिला बन जाये, शहरी जिला चाहेगा कि नगर–पालिका बॉरो बन जाये, और नगर-पालिका बॉरो यह चाहेगा कि काउन्टी बॉरो बन जाये। इस प्रकार के परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करने के लिए लगातार यह मांग होती रहती है कि सीमाओं में परिवर्तन किये जायें। यह स्पष्ट है कि एक क्षेत्र के लाभ का अर्थ होता है दूसरे क्षेत्र की हानि। जहां कहीं भी इस प्रकार का परिवर्तन किया जाता है वहां हमेशा काउन्टी अथवा देहाती जिले का नुकसान होता है। संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटिश उपनिवेशों में समाज के विकास तथा जनसंख्या की उन्नति के साथ ही प्रशासकीय सीमाओं एवं स्तर में आवश्यक परिवर्तन कर दिया जाता है। अमरीका में यह विषय राज्य व्यवस्थापिकाओं के अधिकार क्षेत्र में आता है। इसके लिये सम्बन्धित जनता अर्थात् वहाँ के निवासियों का मत लिया जाता है।

कुछ वर्षों से अनेक देशों में प्रशासकीय क्षेत्र का विस्तार करने की प्रवृत्ति भी जोर पकड़ती जारही है। इंगलैण्ड तथा वेल्स में १९२९ में हाईवेज का प्रशासन शहरी तथा देहाती जिला कांग्रेसों से काउन्टी काउन्सिलों को हस्तांतरित कर दिया गया। बोर्ड आफ गार्जियन्स को नष्ट कर दिया गया तथा उसकी शक्तियां काउन्टीज की परिषदों तथा काउन्टी बॉरोज को सौंप दी गई। इसके अतिरिक्त काउन्टी परिषदों को उनके क्षेत्र का पुनर्गठन करने के लिये कार्यक्रम बनाना था ताकि अनावश्यक रूप से छोटे शहरी एवं ग्रामीण जिलों को समाप्त किया जा सके। १९२९ के स्थानीय सरकार अधिनियम (१९२९) ने पेरिस परिषदों तथा अन्य अनेक छोटी सत्ताओं को नष्ट कर दिया। इससे पूर्व आयरिश स्वतन्त्र राज्य ने १९२५ में ही देहाती जिलों के प्रशासकीय इकाई के रूप को समाप्त कर दिया। इन प्रत्येक परिवर्तनों में बड़ी इकाई अर्थात् काउन्टी का लाभ हुआ। सन् १९४५

में ब्रिटिश सरकार ने एक सीमा आयोग बैठाया ताकि वह स्थानीय सत्ताओं की तत्कालीन सीमाओं में परिवर्तन कर सके। इस आयोग ने सन् १९४८ में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जबकि १९४६ में अस्पताल के क्षेत्रों का विस्तार कर दिया गया था।

विस्तारवादी प्रवृत्ति के होते हुये भी अधिकांश योरोपीय राज्यों की स्थानीय सरकार के क्षेत्रों में अधिक परिवर्तन नहीं किये जा सके। फ्रांस में भी कुछ इस प्रकार का आन्दोलन चला था कि कम्यूनों का जो समूह इतना गरीब है कि स्वयं के पांवों पर खड़ा नहीं हो सकता, उसको परस्पर मिला दिया जाये। किन्तु यह कहना गलत होगा कि इस क्षेत्र में कुछ उल्लेखनीय कार्य किया गया।

स्थानीय सरकार के प्रशासन में क्षेत्रवाद की समस्या का प्रसार धीरे-धीरे बढ़ता जा रहा है। अनेक योरोपीय देशों ने इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया कि वर्तमान काउन्टीज, विभाग या प्रान्तों की अपेक्षा सब के लिये नहीं तो कम से कम कुछ स्थानीय सरकार के लक्ष्यों के लिये तो अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में 'क्षेत्र' स्थापित कर दिये जायें। इस क्षेत्रवाद के विचार की वकालत विशेष रूप से फ्रांस में की गई थी। स्थानीय सरकार का वर्तमान में सबसे बड़ा क्षेत्र 'विभाग' उस समय अधिक सुविधाजनक समझा जाता था जबकि तार, टेलीफोन, तथा यहां तक कि मोटर कार का भी अस्तित्व नहीं था; साथ ही विस्तृत क्षेत्रों में गैस, पानी, बिजली आदि भेजने की समस्या भी नहीं उठ पायी थी। अब यह अनेक विचारकों का मत है कि विभाग से भी बड़े किसी संगठन की आवश्यकता है तथा इसके लिये अनेक कार्यक्रम प्रस्तुत किये गये। मि० आर० के० गूच (R. K. Gooch) का कहना है कि फ्रांस में क्षेत्रवाद के लिए व्यक्तिगत रूप से लगभग ३५ प्रस्ताव रखे गये तथा २५ प्रस्ताव संसद की ओर से गम्भीरतापूर्वक रखे गये। किन्तु अनुकूल प्रतिवेदन आने के बावजूद भी कोई क्षेत्रवादी प्रस्ताव सदन में विचारार्थ नहीं आ सका।

ग्रेट ब्रिटेन में यह विचार जड़ पकड़ता जा रहा है। वहां पूरे ग्रेट ब्रिटेन को भी कुछ लक्ष्यों के लिये एक बड़ा क्षेत्र (Region) नहीं माना जाता। संयुक्त राज्य अमरीका में भी स्थानीय सरकार की शक्तियों को राज्य सरकार के हाथ में देने की प्रवृति जोर पकड़ती जा रही है। यहां यह उल्लेखनीय है कि नौ अमरीकी राज्य पूरे ग्रेट ब्रिटेन से भी बड़े हैं तथा इक्कीस, इङ्गलैण्ड तथा वेल्स से बड़े हैं। नोर्थ केरोलिना राज्य अकेले इङ्गलैण्ड से बड़ा है।

'क्षेत्रों' के सम्बन्ध में एक अन्य दृष्टिकोण भी है जिसका विकास संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ है। यह पूरी तरह स्थानीय सरकार से सम्बन्ध नहीं रखता, इसका सम्बन्ध एक व्यापक अर्थ में नियोजन (Planning) से होता है। इस उद्देश्य से राष्ट्रीय साधन समिति (National Resources Committee) ने यह मत प्रकट किया कि एक क्षेत्रीय संगठन

की स्थापना करना निहायत जरूरी है जो कि सभी वर्तमान सीमाओं की अवहेलना करे, यहां तक कि राज्य की सीमाओं को भी न माने। इस प्रकार के क्षेत्रीय संगठन को, चाहे इसका कोई भी रूप क्यों न हो, सम्प्रभुता का नया रूप नहीं मानना चाहिये। यह अनजाने में भी ऐसा नहीं है। किसी भी स्थिति में इस प्रकार का संगठन ऐसा नहीं बन सकता कि इसके अलग से निर्वाचित कार्यकर्त्ता हों, व्यवस्थापिका हो तथा कर उगाहने की शक्ति हो। फलत: यह आवश्यक नहीं कि इस क्षेत्र की कुछ निश्चित सीमायें हों। इसी प्रकार इसके लिये यह भी जरूरी नहीं है कि कुछ निश्चित नागरिक हों। अनेक नागरिक एक उद्देश्य के लिये अपने आपको एक क्षेत्र का सदस्य मान सकते हैं तथा दूसरे उद्देश्य के लिये किसी अन्य क्षेत्र का।

इङ्गलैण्ड तथा वेल्स में जो आधुनिक समय में संयुक्त क्षेत्रीय नियोजन समितियां बनाई गई हैं उनके पीछे बहुत कुछ यही विचार कार्य कर रहा है। यद्यपि उनकी कुछ निश्चित सीमायें हैं तथा उनका एक निश्चित नियोजन है जो कि अमरीकी मान्यताओं से पर्याप्त दूर पड़ता है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि किसी भी देश में क्षेत्रवाद के समर्थक यह नहीं चाहते कि स्थानीय सरकार की छोटी इकाइयों को दबा दिया जाये तथा नियमानुसार ये समर्थक स्थानीय सरकार के उस रूप का अनुगमन करेंगे जो कि देश में प्रभावशील है। इस प्रकार फ्रांस के क्षेत्रवादी प्राय: यह प्रतिपादित करते हैं कि कुछ उद्देश्यों से अनेक विभागों को उनमें से किसी एक को प्रीफेक्ट के आधीन संगठित कर दिया जाये ; जब कि अंग्रेज क्षेत्रवादी इस बात का समर्थन करेंगे कि क्षेत्रीय परिषदें प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित की जायें। यह सच है कि कई बार अप्रत्यक्ष निर्वाचन का भी समर्थन किया जाता है। एक ऐसी क्षेत्रीय परिषद के बाबत कहा जाता है जिसमें कि सम्बन्धित स्थानीय सत्ताओं के प्रतिनिधि हों। यह व्यवस्था ग्रेट ब्रिटेन में भारी अलोकप्रिय है।

ग्रेट ब्रिटेन में केन्द्रीय सरकार के विभिन्न उद्देश्यों के लिये देश के अनेक भाग कर दिये गये हैं, उदाहरण के लिये डाकघर, ऑडिट, सेन्सस, विद्युत, रोजगार परिवर्तन आदि। यह अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि विभिन्न सरकारी विभाग अपनी मांगों को देशव्यापी बनाने में असमर्थ रहते हैं। पिछले महायुद्ध के समय जो नागरिक सुरक्षा क्षेत्रों (Civil Defence Regions) की व्यवस्था की गई उनमें इङ्गलैण्ड के दस क्षेत्र थे तथा ग्यारहवां वेल्स का था। इस संगठन का मुख्य उद्देश्य यह था कि देश के विभिन्न भागों के मध्य स्थित संचार व्यवस्था के संकट को दूर किया जाये तथा जो सरकारी मुख्य कार्यालय युद्ध प्रयासों के कारण घिर गये हैं उनकी उचित व्यवस्था की जाये। प्रत्येक क्षेत्र में अनेक सरकारी विभागों के प्रतिनिधि रखे गये तथा यह पाया गया कि स्वास्थ्य मंत्रालय का अनेकीकरण करने से स्थानीय सत्ताओं को अनेक लाभ हुये। संगठन के इस रूप द्वारा स्थानीय स्वायत्त सरकार के रूप को आवश्यक रूप से नहीं बदला गया।

स्थानीय सरकार के क्षेत्रों का निर्माण पूरी तरह से दूसरी बात है। इसे कभी-कभी केन्द्रीयकरण का रूप भी कह दिया जाता है, किन्तु यह

कहना सच नहीं है। इस प्रकार के क्षेत्रों के प्रशासकीय निकाय चाहे प्रत्यक्ष रूप से चुने जायें अथवा स्थानीय परिषदों द्वारा नामजद किये जायें, वे दोनों ही स्थितियों में स्थानीय सत्ता ही रहेंगे। यह सच है कि कुछ स्थानीय परिषदों की शक्ति अवश्य कम हो जायेगी तथा इसका सदैव ही विरोध किया जाता रहेगा। कुछ भी हो, इससे स्थानीय सरकार का सिद्धान्त प्रभावित नहीं होगा। क्षेत्रीयकरण कुल मिलाकर समय की एक आवश्यकता समझा जाता है तथा इसके अपने कुछ उपयोग भी हैं जिनको अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

स्थानीय सरकार के क्षेत्रों को सीमित करना एक समस्या होती है तथा स्थानीय सरकार की कोई भी समस्या इतनी कठिन नहीं होती। इस सम्बन्ध में जो भी सिद्धान्त बताया जाता है वह अपरिहार्य रूप से किसी न किसी स्थान पर हमको धोखा दे जाता है। वैज्ञानिक प्रगति ने ऐतिहासिक एवं परम्परागत सीमाओं को अर्थहीन बना दिया है। पुराने क्षेत्रों का आज अपने आप में कोई महत्व नहीं रह गया है जैसा कि पहले कभी माना जाता था। नाली व्यवस्था, जल-प्रसारण, विद्युतीकरण आदि आवश्यकताओं के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण इस परम्परा का प्रभाव और भी कम हो गया है। भौगोलिक रूप से किया गया विचार आज-कल अन्तिम उपयोगिता का प्रतीक नहीं माना जाता क्योंकि पुल बांध कर नदियों के दोनों पाटों को एक किया जा सकता है, पहाड़ों को काटकर गिराया जा सकता है। यातायात जोन का विचार उन दिनों सुझाया जाता था जब कि संचार के साधन रोमन-कालीन सभ्यता से भिन्न नहीं थे। किन्तु रेलवे तथा हवाई जहाज के आविष्कार के परिणामस्वरूप 'न्यूहेवन' न्यूयार्क का एक निकटस्थ जिला सा बन गया है।

वर्तमान शहरों के निवासी पानी, प्रकाश, नालियां आदि की दृष्टि से गांवों के निवासियों की अपेक्षा सेवाओं के विशेष उपबन्धों की आवश्यकता रखते हैं। इस कारण से सुविधा इस बात की मांग करती है कि नगर स्थानीय सरकार की एक स्वाभाविक इकाई है; किन्तु इसकी सीमाओं को निश्चित कर सकना बड़ा कठिन है क्योंकि ट्रामवे व्यवस्था अथवा यातायात का अन्य साधन उसे निकटस्थ क्षेत्रों के साथ मिला देगा। इसके अतिरिक्त अनेक सेवाओं की प्रकृति भी यह होती है कि उनके लिये बचत एवं कुशलता की दृष्टि से अधिक बड़े क्षेत्र की आवश्यकता है। कुल मिलाकर यही कहा जा सकता है कि प्रत्येक क्षेत्र चाहे वह शहरी हो अथवा देहाती, उसे अनेक जटिल कार्यों के साथ नियोजित होना जरूरी है। उनके प्रशासन का तरीका ऐसा होना चाहिये कि उनके सामान्य हितों के प्रस्तावों में उनके बीच सहयोग स्थापित होने के लिये पर्याप्त अवकाश हो।

इस प्रकार क्षेत्र (Area) आवश्यक रूप से कार्यों के आधार पर निश्चित किया जाना चाहिये। साथ ही प्रत्येक इकाई को यह स्वतन्त्रता एवं अवसर भी प्राप्त होना चाहिये कि वह अपनी विशेष आवश्यकता एवं रुचियों के आधार पर विशेष प्रबन्ध कर सके। इससे दो बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम, इसका अर्थ यह है कि जो लोग विभिन्न प्रकार की स्थानीय

समस्याओं को सुलझाने के सामान्य सिद्धान्तों को प्रशासित करते हैं वे नागरिकों द्वारा चुने जाने चाहिये, वे नियुक्त नहीं होने चाहिये और दूसरे, जो लोग इस प्रकार चुने जाते हैं उनको प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र से सम्बन्धित सेवाओं की सामान्य जटिलता को देखना चाहिये। इस व्यवस्था के द्वारा वही निकाय किसी भी कार्य पर विचार करने के लिये मिल सकता है जिससे कि उसके निर्वाचितों की सेवा होती हो। विभिन्न कार्यों के अनुसार नगरों को छोटे आकार के निर्वाचक जिलों में विभाजित किया जा सकता है ताकि निर्वाचक तथा उसके प्रतिनिधि के बीच पर्याप्त सम्बन्ध बनाया जा सके। यह इतना छोटा भी नहीं होना चाहिये कि प्रशासकीय नगरपालिका निकाय को इतना बड़ा बना दे कि व्यवहार को कुशलतापूर्वक संचालित न किया जा सके। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह जरूरी हो जाता है कि प्रकृति के आधार पर एक जैसे गांवों को (देहाती ज़िलों में) मिला दिया जाये। यह संयुक्त इकाई यद्यपि शहरी निर्वाचक जिलों से जनसंख्या की दृष्टि में छोटी रहेगी किन्तु फिर भी इसके द्वारा यह प्रयास किया जायेगा कि देहाती जीवन में स्थानीय सरकार से सम्बन्धित जो समस्यायें उठती हैं उन समस्याओं का समाधान किया जा सके। इस आधार पर निर्धारित प्रत्येक निर्वाचक जिला उस जिले के सदस्य के रूप में बैठेगा तथा जो प्रशासकीय निकाय स्थानीय आयात के मामलों पर विचार करेगा उसकी कार्यवाही में सक्रिय रूप से भाग लेगा।

स्थानीय सरकार की बनावट

[The Structure of Local Government]

स्थानीय सरकार का संगठन किसके द्वारा, किस रूप में तथा किस आकार-प्रकार में किया जायेगा यह एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसे निर्धारित करते समय राष्ट्रीय प्रसासन के रूप, देश की भौगोलिक अवस्था, स्थानीय जनसंख्या का निवास, देश का क्षेत्रफल, जनता का चरित्र आदि अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। ये सभी प्रभाव डालने वाले तत्व सभी देश में एक जैसे नहीं होते वरन् इनके बीच पर्याप्त भिन्नता होती है अतः सभी देशों में स्थानीय सरकार की बनावट भी एक जैसी नहीं हो सकती। स्थानीय सरकार के रूप अनेक प्रकार के हैं। एक बात इस सम्बन्ध में अत्यन्त रोचक है और वह यह कि स्थानीय सरकार के रूप को आवश्यक रूप से इस प्रकार नहीं बनाया जाता कि वह देश की विस्तृत सांवैधानिक परम्पराओं एवं व्यवहारों के अनुकूल हो। इसके विपरीत अनेक देश ऐसे भी हैं जहां कई वैकल्पिक रूप देखने को मिल जाते हैं। यदि एक देश का संविधान संयुक्त राज्य अमरीका की भांति संघीय है तो स्थानीय सरकार के रूप का निर्धारण कुछ निर्णायक इकाइयों के हाथ में छोड़ा जा सकता है। यदि एक देश का संविधान एकात्मक है तो बस्तियों के बीच परम्परावादी भिन्नताओं को भी पर्याप्त स्थान दिया जाता है, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में होता है अथवा स्थानीय समाज को संगठित होने के लिये कुछ सम्भव विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्थानीय सरकार के इन विभिन्न रूपों का विस्तार के साथ वर्णन करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं

है । यहां हम कुछ राष्ट्रीय परम्पराओं के आधार पर यह प्रयास करेंगे कि कुछ देशों के रचनात्मक पहलुओं का उल्लेख किया जा सके।

ग्रेट ब्रिटेन की स्थानीय सरकार का मुख्य पहलू सार्वजनिक रूप से निर्वाचित परिषद् होती है जिसकी सहायता के लिये एक व्यावसायिक नागरिक सेवा भी रहती है । इसके द्वारा प्रशासकीय एवं व्यवस्थापिका सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के कार्य सम्पन्न किये जाते हैं किन्तु इसके द्वारा कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जा सकता जिनके लिए कि उसे संसद के कानून द्वारा निर्देशित न किया गया हो । ब्रिटिश लोग इस व्यवहार को राष्ट्रीय एवं स्थानीय सत्ताओं के बीच हिस्सेदारी के जैसे सम्बंधों के आधार पर संचालित करना चाहते हैं किन्तु वर्तमान प्रवृत्तियों में कुछ परिवर्तन भी दिखाई देता है । ये निर्वाचित मन्डल अपने मुख्यिकालिन भूमिगत कार्यक्षेत्र के साथ उन्नीसवीं शताब्दी की उपज हैं । सर्वप्रथम १८३५ में ये परिषदें टाउन या बारोज के लिए संगठित की गई थीं । उसके बाद १८८८ में इनको काउन्टीज एवं नगरों के लिए संगठित किया गया और अन्त में १८९४ में ये जिले तथा पेरिसों के लिए संगठित की गई । आज तक स्थानीय सरकार अधिनियमों की परम्परा ने इन परिषदों के कार्य निर्धारित एवं पुनः निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है । अमरीकी दृष्टिकोण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह समझी जाती है कि शिक्षा का संचालन स्थानीय सरकार का उत्तरदायित्व नहीं है वरन् यह तो राष्ट्रीय सरकार का उत्तरदायित्व है ।

ग्रेट ब्रिटेन में निर्वाचित परिषदों के अस्तित्व के फलस्वरूप यहां स्थानीय सरकार के रूप में पर्याप्त एकरूपता पाई जाती है । पार्षद के रूप में इसके सदस्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, उदाहरण के लिए अध्यादेश बनाना, बजट को निर्धारित करना, उनके लिए सौंपी गई नीतियों को निर्धारित करना तथा उनके व्यवहार का संचालन करना और उसी प्रकार स्थायी अधिकारियों को भी छांटना एवं उनकी नियुक्ति करना आदि । इन पार्षदों की प्रायः वही योग्यतायें हैं जो कि एक संसद सदस्य की हुआ करती हैं तथा इनकी योग्यता में सम्पत्ति एवं इनकी वास्तविक सम्पदाओं से कोई अन्तर नहीं पड़ता । छोटी इकाइयों में सभी पार्षद जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं जबकि बडी इकाइयों की परिषदों के एक चौथाई सदस्य सहवृत होते हैं तथा छः वर्ष के लिए कार्य करते हैं जबकि निर्वाचनों एवं सहवृतियों के आधार पर बड़े क्षेत्रों की परिषदों में एक तारतम्य सा बनाये रखा जाता है ।

ब्रिटिश नगरों के मेयर का चुनाव पार्षदों द्वारा अपने बीच में से ही किया जाता है । यह मेयर एक वर्ष तक अपने पद पर कार्य करता रहता है । स्थानीय सरकार की अन्य इकाइयों में सभापति का निर्वाचन किया जाता है । कुछ समय से उत्पन्न प्रवृति के अनुसार ब्रिटिश स्थानीय सरकार राष्ट्रीय दलों के लिए एक वास्तविक युद्ध क्षेत्र बन गया है । कल्याणकारी राज्य के परिणामस्वरूप यह प्रायः जरूरी बन गया है कि राष्ट्रीय सरकार एवं स्थानीय सरकारें परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की भूमिका में कार्य करें इसलिये

समस्याओं को सुलझाने के सामान्य सिद्धान्तों को प्रशासित करते हैं वे नागरिकों द्वारा चुने जाने चाहिये, वे नियुक्त नहीं होने चाहिये और दूसरे, जो लोग इस प्रकार चुने जाते हैं उनको प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र से सम्बन्धित सेवाओं की सामान्य जटिलता को देखना चाहिये। इस व्यवस्था के द्वारा वही निकाय किसी भी कार्य पर विचार करने के लिये मिल सकता है जिससे कि उसके निर्वाचितों की सेवा होती हो। विभिन्न कार्यों के अनुसार नगरों को छोटे आकार के निर्वाचक जिलों में विभाजित किया जा सकता है ताकि निर्वाचक तथा उसके प्रतिनिधि के बीच पर्याप्त सम्बन्ध बनाया जा सके। यह इतना छोटा भी नहीं होना चाहिये कि प्रशासकीय नगरपालिका निकाय को इतना बड़ा बना दे कि व्यवहार को कुशलतापूर्वक संचालित न किया जा सके। इस दृष्टिकोण के अनुसार यह जरूरी हो जाता है कि प्रकृति के आधार पर एक जैसे गांवों को (देहाती ज़िलों में) मिला दिया जाये। यह संयुक्त इकाई यद्यपि शहरी निर्वाचक जिलों से जनसंख्या की दृष्टि में छोटी रहेगी किन्तु फिर भी इसके द्वारा यह प्रयास किया जायेगा कि देहाती जीवन में स्थानीय सरकार से सम्बन्धित जो समस्यायें उठती हैं उन समस्याओं का समाधान किया जा सके। इस आधार पर निर्धारित प्रत्येक निर्वाचक जिला उस जिले के सदस्य के रूप में बैठेगा तथा जो प्रशासकीय निकाय स्थानीय आयात के मामलों पर विचार करेगा उसकी कार्यवाही में सक्रिय रूप से भाग लेगा।

स्थानीय सरकार की बनावट

[The Structure of Local Government]

स्थानीय सरकार का संगठन किसके द्वारा, किस रूप में तथा किस आकार-प्रकार में किया जायेगा यह एक महत्वपूर्ण समस्या है जिसे निर्धारित करते समय राष्ट्रीय प्रसासन के रूप, देश की भौगोलिक अवस्था, स्थानीय जनसंख्या का निवास, देश का क्षेत्रफल, जनता का चरित्र आदि अनेक बातों का प्रभाव पड़ता है। ये सभी प्रभाव डालने वाले तत्व सभी देश में एक जैसे नहीं होते वरन् इनके बीच पर्याप्त भिन्नता होती है अतः सभी देशों में स्थानीय सरकार की बनावट भी एक जैसी नहीं हो सकती। स्थानीय सरकार के रूप अनेक प्रकार के हैं। एक बात इस सम्बन्ध में अत्यन्त रोचक है और वह यह कि स्थानीय सरकार के रूप को आवश्यक रूप से इस प्रकार नहीं बनाया जाता कि वह देश की विस्तृत सांवैधानिक परम्पराओं एवं व्यवहारों के अनुकूल हो। इसके विपरीत अनेक देश ऐसे भी हैं जहां कई वैकल्पिक रूप देखने को मिल जाते हैं। यदि एक देश का संविधान संयुक्त राज्य अमरीका की भांति संघीय है तो स्थानीय सरकार के रूप का निर्धारण कुछ निर्मायक इकाइयों के हाथ में छोड़ा जा सकता है। यदि एक देश का संविधान एकात्मक है तो बस्तियों के बीच परम्परावादी भिन्नताओं को भी पर्याप्त स्थान दिया जाता है, जैसा कि ग्रेट ब्रिटेन में होता है अथवा स्थानीय समाज को संगठित होने के लिये कुछ सम्भव विकल्प प्रस्तुत किये जा सकते हैं। स्थानीय सरकार के इन विभिन्न रूपों का विस्तार के साथ वर्णन करना यहां हमारा उद्देश्य नहीं

है। यहाँ हम कुछ राष्ट्रीय परम्पराओं के आधार पर यह प्रयास करेंगे-कि कुछ देशों के रचनात्मक पहलुओं का उल्लेख किया जा सके।

ग्रेट ब्रिटेन की स्थानीय सरकार का मुख्य पहलू सार्वजनिक रूप से निर्वाचित परिषद् होती है जिसकी सहायता के लिये एक व्यावसायिक नागरिक सेवा भी रहती है। इसके द्वारा प्रशासकीय एवं व्यवस्थापिका सम्बन्धी दोनों ही प्रकार के कार्य सम्पन्न किये जाते हैं किन्तु इसके द्वारा कोई भी ऐसा कार्य नहीं किया जा सकता जिसके लिए कि उसे संसद के कानून द्वारा निर्देशित न किया गया हो। ब्रिटिश लोग इस व्यवहार को राष्ट्रीय एवं स्थानीय सत्ताओं के बीच हिस्सेदारी के जैसे सम्बन्धों के आधार पर संचालित करना चाहते हैं किन्तु वर्तमान प्रवृत्तियों में कुछ परिवर्तन भी दिखाई देता है। ये निर्वाचित मन्डल अपने सुपरिभाषित भूगिगत कार्यक्षेत्र के साथ उन्नीसवीं शताब्दी की उपज हैं। सर्वप्रथम १८३५ में ये परिषदें टाउन या बारोज के लिए संगठित की गई थीं। उसके बाद १८८८ में इनको काउन्टीज एवं नगरों के लिए संगठित किया गया और अन्त में १८९४ में ये जिले तथा पेरिसों के लिए संगठित की गई। आज तक स्थानीय सरकार अधिनियमों की परम्परा ने इन परिषदों के कार्य निर्धारित एवं पुनः निर्धारित करने का महत्वपूर्ण कार्य किया है। अमरीकी दृष्टिकोण से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात यह समझी जाती है कि शिक्षा का संचालन स्थानीय सरकार का उत्तरदायित्व नहीं है वरन् यह तो राष्ट्रीय सरकार का उत्तरदायित्व है।

ग्रेट ब्रिटेन में निर्वाचित परिषदों के अस्तित्व के फलस्वरूप वहाँ स्थानीय सरकार के रूप में पर्याप्त एकरूपता पाई जाती है। पार्षद के रूप में इसके सदस्य अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करते हैं, उदाहरण के लिए अध्यादेश बनाना, बजट को निर्धारित करना, उनके लिए सौंपी गई नीतियों को निर्धारित करना तथा उनके व्यवहार का संचालन करना और उसी प्रकार स्थायी अधिकारियों को भी छांटना एवं उनकी नियुक्ति करना आदि। इन पार्षदों की प्रायः वही योग्यतायें हैं जो कि एक संसद सदस्य की हुआ करती हैं तथा इनकी योग्यता में सम्पत्ति एवं इनकी वास्तविक सम्पदाओं से कोई अन्तर नहीं पड़ता। छोटी इकाइयों में सभी पार्षद जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं जबकि बड़ी इकाइयों की परिषदों के एक चौथायी सदस्य सहवृत होते हैं तथा छः वर्ष के लिए कार्य करते हैं जबकि निर्वाचनों एवं सदवृतियों के आधार पर बड़े क्षेत्रों की परिषदों में एक तारतम्य सा बनाये रखा जाता है।

ब्रिटिश नगरों के मेयर का चुनाव पार्षदों द्वारा अपने बीच में से ही किया जाता है। यह मेयर एक वर्ष तक अपने पद पर कार्य करता रहता है। स्थानीय सरकार की अन्य इकाइयों में सभापति का निर्वाचन किया जाता है। कुछ समय से उत्पन्न प्रवृति के अनुसार ब्रिटिश स्थानीय सरकार राष्ट्रीय दलों के लिए एक वास्तविक युद्ध क्षेत्र बन गया है। कल्याणकारी राज्य के परिणामस्वरूप यह प्रायः जरूरी बन गया है कि राष्ट्रीय सरकार एवं स्थानीय सरकारें परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की भूमिका में कार्य करें इसलिये

मजदूर दल ने अपने कार्यक्रम को स्थानीय स्तर की सीमाओं में भी समाविष्ट किया। इस सबके परिणामस्वरूप इन परिषदों के निर्वाचनों में निर्वाचक काफी रुचि लेने लगे हैं जबकि इससे पूर्व इनके प्रति उनका उपेक्षा भाव ही रहता था। स्थानीय कार्यों में जनता की रुचि के सम्बन्ध में लोगों के बीच अलग-अलग विचारधारायें हैं। परिषदें काफी बड़ी होती हैं इसलिए उनके कार्यों को टुकड़ों में बांट दिया जाता है। ये समितियां अपनी प्रवृत्ति के अनुसार स्थायी नागरिक सेवा पर निर्भर करती हैं जो कि अपने द्वारा नियंत्रित कार्य में संलग्न रहती हैं। तकनीकी कार्य की जटिलताओं को देखते हुये यह स्वाभाविक ही है कि इन नागरिक सेवकों को पूरा महत्व प्रदान किया जाये किन्तु इनको परिषद द्वारा नियुक्त किया जाता है तथा उसीके द्वारा इनको वेतन दिया जाता है इसलिए अन्तिम उत्तरदायित्व तो परिषद पर ही आकर टिकता है। स्थानीय सरकार में विभिन्न पदों पर लाखों कर्मचारी कार्य करते हैं। उनकी सामान्य योग्यतायें भी पर्याप्त ऊंची होती हैं। असल में वे उस योग्यतापन से बचे रहते हैं जो कि राष्ट्रीय स्तर पर प्रशासकीय वर्ग की विशेषता होती है। अध्यापकों की भांति अनेक अधिकारियों के लिए मापदण्ड राष्ट्रीय सरकार द्वारा निश्चित किया जाता है।

ब्रिटिश स्थानीय सरकार का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थायी अधिकारी टाउन क्लर्क होता है। इसे हम एक सामान्य प्रशासक मान सकते हैं जो कि अनेक कार्यों के बीच एक समन्वयकर्त्ता का महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करता है। ब्रिटेन के लोग इस अधिकारीके पदको अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं अपनी स्थानीय सरकार की एक अनोखी विशेषता मानते हैं। कुछ लोग यह संदेह व्यक्त करते हैं कि क्या इस प्रकार का स्थायी अधिकारी भी उपयुक्त है क्योंकि यह अधिकारी स्थानीय सरकार को कानूनी और नौकरशाही रूप देने का कारण बनेगा और इस प्रकार यह स्थानीय प्रजातन्त्र पर आघात करेगा।[1]

देश के नियोजन एवं उसकी कार्यवाहियों में समन्वय की आवश्यकता के परिणामस्वरूप सन् १९४३ में स्थानीय सरकार की विभिन्न समस्याओं पर विचार करने के लिये अेक अलग से मंत्रलय स्थापित किया गया। इसका मुख्य कार्य यह बताया गया है कि भूमि के प्रयोग अेवं विकास के सम्बन्ध में राष्ट्रीय नीति के निर्माण अेवं क्रियान्वयन में अेकरूपता तथा अेकलयता लाने का प्रयास करे।

फ्रांस में स्थानीय सरकार का रूप ग्रेट ब्रिटेन की अपेक्षा पूरी तरह से भिन्न है। इसका कारण यह बताया जाता है कि असल में फ्रांस ने सच्चे रूप में स्थानीय स्वायत्त सरकार को कभी भी स्वीकार नहीं किया था। फ्रांस के संविधान का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे गणतंत्र की स्थापना करना है

---

1. "It is doubtful whether such a permanent official is really as desirable as the British think; he tends to legalize and thus to 'bureaucratize' the local government, and thus stultify local democracy."

—*Carl J. Friedrich*, op. cit., PP. 246-7

मन्त्री संसद के किसी निरीक्षक के अधीन कार्य नहीं करते। राष्ट्रीय परिषद की भाँति स्थानीय परिषद भी समस्त स्थानीय जनता के हितों का ध्यान रखती है। वह क्षेत्र के सभी भागों को उनकी उपयोगिता के आधार पर पर्याप्त महत्व प्रदान करती है। समस्त स्थानीय कार्यों को एक ही निकाय के नियन्त्रण में रखने के लिये एक दूसरा कारण और भी है और वह यह है कि स्थानीय जनसंस्थायें प्रायः अपूर्ण होती हैं। इनके कार्यों को करने का उत्तरदायित्व जिन लोगों पर रहता है वे प्रायः निम्न योग्यता वाले होते हैं। एक संस्था की उपयोगिता इस बात पर निर्भर करती है कि उसमें विभिन्न विशेषताओं वाले लोग हों। स्थानीय संस्थाओं को राजनैतिक क्षमता एवं सामान्य बुद्धिमता का प्रशिक्षण केन्द्र माना जाता है। किन्तु किसी भी प्रशिक्षण केन्द्र में अध्यापक एव छात्र दोनों का ही होना नितांत आवश्यक समझा जाता है। यदि एक स्कूल में केवल छात्र ही हों और अध्यापक एक भी न हो तो वह निरर्थक है; और यदि केवल अध्यापक ही हो और छात्र न हों तो भी यह महत्वहीन है। किसी भी विषय को हम तभी हृदयंगम कर पाते हैं जब कि हमसे वरिष्ठ लोगों द्वारा उसे पूरी तरह से हमारे सम्मुख स्पष्ट किया जाये। इसलिये यह जरूरी है कि पर्याप्त योग्यता, ज्ञान एवं अनुभव वाले लोग ही इन संस्थाओं में लिये जायें। इस प्रसंग में यह नहीं भूल जाना चाहिये कि सामाजिक अथवा सांस्कृतिक रूप से उच्च वर्ग के लोगों को स्थानीय सरकार के कार्यों में उलझाये रखना भी खतरे से खाली नहीं है क्योंकि इससे राष्ट्र उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा।

श्रेष्ठ बनावट की कसौटियां

[The tests of best structure]

स्थानीय सरकार की बनावट किस प्रकार की होनी चाहिये तथा उसके लिये किन आधारभूत सिद्धान्तों को अपनाया जाना चाहिये, यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर विचार करते समय सदैव ही यह ध्यान रखना चाहिये कि आखिर हम स्थानीय सरकार से क्या कार्य लेना चाहते हैं; अर्थात् वे उद्देश्य कौन-कौन से हैं जिनकी पूर्ति स्थानीय शासन को करनी चाहिये। यह तय कर लेने के बाद ही उन नियमों एवं शर्तों पर विचार किया जाता है जिनकी पूर्ति स्थानीय सरकार की बनावट को करनी होगी।

स्थानीय शासन की बनावट को जिन उद्देश्यों, नियमों एवं शर्तों का पालन करना चाहिये वे उसकी रचना के मूल आधार का कार्य करते हैं। यदि हम राष्ट्रीय दृष्टि से विचार करें तो पायेंगे कि स्थानीय अधिकारी मुख्य रूप से प्रशासकीय एवं कार्यपालिका सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को ही सम्पन्न करता है। ये संस्थायें उन नीतियों का पालन करती हैं तथा उनके अनुसार शासन संचालित करती हैं जो कि संसद द्वारा निर्धारित की जाती हैं। कई बार संसद उनको स्पष्ट रूप से परिभाषित भी कर देती है। अतः यह कहा जा सकता है कि स्थानीय शासन की बनावट का मूल लक्ष्य साधारणतः प्रशासकीय होना चाहिये। यदि हम स्थानीय शासन की बनावट

का अध्ययन करना चाहें तो भी उस पर प्रशासकीय दृष्टि से ही विचार किया जाना चाहिये। यदि हम उसकी सार्थकता जानना चाहें तो यह उपयुक्त रहेगा कि उसको प्रशासकीय कसौटी पर कस कर देखा जाये। स्थानीय संस्थाओं का मूल लक्ष्य नागरिकों की सेवा करना है। अपने इस लक्ष्य को प्राप्त करने में वे कितनी कार्यकुशलता एवं मितव्ययता के साथ आगे बढ़ती हैं इसी के आधार पर उनकी उपयोगिता एवं औचित्य का मूल्यांकन किया जायेगा। कुछ विचारकों ने लिखा है कि मितव्ययता का अर्थ यह नहीं मान लेना चाहिये कि नागरिकों की कम से कम खर्च में ही सेवा की जाये। कम खर्चा अपने आप में कोई अच्छाई नहीं है और यदि इसके फलस्वरूप कार्य का स्तर गिरता है अथवा कार्यकुशलता को ठेस लगती है तो ऐसी मितव्ययता को शीघ्र ही तिलांजलि दे देनी चाहिये। मितव्ययता के साथ ही यदि कार्य स्तर को तथा कार्यकुशलता को ऊंचा बनाये रखे तब श्रेष्ठ समझा जायेगा। कार्यकुशलता से हमारा अर्थ यह है कि स्थानीय जन सेवा के क्षेत्र में नागरिकों की आवश्यकता की पूर्ति का पूरा प्रबन्ध किया जाये तथा लोग कम से कम असुविधा का सामना करते हुये अपने जीवन का संचालन कर सकें। इसके अतिरिक्त किये गये कार्य एक स्तर तथा विधि के अनुसार संचालित हों। स्थानीय शासन की बनावट कुछ इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह नयी समस्याओं को आसानी के साथ अपना सके। उसकी यही क्षमता उसकी कार्यकुशलता का स्पष्ट प्रमाण बन जायेगी।

स्थानीय सरकार के संगठन का रूप यह निश्चय करने में महत्वपूर्ण भाग लेता है कि वह अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर पायेगा अथवा नहीं। यह सच है कि किसी भी संस्था की सफलता उसके कार्य-कर्त्ताओं की योग्यता एवं क्षमता पर निर्भर रहती है किन्तु फिर भी उसके रूप की बनावट का महत्व भुलाया नहीं जा सकता। स्थानीय संस्थाओं की बनावट पर सर्वप्रथम तो आर्थिक दृष्टि से विचार किया जाना उचित रहेगा। नागरिक इन संस्थाओं के माध्यम से अधिकांश आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करना चाहता है। ये आर्थिक लक्ष्य प्राप्त करते समय वह जिन सेवाओं की आकांक्षा करता है वे परस्पर घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं। एक सेवा की सम्पन्नता पर दूसरी का भविष्य अवलम्बित करता है। इस वस्तुस्थिति की भूमिका में उचित यही रहेगा कि एक अभिकरण ऐसा हो जो सभी सेवायें प्रदान कर सके। यह तरीका अधिक उचित एवं मितव्ययतापूर्ण लगता है। स्थानीय स्तर पर एक से अधिक सेवायें करने वाली सत्ताओं को विशेष रूप से महत्व दिया जाता है। उनका संगठन भी इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही किया जाता है। यदि एक स्थानीय सरकार की बनावट इस सिद्धांत को पर्याप्त महत्व देती है तो वह उसकी अपेक्षा अधिक वांछनीय मानी जायेगी जो कि ऐसा नहीं करती।

स्थानीय सरकार की बनावट पर प्रभाव डालने वाला एक अन्य तत्व वह क्षेत्र है जहां पर कि स्थानीय प्राधिकारी कार्य करते हैं। इसके द्वारा स्थानीय सेवा का आकार निश्चित किया जाता है। यह लोक प्रशासन की

भाषा में एक प्रशासकीय इकाई होती है। इसके द्वारा संगठन की कार्यकुशलता एवं मितव्ययता पर भारी प्रभाव डाला जा सकता है जिसके आधार पर कि सेवा का संचालन किया जाना है। जिस प्रकार एक व्यापारिक संस्था पर बढ़ते हुये उत्पादन का प्रभाव पडता है उसी प्रकार स्थानीय सरकार पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि प्रदान की जाने वाली सेवाओं की मात्रा बढ़ती जा रही है अथवा नहीं। स्थानीय सत्ता के आकार की एक निश्चित सीमा होती है। यदि ऐसा न किया जाये तो श्रम, शक्ति एवं समय के अपव्यय की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं। स्थानीय सत्ता को छोटे-छोटे क्षेत्रों में विभाजित कर देने पर मशीनों तथा कार्यकर्त्ताओं की आवश्यकता अधिक बढ़ जायेगी। दूसरी ओर यदि स्थानीय सत्ता का आकार बडा हो तो अनेक छोटे क्षेत्रों को उसी के अन्तर्गत समाहित किया जा सकेगा और इस प्रकार से मितव्ययता रहेगी और नियन्त्रण तथा देखभाल के कार्यो के बीच उचित संतुलन रहेगा। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आकार बहुत बड़ा बना दिया जाये। बड़े आकार की भी एक सीमा होती है। इस सीमा से बाहर जाने पर मितव्ययता नहीं रह पाती, कार्यकुशलता समाप्त हो जाती है और एकदम कठोर तथा नियमानुसार रूप में कार्य करने की परम्परायें पड़ जाती हैं जो कि संगठन की लोचशीलता को समाप्त करके उसे स्थिर तथा असामंजस्य पूर्ण बना देती हैं। असल में स्थानीय सत्ता का क्षेत्र सेवा की प्रकृति एवं आकांक्षा पर निर्भर करता है और इसलिये प्रत्येक सेवा ही इस बात का निश्चय करेगी कि उसे कितना बड़ा संगठन चाहिये। इस दृष्टि से सेवाओं के समूह बनाने की परम्परा भी महत्वपूर्ण है। जिन सेवाओं में छोटे आकार की आवश्यकता है उनको एक जगह रख दिया जाये और जिनको बडे आकार की जरूरत है उनको एक स्थान पर सम्मिलित कर दिया जाये।

कई बार मितव्ययता अेवं कार्यकुशलता के बीच भी संघर्ष छिड़ सकता है। मितव्ययता के आधार पर यदि हम अेक क्षेत्र का आकार अत्यन्त छोटा करदें तो यह सम्भव है कि उसके कार्यो को संचालित करने के लिये आवश्यक आर्थिक साधन उपलब्ध न हो सके। इस प्रकार अेक दिये हुये स्तर के अनुसार वे स्थानीय नागरिकों की सेवा नहीं कर पायेंगे, साथ ही यह भी सम्भव है कि कार्यकुशलता के लिये पर्याप्त संख्या में जिन योग्य कर्मचारियों की आवश्यकता है वे प्राप्त न हो सकें। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि किसी भी क्षेत्र में स्थानीय शासन की बनावट अनेक विचारों के आधार पर तय की जाती है। स्थानीय शासन की बनावट के पीछे अेक यह भी विचार कार्य करता है कि मतदाता एवं निर्वाचित के बीच पर्याप्त सम्बन्ध बना रहे और 'मतदाता' अपने प्रतिनिधि पर यथासम्भव नियंत्रण रख सकें। इसके लिअे यह जरूरी है कि चुनाव क्षेत्र इस प्रकार के बनाये जायें कि जनता अपने प्रतिनिधियों से सीधा सम्बन्ध रख सके। साथ ही प्रतिनिधियों द्वारा स्थानीय सत्ता के अधिकारियों के साथ भी उचित सम्बन्ध बनाये रखा जा सके। इन सभी तत्त्वों पर अेक संस्था की कार्य-कुशलता निर्भर करती है। साथ ही प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था भी इस बात की मांग करती है कि स्थानीय सत्ता के अधिकारीगण जनता के प्रतिनिधियों

की देखरेख में कार्य करें। ऐसा होने पर ही नौकरशाही, लालफीताशाही, पक्षपात, स्वेच्छाचारिता आदि प्रशासनिक दोषों का निवारण किया जा सकेगा।

किसी भी देश की स्थानीय सरकार बहुत कुछ वहां की ऐतिहासिक परम्पराओं का परिणाम होती है। अतः यह मानना उचित नहीं रहेगा कि वहां की स्थानीय सरकार का संगठन पूर्णतः तर्कपूर्ण तथा पहले से ही निर्धारित अवधारणाओं के अनुरूप है। एक प्रसिद्ध कहावत के अनुसार आवश्यकता आविष्कार की जननी होती है। अतीत काल में ज्यों-ज्यों नई समस्यायें आती गई त्यों-त्यों उनका निराकरण करने के लिए नये उपाय भी काम में लिये जाने लगे। परिस्थिति एवं आवश्यकताओं के साथ सामंजस्य ने ही स्थानीय संस्थाओं के विकास को गति प्रदान की। सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक एवं अन्य क्षेत्रों में मानवीय विकास ने भी स्थानीय सरकार के रूप पर पर्याप्त प्रभाव डाला। इस सबका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि इन संस्थाओं का वर्तमान रूप पूरी तरह से परिस्थितियों का परिणाम है और जैसा उन्होंने इसे बना दिया, यह बन गया। यह बात तो किसी भी मानवीय संस्था के सम्बन्ध में खरी नहीं उतरती। प्रत्येक मानवीय संस्था के बारे में कुछ निश्चित धारणायें बन जाती हैं और कुछ आदर्श बना लिए जाते हैं जिनके आधार पर कि उसके रूप को समय-समय यथा सम्भव सजाया और संवारा जाता है। स्थानीय सरकार की बनावट के सम्बन्ध में भी ऐसी ही कुछ धारणायें विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम धारणा यह है कि स्थानीय अधिकारियों की संख्या अधिक नहीं होती; अर्थात् ऐसा होना उपयोगी नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति को अलग से एक कार्य सौंप दिया जाये और वह केवल उस कार्य से ही अपने आपको सम्बन्धित रखे। होना यह चाहिये कि प्रत्येक अधिकारी अनेक प्रकार के उपयुक्त कार्यों को सम्पन्न करे। दूसरे, यह कहा जाता है कि शहर तथा देहाती इलाकों के लिये जो स्थानीय सरकार का संगठन किया जाये उनके बीच मौलिक रूप से अन्तर किया जाना चाहिये। दोनों ही क्षेत्रों की कुछ विशेष समस्यायें होती हैं जो कि एक दूसरे के लिये नवीन होती हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिये की जाने वाली व्यवस्था भी विशेष होना आवश्यक है। दोनों क्षेत्रों के लिये अलग से अधिकारियों की नियुक्ति की जाती है। इस सबका उद्देश्य यह नहीं होता कि दोनों क्षेत्रों के नागरिकों के बीच असमानतायें बनाये रखी जायें। असमानता तो पहले से ही मौजूद है, जिसके रहते हुये यदि समान व्यवहार की चेष्टा की गई तो दोनों ही स्थानों के नागरिकों का नुकसान होगा। शहरों का औद्योगिक जीवन, रहन सहन का तरीका एवं सभ्यता के नवीन सहारे कुल मिला कर गांवों के जीवन से उसे पर्याप्त ऊंचा उठा देते हैं। गांवों का रहन-सहन एवं पर्याप्त सुविधाओं का अभाव वहां के लोगों को शहरों की ओर आकर्षित करता है। परिणामस्वरूप शहरोंकी जनसंख्या बढ़ती चली जाती है और गांवका जीवन शुष्क एवं रुचिविहीन सा होने लगता है। इससे अनेक गम्भीर समस्यायें सामने आती हैं। इन समस्याओं को सुलझाने के लिये गांवों का शहरीकरण करना जरूरी बन जाता है। गांवों में

जो कि अेक है तथा अविभाज्य है। इस रूप में ही यह स्थानीय प्रशासन की इकाइयों को मान्यता देता है। संविधान के अनुसार ये इकाइयां दो प्रकार की हैं—नगरपालिका अथवा कम्यून और विभाग (Departments)। संविधान के अनुसार ये इकाइयां सार्वभौमिक मताधिकार के आधार पर निर्वाचित परिषदों द्वारा स्वतन्त्रतापूर्वक नियंत्रित की जायेंगी। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था तो बिल्कुल वैसी ही है जैसी कि ग्रेट ब्रिटेन में पायी जाती है किन्तु वास्तविकता यह नहीं। संविधान द्वारा अगले अनुच्छेद में फ्रांस के परम्परावादी केन्द्रीकरण के सिद्धान्त का वर्णन करके इस सारी व्यवस्था को निराधार बना दिया गया है। संविधान कहता है कि सरकारी अधिकारियों की क्रियाओं के बीच समन्वय, राष्ट्रीय हितों का प्रतिनिधित्व एवं इन इकाइयों (कम्यून तथा विभाग) का प्रशासकीय नियंत्रण, मन्त्री परिषद द्वारा नियुक्त सरकार के प्रतिनिधियों द्वारा विभागीय संरचना के अन्तर्गत किया जायेगा।

राष्ट्रीय सरकार के प्रतिनिधि (Delegate) प्रीफेक्ट होते हैं। प्रत्येक विभाग के लिये अेक की नियुक्ति की जाती है और अन्तरंग मंत्रालय द्वारा इनको निर्देशन प्रदान किया जाता है। प्रीफेक्ट की सहायता के लिये प्रत्येक जिले में उपप्रीफेक्ट होती हैं। सन् १९४८ के बाद से इनका पर्यवेक्षण आठ निरीक्षकों द्वारा किया जाता है। स्थानीय सरकार प्रीफेक्ट के चारों ओर ही घूमती है। जैसा कि मि० फ्रेडरिक ने लिखा है[1], यह न केवल विभिन्न मन्त्रालयों के अेजेन्टों के बीच समन्वय ही स्थापित करती है वरन् यह अनेक स्थानीय अधिकारियों को नियुक्त अेवं पद-विमुक्त भी कर सकती है। यह मेयरों, परिषद-अध्यक्षों तथा परिषदों को भी निलम्बित कर सकती है। प्रीफेक्ट के आधीन निर्वाचित परिषदें तथा उनके अध्यक्ष अधीनस्थ के रूप में कार्य करते हैं। कुछ बड़े नगरों के मेयर इसके अपवाद भी हो सकते हैं जो कि अपने लिये अलग से ही एक स्वतन्त्र व्यक्तिगत स्थान बना लें। उनकी यह अधीनस्थता वित्तीय स्रोतों के अभाव के कारण रहती तथा बढ़ती है। मेयर तथा परिषद के अध्यक्ष करों का कोई ठोस आधार नहीं रखते। उनको अनेक क्रियायें राष्ट्रीय व्यवस्थापन के अनुसार करनी पड़ती हैं, और जब वे ऐसा करने में असफल हो जाते हैं तो उनको प्रीफेक्ट के प्रशासकीय अनुशासन का विषय बनना होता है किन्तु परिषदें किसी प्रीफेक्ट के स्थानान्तरण के लिये प्रार्थना नहीं कर सकती।

प्रीफेक्टों को एक प्रकार से प्रशासकीय राजनीतिज्ञ अथवा राजनैतिक प्रशासक समझा जाता है। यदि शीर्ष पर एक राजनैतिक दल की शक्ति दूसरा दल ग्रहण करले तो इनको हटाया नहीं जाता। फिर भी अनेक कार्य ऐसे हैं जो कि सरलता से एक राजनैतिक अेजेन्ट के कहे जा सकते हैं। पेरिस से उनके निर्देशन असंख्य एवं विस्तृत होते हैं। प्रीफेक्ट विभाग का पूरी तरह से अध्यक्ष नहीं होती किन्तु परिषद का अध्यक्ष एक प्रकार से स्थानीय कार्यपालिका के स्तर पर होता है अतः प्रीफेक्ट द्वारा पर्याप्त

---

1. Carl J. Friedrich, op. cit., P. 247

प्रभावशील योगदान किया जाता है। कुल मिलाकर फ्रांस का तरीका केन्द्रीय प्रशासकीय नियंत्रण एवं निर्देशन का है जो कि इस मात्रा तक रहता है कि ग्रेट-ब्रिटेन की तरह यहां की स्थानीय सत्तायें बिना राष्ट्रीय स्वीकृति की प्रतीक्षा किये किसी कार्य में पहल करने का अधिकार नहीं रखती। इसका मूल कारण यह हैं कि उनके पास फन्ड्स का अभाव रहता है। १९ वीं शताब्दी में फ्रान्स ने कुछ नगरपालिका एवं स्थानीय क्रियाओं पर प्रतिबन्ध लगाये ताकि व्यक्तिवादी तथा स्वतन्त्र बाजार व्यवस्था पर रोक लगाई जा सके। ऐसे नियमों के अन्तर्गत कम्यून किसी भी ऐसे क्षेत्र में प्रवेश नहीं कर सकते थे जहां कि व्यक्तिगत उद्यम से उनको प्रतियोगिता करनी पड़े। अब ये प्रतिबन्ध समाप्त हो गये हैं। असल में समाजवाद स्थानीय समुदायों में पर्याप्त फैला है तथा कुछ समुदायों में तो 'साम्यवादी' लोग स्थानीय शासन के कार्य में अधिक भाग लेते हैं।

संयुक्त राज्य अमरीका में स्थानीय सरकार की मुख्य विशेषता यह है कि वहां अमरीकी नगरपालिकायें अत्यधिक स्वतन्त्रता का उपभोग करती हैं। यह स्वतन्त्रता विशेष रूप से होमरूल राज्यों में अधिक रहती है। ग्रेट ब्रिटेन में केन्द्रीय सरकार के अत्यधिक नियन्त्रण को देखते हुए स्थानीय स्वतन्त्रता यहां अत्यधिक ही प्रतीत होती है किन्तु यहां प्रदत्त संवैधानिक प्रजातन्त्र के विश्लेषण की पृष्ठभूमि में यह स्वतन्त्रता उचित एवं स्वस्थ हैं। यह बहुत कुछ स्विटजरलैण्ड में पायी जाने वाली व्यवस्था से मेल खाती हैं।

होम रूल के अन्तर्गत मतदाता विभिन्न मात्रा में रेफरेन्डम (Referendum) अथवा पहल (Initiative) द्वारा स्थानीय सरकार का अपना रूप अपनाने की विभिन्न मात्राओं में स्वतन्त्रता रखते हैं। दूसरी ओर अन्य राज्य विभिन्न कार्यक्रम रखते हैं। आम प्रवृत्ति यह है कि कुछ योजनायें अथवा मूल रूप बना दिये जाते हैं, इनमें से ही स्थानीय इकाइयाँ चुन लेती हैं। यह स्वतन्त्रता काउन्टीज की अपेक्षा नगरों को अधिक प्राप्त है किन्तु न्यू इंगलैंड में स्थानीय सरकार की प्रभावशील इकाई काउन्टी न होकर कस्बा ही होता है। वहाँ यह स्वतन्त्रता कस्बा को प्राप्त होती है। अधिक विस्तार में जाये बिना ही यह बता देना पर्याप्त होगा कि संयुक्त राज्य अमरीका के नगर तथा कस्बे, तीन मुख्य रूपों में प्रशासित होते हैं। प्रथम रूप मेयर परिषद योजना (Mayor Council Plan) है जिसमें कि मेयर तथा परिषद दोनों ही जनता द्वारा निर्वाचित होते हैं। यह योजना सर्वाधिक पुरातन है। यह योजना अमरीकी राज्यों के संविधानों के व्यापक रूप के समान मानी जाती है जहां कि गवर्नर तथा व्यवस्थापिका परम्परावादी शक्ति विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करती हैं। स्थानीय प्रशासन का दूसरा रूप तथाकथित आयोग योजना (Commission Plan) है। इस योजना के अन्तर्गत एक छोटा निर्वाचित निकाय होता है जिसके पास कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के संयुक्त कार्य होते हैं। प्रत्येक आयुक्त प्रशासकीय उद्देश्यों से एक विभाग की अध्यक्षता करता है। तीसरे, प्रबन्धक योजना (Manager Plan) होती है जिसके अनुसार समस्त प्रशासकीय उत्तरदायित्व एक

प्रबन्धक (Manager) में केन्द्रित हो जाते हैं । प्रबन्धक एक परिषद के प्रति उत्तरदायी होता है तथा उसी के द्वारा नियंत्रित होता है । इस परिषद की अध्यक्षता मेयर अथवा सभापति द्वारा की जाती है । इन तीनों ही रूपों की अपनी विशेषतायें हैं । इनमें गुण भी हैं साथ ही दोष भी । इनमें से किस रूप को अपनाना अधिक उपयुक्त रहेगा इस सम्बन्ध में स्वयं अमरीकी विचारक भी एकमत नहीं हैं । फिर भी अनेक विशेषज्ञों का कहना है कि प्रबन्धक योजना अधिक उपयुक्त रूप है जिसके आधार पर स्थानीय प्रशासन को संतोषजनक रूप में संचालित किया जा सकता है । इस योजना के साथ ही यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि रेफरेन्डम तथा पहल द्वारा अधिकाधिक नागरिकों को यह अवसर प्रदान किया जाये ताकि अधिक महत्वपूर्ण मसलों को सुलझाने में योगदान कर सकें ।

न्यू इंग्लैण्ड कस्बों के द्वारा कस्बे की बैठकों (Town Meetings) के रूप में एक नया उदाहरण प्रस्तुत किया गया है । इन बैठकों में क्षेत्र के सभी नागरिक वर्ष में एक बार अथवा आवश्यकता पड़ने पर कई बार एक स्थान पर एकत्रित होते हैं । वे बजट तथा करों पर मतदान करते हैं, कस्बे के अधिकारियों को चुनते हैं, कस्बे की नीति के बड़े मसलों का निर्णय करते हैं । यह सब वे प्रायः एक विनियोग के द्वारा करते है । इन कस्बों में अनेक छोटे प्रशासकीय अधिकारी निर्वाचित होते हैं किन्तु कस्बे का प्रशासकीय कार्यभार चुने व्यक्तियों के मण्डल (Board of Select men) पर होता है । ये प्रायः संख्या में तीन होते हैं । ये व्यक्ति कस्बे के विभिन्न भागों के प्रशासन से सम्बन्धित तात्कालिक मसलों पर सप्ताह में एक बार शाम को मिल लेते हैं । ये कस्बे की बैठकें भी प्रायः उसी दोष से दूषित हैं जो कि संयुक्त राज्य अमरीका की अन्य स्थानीय संस्थाओं के साथ है; अर्थात् मतदाताओं का बहुमत इसके कार्यों में भाग नहीं लेता तथा योगदान का प्रतिशत केवल दस प्रतिशत ही रह जाता है । इस कारणवश स्थानीय सरकार के इस रूप की उपयोगिता अत्यन्त सीमित रह जाती है । इतने पर भी लार्ड ब्राइस ने इसके बारे में लिखा है कि स्थानीय सरकार के तीन या चार वर्णित रूपों में से कस्बा या कस्बापन ही सर्वश्रेष्ठ है जिसमें कि जनता की प्राथमिकता सभा होती है । यह सबसे कम खर्चीली तथा कार्यकुशल है । यह उन लोगों के लिये सर्वाधिक शिक्षाप्रद है जो कि इसमें भाग लेते हैं । कस्बे की बैठकें न केवल कार्य ही हैं वरन् ये तो एक प्रकार से प्रजातंत्र के स्कूल हैं ।[1]

---

1. "Of the three or four types of township with its popular primary assembly has been the best. It is the cheapest and the most efficient; it is the most educative to the citizens who bear part in it. The town-meeting has been not only the course but the school of democracy."

—*Bryce*, American Commonwealth, Vol. 1, P. 626

स्थानीय प्रतिनिधि निकायों की रचना पर मिल के विचार

[Mill on the Construction of Local representative bodies]

जॉन स्टुअर्ट मिल ने स्थानीय प्रतिनिधि निकायों की रचना पर अपने विचार प्रकट किये हैं। उनका कहना है कि स्थानीय प्रतिनिधि निकायों का संविधान कोई अधिक कठिनाई उपस्थित नहीं करता। इसके पीछे जो सिद्धान्त काम करते हैं वे किसी प्रकार भी उन सिद्धान्तों से भिन्न नहीं है जो कि राष्ट्रीय प्रतिनिधित्व में काम करते हैं। राष्ट्रीय निकायों की भांति इनका भी निर्वाचित होना जरूरी माना जाता है। इसके साथ ही एक व्यापक प्रजातन्त्रात्मक आधार भी इनकी एक मुख्य आवश्यकता मानी जाती है। स्थानीय स्तर पर इन सभी सिद्धांतों के खतरों की सम्भावना कम रहती है जबकि इनके लाभों की अधिक से अधिक आशा की जा सकती है। इनके द्वारा जो जन प्रशिक्षण किया जाता है तथा जनता को प्रशासनिक उत्तर-दायित्व निभाने के योग्य बनाया जाता है वह इनकी अपनी विशेषता होती है।

स्थानीय स्तर पर भी अल्पसंख्यकों को उसी प्रकार प्रतिनिधित्व दिया जाना जरूरी है जिस प्रकार कि राष्ट्रीय स्तर पर दिया जाना जरूरी माना जाता है। मतों की बहुलता के लिये भी यहां वैसे ही कारण दिये जा सकते हैं। स्थानीय निकायों का संगठन करते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि सभी स्थानीय हितों को यथा सम्भव प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाये। इसके अतिरिक्त एक दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह माना जाता है कि सभी स्थानीय कार्यों के लिए एक निर्वाचित निकाय होना चाहिए। उसके विभिन्न भागों के लिये अलग-अलग निकायों का होना जरूरी नहीं है। श्रम विभाजन एक अच्छी चीज है जिसके अपने कुछ लाभ हैं किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि प्रत्येक कार्य को छोटे-छोटे टुकड़ों में बांट दिया जाये। इसका अर्थ यह है कि उन सभी कार्यों को मिला दिया जाये जो कि संयुक्त रूप में किये जाने पर ही भली प्रकार से सम्पादित हो सकते हैं तथा उन सभी कार्यों को अलग-अलग रखा जाये जो कि इस प्रकार सम्पादित किये जाने की मांग करते हैं। कार्यपालिका सम्बन्धी स्थानीय कार्यों को विभागों में बांट देना चाहिये। इस विभाजन का वही आधार एवं कारण है जो कि राज्य के कार्यों को बांटने का है। इसका कारण यह है कि उनमें से प्रत्येक कार्य सम्पन्न होने के लिये एक विशेष तरीके की मांग करता है। कार्य विभाजन के लिये जो कारण कार्य की सम्पन्नता की दृष्टि से उपयोगी हैं, वे ही कारण नियंत्रण के लिये लागू नहीं होते। निर्वाचित निकाय का कार्य यह नहीं होता कि वह कार्य करे किन्तु उसका कार्य तो यह है कि वह यह देखे कि कार्य उचित रूप से हो रहा है अथवा नहीं तथा किसी आवश्यक कार्य को छोड़ा तो नहीं गया है। यह कार्य एक ही निरीक्षक निकाय द्वारा सभी विभागों के लिये किया जा सकता है। यह तरीका व्यक्तिगत न होकर सामूहिक होगा। व्यक्तिगत जीवन की भांति सार्वजनिक जीवन में भी यह भद्दा लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य को देखने के लिये अलग से एक निरीक्षक हो। ग्रेट ब्रिटेन में क्राउन के मन्त्रियों के पास विभिन्न विभाग रहते हैं किन्तु वे

औद्योगीकरण के फलों तथा विज्ञान एवं सभ्यता के नवीन विकासों को पहुंचाने के लिए वहां की प्रशासनिक व्यवस्था का संगठन एक दूसरी प्रकार से करना जरूरी हो जाता है जिसकी शहरों में आवश्यकता कम होती है। शहरी एवं देहाती क्षेत्र के बीच प्रशासनिक अन्तर रखना सदैव ही विवादास्पद रहा है। कई लोग इसकी आलोचना करते हुये इसके खतरों की ओर इशारा करते हैं। इस प्रकार उपयोगी होते हुये भी इस धारणा को सामान्य स्वीकृति प्राप्त नहीं हो पायी है अर्थात् यह अब भी विवाद का ही विषय है।

तीसरे, दो निकटवर्ती समाजों को अपने विकास कार्यों को सम्पन्न कराने के लिए तथा प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह कराने के लिये स्वयं ही अपने खर्च का भार उठाना चाहिये। एक क्षेत्र के नागरिकों को चाहिए कि वे वांछित सेवाओं के लिए स्वयं ही कर प्रदान करें क्योंकि उनकी समस्यायें एवं सेवायें उनके निकटवर्ती समाज के लोगों से भिन्न हो सकती है। जब वे निकटवर्ती लोग उन सेवाओं को प्राप्त नहीं कर हों रहे तो उसके व्यय का भार उनके कन्धों पर क्यों रखा जाये। इस व्यय में वे उन सेवाओं की व्यवस्था कर सकते हैं जो कि उनकी विशेष है तथा जिनके लिए उनके पड़ौसी उत्सुक नहीं हैं। यह मूल रूप से वही सिद्धान्त है जिसको आधार बनाकर शहरी एवं देहाती क्षेत्रों के मध्य स्थित अन्तर का समर्थन किया जाता है। चौथे, स्थानीय सेवाओं का संगठन करते समय सदैव यह ध्यान रखना चाहिए कि बड़े शहरों के बाहर जो स्थानीय स्वशासन का यंत्र तैयार किया जाये। उसमें दोनों प्रकार की सेवाओं का समन्वय होना चाहिये, अर्थात् वे सेवायें जो कि बड़े क्षेत्र के लिए आवश्यक हैं तथा वे सेवायें जिनको छोटे क्षेत्र में रखा जाता है। क्षेत्र के आकार के आधार पर सेवाओं का यह बँटवारा उन पर किये जाने वाले नियंत्रण को सुविधाजनक बना देता है तथा साथ ही खर्च का प्रबन्ध करने में भी आसानी रहती है।

PART – TWO

भारत में स्थानीय लोक प्रशासन

[Local Government In India]

3

भारत में स्थानीय सरकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

[HISTORICAL BACKGROUND OF LOCAL GOVERNMENT IN INDIA]

मनुष्य स्वभाववश एक सामाजिक प्राणी है जो कि अकेले में रहना न पसन्द करता है और न ही ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है। जब से व्यक्ति अपनी पाशविक आदतों को छोड़कर सभ्यता की दिशा में अग्रसर हुआ तभी से उसने ग्रामीण जीवन की स्थापना कर ली। सामूहिक एवं एकत्रित रूप में रहने की प्रवृत्ति ने ही व्यक्ति को सामाजिक संगठन के विकसित रूपों की ओर अग्रसर किया। ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करके देखा जाये तो पता चलता है कि प्रारम्भिक भारतीय इतिहास एक क्रमबद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता। प्राचीन भारत की सभ्यता; रहन-सहन, साहित्य, विश्वास, रीति-रिवाज, धर्म आदि की जानकारी वेदों द्वारा होती है जिनके समय के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। इन वेदों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता एवं इनके कथनों की वैज्ञानिकता संदिग्ध है। इनमें कही गई बातों को ऐतिहासिक तथ्य समझने की अपेक्षा यदि काव्यात्मक कल्पनाओं का संग्रह माना जाये तो अधिक उपयुक्त रहेगा। वेदों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के लोग मूल रूप से कृपक एवं चरवाहे का जीवन व्यतीत करते थे। ये गांवों में ही रहते थे तथा पुरों (नगरों) से ये परिचित नहीं थे। रामायण और महाभारत काल में अनेक सुन्दर नगर स्थापित हो चुके थे। रामायणकालीन अयोध्या बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी थी। इसमें अनेक सड़कें, सड़कों के दोनों ओर पेड़, बाजार, दुकानों आदि की व्यवस्था थी।

प्राचीन काल में स्थानीय शासन

[Local Administration in Ancient Times]

प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय का भारत अपनी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये सामूहिक दृष्टिकोण रखता था। लोगों में सामूहिक, सामान्य एवं राष्ट्रीय चेतना थी जो

3

भारत में स्थानीय सरकार की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

[HISTORICAL BACKGROUND OF LOCAL GOVERNMENT IN INDIA]

मनुष्य स्वभाववश एक सामाजिक प्राणी है जो कि अकेले में रहना न पसन्द करता है और न ही ऐसा करना उसके लिए उपयोगी है। जब से व्यक्ति अपनी पाशविक आदतों को छोड़कर सभ्यता की दिशा में अग्रसर हुआ तभी से उसने ग्रामीण जीवन की स्थापना कर ली। सामूहिक एवं एकत्रित रूप में रहने की प्रवृत्ति ने ही व्यक्ति को सामाजिक संगठन के विकसित रूपों की ओर अग्रसर किया। ऐतिहासिक ग्रन्थों का अध्ययन करके देखा जाये तो पता चलता है कि प्रारम्भिक भारतीय इतिहास एक क्रमबद्ध रूप में प्राप्त नहीं होता। प्राचीन भारत की सभ्यता; रहन-सहन, साहित्य, विश्वास, रीति-रिवाज, धर्म आदि की जानकारी वेदों द्वारा होती है जिनके समय के सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। इन वेदों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता एवं इनके कथनों की वैज्ञानिकता संदिग्ध है। इनमें कही गई बातों को ऐतिहासिक तथ्य समझने की अपेक्षा यदि काव्यात्मक कल्पनाओं का संग्रह माना जाये तो अधिक उपयुक्त रहेगा। वेदों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस समय के लोग मूल रूप से कृषक एवं चरवाहे का जीवन व्यतीत करते थे। ये गांवों में ही रहते थे तथा पुरों (नगरों) से ये परिचित नहीं थे। रामायण और महाभारत काल में अनेक सुन्दर नगर स्थापित हो चुके थे। रामायणकालीन अयोध्या बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी थी। इसमें अनेक सड़कें, सड़कों के दोनों ओर पेड़, बाजार, दुकानों आदि की व्यवस्था थी।

प्राचीन काल में स्थानीय शासन

[Local Administration in Ancient Times]

प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उस समय का भारत अपनी विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये सामूहिक दृष्टिकोण रखता था। लोगों में सामूहिक, सामान्य एवं राष्ट्रीय चेतना थी जो

कि प्राय: सभी वर्ग के लोगों में फैली हुई थी। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के अन्तिम सूक्त के सम्बन्ध में राधाकुमुद मुखर्जी ने लिखा है कि इस सूक्त में जिस आराध्य की आराधना की गई है उसे प्रजातंत्र कहा जा सकता है। 'हिन्दू राजनीति' के प्रसिद्ध लेखक डा० के० पी० जायसवाल के कथनानुसार प्रारम्भिक काल के जिस राष्ट्रीय जीवन एवं क्रियाओं का अभिलेख मिलता है वे जन सभाओं एवं संस्थाओं द्वारा सम्पन्न की जाती थीं।[1] इस प्रकार की संस्थायें प्रत्येक स्तर पर मौजूद थीं। उस समय की लोकप्रिय स्थानीय संस्थाओं को अनेक नामों से पुकारा जाता था उदाहरण के लिए-कुल, गण, जाति, पुग, व्रत, श्रेणी, संघ, समुदाय, समूह, परिषद, चरण आदि।

प्राचीन भारत के गांवों का क्या रूप था तथा इसके अधिकारी कौन थे यह जानना अत्यन्त रुचिकर विषय है। वाल्मिकी रामायण में दो प्रकार के गांवों का उल्लेख किया गया है—घोश और ग्राम। इनके अधिकारियों को क्रमश: घोश महत्तर एवं ग्राम महत्तर कहा जाता था। घोष का आकार अपेक्षाकृत छोटा होता था। रामायण में एक अन्य अधिकारी 'ग्रामणी' का भी उल्लेख आता है। महाभारत में भी घोष एवं ग्राम का वर्णन है। घोश प्राय: उन क्षेत्रों को कहते थे जो कि जंगलों के पास होते थे तथा वहाँ के लोग गोप अथवा गायों के रखवाले होते थे। मनु ने गांवों की सीमाओं का वर्णन किया है। वे गांव के अधिकारी को ग्रामिक कहकर पुकारते हैं। उनके कथनानुसार यदि गांव में किसी प्रकार की गड़बड़ हो तो ग्रामिक को चाहिए कि वह अपने से उच्च अधिकारी को, जो कि दस गांवों का अध्यक्ष होता है, इसकी रिपोर्ट दे। इस प्रकार मनु का ग्रामिक गांव के प्रशासन के लिए उत्तरदायी था तथा उसका यह उत्तरदायित्व था कि गांव के निवासियों से राजा के लिए कर का संग्रह करे। ग्रामिक के ऊपर वाला अधिकारी दस गांवों का अधिपति होने के कारण दशी कहलाता था। उसके ऊपर बीस गांवों का अधिपति 'विशन्ति', सौ गांवों का अधिकारी 'शत ग्रामाधिपति' और हजार गांवों का अधिपति, 'सहस्र ग्रामाधिपति' कहलाता था।

ये समस्त अधिकारी राज्य द्वारा नियुक्त किये जाते थे। राजा का यह कर्त्तव्य था कि गांवों एवं उनके अधिकारियों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखे तथा उनके कार्यों पर देख-रेख करने के लिए एक कठिन परिश्रमी मंत्री हो। इन अधिकारियों का वेतन राज्य को होने वाली आय के अनुसार बदलता रहता था। वैदिक काल में ग्रामणी का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान था। इस कथन की सत्यता इस बात से प्रमाणित हो जाती है कि

---

1. "National life and activities in the earliest times on record were expressed through popular assemblies and institutions."

—*Dr. K P. Javaswal*, Hindu Polity: A Constitutional History of India in Hindu Times, Bangalore City, 1943, P. 12

राज्याभिषेक समारोह के समय अन्य उच्च अधिकारियों के साथ ही उसकी उपस्थिति भी परम आवश्यक मानी जाती थी। यद्यपि ग्रामणी की नियुक्ति राजा द्वारा की जाती थी किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं था कि उसे गांव-वालों के ऊपर थोपा जाता था और वह जो जी में आये, कर सकता था। इसके विपरीत उसे गांव के बड़े-बूढ़ों की सलाह से कार्य करना होता था। डा० अल्टेकर के कथनानुसार मुखिया (ग्रामणी) कार्यपालिका सत्ता होता था किन्तु यदि वह कभी भी परम्परागत व्यवहारों के विपरीत कार्य करे तो उसे ग्राम विरधों द्वारा ठीक किया जा सकता था।[1] ये गांव के वृद्ध एवं बड़े लोग गांव पंचायत कार्यपालिका के सदस्य होते थे। डा० हेमचन्द्र जोशी का मत है कि ये लोग चुनाव द्वारा नियुक्त किये जाते थे। सभा के सदस्यों को सभेया कहा जाता था। 'सभ्यता' शब्द की व्युत्पत्ति इसी शब्द से मानी जाती है।

ग्राम्य स्तर पर सभा, समिति एवं गण को भारी शक्ति एवं प्रभाव प्राप्त था। सतपथ ब्राह्मण के अनुसार ग्रामीण अन्य लोगों के साथ राजा-बनाने वाला था। राजाशाही का विकास ग्रामीणों की प्रेरणा से हुआ जैसा कि वेद, ब्राह्मणों के कई सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है। 'राजा' राज्य की सर्वोच्च सत्ता होता था। प्रो० वी० पी० आप्टे (Prof. V. P. Apte) के कथनानुसार उसका पद वंश परम्परागत था किन्तु फिर भी प्रत्येक समय लोगों की इच्छा जानना जरूरी होता था। भीष्म पितामह ने महाभारत में कहा है कि जो राजा प्रजा की रक्षा के लिये नियुक्त है और उसकी रक्षा नहीं करता है उसको उसी प्रकार निकाल देना चाहिए जैसे कि पागल कुत्ते को बाहर कर दिया जाता है। आप्टे लिखते हैं कि राजा के ऊपर जन नियंत्रण रखने के साधन के रूप में राजा के चुनाव का हम कोई भी तरीका सोच सकते हैं किन्तु यह एक तथ्य है कि लोग राजनीति में महत्वपूर्ण योगदान करते थे।[2] चौधरी के मतानुसार जिम्मर ने यह स्वीकार किया है कि वैदिक राजनीति प्रत्येक स्थान पर जनता की इच्छा द्वारा सीमित थी।[3]

---

1. "The Mukhia was the executive authority, but if he ever acted against the coustomary practices, the Gram Virdhas used to correct him "
   —*Anant Sadashiv Altekar*, Pracheen Bhartiya Shashen Padhatti, PP. 171-2

2. "Whatever we might think of the election of Kings as means of popular control over them, there is no doubt that the people continued to play an important part in politics "
   —*Prof. V. P. Apte*, The Vedic Age op. cit., P. 428

3. "Zimmer admits that the Vedic Polity was limited everywhere by the will of the people. The basis of law was democratic."
   —*R.K. Chaudhri*, Studies in Ancient Law and Justice, Patna 1953; P. 4

कानून का आधार प्रजातन्त्रात्मक था। कोई भी ऐसा राजा अधिक दिन तक अपने पद पर नहीं रह सकता था जो कि प्रजा की इच्छाओं की अवहेलना करे। यदि एक देश की प्रजा प्रसन्नतापूर्वक रहती है तो वहां किसी प्रकार की क्रान्ति का डर नहीं रहेगा तथा प्रशासन व्यवस्था भी सुचारु रूप से चलती रहेगी। प्राचीन भारत के राज्यों तथा गांवों के बीच निकट का एवं घनिष्ट पारस्परिक सम्बन्ध रहता था। राधाकुमुद मुखर्जी के कथनानुसार ये दोनों ही स्वतन्त्र अंग थे। दोनों की बनावट एवं कार्य पृथक तथा सुपरिभाषित थे तथा उनकी उन्नति एवं विकास के नियम भी अलग-अलग ही थे।[1] राज्य गांव के जीवन में बहुत कम हस्तक्षेप करता था। राजनैतिक जीवन को सामाजिक जीवन पर हावी होने से बचाने के लिये प्रत्येक सम्भव उपाय किया गया था। उस समय अहस्तक्षेप की नीति को अच्छा समझा गया और इसीलिए राज्य का कार्य केवल जीवन और सम्पत्ति की रक्षा करने तथा राजस्व एकत्रित करने तक ही रख दिया गया। 'उस समय सामाजिक एवं राजनैतिक संगठनों की सुविज्ञ सीमायें थीं। उनमें से दोनों ही सहयोगपूर्ण अभिकरण के रूप में सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति का प्रयास करते थे।[2] प्रोफेसर अल्टेकर का कहना है कि प्राचीन काल से ही भारतीय गांव प्रशासन की धुरी रहे हैं। उस समय कस्बे के जीवन की ओर लोग बहुत कम आकर्षित थे। प्राचीन भारत के गांवों को जो यह महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ इसका कारण सम्भवतः उस संगठित एकता को माना जा सकता है जोकि पंचायत संस्थाओं के माध्यम से स्थापित की गई थीं। गांव के निवासी न्याय, ईमानदारी एवं कार्यकुशलता के साथ इन पंचायतों का संचालन करते थे और बदले में राज्य द्वारा ग्रामीण सत्ताओं को गांव से सम्बन्धित कार्यों पर पूरी शक्ति प्रदान की जाती थी।

प्राचीन काल की स्थानीय संस्थाओं में 'ग्रामणी' का मुख्य स्थान था। वह निर्वाचित होता था अथवा उसे नियुक्त किया जाता था इस सम्बन्ध में विचारक एकमत नहीं हैं। डा० अल्टेकर का विचार है कि यह पद वंश-परम्परागत होता था और इस पर प्राय: वही व्यक्ति रहता था जो कि ब्राह्मण नहीं था। यदि वंश परम्परागत आधार पर योग्य व्यक्ति न मिले तो उसी परिवार के किसी भी व्यक्ति को इस पद पर राज्य द्वारा नियुक्त किया जा सकता था। 'ग्रामणी' गांव की जनता का एक प्रकार से

---

1. "Both of them were independent organisms with distinct and well defined structures and functions of their own and laws of growth and evolution."
—*Dr. Radha Kumud Mookerji, op. cit., P. 3.*

2; "There was a well understood delimitation of the respective boundaries of the political and social organisations, both of which were co-operating agencies for the promotion of the common will."
—Ibid, P. 4

माँ-बाप माना जाता था। यद्यपि वह राज्य का आदमी होता था किन्तु फिर भी वह जनता का अपना था और उसके हितों की रक्षा के लिये सदैव तत्पर रहता था। ग्रामणी के कार्यों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ग्रामणी का प्रथम कार्य गांव की रक्षा करना था। वह इस उद्देश्य से संगठित स्वयंसेवकों एवं रक्षकों की अध्यक्षता करना था। इसका दूसरा कार्य था राज्य का कर इकट्ठा करना तथा उसका पूरा-पूरा अभिलेख रखना। इस दृष्टि से सभी महत्वपूर्ण कागजात उसी की संरक्षना में रहते थे। गांव के वृद्ध जनों का निकाय उसके कार्यों में सक्रिय सहयोग प्रदान करता था।

प्राचीन भारत के ग्रामीण समाज में राज्य के करों को एकत्रित करना सबसे महत्वपूर्ण कार्य माना जाता था। इस कार्य के लिये मुख्य उत्तरदायित्व यद्यपि ग्रामणी को सौंपा जाता था किन्तु इसे पूरा करने में सभी स्थानीय निवासी पूरा-पूरा सहयोग करते थे। ग्राम पंचायतों को न्याय के क्षेत्र में भी कुछ अधिकार एवं उत्तरदायित्व सौंपे गये थे।

गांवों का प्रशासन संचालित करने के लिये नारद, बृहस्पति, काव्यायन, याज्ञवल्क आदि स्मृतिकारों एवं विचारकों ने अनेक नियम बनाये और परम्पराओं के आधार पर इनको स्थापित किया गया। ये सभी महात्मा किस काल में रहे थे इसके सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता किन्तु इतना तो सच है कि इनके नाम पर प्रचलित ये नियम बहुत काल तक गुरू-शिष्य की परम्परा में जीवित रहे।

मौर्य काल में स्थानीय शासन

[Local Administration in Moraya's Period]

कौटिल्य (चाणक्य) लिखित अर्थशास्त्र भारत में राजनीति शास्त्र का प्रथम प्रामाणिक ग्रन्थ कहा जाता है जिसके द्वारा हमें तत्कालीन शासन का निश्चित एवं पूरा ज्ञान हो पाता है। इससे पूर्व की प्रशासनिक व्यवस्था का हमारा अधिकांश ज्ञान जातकों एवं अन्य धार्मिक ग्रन्थों के आधार पर की गई कल्पना पर निर्भर था। कौटिल्य ने गांव के प्रशासन के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा है। उनके मतानुसार सम्पूर्ण व्यवस्था कृषि की आवश्यकताओं से प्रभावित थी। गांवों का आकार एक सौ से लेकर पांच सौ घरों तक होता था। गांवों की सीमाओं के बारे में कौटिल्य द्वारा वर्णित विचार बहुत कुछ मनु से मिलते हैं। उनका कहना था कि गांवों की सीमा पहाड़ों, नदियों, घाटियों, तालाबों, पेड़ों आदि द्वारा निर्धारित की जानी चाहिए। गांवों को एक या दो कोस के फासले पर बसाना चाहिये। सौ गांवों के संघ को संग्रहण, दो सो वाले को कर्वनिका, चार सौ वाले को द्रोणमुखा और आठ सौ वाले को महाग्राम कहा जाता था। प्रशासकीय दृष्टि से महाग्राम को स्थानुजा कहते थे। यह उस समय व्यापार एवं मेलों का केन्द्र था।

गांवों के प्रशासकीय स्टाफ में एक अध्यक्ष, एक संखायक, स्थानिका, जंघ करिका आदि होते थे। इनके अतिरिक्त एक ऐसा अधिकारी भी होता

था जो कि गांवों की सफाई का ध्यान रख सके। एक अश्व शिक्षक भी होता था। इनको कर—मुक्त भूमि दी जाती थी जिसका उपभोग करने का वे अधिकार रखते थे किन्तु उसे वेच नहीं सकते थे। सम्राट चन्द्रगुप्त की शासन व्यवस्था का पर्याप्त अध्ययन करने के वाद यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय शासन की ओर उस समय पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा हैं कि सम्राट चन्द्रगुप्त ने यद्यपि एक वहुत वड़ा साम्राज्य पाया तथा भारत में एक केन्द्रीय सरकार की स्थापना की किन्तु उसने भी ग्राम्य समाज के प्रति अहस्तक्षेप की नीति का पालन किया। उस समय का प्रत्येक गांव अपने विषयों में पूर्णत: स्वतन्त्र था तथा स्वायत्तशासी था। प्रत्येक गांव में उसकी अपनी सभा होती थी जो कि गांव से सम्वन्धित सभी विषयों पर वादविवाद करती थी। समाज की सुव्यवस्था के लिये नियम वनाये गये और इनको तोड़ने वालों को दण्ड की व्यवस्था की गई। सभा गांव के अनेक रूपी कार्यों का केन्द्र थी। यह सामाजिक एवं धार्मिक विषयों पर भी विचार करती थी। गांव के निवासियों के मनोरंजनार्थ इसके द्वारा अनेक आयोजन किये जाते थे। इस सभा की बैठकें किसी भी घने छायादार वृक्ष के नीचे वने चवूतरे पर हो जाया करती थी जहां कि गांव के वृद्ध लोग अनुभवी एवं गुनी लोग तथा सामान्य जनता एकत्रित हो सके। देश का शासक चाहे कोई भी हो जाये, इससे इन गांवों के जनजीवन पर वहुत कम असर पड़ता था। क्योंकि उनका शासन उनके ही निकाय सभा द्वारा किया जाता था। भारतीय जनता इन आत्म-प्रशासित गणराज्यों में स्वतन्त्रापूर्वक रहती थी।

अर्थशास्त्र में इन ग्राम्य समाजों के संगठन तथा कार्य का और भी अधिक विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। सारे गांव से सम्वन्धित किसी कार्य के लिए जव ग्रामिक वाहर जाता था तो किसी न किसी को अपने साथ रखता था। यदि कोई ग्रामीण ग्रामिक का साथ देने से मना कर दे तो उस पर जुर्माना किया जा सकता था। ग्रामिक को यह अधिकार था कि वह चोर एवं भ्रष्ट लोगों को गांव से वाहर करदे। यदि गांव द्वारा किसी अनजान और निरपराध व्यक्ति को वाहर किया जाये तो सारे गांव पर ही जुर्माना कर दिया जाता था। गांव के नाम का एक कोष होता था और कोई भी जुर्माना या कर आने पर वह इसी में जमा कर दिया जाता था। इस पूरे संगठन में ग्रामिक का पद केन्द्रीय महत्व का था। यद्यपि वह राज्य कर्मचारी का था किन्तु उसकी नियुक्ति गांव की इच्छा पर आधारित थी। उसे यह शक्ति थी कि परम्परागत व्यवहार को लागू करने के लिये गांव वालों को मजवूर कर सके किन्तु वह प्राय: उनकी इच्छा के अनुसार ही व्यवहार करता था। ग्रामीण निकाय के पास कुछ न्यायिक कार्य भी थे। सत्यकेतु विद्यालंकार का कहना है कि स्वतंत्र ग्राम्य संगठन को प्रशासन के साथ-साथ नियम वनाने की शक्ति भी प्रदान की गई, इससे न्यायिक कार्य भी दिये गये। ग्रामीण निकाय द्वारा वनाये गये नियमों को उच्च स्थानीय न्यायालय द्वारा आदर की दृष्टि से देखा जाता था। स्वयं कौटिल्य का मत था कि इन संघों—देश संघ, जाति संघ, कुल संघ—द्वारा वनाये गये

नियमों का आदर किया जाना चाहिये। राज्य इनको उचित मान्यता देता था।

उस समय की ग्राम्य व्यवस्था में ग्रामिक के अतिरिक्त 'गोप' एक महत्वपूर्ण अधिकारी था। यह अधिकारी ग्रामीण सत्ता एवं राज्य के बीच एक प्रकार से कडी का कार्य करता था। मध्यस्तरीय कार्यों को सम्पन्न करते समय 'गोप' से यह आशा की जाती थी कि वह पांच से लेकर दस गांवों तक पर निरीक्षण रखेगा। यदि गांवों का आकार छोटा है तो यह संख्या बीस तथा चालीस तक भी जा सकती थी। इसका मुख्य कार्य यह देखना था कि राजस्व नियमित रूप से एकत्रित किया जाता रहे। कौटिल्य द्वारा बताये गये गोप के अन्य कार्यों में निम्नलिखित मुख्य हैं—

(१) गांवों के बीच स्थित सीमा-विवादों को सुलझाना।

(२) गांव में प्रयुक्त की जारही भूमि का अभिलेख रखना।

(३) भूमि की बिक्री एवं स्थानान्तरणों का अभिलेख रखना।

(४) राजस्व-मुक्त गांवों एवं भूमि का अभिलेख रखना।

(५) व्यक्तियों एवं संस्थाओं को राज्य द्वारा प्राप्त होने वाली सहायता का प्रकार एवं मात्रा का अभिलेख रखना।

(६) प्रत्येक गांव को व्यवसाय के आधार पर जनगणना करना।

(७) प्रत्येक गांव के मवेशियों की गणना रखना।

(८) सोने तथा अन्य खनिज पदार्थों का अभिलेख रखना।

(९) प्रत्येक गांव के कलाकारों, काश्तकारों तथा स्त्रियों की सूची रखना।

(१०) प्रत्येक गांव के स्त्री-पुरुष, वृद्ध-बच्चे आदि का व्यवसाय, आमदनी एवं उम्र के आधार पर अभिलेख रखना।

कौटिल्य के समय में स्थानीय संस्थायें स्वास्थ्य एवं सफाई पर पर्याप्त ध्यान देती थीं। अर्थशास्त्र में इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि जो लोग स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करें उनको सजा दी जाये। गलियों में कूड़ा फैंकने वाले पर जुर्माना करने की प्रथा थी। कोई भी व्यक्ति रास्ते में पानी या कीचड़ नहीं डाल सकता था। तीर्थस्थानों, राज्यमार्गों, मन्दिरों, जल-भण्डारों, सरकारी कार्यालयों तथा ऐसे ही अन्य स्थानों पर गलत कार्य करने वाले लोगों पर भी जुर्माना कर दिया जाता था। इस समय के ग्राम्य-जीवन की एक अन्य विशेषता यह थी कि किसी भी सार्वजनिक एवं सर्वहित के कार्य के लिए गांव के निवासियों से श्रमदान लिया जा सकता था। इस प्रकार के प्रयास प्राय: सफल होते थे क्योंकि इनके सहारे ग्रामीण समाज का आर्थिक, नागरिक एवं सांस्कृतिक जीवन समुन्नत बनता था। ग्रामीण में एक व्यक्ति द्वारा दूसरे के शोषण की प्रथा का पूर्णत: अभाव था।

आधुनिक काल में स्थानीय शासन

[Local Administration in Modern Period]

आधुनिक भारत में स्थानीय शासन का युग उस समय से प्रारम्भ होता है जबकि मद्रास में सर्वप्रथम नगर परिषद की स्थापना की गई। यद्यपि वहां नगर परिषद का संगठन सितम्बर, १६८८ में ही कर दिया गया था किन्तु नागरिक सेवा से सम्बन्धित विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए इसके यंत्र को सन् १८४० में अधिक समर्थ बनाया गया। इस समय अत्यन्त सीमित रूप में चुनाव के सिद्धान्त का श्री गणेश कर दिया गया। २८ सितम्बर १६८७ को संचालकों ने क्राउन की स्वीकृति से मद्रास परिषद को एक पत्र लिखा कि मद्रास में एक नगर निगम की स्थापना की जाये। स्थापित होने के बाद इस निगम को अनेक लोक सेवाओं के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। इंगलिश बॉरोज की भांति निगम एक न्यायिक निकाय थी। यह दीवानी एवं फौजदारी मामलों में अभिलेख का न्यायालय बनायी गई। निगम की स्थापना होने के बाद भी संचालकों की यह इच्छा पूरी न हो सकी कि इस प्रकार कर की मात्रा बढ़जायेगी। निवासियों ने अधिक करों का विरोध किया और नगरपालिका संस्थायें पनप नहीं सकीं। सन् १७२६ में एक अन्य नगरपालिका चार्टर प्रसारित किया गया जिसके अनुसार बम्बई तथा कलकत्ता में नगरपालिका निकायों की रचना की गई तथा मद्रास की नगर परिषद को पुनर्गठित किया गया। नये निगमों में से प्रत्येक में एक मेयर तथा नौ कानून के जानकार रखे गये जिनमें से कम से कम सात का जन्म ग्रेट ब्रिटेन में हुआ होना जरूरी था। प्रतिवर्ष कानून के जानकार (Aldermen) लोग मेयर पद के लिए अपने में से दो का नाम परिषद सहित गवर्नर के पास भेजते थे जो कि अन्तिम निर्णय लेता था। नवीन चार्टर ने मद्रास के मुक्त निगम को 'बन्द निगम' का रूप दे दिया। नवीन निकायों को बहुत कुछ न्यायिक कार्य सौंपे गये। सन् १७६३ में जब चार्टर का पुनः संशोधन किया गया तो प्रेसीडेन्सी कस्बों को भी नगरपालिका निकाय प्रदान किये गये। बम्बई में वहां के योग्य निवासियों के कारण ये संस्थायें सफलता से कार्य करती रहीं किन्तु कलकत्ता में ये नागरिक दायित्वों का निर्वाह न कर पायीं क्योंकि वहाँ के लोगों ने अधिक कर देने का विरोध किया। मद्रास में नगर परिषद अपने निवासियों की समस्यायें दूर करने में काफी सुस्त रही। प्रत्येक शहर में क्रमशः इतनी समस्यायें बढ़ती जा रही थीं कि उनको सुलझाने में प्रशासन पूरी तरह से असमर्थ था। सीमित रूप में निर्वाचन सिद्धान्त का श्री गणेश कर देने के बाद १८४५ में बम्बई की नगरपालिका सेवायें एक मण्डल को सौंप दी गई जिसमें सात सदस्य होते थे। यही व्यवस्था कलकत्ता में १८४७ में प्रारम्भ की गई। वहाँ सात आयुक्तों को नगर विकास के लिए कार्यपालिका शक्तियां और दी गई। इनमें से चार का निर्वाचन एक निश्चित कर देने वालों द्वारा किया जाता था। इन सब कदमों को उठाने के बाद भी प्रबन्ध की व्यवस्था, सड़ की सफाई तथा बढ़ती आबादी की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रहा। १८५६ तथा १८५८ में किये गये व्यवस्थापन द्वारा तीनों ही नगरों में प्रायः

एक जैसी ही व्यवस्था की गई। नगरपालिका का प्रशासन तीन सवैतनिक आयुक्तों को सौंप दिया गया जो कि प्रेसीडेन्सी सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। सार्वजनिक नियंत्रण का पूरी तरह से अभाव रखा गया। टिंकर (Tinker) महाशय ने उन नगरपालिकाओं की सूची दी है जिनको प्रारम्भ में स्थापित किया गया।[1] उन्होंने बताया है कि बम्बई प्रेसीडेन्सी में करांची १८४६, बेलगांव–१८५१, सूरत १८५२, पुनर्गठन–१८५२, शोलापुर, सतारा, अथनी–१८५३, अहमदनगर–१८५४, बासिम, कल्याण–१८५५, पूना जम्बूसर–१८५६, कैरा–१८५७, अहमदाबाद–१८५८, थाना–१८६२, नासिक–१८६४ आदि नगरपालिका संस्थायें संगठित की गई। इन सबकी १८७० तक कुल संख्या दो सौ के लगभग थी। मद्रास में इनका विवरण इस प्रकार है–विजिगापट्टम–१८५८, विजियानगरम, मिसलीपट्टम–१८६१, त्रिचनापल्ली आदि–१८६६, आदि। यहाँ १८७० तक कुल नगरपालिकाओं की संख्या ४४ थी। बंगाल का विवरण इस प्रकार है–नसीराबाद (पूर्वी बंगाल) १८५६, शेरपुर (पूर्वी बंगाल)–१८६१, हावड़ा–१८६२, ढाका सिरामपोर, पटना, कोमिल्लाह–१८६४, बर्दवान, गया, भागलपुर, आरा, मिदनापुर, हुगली–१८६५, ब्राह्मण बारिया–१८६८ आदि। यहां कुल संख्या ६५ थी। उत्तर पश्चिमी प्रान्त का विवरण यह है–नैनीताल–१८४५, देहरादून–१८५७, बरेली–१८५८, कानपुर–१८६१, लखनऊ, सुल्तान, मिर्जापुर–१८६२, आगरा, इलाहाबाद, मुरादाबाद, झांसी–१८६३, मेरठ, अलमोड़ा, इटावा–१८६४, सहारनपुर–१८६७, बनारस–१८६८, आदि। कुल संख्या ६७ रही।

पंजाब का विवरण इस प्रकार था–शिमला–१८५१, जालन्धर–१८५२, अम्बाला–१८६२, देहली–१८६३, लाहौर, रावलपिन्डी, फीरोजपुर–१८६७, अमृतसर–१८६८, आदि। यहां १८७० तक कुल संख्या १२७ रही। केन्द्रीय प्रान्तों में इनका विवरण इस प्रकार है–जबलपुर–१८६४ आदि। यहां कुल संख्या लगभग ४० थी।

यातायात के साधनों में क्रान्तिकारी विकासों के परिणामस्वरूप नये प्रकार के शहरी समाजों का जन्म होने लगा। भारत में बड़े स्तर के उद्योग खुलने से तथा उसके विश्व बाजार में प्रवेश पाने से भी इस क्षेत्र में काफी प्रभाव पड़ा। रेलवे के कारण अनेक शान्त कस्बों का जीवन कोलाहल-पूर्ण हो गया। सन् १७७५ में कानपुर एक अज्ञात गांव था। एक सीमावर्ती प्रदेश के रूप में इसका महत्व था। बाद में १८६३ में यहां रेलवे लाइन आ गई और यह पांच मुख्य लाइनों का जंक्शन बन गया। धीरे-धीरे सरकारी फैक्टरियां एवं रूई की मिलें खुलने लगीं। आज यह भारत का एक प्रमुख औद्योगिक नगर बन चुका है। इसके बढ़ते हुए कारखाने तथा गन्दी बस्तियां इस बात के प्रमाण है कि यहां औद्योगिक विस्तार कितनी शीघ्रता के साथ हो रहा है।

स्थानीय सरकार की संस्थाओं का विकास करने के एक तात्कालिक कारण यह माना जा सकता है कि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद की बिगड़ी हुई अर्थव्यवस्था के कारण १८६० में यह सोचा जाने लगा कि इन संस्थाओं

आधुनिक काल में स्थानीय शासन

[Local Administration in Modern Period]

आधुनिक भारत में स्थानीय शासन का युग उस समय से प्रारम्भ होता है जबकि मद्रास में सर्वप्रथम नगर परिषद की स्थापना की गई। यद्यपि वहां नगर परिषद का संगठन सितम्बर, १६८८ में ही कर दिया गया था किन्तु नागरिक सेवा से सम्बन्धित विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए इसके यंत्र को सन् १८४० में अधिक समर्थ बनाया गया। इस समय अत्यन्त सीमित रूप में चुनाव के सिद्धान्त का श्री गणेश कर दिया गया। २८ सितम्बर १६८७ को संचालकों ने क्राउन की स्वीकृति से मद्रास परिषद को एक पत्र लिखा कि मद्रास में एक नगर निगम की स्थापना की जाये। स्थापित होने के बाद इस निगम को अनेक लोक सेवाओं के लिए उत्तरदायी ठहराया गया। इंगलिश बॉरोज की भांति निगम एक न्यायिक निकाय थी। यह दीवानी एवं फौजदारी मामलों में अभिलेख का न्यायालय बनायी गई। निगम की स्थापना होने के बाद भी संचालकों की यह इच्छा पूरी न हो सकी कि इस प्रकार कर की मात्रा बढ़जायेगी। निवासियों ने अधिक करों का विरोध किया और नगरपालिका संस्थायें पनप नहीं सकीं। सन् १७२६ में एक अन्य नगरपालिका चार्टर प्रसारित किया गया जिसके अनुसार बम्बई तथा कलकत्ता में नगरपालिका निकायों की रचना की गई तथा मद्रास की नगर परिषद को पुनर्गठित किया गया। नये निगमों में से प्रत्येक में एक मेयर तथा नौ कानून के जानकार रखे गये जिनमें से कम से कम सात का जन्म ग्रेट ब्रिटेन में हुआ होना जरूरी था। प्रतिवर्ष कानून के जानकार (Aldermen) लोग मेयर पद के लिए अपने में से दो का नाम परिषद सहित गवर्नर के पास भेजते थे जो कि अन्तिम निर्णय लेता था। नवीन चार्टर ने मद्रास के मुक्त निगम को 'बन्द निगम' का रूप दे दिया। नवीन निकायों को बहुत कुछ न्यायिक कार्य सौंपे गये। सन् १७९३ में जब चार्टर का पुन: संशोधन किया गया तो प्रेसीडेन्सी कस्बों को भी नगरपालिका निकाय प्रदान किये गये। बम्बई में वहां के योग्य निवासियों के कारण ये संस्थायें सफलता से कार्य करती रहीं किन्तु कलकत्ता में ये नागरिक दायित्वों का निर्वाह न कर पायीं क्योंकि वहाँ के लोगों ने अधिक कर देने का विरोध किया। मद्रास में नगर परिषद अपने निवासियों की समस्यायें दूर करने में काफी सुस्त रही। प्रत्येक शहर में क्रमश: इतनी समस्यायें बढ़ती जा रही थीं कि उनको सुलझाने में प्रशासन पूरी तरह से असमर्थ था। सीमित रूप में निर्वाचन सिद्धान्त का श्री गणेश कर देने के बाद १८४५ में बम्बई की नगरपालिका सेवायें एक मण्डल को सौंप दी गई जिसमें सात सदस्य होते थे। यही व्यवस्था कलकत्ता में १८४७ में प्रारम्भ की गई। वहाँ सात आयुक्तों को नगर विकास के लिए कार्यपालिका शक्तियां सौंप दी गई। इनमें से चार का निर्वाचन एक निश्चित कर देने वालों द्वारा किया जाता था। इन सब कदमों को उठाने के बाद भी प्रबन्ध की व्यवस्था, मल की सफाई तथा बढ़ती आबादी की समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रही। १८५६ तथा १८५८ में किये गये व्यवस्थापन द्वारा तीनों ही नगरों में प्राय:

एक जैसी ही व्यवस्था की गई। नगरपालिका का प्रशासन तीन सवैतनिक आयुक्तों को सौंप दिया गया जो कि प्रेसीडेन्सी सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते थे। सार्वजनिक नियंत्रण का पूरी तरह से अभाव रखा गया। टिन्कर (Tinker) महाशय ने उन नगरपालिकाओं की सूची दी है जिनको प्रारम्भ में स्थापित किया गया।[1] उन्होंने बताया है कि बम्बई प्रेसीडेन्सी में करांची १८४६, बेलगांव–१८५१, सूरत ब्रूच, पुनर्गठन–१८५२, शोलापुर, सतारा, अथनी—१८५३, अहमदनगर—१८५४, बालसर, कल्याण–१८५५, पूना जम्बूसर–१८५६, कैरा–१८५७, अहमदाबाद–१८५८, थाना–१८६२, नासिक–१८६४ आदि नगरपालिका संस्थायें संगठित की गई। इन सबकी १८७० तक कुल संख्या दो सौ के लगभग थी। मद्रास में इनका विवरण इस प्रकार है–विजिगापट्टम–१८५८, विजियानगराम, मिसलीपाटम–१८६१, त्रिचना-पल्ली आदि–१८६६, आदि। यहां १८७० तक कुल नगरपालिकाओं की संख्या ४४ थी। बंगाल का विवरण इस प्रकार है–नसीराबाद (पूर्वी बंगाल) १८५६, शेरपुर (पूर्वी बंगाल)–१८६१, हावड़ा–१८६२, ढाका सिराजगंज, पटना, कोमिल्लाह–१८६४, बर्दवान, गया, मोहनपुर, धाराह, मिदनापुर, हुगली–१८६५, ब्राह्मण बारिया–१८६८ आदि। यहां कुल संख्या ६५ थी। उत्तर पश्चिमी प्रान्त का विवरण यह है–नैनीताल–१८४५, देहरादून–१८५७, बरेली–१८५८, कानपुर–१८६१, लखनऊ, मुदावन, मिर्जापुर–१८६२, आगरा, इलाहाबाद, मुरादाबाद, चंदौसी–१८६३, मेरठ, सलमोडा, इटावा–१८६४, सहारनपुर–१८६७, बनारस–१८६८, आदि। कुल संख्या ६७ रही।

पंजाब का विवरण इस प्रकार था–शिमला–१८५१, जालन्धर–१८५२, अम्बाला–१८६२,, देहली–१८६३, लाहौर, रावलपिंडी, फीरोजपुर–१८६७, अमृतसर–१८६८, आदि। यहां १८७० तक कुल संख्या १२७ रही। केन्द्रीय प्रान्तों में इनका विवरण इस प्रकार है–जबलपुर–१८६४ आदि। यहां कुल संख्या लगभग ४० थी।

यातायात के साधनों में क्रान्तिकारी विकासों के परिणामस्वरूप नये प्रकार के शहरी समाजों का जन्म होने लगा। भारत में बड़े स्तर के उद्योग खुलने से तथा उसके विश्व बाजार में प्रवेश पाने से भी इस क्षेत्र में काफी प्रभाव पड़ा। रेलवे के कारण अनेक शान्त कस्बों का जीवन कोलाहल-पूर्ण हो गया। सन् १७७५ में कानपुर एक अज्ञात गांव था। एक सीमावर्ती प्रदेश के रूप में इसका महत्व था। बाद में १८६३ में यहां रेलवे लाइन आ गई और यह पांच मुख्य लाइनों का जंक्शन बन गया। धीरे-धीरे सरकारी फैक्टरियां एवं रूई की मिलें खुलने लगीं। आज यह भारत का एक प्रमुख औद्योगिक नगर बन चुका है। इसके बढ़ते हुए कारखाने तथा गन्दी बस्तियां इस बात के प्रमाण है कि यहां औद्योगिक विस्तार कितनी शीघ्रता के साथ हो रहा है।

स्थानीय सरकार की संस्थाओं का विकास करने के एक तात्कालिक कारण यह माना जा सकता है कि प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम के बाद की बिगड़ी हुई अर्थव्यवस्था के कारण १८६० में यह सोचा जाने लगा कि इन संस्थाओं

में विकास किया जाये। पूरी एक शताब्दी तक भारतीय अर्थव्यवस्था बड़ी संकटपूर्ण स्थिति में रही। आय का स्रोत मुख्य रूप से भूमि-कर था जो कि एक प्रकार से स्थिर था। एक के बाद एक युद्ध होने के कारण घाटे की अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ जिसे कि कर्जे द्वारा सम्भाला गया। १८५८ में भारत के ऊपर ९८ मिलियन पौण्ड का कर्जा था। जेम्स विल्सन को वित्तमंत्री बनाकर भारत भेजा गया ताकि अर्थव्यवस्था को सुधारने का कार्य कर सके। उसने आते ही एक महत्वपूर्ण कदम यह उठाया कि वित्तीय विकेन्द्रीकरण कर दिया। उसने सड़कों एवं अन्य सार्वजनिक कार्यों का उत्तरदायित्व स्थानीय निकायों को स्थानान्तरित करने की बात कही। १८६१ में बजट भाषण देते हुए उन्होंने कहा—प्रथम महत्व की बात लोगों की इस आदत को तोड़ना है कि प्रत्येक बात के लिए कलकत्ता पर ही निर्भर रहा जाये। साथ ही यह सिखाना है कि वे उन कार्यों के लिए सरकार की ओर न ताकें जिनको कि वे स्वयं ही कर सकते हैं।[1] भारत सरकार ने यह निर्णय लिया कि प्रस्तावित प्रारूप को नवनिर्मित प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं द्वारा संचालित कराया जाये।

इन प्रस्तावों के लिए प्रथम प्रतिक्रिया पंजाब द्वारा की गई। वहाँ बिना कानूनी कार्यवाही के ही उपराज्यपाल सर राबर्ट मोन्टगोमरी (Sir Robert Montgomery) द्वारा १८६२ में प्रसारित एक उपबन्ध के आधार पर ही वहाँ नगरपालिकायें प्रारम्भ कर दी गईं। नगरपालिका समितियों में व्यापारिक पंचायतों द्वारा चुने गये लोग रहते थे। जिले के अधिकारियों को पृष्ठभूमि में ही रखा गया। १८६२ से १८६४ तक इस प्रकार की ४९ समितियां बनायी गईं।

कई कारणों से प्रभावित होकर लार्ड लारेन्स (Lord Lawrence) ने स्थानीय सरकार के विकास का पुनः आह्वान किया। वह पंजाब से प्राप्त संतोषजनक प्रतिवेदन से प्रभावित हुआ। भारत सचिव ने भी उसको लिख कर भेजा कि वह शिक्षा एवं नगरपालिका संस्थाओं के विकास का पर्याप्त ध्यान रखे। अगस्त, १८६४ के लॉरेन्स के प्रावधान का मूल लक्ष्य भी वित्त ही था। १८६५ में अस्थायी आयकर को हटाना था तथा शीघ्र ही साम्राज्यवादी खजाने को राहत की जरूरत थी। इस प्रस्ताव के अन्त में कहा गया था कि इस देश के लोग अपने स्थानीय मामलों का प्रशासन करने में पूर्ण समर्थ हैं। नगरपालिका की भावनायें उनमें गहरी जमी हैं। यहां हमारी जो स्थिति है उसके अनुसार हमें इस देश का अधिकांश व्यापार यहां के लोगों पर ही छोड़ देना चाहिये तथा हमको सामाजिक यन्त्र के सभी आन्दोलनों को सामान्य रूप से प्रभावित तथा निर्देशित करना चाहिये। इस प्रस्ताव का प्रभाव

---

1. "It is of the first importance to break through the habit of keeping everything in dependence on Calcutta, and to teach people not to look to government for things which they can do far better themselves."

—*James Wilson*, Finance Member.

अत्यन्त व्यापक रहा तथा प्रायः प्रत्येक मुख्य प्रान्त में इसके लिये व्यवस्थापन किया गया। १८६० के अन्तिम दिनों तक भारत का प्रायः प्रत्येक मुख्य कस्बा एक नगरपालिका से युक्त हो गया।

इस क्षेत्र में कुछ सुधार उदारवादी वायसराय लार्ड मिन्टो द्वारा किये गये। इसका मुख्य लक्ष्य भी पूर्ववर्ती प्रयासों की भांति साम्राज्यवादी वित्त को बढ़ाना था। सार्वजनिक कार्यों एवं सामाजिक सेवाओं का विकास करने के लिये धन की आवश्यकता थी। साथ ही तत्कालीन दुर्भिक्ष के अतिरिक्त व्यय का भार उठाने के लिये भी इसकी आवश्यकता थी। प्रस्तावित इलाज यह था कि प्रान्तों को राजस्व का कुछ भाग दिया जाये तथा उनको शिक्षा, सड़कों एवं मैडीकल सेवाओं के लिये उत्तरदायी ठहराया जाये। बदले में स्थानीय सत्ताओं को भी अधिक शक्तियां एवं बढ़े हुये उत्तरदायित्व सौंपना जरूरी था।

केवल उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों एवं केन्द्रीय प्रान्तों में ही स्वतन्त्रतापूर्वक चुनाव का अधिकार दिया गया। केन्द्रीय प्रान्तों में नगरपालिका के ६२६ सदस्यों में से ३६० निर्वाचित थे तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों के १३५४ सदस्यों में से ६६१ निर्वाचित थे। बाकी के प्रान्तों में अधिक से अधिक आधे सदस्यों को निर्वाचित रखने का ही प्रावधान था।

नवनिर्मित नगरपालिका समितियों ने ग्राम्य जीवन को बहुत कम छुआ। केवल बंगाल तथा मद्रास में ही एक छोटे स्तर पर इसके लिये कुछ प्रयास किया गया था। १८७० के बंगाली गांव चौकीदारी अधिनियम ने देश को दस या बारह वर्गमील के क्षेत्र में बांट दिया। ये क्षेत्र पंचायतों के अधीन रखे गये। पंचायतें गांव की पुलिस को चुकाने के लिये कर एकत्रित करती थी। ये तथाकथित पंचायतें केवल औपचारिक अस्तित्व ही बनाये रख सकीं। इनको गांव के लोगों की लोकप्रिय संस्था मानने की अपेक्षा सरकार का ही सेवक समझा गया। सरकार के अनेक प्रयासों के परिणाम-स्वरूप कुल मिलाकर १८८० तक स्थानीय सरकार का सिद्धांत केवल कलकत्ता व बम्बई नगरों में तथा केन्द्रीय प्रान्तों एवं उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तों के ही कुछ कस्बों में रखा जा सका। कहीं-कहीं यद्यपि स्थानीय प्रशासन का प्रारूप एवं स्थानीय कर आदि थे किन्तु फिर भी नियंत्रण पूरी तरह से सरकार के सेवकों के हाथों में था। आधुनिक भारत में स्थानीय सरकार के इतिहास का यह प्रथम युग कई विशेषताओं से पूर्ण है। लोग स्थानीय संस्थाओं के संचालनार्थ कर प्रदान करने में रुचि नहीं लेते थे वरन् वे इसका विरोध करते थे। सम्भवतः इसका कारण यह था कि वे उद्देश्य को नहीं समझ पाये थे। बाद में ज्यों-ज्यों जनता शिक्षित होती चली गई त्यों-त्यों यह कार्य भी सरल होता गया। जनता इन संस्थाओं के कार्यों में क्रमशः भाग लेने लगी। सामान्य जनता केवल उसी काम के लिये कर देना पसन्द करती है जो कि ऐसे कार्यों में लगाया जाये जिसका उन्हें प्रत्यक्ष लाभ मिल सके। बरेली की जनता तो करों के विरुद्ध इतनी अधिक क्रांतिकारी हो गई थी कि वहां शान्तिव्यवस्था स्थापित करने के लिये सेना को आना पड़ा था।

आधुनिक भारत में स्थानीय शासन के इतिहास का दूसरा चरण १८८२ के स्थानीय स्वायत्त सरकार पर भारत सरकार के प्रस्ताव से प्रारम्भ हुआ माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में लार्ड रिपन (Lord Ripon) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है जिसने कि दो-राष्ट्र की विचारधारा से प्रभावित होकर कार्य नहीं किया। लार्ड रिपन ने स्थानीय सरकार के क्षेत्र में किये गये सुधारों को अपने काल का एक बहुत बड़ी प्राप्ति माना था किन्तु असल में उन्होंने जो भी सुधार किये थे उनका अधिक लाभ प्राप्त नहीं हो सका। उसके प्रयासों की असफलता बहुत कुछ इस तर्क से पैदा हुई थी कि यदि स्थानीय सरकार को कुछ अर्थपूर्ण बनना है तो उसे स्थानीय परिस्थितियों के अनुकूल होना चाहिये। यदि उसे कृत्रिम रूप से भी स्थापित करना पड़े तो कम से कम वह स्थानीय प्रशासकों द्वारा विस्तृत रूप से नियोजित होनी चाहिये तथा उसे केन्द्रीय सरकार द्वारा तैयार रूप में लादा नहीं जाना चाहिये। किन्तु १८८२ के भारत में वायसराय ही एक मात्र ऐसा व्यक्ति था जिसके विचार उदारवादी थे। वैसे स्थानीय अधिकारियों का बहुमत रूढिवादी था और पैत्रिक प्रशासन का समर्थन करता था ताकि रिपन द्वारा प्रस्तावित सुधार महत्वहीन बन जायें तथा यहां तक कि उनको प्रान्तीय सरकारों एवं जिला अधिकारियों द्वारा अवहेलना का पात्र बनाया जाये जो कि उनको व्यवहृत करने के लिये उत्तरदायी थे।

स्थानीय प्रतिनिधि संस्थाओं के भावी विकास को प्रशासित करने वाले सामान्य सिद्धान्त १८ मई, १८८२ के स्थानीय स्वायत्त सरकार के प्रसिद्ध प्रस्ताव द्वारा निर्धारित किये गये। इसके पांचवें पैरा में कहा गया था कि यह प्रस्ताव प्रशासन में सुधार लाने के लिये नहीं रखा अथवा समर्थित किया गया है। यह तो सामान्यतः राजनैतिक एवं जनशिक्षा के साधन के रूप में रखा गया है। इसके छटे पैरा में कहा गया—ज्यों-ज्यों यह शिक्षा बढ़ती जायेगी त्यों-त्यों जनप्रेरणा से पूर्ण एक बौद्धिक वर्ग सारे देश में तेजी के साथ पनपता चला जायेगा। इनका प्रशासन में प्रयोग न करना न केवल एक गलत नीति है वरन् यह शक्ति का अपव्यय भी है। अंग्रेजों ने भारत में जिस शिक्षा, सभ्यता एवं भौतिक प्रगति का श्रीगणेश किया था उसके परिणामस्वरूप भारतीयों की इच्छायें, आकांक्षायें बढ़ी; एक नया मध्यम वर्ग पनपने लगा। यह वर्ग राजनैतिक कार्यों की ओर से आंख मींचकर अपने आपको असम्बद्ध भी बना सकता था और अधिक दबने पर गम्भीर राजनैतिक खतरे का कारण भी बन सकता था। इन दोनों ही रास्तों पर जाने से बचाने के लिये यह जरूरी था कि उसे प्रतिनिधि संस्थाओं के कार्यों में प्रशिक्षित किया जाये। रिपन का यह निश्चय था कि नवीन स्थानीय सरकार का यन्त्र न केवल प्रशासकीय आवश्यकताओं की ही पूर्ति करे किन्तु इससे राजनैतिक शिक्षा एवं प्रशासनिक कार्यकुशलता भी प्राप्त करनी चाहिये।

इस प्रस्ताव में कुछ ऐसे सिद्धान्तों का वर्णन था जिनको कि आगामी तीस वर्षों तक किसी न किसी रूप में अधिकारियों के कथनों की भाषा बनाया गया तथा बहुत समय तक वे भारतीय महत्वाकांक्षा के प्रतीक बने रहे। ये थे—राजनैतिक प्रशिक्षण स्थानीय सरकार का मुख्य कार्य है। इसका

महत्व प्रशासकीय कार्यकुशलता से भी अधिक है। दूसरे, नगरपालिकाओं की तरह से ही देहाती मण्डल (Rural Boards) भी बनाये जाने चाहिये। तीसरे, प्रशासन की इकाइयां छोटी होनी चाहियें जैसे उप-संभाग, तहसील या तालुका। चौथे, सभी बोर्डों में गैरअधिकारियों का दो तिहाई बहुमत होना चाहिये। जहां भी हो सके, ये निर्वाचित होने चाहिये। पांचवें, बड़े तथा प्रगतिशील कस्बों में शीघ्र ही चुनाव प्रारम्भ कर दिये जायें। छोटे कस्बों में इनको अनौपचारिक प्रयोगात्मक विधि द्वारा प्रारम्भ किया जाये। छठे, नियंत्रण आन्तरिक होने की अपेक्षा ऊपर का रखा जाये। सातवें, सभी स्थानीय बोर्डों का सभापति जहां तक सम्भव हो सके गैर-अधिकारी ही होना चाहिये। आठवें, प्रत्येक प्रान्त को चाहियें कि वह प्रस्ताव के सामान्य निर्देशों की व्याख्या स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार ही करे।

इस प्रस्ताव की वास्तविकताओं के प्रकाश में व्याख्या की गई। वायसराय ने यह माना कि नवीन स्वतन्त्रता का अर्थ होगा कार्यकुशलता का बलिदान। किन्तु यह स्थायी नहीं रहेगा। उसका विश्वास था कि गैर-अधिकारियों का सक्रिय सहयोग स्थानीय बोर्डों में उत्तरदायी भावना का विकास करने के लिये जरूरी था। रिपन चुनाव सिद्धांत का पक्का समर्थक हो ऐसी बात नहीं थी। वह तो भारतीय ग्राम्य-व्यवस्था का पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहता था। सर चार्ल्स बर्नार्ड का भी यही मत था कि देहाती समाज में जो अनेकीकरण बढ़ता जा रहा था उसे रोकने के लिये यह जरूरी है कि प्रशासन एवं गांवों के बीच पुनः सम्बन्ध स्थापित किया जाये। लार्ड रिपन ने सभापति के पद पर भारी जोर दिया। अपने एक मित्र को लिखते हुये उसने घोषणा की कि प्रस्ताव की एक बात, जिसे मैं सबसे अधिक महत्व प्रदान करता हूं, का सम्बन्ध जिला अधिकारी और अध्यक्ष पद से है। यदि इन बोर्डों को यहां के निवासियों को उनके कार्यों का स्वयं प्रबन्ध करने की दृष्टि से उपयोगी बनाना चाहते हैं तो उन पर बड़े साहब की उपस्थिति की छाया नहीं होनी चाहिये।[1]

देहाती बोर्डों की अपेक्षा कस्बे कुछ आगे थे। केन्द्रीय प्रान्त की अधिकांश नगरपालिकाओं में सभापति के पद पर गैर-अधिकारी होते थे। कुछ अन्य प्रान्तों में (जैसे कि पंजाब और उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में) नगरपालिकायें स्वयं ही अपना सभापति चुन सकती थीं। देहाती निकायों के प्रायः सभी सभापति अधिकारी होते थे। बिहार को छोड़कर केवल मध्य प्रदेश में ही जिला परिषदों के सभापति गैर-अधिकारी होते थे। सियालकोट तथा अमृतसर जिला बोर्डों के सभापति भी कुछ दिन तक गैर-अधिकारी ही रहे। जिन

---

1. "The point, of the resolution to which I attach more importance, is that which relates to [the Distt Officer and the Chair]..If the boards are to be of any use for the purpose of training the natives to manage their own affairs they must not be overshadowed by the presence of the Burra Sahib."

—*Lord Rippon*, Wolf, ii, 99

प्रान्तों के शहरी एवं देहाती बोर्डों में गैर अधिकारी सदस्यों का दो तिहाई बहुमत जरूरी था वहां भी वे सदस्य जिला न्यायाधीश द्वारा नियुक्त होने की प्रतीक्षा किया करते थे। यह परिवर्तन भी वास्तविक होने की अपेक्षा औपचारिक अधिक था। चुनाव सिद्धांत को किस सीमा तक लागू किया जाय यह बात जनता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उन प्रान्तों के अध्यक्षों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती थी। सन् १८८५ में नगरपालिका बोर्डों की बनावट निम्न प्रकार थी।[1]

	Total No. of Municipalities	Percentage of elected Members	Boards wholly or partly elected	Wholly nominated boards	Chairmen Official	Chairmen Non-official
Bengal	147	50·4%	118	29	130(?)	17(?)
Bombay	162	10·8%	40	122	152	10
Madras	54	24·6%	33	11	29	28
N.W.P.	109	79·8%	101	8	103	6
Punjab	197	42·6%	122	75	120(?)	77(?)
C. P.	58	60·2%	58	—	18(?)	40(?)

आधुनिक काल के प्रथम चरण में स्थानीय स्वशासन का न केवल अभाव ही पाया जाता है वरन् इस काल में लोगों के दृष्टिकोण का भी पता लग जाता है जो कि स्थानीय सरकार के बारे में बना हुआ था। सन् १८४२ में यह दृष्टिकोण सक्रिय रूप से विरोधात्मक था। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया त्यों-त्यों इसमें वृद्धि होती चली गयी। लोग प्रत्यक्ष कर देने के लिए तैयार नहीं थे इसलिए अप्रत्यक्ष कर लगाने पड़े। सामान्य जनता नागरिक महत्व के कार्यों में कोई रुचि नहीं लेती थी तथा स्थानीय निकायों के संचालनार्थ किसी प्रकार का कर देने में उत्साह नहीं दिखाती थी इसलिए ये सफलता से बहुत पीछे रहीं।

सन् १८८२ के उपबन्ध (Resolution) के पैरा १४ तथा १५ के अनुसार यह कहा गया कि चुनाव की वह व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए जो जनता की भावनाओं के अनुकूल हो। अपने एक अन्य व्यक्तिगत पत्र में लार्ड रिपन ने लिखा था कि जाति या व्यवसाय के आधार पर किया गया चुनाव जनता की भावनाओं के साथ मेल खायेगा अथवा नहीं। इसी काल में सर सैयद अहमद खां ने रिपन के प्रस्तावों पर व्यवस्थापिका परिषद में बहस के दौरान मुसलमानों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की थी।

इस काल में नगरपालिकाओं के प्रति लोगों के दिलों में क्या भावनायें थीं यह विषय अलग-अलग प्रान्तों में भिन्न रूप में था। उत्तर-पश्चिमी

1. The table as given by Hugh Tinker, op. ct., P. 48.

सीमा प्रान्त में जहां कि पश्चिमी विचार अज्ञात ही थे, नगरपालिका की भावना का भी अस्तित्व नहीं था। १८८९ मे डेरा स्माईल खान की किसी भी नगरपालिका ने कोई बैठक नहीं की क्योंकि उपायुक्त आदिवासियों के मामलों में बहुत अधिक व्यस्त था।

सन् १८८२ से १९०८ के बीच नगरपालिकाओं की आय दुगुनी हो गई किन्तु इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भी लोक सेवाओं के क्षेत्र में कोई अधिक विस्तार नहीं हुआ। वे अब भी केवल मौलिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्धित बनी रहीं। लार्ड रिपन के क्रान्तिकारी सुधारों के परिणामस्वरूप भी प्रेसीडेन्सी के कस्बों में अधिक अन्तर नहीं आया किन्तु इसके परिणाम-स्वरूप कुछ व्यवस्थापन अवश्य किया गया। १८८४ में मद्रास के लिए तथा १८८८ में कलकत्ता और बम्बई के लिए अधिनियम बनाये गये। इन सबमें सर्वाधिक प्रभावशील बम्बई का अधिनियम था जो कि भारी विचार-विमर्श एवं वादविवाद के परिणामस्वरूप सामने आया। यह एक एकीकृत नगर-पालिका का ढांचा था जो कि सामान्य समझौते के आधार पर पूर्व में सर्वाधिक सफल माना गया तथा अन्य बड़े नगरों द्वारा भी इसकी नकल की गई। इस व्यवस्था की मूल बात यह थी कि इसने निगम को नगर के प्रशासन का सर्वोच्च निकाय माना तथा साथ ही आयुक्त को निगम की इच्छा अभिव्यक्त करने के लिए उत्तरदायी ठहराया। आयुक्त को स्टाफ, तथा नगरपालिका के अन्य सामान्य कार्यों पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था। स्थायी समिति का कार्य क्षेत्र भी भली प्रकार से परिभाषित कर दिया गया। सरकारी नियंत्रण को बहुत कुछ हटा दिया गया। यद्यपि आयुक्त की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी किन्तु उसे निगम द्वारा कभी भी हटाया जा सकता था। उसे आर्थिक दृष्टि से पूरी स्वायत्तता प्राप्त थी, यद्यपि सरकार की स्वीकृति के बिना वह किसी प्रकार का कर्जा नहीं ले सकता था। इस व्यवस्था से फीरोजशाह मेहता एवं बम्बई के दूसरे जन-नेता संतुष्ट हो गये तथा मताधिकार के विस्तार एवं कुछ थोड़े बहुत परिवर्तनों के अतिरिक्त यह बहुत दिनों तक क्रियान्वित की गई।

१८८२ में लार्ड रिपन द्वारा जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया गया वह देहाती स्थानीय निकायों की स्थापना का था। इंगलैण्ड में भी देहाती परिषदें इसके पूरे छ: साल बाद आई हैं। १८८३ एवं १८८५ के प्रान्तीय व्यवस्थापन की एक सामान्य विशेषता यह थी कि इसके कारण द्विभुजाकार व्यवस्था (Two Tier System) की स्थापना की गई। 'जिला बोर्ड' और 'उप-जिला बोर्ड', उप-संभाग अथवा तहसील पर आधारित थे। रिपन के उपबन्ध के अनुसार उप-संभाग, तालुका या तहसील वह बड़ा से बड़ा क्षेत्र होगा जिसे कि स्थानीय बोर्ड के आधीन रखा जा सके। जिला बोर्ड को केवल एक पर्यवेक्षणकर्त्ता या समन्वयकर्ता सत्ता ही माना गया। आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास आदि को छोड़कर सभी प्रान्तों की जिला बोर्डों को सभी फन्ड तथा स्थानीय सरकार के सभी कार्य सौंपे गये। धन एवं शक्ति का छोटे निकायों को हस्तांतरण करने के लिए अनेक कानून बनाये गये। यद्यपि स्वयं जिला बोर्डों के पास सदैव ही धन की कमी रहती थी तथा

प्रान्तों के शहरी एवं देहाती बोर्डों में गैर अधिकारी स५
बहुमत जरूरी था वहां भी वे सदस्य जिला न्यायाधीश द
की प्रतीक्षा किया करते थे। यह परिवर्तन भी वास्तविक
औपचारिक अधिक था। चुनाव सिद्धांत को किस सीम
जाय यह बात जनता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उन प्रान्त
दृष्टिकोण पर निर्भर करती थी। सन् १८८५ में नगरपा
बनावट निम्न प्रकार थी।[1]

	Total No. of Munici-palities	Percen-tage of elected Mem-bers	Boards wholly or partly elected	Wholly nomina-ted boards	Off
Bengal	147	50·4%	118	29	130(
Bombay	162	10·8%	40	122	152
Madras	54	24·6%	33	11	29
N.W.P.	109	79·8%	101	8	103
Punjab	197	42·6%	122	75	120(?)
C. P.	58	60·2%	58	—	18(?)

आधुनिक काल के प्रथम चरण में स्थानीय स्वशासन का न
अभाव ही पाया जाता है वरन् इस काल में लोगों के दृष्टिकोण का भ
लग जाता है जो कि स्थानीय सरकार के बारे में बना हुआ था। सन् १८
यह दृष्टिकोण सक्रिय रूप से विरोधात्मक था। ज्यों-ज्यों समय गुजरता
त्यों-त्यों इसमें वृद्धि होती चली गयी। लोग प्रत्यक्ष कर देने के लिए तै
नहीं थे इसलिए अप्रत्यक्ष कर लगाने पड़े। सामान्य जनता नागरिक मह
के कार्यों में कोई रुचि नहीं लेती थी तथा स्थानीय निकायों के संचालन
किसी प्रकार का कर देने में उत्साह नहीं दिखाती थी इसलिए ये सफलता
बहुत पीछे रहीं।

सन् १८८२ के उपबन्ध (Resolution) के पैरा १४ तथा १५ के
अनुसार यह कहा गया कि चुनाव की वह व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए जो
जनता की भावनाओं के अनुकूल हो। अपने एक अन्य व्यक्तिगत पत्र में ला
रिपन ने लिखा था कि जाति या व्यवसाय के आधार पर किया गया चुना
जनता की भावनाओं के साथ मेल खायेगा अथवा नहीं। इसी काल में सर सैयद
अहमद खां ने रिपन के प्रस्तावों पर व्यवस्थापिका परिषद में बहस के दौरान
मुसलमानों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की थी।

इस काल में नगरपालिकाओं के प्रति लोगों के दिलों में क्या भाव-
नायें थीं यह विषय अलग-अलग प्रान्तों में भिन्न रूप में था। उत्तर-पश्चिमी

1. The table as given by Hugh Tinker, op. ct., P. 48.

सीमा प्रान्त में जहां कि पश्चिमी विचार अज्ञात ही थे, नगरपालिका की भावना का भी अस्तित्व नहीं था। १८८६ मे डेरा इस्माईल खान की किसी भी नगरपालिका ने कोई बैठक नहीं की क्योंकि उपायुक्त आदिवासियों के मामलों में बहुत अधिक व्यस्त था।

सन् १८८२ से १६०८ के बीच नगरपालिकाओं की आय दुगुनी हो गई किन्तु इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भी लोक सेवाओं के क्षेत्र में कोई अधिक विस्तार नहीं हुआ। वे अब भी केवल मौलिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्धित बनी रहीं। लार्ड रिपन के क्रान्तिकारी सुधारों के परिणामस्वरूप भी प्रेसीडेन्सी के कस्बों में अधिक अन्तर नहीं आया किन्तु इसके परिणामस्वरूप कुछ व्यवस्थापन अवश्य किया गया। १८८४ में मद्रास के लिए तथा १८८८ में कलकत्ता और बम्बई के लिए अधिनियम बनाये गये। इन सबमें सर्वाधिक प्रभावशील बम्बई का अधिनियम था जो कि भारी विचार-विमर्श एवं वादविवाद के परिणामस्वरूप सामने आया। यह एक एकीकृत नगरपालिका का ढांचा था जो कि सामान्य समझौते के आधार पर पूर्व में सर्वाधिक सफल माना गया तथा अन्य बड़े नगरों द्वारा भी इसकी नकल की गई। इस व्यवस्था की मूल बात यह थी कि इसने निगम को नगर के प्रशासन का सर्वोच्च निकाय माना तथा साथ ही आयुक्त को निगम की इच्छा अभिव्यक्त करने के लिए उत्तरदायी ठहराया। आयुक्त को स्टाफ, तथा नगरपालिका के अन्य सामान्य कार्यों पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था। स्थायी समिति का कार्य क्षेत्र भी भली प्रकार से परिभाषित कर दिया गया। सरकारी नियंत्रण को बहुत कुछ हटा दिया गया। यद्यपि आयुक्त की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी किन्तु उसे निगम द्वारा कभी भी हटाया जा सकता था। उसे आर्थिक दृष्टि से पूरी स्वायत्तता प्राप्त थी, यद्यपि सरकार की स्वीकृति के बिना वह किसी प्रकार का कर्जा नहीं ले सकता था। इस व्यवस्था से फीरोजशाह मेहता एवं बम्बई के दूसरे जन-नेता संतुष्ट हो गये तथा मताधिकार के विस्तार एवं कुछ थोड़े बहुत परिवर्तनों के अतिरिक्त यह बहुत दिनों तक क्रियान्वित की गई।

१८८२ में लार्ड रिपन द्वारा जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया गया वह देहाती स्थानीय निकायों की स्थापना का था। इंगलैण्ड में भी देहाती परिषदें इसके पूरे छः साल बाद आई हैं। १८८३ एवं १८८५ के प्रान्तीय व्यवस्थापन की एक सामान्य विशेषता यह थी कि इसके कारण द्विभुजाकार व्यवस्था (Two Tier System) की स्थापना की गई। 'जिला बोर्ड' और 'उप-जिला बोर्ड', उप-संभाग अथवा तहसील पर आधारित थे। रिपन के उपबन्ध के अनुसार उप-संभाग, तालुका या तहसील वह बड़ा से बड़ा क्षेत्र होगा जिसे कि स्थानीय बोर्ड के आधीन रखा जा सके। जिला बोर्ड को केवल एक पर्यवेक्षणकर्त्ता या समन्वयकर्ता सत्ता ही माना गया। आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास आदि को छोड़कर सभी प्रान्तों की जिला बोर्डों को सभी फन्ड तथा स्थानीय सरकार के सभी कार्य सौंपे गये। धन एवं शक्ति का छोटे निकायों को हस्तांतरण करने के लिए अनेक कानून बनाये गये। यद्यपि स्वयं जिला बोर्डों के पास सदैव ही धन की कमी रहती थी तथा

प्रान्तों के शहरी एवं देहाती बोर्डों में गैर अधिकारी सदस्यों का दो तिहाई बहुमत जरूरी था वहां भी वे सदस्य जिला न्यायाधीश द्वारा नियुक्त होने की प्रतीक्षा किया करते थे। यह परिवर्तन भी वास्तविक होने की अपेक्षा औपचारिक अधिक था। चुनाव सिद्धांत को किस सीमा तक लागू किया जाय यह बात जनता के दृष्टिकोण की अपेक्षा उन प्रान्तों के अध्यक्षों के दृष्टिकोण पर निर्भर करती थी। सन् १८८५ में नगरपालिका बोर्डों की बनावट निम्न प्रकार थी।[1]

	Total No. of Munici-palities	Percen-tage of elected Mem-bers	Boards wholly, or partly elected	Wholly nomina-ted boards	Chairmen Official	Non-official
Bengal	147	50·4%	118	29	130(?)	17(?)
Bombay	162	10·8%	40	122	152	10
Madras	54	24·6%	33	11	29	28
N.W.P.	109	79·8%	101	8	103	6
Punjab	197	42·6%	122	75	120(?)	77(?)
C. P.	58	60·2%	58	—	18(?)	40(?)

आधुनिक काल के प्रथम चरण में स्थानीय स्वशासन का न केवल अभाव ही पाया जाता है वरन् इस काल में लोगों के दृष्टिकोण का भी पता लग जाता है जो कि स्थानीय सरकार के बारे में बना हुआ था। सन् १८४२ में यह दृष्टिकोण सक्रिय रूप से विरोधात्मक था। ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया त्यों-त्यों इसमें वृद्धि होती चली गयी। लोग प्रत्यक्ष कर देने के लिए तैयार नहीं थे इसलिए अप्रत्यक्ष कर लगाने पड़े। सामान्य जनता नागरिक महत्व के कार्यों में कोई रुचि नहीं लेती थी तथा स्थानीय निकायों के संचालनार्थ किसी प्रकार का कर देने में उत्साह नहीं दिखाती थी इसलिए ये सफलता से बहुत पीछे रहीं।

सन् १८८२ के उपबन्ध (Resolution) के पैरा १४ तथा १५ के अनुसार यह कहा गया कि चुनाव की वह व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए जो जनता की भावनाओं के अनुकूल हो। अपने एक अन्य व्यक्तिगत पत्र में लार्ड रिपन ने लिखा था कि जाति या व्यवसाय के आधार पर किया गया चुनाव जनता की भावनाओं के साथ मेल खायेगा अथवा नहीं। इसी काल में सर सैयद अहमद खां ने रिपन के प्रस्तावों पर व्यवस्थापिका परिषद में बहस के दौरान मुसलमानों के लिए पृथक प्रतिनिधित्व की मांग की थी।

इस काल में नगरपालिकाओं के प्रति लोगों के दिलों में क्या भावनायें थीं यह विषय अलग-अलग प्रान्तों में भिन्न रूप में था। उत्तर-पश्चिमी

1. The table as given by Hugh Tinker, op. ct., P. 48.

सीमा प्रान्त में जहां कि पश्चिमी विचार अज्ञात ही थे, नगरपालिका की भावना का भी अस्तित्व नहीं था। १८८६ मे डेरा स्माईल खान की किसी भी नगरपालिका ने कोई बैठक नहीं की क्योंकि उपायुक्त आदिवासियों के मामलों में बहुत अधिक व्यस्त था।

सन् १८८२ से १९०८ के बीच नगरपालिकाओं की आय दुगुनी हो गई किन्तु इस वृद्धि के परिणामस्वरूप भी लोक सेवाओं के क्षेत्र में कोई अधिक विस्तार नहीं हुआ। वे अब भी केवल मौलिक आवश्यकताओं से ही सम्बन्धित बनी रहीं। लार्ड रिपन के क्रान्तिकारी सुधारों के परिणामस्वरूप भी प्रेसीडेन्सी के कस्बों में अधिक अन्तर नहीं आया किन्तु इसके परिणामस्वरूप कुछ व्यवस्थापन अवश्य किया गया। १८८४ में मद्रास के लिए तथा १८८८ में कलकत्ता और बम्बई के लिए अधिनियम बनाये गये। इन सबमें सर्वाधिक प्रभावशील बम्बई का अधिनियम था जो कि भारी विचार-विमर्श एवं वादविवाद के परिणामस्वरूप सामने आया। यह एक एकीकृत नगरपालिका का ढ़ांचा था जो कि सामान्य समझौते के आधार पर पूर्व में सर्वाधिक सफल माना गया तथा अन्य बड़े नगरों द्वारा भी इसकी नकल की गई। इस व्यवस्था की मूल बात यह थी कि इसने निगम को नगर के प्रशासन का सर्वोच्च निकाय माना तथा साथ ही आयुक्त को निगम की इच्छा अभिव्यक्त करने के लिए उत्तरदायी ठहराया। आयुक्त को स्टाफ, तथा नगरपालिका के अन्य सामान्य कार्यों पर पूरा-पूरा अधिकार प्राप्त था। स्थायी समिति का कार्य क्षेत्र भी भली प्रकार से परिभाषित कर दिया गया। सरकारी नियंत्रण को बहुत कुछ हटा दिया गया। यद्यपि आयुक्त की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी किन्तु उसे निगम द्वारा कभी भी हटाया जा सकता था। उसे आर्थिक दृष्टि से पूरी स्वायत्तता प्राप्त थी, यद्यपि सरकार की स्वीकृति के बिना वह किसी प्रकार का कर्जा नहीं ले सकता था। इस व्यवस्था से फीरोजशाह मेहता एवं बम्बई के दूसरे जन-नेता संतुष्ट हो गये तथा मताधिकार के विस्तार एवं कुछ थोड़े बहुत परिवर्तनों के अतिरिक्त यह बहुत दिनों तक क्रियान्वित की गई।

१८८२ में लार्ड रिपन द्वारा जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य किया गया वह देहाती स्थानीय निकायों की स्थापना का था। इंगलैण्ड में भी देहाती परिषदें इसके पूरे छः साल बाद आई हैं। १८८३ एवं १८८५ के प्रान्तीय व्यवस्थापन की एक सामान्य विशेषता यह थी कि इसके कारण द्विभुजाकार व्यवस्था (Two Tier System) की स्थापना की गई। 'जिला बोर्ड' और 'उप-जिला बोर्ड', उप-संभाग अथवा तहसील पर आधारित थे। रिपन के उपबन्ध के अनुसार उप-संभाग, तालुका या तहसील वह बड़ा से बड़ा क्षेत्र होगा जिसे कि स्थानीय बोर्ड के आधीन रखा जा सके। जिला बोर्ड को केवल एक पर्यवेक्षणकर्त्ता या समन्वयकर्ता सत्ता ही माना गया। आसाम, मध्य प्रदेश, मद्रास आदि को छोड़कर सभी प्रान्तों की जिला बोर्डों को सभी फन्ड तथा स्थानीय सरकार के सभी कार्य सौंपे गये। धन एवं शक्ति का छोटे निकायों को हस्तांतरण करने के लिए अनेक कानून बनाये गये। यद्यपि स्वयं जिला बोर्डों के पास सदैव ही धन की कमी रहती थी तथा

उनकी कार्य करने की शक्ति भी सीमित प्राप्त थी अत: उप-जिला बोर्ड तो इन कानूनों को कभी फलदायक ही नहीं बना पाये। बंगाल तथा पंजाब ने उप-जिला बोर्डों की स्थापना केवल उन्नत जिलों में ही की। बम्बई तथा उत्तर-पश्चिमी प्रान्तों में तालुका या तहसील बोर्ड प्रत्येक जिले में स्थापित कर दिये गये। इन चारों ही प्रान्तों में ये निकाय केवल छाया मात्र थे। इनका केवल अस्तित्व था उपयोगिता अथवा शक्ति नहीं। आसाम में पहाड़ों तथा भिन्न २ घाटियों के कारण कभी भी जिला बोर्ड स्थापित नहीं किये गये। यहाँ देहाती प्रशासन की इकाइयों के रूप में उप-संभाग बोर्डों की स्थापना की गई। मध्य प्रदेश में रिपन के निर्देशों को पूरी तरह अपनाया गया वहाँ स्थानीय सरकार के सम्पूर्ण क्षेत्र को इससे प्रभावित किया गया। तहसील बोर्डों को कार्यपालिका सत्ता के रूप में तथा जिला परिषदों को पर्यवेक्षणकर्त्ता निकाय के रूप में स्थापित किया गया। कुछ जिला परिषदों ने अवश्य ही कानून के मूल लक्ष्यों को प्रभावित किया जब उन्होंने छोटे निकायों के कार्यों को अपने हाथ में रख लिया। केवल मद्रास के अधिनियम ने ही जिला बोर्डों एवं तालुका बोर्डों की शक्तियों एवं स्रोतों का स्पष्ट विभाजन किया।

जिला बोर्ड एक प्रकार से जिला प्रशासन के विभागों की भांति थे। यह कभी-कभी मिलते थे। कभी तो बारह माह में एक बार भी इनकी बैठक नहीं हो पाती थी। इनके जमींदार सदस्य तो बड़ी मुश्किल से ही इनकी कार्यवाही में भाग लेते थे क्योंकि यह सब कुछ उनकी समझ के बाहर की चीज थी। जिले के वकील—सदस्य ही इन संस्थाओं को कुछ आवाज दे पाते थे किन्तु अनेक जिला अधिकारी उनके सुझावों पर मुश्किल से ही ध्यान दे पाते थे। देहाती बोर्ड अनेक प्रकार की लोक सेवाओं के लिए उत्तरदायी थे, जैसे—शिक्षा, जनकार्य, मैडीकल सेवायें, जन स्वास्थ्य, और कभी-कभी सफाई सेवायें। किन्तु इन बोर्डों को केवल यही करना होता था कि बिलों का भुगतान कर दें तथा यह भी न पूछें कि ये बिल किस प्रकार और क्यों खर्च किये गये। जिला बोर्डों को भी अपने फन्ड बढ़ाने का कोई अधिकार नहीं था।

राजनीति में सक्रिय भारतीय समाज ने लार्ड रिपन द्वारा किये गये सुधारों का दिल से स्वागत किया। एस० एन० बनर्जी, जी० के० गोखले, फीरोजशाह मेहता, राजा प्यारीमोहन मुखर्जी आदि उच्च कोटि के नेता इस बात से सहमत थे कि भारतीय निर्वाचक को प्रशिक्षित करते हुए तथा उनके प्रतिनिधियों को स्थानीय राजनीति एवं प्रशासन की शिक्षा देते हुए राष्ट्रीय स्वशासन की ओर ले जाया जाये। सन् १८९२ के भारत परिषद अधिनियम ने भावी विकास की पंक्ति को और भी स्पष्ट किया। इस प्रश्न पर कामन्स सभा में बहस के दौरान मि० ग्लेडस्टन ने आशा प्रकट की थी कि स्थानीय सरकार की प्रशिक्षण शाला द्वारा ही भारत के भावी नेता उत्पन्न हो सकते हैं। नवीन प्रान्तीय व्यवस्थापिकाओं के सदस्य मुख्यत: स्थानीय सरकार से ही लिये गये थे। स्थानीय सत्ता के प्रतिनिधि निर्वाचक-मण्डल के रूप में मिले और उन्होंने अपना प्रतिनिधि चुन दिया। स्थानीय सरकार में पश्चिमी शिक्षा प्राप्त वर्ग द्वारा जो योगदान किया जाता था उससे वह संतुष्ट नहीं था। १८९० में जब बंगाल में नगरपालिका शक्तियाँ

को कम करने की बात कही गई तो इसका खुलकर विरोध किया गया। ब्रिटिश स्थानीय सरकार के विकासों ने भी यहां की गतिविधियों को प्रभावित किया। यद्यपि लार्ड रिपन ने नवीन पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग के लिये एक विशेष रूप से नियोजित मार्ग तैयार किया था किन्तु फिर भी स्थानीय निकायों में गैर अधिकारियों के प्रभाव को लगातार अधिकारियों के विरोध एवं अविश्वास का सामना करना पड़ा। अधिकारी वर्ग चाहता था कि स्थानीय मामलों का नेतृत्व ऐसे लोगों के हाथों में हो जो कि समाज के स्वाभाविक नेता हैं, अच्छे परिवार के हैं तथा भूमियुक्त हैं। १८९२ में बंगाल सरकार ने नगरपालिकाओं की शक्तियों को सीमित कर दिया ताकि सरकारी नियन्त्रण बढ़ाया जा सके और मताधिकार की योग्यताओं को भी बढ़ाया जा सके। एस० एन० बनर्जी के नेतृत्व में एक आन्दोलन इसके विरुद्ध छेड़ा गया। प्रान्त के अखबारों एवं राजनैतिक संस्थाओं ने इसका साथ दिया। यह कहा जाता है कि नये प्रस्तावों के अनुसार मत-दाताओं को ०·३ परसेन्ट घटा दिया गया तथा मुसलमानों के एक बड़े बहुमत को मताधिकार से अलग कर दिया गया। विरोध के परिणामस्वरूप इन प्रस्तावों को पूर्णतः दुवारा से तैयार करना पड़ा। सन् १८९० के अन्तिम दिनों में कलकत्ता निगम का कार्य भी भारी आलोचना का विषय बना। सभापति एवं वरिष्ठ निगम अधिकारियों के प्रतिदिन के निर्णय इसके सदस्यों के विरोध का पात्र बने। नगरपालिका का कार्य कुछ समितियों के हाथों में आ गया। सारा कार्य कुछ व्यवसायिक राजनीतिज्ञों के हाथों में केन्द्रित होगया। वस्तुस्थिति को देख कर जून १८९७ में बंगाल सरकार को यह कहना पड़ा कि प्रमुख योरोपियन, नागरिक मामलों से दूर होते जा रहे हैं।

लार्ड एलगिन (Lord Elgin) की सरकार ने १८९६ तथा १८९७ में दो उपबन्ध प्रसारित किये जिनके द्वारा शहरी एवं देहाती बोर्डों के कार्यों की पुनरीक्षा की गई थी। प्रथम दस वर्षों में की गई उन्नति के प्रति गवर्नर जनरल ने संतोष प्रकट किया किन्तु भावी विकास के लिये किसी प्रकार का कार्यक्रम प्रस्तुत न किया। इन दिनों स्थानीय सत्ता के प्रसार को रोकने की प्रवृत्ति ही प्रभावशील रही। लार्ड कर्जन के वायसराय काल में स्थानीय सरकार के क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किये गये। उसने एक केन्द्रीकृत नियन्त्रण पर जोर दिया तथा साथ ही विकास के लिये एक जैसी नीति का समर्थन किया। उदारतापूर्ण अनुदानों के कारण प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन दिया गया।

गोखले आदि भारतीय राजनैतिक नेताओं ने स्थानीय सरकार के महत्व एवं प्रभाव का पूरा-पूरा समर्थन किया। बम्बई विधान परिषद में बोलते हुये उन्होंने कहा था कि हम स्थानीय सरकार को मूल्य इसलिये प्रदान करते हैं क्योंकि यह विभिन्न जातियों और धर्मों के लोगों को शिक्षा प्रदान करती है जोकि एक लम्बे समय तक सामान्य उद्देश्य के लिये एक

साथ मिलकर कार्य करने से वंचित रखे गये।[1] इस प्रकार के कथनों से मुसलमान लोग अधिक प्रभावित नहीं होते थे क्योंकि उनको यह डर था कि हिन्दुओं में व्यापार, कानून, प्रशासन तथा स्थानीय निकायों के क्षेत्र में अेक प्रकार से पुनर्जागृति हो रही है। उदाहरण के लिये, मुस्लिम सिन्ध में नगरपालिकाओं के अधिकारियों या सदस्यों में उनका अेक भी प्रतिनिधि नहीं था। १६०६ में आगा खां के नेतृत्व में अेक प्रतिनिधि-मण्डल वायसराय लार्ड मिन्टो से मिला। इस प्रतिनिधि मण्डल की अनेक माँगों में से एक यह भी थी कि मुसलमानों को पृथक निर्वाचन क्षेत्र तथा स्थानीय निकायों में स्थान दिया जाये। लार्ड मिन्टो ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुये कहा था कि मैं तुमसे पूरी तरह सहमत हूं और इन दावों को क्रियान्वित करने के लिये अेक समिति नियुक्त कर दी गई।

स्थानीय सरकार की दृष्टि से महत्वपूर्ण अेक दूसरा लेख विकेन्द्रीकरण आयोग का प्रतिवेदन था जो सन् १६०७ में भारत सरकार व प्रान्तीय सरकार एवं उनकी आधीनस्थ संस्थाओं के मध्य स्थित वित्तीय अेवं प्रशासनिक सम्बन्धों की जांच के लिये नियुक्त किया गया था। इस आयोग को यह पता लगाना था कि विकेन्द्रीकरण करके अथवा न करके सरकारी व्यवस्था को सरलीकृत किया जा सकता है अथवा नहीं। इस आयोग की अध्यक्षता हावहाउस (C. E. H. Hobhouse) द्वारा की गई थी। अन्य पांच सदस्य भारतीय नागरिक सेवा के वरिष्ठ अधिकारी थे जिनको बंगाल, मद्रास तथा बम्बई से लिया गया था। इसमें रमेशचन्द्र दत्त ही अेक मात्र भारतीय सदस्य था।

स्थानीय सरकार के क्षेत्र में देहाती अेवं शहरी परिस्थितियों के बीच पूर्णत: विरोध था। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी में कस्बों का जीवन बहुत कुछ बदल गया था किन्तु फिर भी अेक ओर तो बड़े-बड़े नगर थे और दूसरी ओर छोटे-छोटे बाजारों वाले कस्बे थे। कलकत्ता और बम्बई के निवासी करोड़ों की संख्या में थे। ये दोनों ही राजधानी बस्तियां अपने निकटवर्ती मद्रास आदि से जनसंख्या, धन, समस्याओं की जटिलता, विचार-शक्ति का अेकीकरण आदि की दृष्टि से पूर्णत: भिन्न थे। अेक लाख से भी ऊपर की आबादी वाले लगभग बीस शहर थे। लखनऊ तथा हैदराबाद जैसे नगर अपने अतीत की महानताओं के सहारे चल रहे थे। दूसरी ओर कानपुर और करांची जैसे नगर भी थे जो व्यापार एवं उद्योग के सहारे प्रगति की ओर अग्रसर हो रहे थे। इन नये तथा पुराने सभी नगरों को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ रहा था। इन समस्याओं में सबसे अधिक खतरनाक समस्या अत्यधिक भीड़ की थी। कानपुर के ६२ प्रतिशत परिवार केवल अेक ही कमरे में रहते थे। जनसंख्या की अधिकता के कारण जो और अनेक समस्यायें पैदा हुई

---

1. "We value local-self government for the fact that it teaches men of different castes and creeds, who have long been kept apart to work together for a common purpose"
—*J S Hoyland*, Life of G. K. Gokhle, Calcutta, 1933, P. 38

उनके कारण बम्बई तथा कलकत्ता आदि नगरों में नगरपालिकाओं का खर्चा काफी बढ़ा हुआ था। छोटे कस्बों में यह बात न थी। वहां स्थित कुओं पर निर्भर रहा जा सकता था तथा जहां तक स्वास्थ्य और सफाई की सेवाओं का सम्बन्ध है वहां अभी तक भी गांव की आदतें कार्य कर रही थीं। किन्तु नगर में तो नल के पानी का होना जरूरी था। वहां नाली व्यवस्था का होना आवश्यक था। भवनों के निर्माण पर भी कुछ नियन्त्रण का होना जरूरी था। हैजा, प्लेग आदि महामारियों को रोकने की आवश्यकता थी।

अधिकांश बड़े नगर जनसंख्या की दृष्टि से बढ़ते जा रहे थे। इनमें से कुछ तो बड़ी तीव्र गति से बढ़ रहे थे किन्तु छोटे कस्बे इस दृष्टि से स्थिर थे और कहीं-कहीं तो इनकी जनसंख्या गिर रही थी। नगरपालिकाओं के कार्यों की स्थिति अलग-अलग शहरों में अलग-अलग थी। अधिकांश नगरपालिकाओं में अनेक प्रचलित प्रशासकीय निर्णयों के लिये उच्च स्वीकृति आवश्यक होती थी। जब नागपुर नगरपालिका ने अपने कार्यपालिका अधिकारी का वेतन ३५० रुपये तक बढ़ाना चाहा तो इसके लिये भारत सरकार की पूर्ण स्वीकृति आवश्यक समझी गई। बम्बई प्रेसीडेंसी में करांची जैसा नगर भी आयुक्त की स्वीकृति के बिना एक चपरासी तक का वेतन नहीं बढ़ा सकता था।

सन् १९०५ से भारत सरकार ने प्रान्तीय सरकार के माध्यम से अनुदान देना प्रारम्भ किया। यह बोर्ड की आय के एक चौथाई के बराबर होता था। इसके अतिरिक्त प्राथमिक शिक्षा के लिये भी भारी अनुदान दिये गये। प्रान्तीय सरकार इस वार्षिक अनदान को बोर्डों की आवश्यकता एवं स्थिति के आधार पर प्रदान करती थी। इस प्रकार उत्तर प्रदेश में कुछ गरीब बोर्ड एक लाख से भी ज्यादा का अनुदान प्राप्त करते थे जब कि अपेक्षाकृत सम्पन्न बोर्ड कम धन प्राप्त कर पाते थे। अलीगढ़ को केवल २४०० रुपये मिले जब कि इटावा को ५१०० रुपये। एक समझौते के आधार पर तीन वर्ष तक इन अनुदानों की राशि को घटाया नहीं जा सकता था ताकि उन्नत नियोजन के लिये कुछ स्वतन्त्रता प्राप्त हो सके। सन् १९०३ में प्लेग का भार बढ़ जाने के कारण राहत देने की दृष्टि से प्रान्तीय सरकार ने देहाती निकायों की शिक्षा पर आधे व्यय को स्वयं सम्भाल लिया और केन्द्रीय योगदान भी चलता रहा।

कार्य की दृष्टि से यदि वस्तुस्थिति का अध्ययन किया जाये तो पता लगता है कि उस समय स्थानीय स्वायत्त सरकार को एक शाखा माना जाता था जिसमें जिले के अधिकारी सर्वाधिक रुचि लेते थे। परिणामस्वरूप नगरपालिका के अनेक सदस्य स्थानीय कार्यों में किसी प्रकार का योगदान नहीं कर पाये। बोर्डों द्वारा अनेक ऐसे कार्यों को घुमा-फिरा कर किया जाता था जो कि जिलाधीश प्रत्यक्ष रूप से आसानी से कर सकता था। टिन्कर (Hugh Tinker) के शब्दों में भारतीय स्थानीय स्वायत्त सरकार अब भी कई प्रकार से एक स्वेच्छाचारी बनावट के लिये प्रजातन्त्रात्मक अग्रिम भाग

थी।[1] सारा कार्य असल में जिला अधिकारियों द्वारा ही किया जाता था और गैर-अधिकारी सदस्य या तो केवल दर्शक मात्र होते थे अथवा अधिक से अधिक आलोचक मात्र। स्थानीय मामलों पर स्थानीय प्रबन्ध की कोई भी उचित व्यवस्था स्थापित न हो सकी और प्रतिदिन के प्रशासन को समिति व्यवस्था के सहारे निर्वाचित सदस्यों को सौंपने की ब्रिटिश परम्परा अभी दूर की बात बनी हुई थी। समिति व्यवस्था ब्रिटिश स्थानीय सरकार की मूल चीज मानी जाती हैं। प्रोफेसर लास्की ने इसको पूर्ण व्यवस्था की महराव कहा है। इसके माध्यम से प्रतिनिधियों का स्थानीय ज्ञान एवं प्रभाव तथा अधिकारियों की तकनीकी योग्यता एवं साधन परस्पर संयुक्त कर दिये जाते हैं। किन्तु सन् १९०८ के भारत में शिक्षा, स्वास्थ्य, सफाई आदि के आधार पर भी कार्य का विभाजन नहीं किया हुआ था।

प्रक्रिया की उचित व्यवस्था के अभाव में प्रशासन की सफलता प्राय: योग्य सभापति अथवा उपसभापति पर ही निर्भर करती थी क्योंकि जिलाधीश को सभापति बनाया गया था अत: अधिकांश कार्य उपसभापति पर ही आकर पड़ता था जो अपने कार्य के कुछ घन्टे इसमें लगा सकता था। नगरपालिका स्टाफ के शीर्ष पर एक सचिव होता था। नगरपालिका सेवाओं ने कुछ योग्य भारतीयों को ही अपनी ओर आकर्षित किया क्योंकि इसमें सरकारी सेवा जैसा न सम्मान था और न ही सुरक्षा। साथ ही उनका वेतन भी बहुत थोड़ा ही होता था। अनेक कस्बों में तो कोई नगरपालिका सेवा ही नहीं थी। सेवा-निवृत्त सरकारी अधिकारी ही वरिष्ठ पदों पर नियुक्त कर लिये जाते थे तथा कुछ तकनीशियनों से अस्थायी अनुबन्ध कर लिया जाता था। नगरपालिका के अधिकांश कर्मचारी या तो क्लर्क होते थे अथवा कुली जिनको कि बहुत थोड़ा वेतन मिलता था।

बोर्ड के सदस्यों एवं स्टाफ के बीच कोई सही सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सका। स्टाफ के प्रश्नों में सदस्यों का लगातार हस्तक्षेप रहता था। दूसरी ओर स्टाफ के लोग भी सदस्य के प्रचार में सक्रिय रूप से भाग लेते थे। छोटे-छोटे बोर्डों में भी जब नियुक्तियां अथवा स्थानान्तरण होते थे तो उनमें कई स्वार्थ कार्य करते थे। सामान्य रूप से नगरपालिका स्टाफ पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं था। कोई स्टाफ अनुशासन नहीं था, प्रक्रिया के नियम आदि नहीं थे, उचित तरीके से प्रार्थनापत्र अथवा अन्य कागजात भेजने की प्रथा नहीं थी। सदस्यों का व्यवहार भाईबन्दी तथा जातिवाद से प्रभावित था। उदारतापूर्वक क्षमा कर दिया जाता था और अनुचित रूप से दया दिखाई जाती थी। इन सबके परिणामस्वरूप कार्यकुशलता पर उल्टा प्रभाव पड़ता था। नगरपालिका का मूल कार्य बहुत दिनों तक सफाई, कीचड़ तथा अन्य गन्दगी को हटवाना आदि ही बने रहे। सारा कार्य पुराने तरीकों से ही किया जाता था। केवल मद्रास प्रेसीडेन्सी में ही उनके कार्य का

---

1. "Indian Local-self Government was still in many ways a democratic facade to an autocratic structure."

—*Hugh Tinker*, *op cit*, P. 70

पर्यवेक्षण, प्रशिक्षित सफाई निरीक्षकों द्वारा किया जाता था। नगरपालिकाओं को विभिन्न मात्राओं में स्वतन्त्रता प्रदान की गई। सामान्य रूप से जनता जनहित के कार्यों में अधिक रुचि नहीं लेती थी। पश्चिमी देशों के अपरिचित तरीके सभी धार्मिक शिक्षाओं एवं परम्पराओं से विपरीत लगते थे और उनको अपनाना अधिक उपयुक्त नहीं समझा गया। केवल बंगाल में ही इस प्रकार की सेवाओं के लिये स्थान था और वहीं के लोग इसके लिये कुछ कर देने को तैयार थे। १६०८ तक नगरपालिका के प्रशासन की जो सामान्य तस्वीर बनी वह इस प्रकार की थी जिस पर कि अधिकारियों का नियन्त्रण रहता था। कुछ अपवादों को छोड़कर लोकमत भी इसमें निषेधात्मक रूप से कार्य करता था, विधेयात्मक रूप से नहीं। बड़े कस्बों ने अधिक वायदा किया तथा वहां लोक सेवाओं के प्रति कुछ आशा बंधने लगी किन्तु छोटे कस्बों ने किसी भी प्रकार की लोक सेवा की माँग को भुला दिया।

देहाती स्थानीय सरकार तो और भी प्राथमिक सोपान पर ही बनी रही। यदि हम निर्वाचन के सिद्धान्त को ही राजनैतिक विकास का मापदण्ड मान लें तो देहाती इलाके और भी अधिक पिछड़े हुए रह जाते हैं। अनेक प्रान्तों में जिला बोर्डों में कुछ तो मनोनीत सदस्य होते थे और कुछ उप-जिला बोर्डों के प्रतिनिधि। केवल उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में ही जिला बोर्डों के लिये प्रत्यक्ष चुनाव किया जाता था। देहाती निकायों पर अधिकारियों का नियन्त्रण शहरी बोर्डों की अपेक्षा अधिक प्रत्यक्ष था। अधिकारी सदस्यों का अनुपात ज्यादा था तथा जिलाधीश का स्थान मुख्य था। बंगाल में तो अधिकारी एवं भू-स्वामी दोनों ही यह मानते थे कि जिला बोर्ड एक सरकारी कार्यालय है। इस पर अधिकारी वर्ग का नियन्त्रण इतना कठोर है कि स्थानीय उत्तरदायित्व का कोई मतलब नहीं होता। केवल कुछ बड़े जमींदार ही परिषद कक्ष के राजनैतिक जीवन के निकट आये किन्तु बहुत बड़ा बहुमत अलग ही बना रहा।

देहाती बोर्डों पर रहने वाली वित्तीय सीमायें नगरपालिकाओं को प्रभावित करने वाली सीमाओं की अपेक्षा अधिक कठोर थीं। १६०६ तक उत्तर प्रदेश की जिला बोर्डों को किसी प्रकार का स्वतन्त्र वित्तीय अस्तित्व प्राप्त नहीं था; उनकी आय प्रान्तीय सहायता कोष से आती थी। विशेष कार्यों के लिए जो अनुदान दिये जाते थे उनका लक्ष्य सरकार द्वारा स्पष्ट कर दिया जाता था तथा उसे उसी प्रकार काम में लाया जा सकता जैसे कि सरकार, न कि बोर्ड, चाहे। लखनऊ के आयुक्त ने अधिक उदारतापूर्ण व्यवस्था का समर्थन करते हुए कहा था कि "मैं ऐसी बैठकों में उपस्थित रहा हूं जिनका कार्य बीस प्रस्तावों को केवल औपचारिक रूप से पढ़ना तथा पास करना मात्र था तथा सदस्यों द्वारा यह शिकायत की जाती थी कि उनको इस सरल कार्य के लिए चालीस या पचास मील से बुलाया जाता था।[1] ये बैठकें प्राय: जिला-

1. "I have been at a meeting where the only business has consisted in the formal reading through and passing of twenty resolutions: and the members have complained that they have been brought forty or fifty miles for that simple purpose."

—DCR, vii, 103

धीश के कार्यालय में हुआ करती थीं तथा ये कभी-कभी ही होती थीं। इनमें उपस्थिति बड़ी पतली रहती थी, विशेषत: उन प्रान्तों में जहां पर जिले बड़े थे और संचार के साधन अच्छे नहीं थे। देहाती बोर्डों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त छोटा होता था और सम्भवत: यही कारण है कि सन् १९०८ तक वे स्थानीय अथवा लोकप्रिय चरित्र प्राप्त न कर सकीं। गांवों की जनता प्राय: विरोधी भाषा में ही बोलती थी। उसकी यह शिकायत रहती थी कि यद्यपि जिला बोर्ड द्वारा उनसे कर लिया जा रहा है किन्तु वे किसी प्रकार का लाभ प्राप्त नहीं करा पा रही हैं। विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों के बाद यह ज्ञात हो गया कि स्थानीय संस्थायें इतनी विकसित नहीं हो पायी हैं जितनी कि लार्ड रिपन के युग में आशा की गई थी। भारतीय राजनीतिज्ञों एवं ब्रिटिश अधिकारियों ने भावी विकास के बारे में एक स्वर से अपनी राय जाहिर की। बाल गंगाधर तिलक ने क्रमिक विकास का समर्थन करते हुए बताया कि अधिकारियों एवं जनता के बीच अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का एक मात्र मार्ग यह है कि कानून द्वारा लोगों से पूछताछ करना आवश्यक बना दिया जाये। यह हमको ग्राम्य-व्यवस्था से ही प्रारम्भ करना चाहिए। ब्रिटिश प्रशासन का यह लक्ष्य होना चाहिए कि वह लोगों को अपने मामलों का प्रबन्ध स्वयं करने में शिक्षित करे।[1] स्थानीय निकायों की प्रभावहीनता के बारे में अधिकारियों का भी यही मत था। लखनऊ के आयुक्त सन्डर्स (A. C Saunders) ने कहा था कि हम पिछले बीस वर्षों की अपेक्षा स्थानीय स्वायत्त सरकार में कम उन्नत हैं। स्थानीय निकायों को असल में वह सब करना चाहिए जिनके साथ कि उनका नाम जुड़ा हुआ है। असल में स्थानीय संस्थायें अधिक आशानुकूल नहीं थीं। लार्ड रिपन के नियन्त्रण का लक्ष्य पूरी तरह से महत्व खो चुका था।

विकेन्द्रीकरण आयोग ने अपना प्रतिवेदन सन् १९०९ में प्रस्तुत किया। आयोग के निष्कर्षों को देखकर यह पता नहीं लगता था कि इसने चुनौतियों को पूरी तरह से स्वीकार किया है। इसके प्रस्ताव भारशील होते हुए भी सजग थे तथा प्रशासनिक सुधार की ओर अधिक उन्मुख थे एवं राष्ट्रीय राजनैतिक महत्वाकांक्षाओं की ओर कम। आयोग ने ग्राम्य संगठन, स्थानीय निकाय एवं नगरपालिका बोर्डों पर अलग-अलग विचार किया। एक बार फिर से इस बात पर जोर दिया गया कि यदि प्रशासन के साथ जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए स्थायी कदम उठाना है तो हमें गाँवों से ही प्रारम्भ करना चाहिए। यद्यपि यह सम्भव नहीं था कि प्राचीन ग्रामीण व्यवस्था को पुन: प्रारम्भ किया जाये किन्तु पंचायतों को नये प्रकार की गांव सरकार के चालक के रूप में प्रयुक्त करना चाहिए। नयी व्यवस्था को क्रमश:

---

1. "The only way to restore good relations between the officers and the people is to create by law the necessity for consulting the people we must begin with the village system... it should be the aim of the British administration to educate the people in the management of their own affairs."
—DCR, viii, 84.

एवं सजगता के साथ लागू किया जाना चाहिए। गांव के मुखिया को सरपंच बना दिया जाये और अन्य सदस्यों को अनौपचारिक रूप से निर्वाचित कर लिया जाये। इनका पर्यवेक्षण जिला बोर्ड द्वारा नहीं वरन् जिला अधिकारियों द्वारा किया जाना चाहिए। वे छोटे-छोटे अधिकारियों की तानाशाही का शिकार नहीं होने चाहिए। इस प्रकार विकेन्द्रीकरण आयोग ने गाँव संगठन के महत्व पर जोर देते हुए यह कहा कि स्थानीय सरकार के मुख्य अभिकरणों के रूप में तालुका एवं तहसील बोर्डों की सामान्य रूप से स्थापना की जानी चाहिए। इस आयोग ने देहाती बोर्डों के वित्त में सुधार लाने के लिए कुछ उपाय सुझाये तथा इस बात का समर्थन किया कि जिलाधीश ही जिला बोर्डों का अध्यक्ष बना रहे।

अप्रेल सन् १९१५ में लार्ड हार्डिंग के प्रशासन ने स्थानीय सरकार से सम्बन्धित नीति के बारे में एक निर्णय प्रसारित किया। इस उपबन्ध ने प्रान्तीय सरकारों के प्रतिवेदनों पर भी पूरा-पूरा विचार किया जो कि विकेन्द्रीकरण आयोग की सिफारिशों को मानने के बाद भेजे गये थे। लार्ड रिपन के बाद स्थानीय संस्थाओं के सफल कार्य संचालन में जो प्रमुख बाधायें थीं वे मुख्य रूप से ये बताई गईं:—स्थानीय राजस्व की लघुता एवं अलोचशीलता, कर के अन्य तरीकों को काम में लाने की कठिनाई, लोक जीवन में पाये जाने वाले भेदभाव, भारतीयों में अपनी परेशानी को कहने के प्रति अरुचि, चुनाव के व्यय एवं असुविधायें, नगरपालिका क्षेत्रों की भिन्न-भिन्न प्रकृति। इस प्रस्ताव द्वारा भी एकरूपता लाने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया गया। प्रत्येक प्रान्तीय सरकार उतनी ही जल्दी आगे उन्नति करने के लिए स्वतंत्र थी जितनी कि वह उचित समझे तथा कर सके।

उपबन्ध द्वारा अनेक उपयोगी सुझाव दिये गये। कहा गया कि नगरपालिकाओं में निर्वाचित बहुमत होना चाहिए तथा एक शक्तिशाली कार्यपालिका के साथ गैर-अधिकारी सभापति होना चाहिए। बोर्डों के लिए कर लेने की अधिक शक्तियां होनी चाहिए तथा यह नीति अपनानी चाहिए कि जो भी कर प्रदान करे वही कार्यों पर नियंत्रण भी रखे। देहाती बोर्डों के लिये कुछ इस प्रकार के निर्देश नहीं थे। विभिन्न प्रान्तों में व्यवहार इतना अनेकरूपी था कि किसी प्रकार की एकरूपता या संयोजन कठिन था। प्रशासन की इकाई जिला होना चाहिए अथवा एक छोटा क्षेत्र, क्या सदस्यों का बहुमत निर्वाचित होना चाहिए, आदि प्रश्नों को अनिर्णीत ही छोड़ दिया गया। अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के बावजूद भी पंचायतों की स्थापना का समर्थन किया गया। सर्वप्रथम प्रयोग के लिए गाँवों को बड़ी सावधानी के साथ चुना जाना था। पंचायतों को न्यायिक एवं प्रशासकीय दोनों ही प्रकारकी शक्तियां प्रदान करनी थीं तथा उनके कार्य संचालन के लिए अधिक कर नहीं उगाहना था। वायसराय को आशा थी कि उसका यह उपबन्ध प्रान्तीय सरकारों द्वारा पूरी सामर्थ्य के साथ क्रियान्वित किया जायेगा। असल में इसके द्वारा भावी प्रगति के बारे में बहुत कम कहा गया था और इसने प्रायः इसी बात को दुहराया कि लार्ड रिपन की सिफारिशों को क्रियान्वित किया जाना चाहिए। किन्तु जो सिद्धान्त १८८३ में महत्वपूर्ण था १९१५ में आकर वह असामयिक बन गया।

१९१६ में लार्ड चेम्सफोर्ड (Lord Chelmsford) वायसराय बन कर आये । इन्होंने अपनी कार्यकारिणी परिषद के साथ ही भावी संवैधानिक विकासों का अध्ययन करना प्रारम्भ किया । स्थानीय सरकार के सम्बन्ध में मई १९१६ में प्रस्ताव किये गये किन्तु इनको मई, १९१८ तक प्रान्तीय सरकारों तक प्रसारित नहीं किया गया । सितम्बर, १९१६ में शिक्षा से सम्बन्धित एक निर्देश प्रसारित किया गया जो कि चैम्सफोर्ड द्वारा अपनाये गये कठोर दृष्टिकोण का प्रतीक था । विभागीय अधिकारियों की जान-बूझ कर अवहेलना की गई थी । स्थानीय सत्ता को नियंत्रण की अत्यन्त विस्तृत शक्तियाँ सौंपी गई थीं । स्कूल भवन के निर्माण उपस्थिति के घंटे छुट्टी के दिन तथा अनुदान आदि के बारे में इनको व्यापक शक्तियां दी गईं । बजट नीति एवं वित्तीय मामलों में स्थानीय सत्ताओं को स्वायत्त होता था । सरकार द्वारा जो एक मात्र शर्त रखी गई थी वह यह थी कि सरकारी शिक्षा अनुदान को केवल शिक्षा पर ही खर्च किया जाना चाहिए और दूसरे व्यय का पूर्व-स्तर बनाये रखना चाहिए । इन सभी नवीनताओं का व्यावहारिक प्रभाव सामान्य योग्यताओं से प्रभावित था । सन् १९१७ की स्थिति के अनुसार स्थानीय संस्थाओं को अपना अस्तित्व बनाये रखना भी कठिन प्रतीत हो रहा था । इस स्थिति में नवीन विकासों की कोई सम्भावना ही नहीं थी तथा तत्कालीन सेवाओं को बनाये रखना ही एक कठिन काम हो गया था । इस राजनैतिक वातावरण के बीच तथा आर्थिक संकट की स्थिति के मध्य अगस्त, १९१७ में ब्रिटिश सरकार द्वारा घोषणा की गई जिसके अनुसार भारत में स्वायत्तशासी संस्थाओं के क्रमिक विकास द्वारा उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का वायदा किया गया था । अगस्त की घोषणा पर राजनीतिज्ञों एवं सरकारी निकायों द्वारा प्रतिक्रिया प्रकट की गई । इस लक्ष्य के साधनों को प्राप्त करने के प्रयासों पर सर्वप्रथम समालोचना सितम्बर, १९१७ में वायसराय द्वारा की गई । इसमें कहा गया कि शहरी एवं देहाती स्वायत्त सरकार एक बड़ी प्रशिक्षण भूमि है जहां से राजनैतिक उन्नति एवं उत्तरदायित्व की भावना का प्रारम्भ होता है । यह समय है जबकि उन्नति की दर को बढ़ाकर तथा उत्तरदायित्व की भावना को प्रोत्साहित कर औसतन नागरिक के अनुभव को बढ़ाया जा सकता है ।

१९१८ से १९२० तक का समय प्रतीक्षा का समय माना जाता है जबकि संवैधानिक सुधारों की घोषणा की जानी थी । नवीन सुधारों को क्रियान्वित करने के लिए तैयारियां प्रारम्भ हो गईं । द्वैत शासन के अधीन स्थानीय स्वायत्त सरकार को एक हस्तांतरित विषय बनाया गया और इसे एक मंत्री के हाथों में सौंप दिया गया । स्थानीय संस्थाओं के संविधान को और भी प्रजातंत्रात्मक बना दिया गया । स्थानीय संस्थाओं के इतिहास के इस युग में इन संस्थाओं की प्रकृति एवं मूल लक्ष्य के बारे में भारी मतभेद बना रहा । यह संघर्ष व्यवसाय एवं व्यवहार के बीच विभिन्नता के लिए भी उत्तरदायी रहा । कुछ विचारकों ने तो इन संस्थाओं के शिक्षादायक पहलू पर अधिक जोर दिया जबकि अन्य लोग प्रशासकीय कुशलता के प्रश्न को महत्वपूर्ण मानते थे । परिणामस्वरूप एक मिलाजुला फल प्राप्त हुआ जो कि प्रशासकीय कार्यकुशलता की ओर अधिक झुका हुआ था ।

पंचायतों पर महात्मा गांधी के विचार

[Mahatma Gandhi on Village Panchayats]

१४ फरवरी, १९१६ को मद्रास की मिशनरी कान्फ्रेन्स में बोलते हुए महात्मा गांधी ने स्वराज्य एवं ग्राम पंचायतों के बारे में अपने विचारों की झलक प्रदान की। उनका कहना था कि यदि इन संस्थाओं को थोड़ा पहले से ही पर्याप्त ध्यान दिया गया होता तो आज गांव में सफाई की समस्या इतनी उग्र न होती। अब गांव पंचायतें विशेष रूप से जीवित शक्ति बन जायेंगी तथा भारत में उसकी रुचि के अनुकूल ही स्वायत्त सरकार बन जायेगी। इसके बाद जब गांधीजी ने जनता में असहयोग आन्दोलन के विचार भरने का प्रयास किया तो गांव पंचायतों के नाम पर उन्होंने विदेशी सरकार का विरोध किया। असहयोग आन्दोलन के अधीन जब वकीलों ने न्यायालयों का बहिष्कार किया तो महात्मा गांधी ने ग्राम पंचायतों को यह कार्य सौंपा कि वे स्थानीय झगड़ों को दूर करें। कांग्रेस ने कलकत्ता के प्रस्ताव में यह तय किया कि देश को स्वतंत्रता की लड़ाई के लिए तैयार करने के हेतु प्रत्येक गांव अथवा गांवों के समुदाय में एक कांग्रेस समिति नियुक्त की जानी चाहिए तथा उसका प्रान्तों में केन्द्रीय संगठन होना चाहिए। गांवों के झगड़ों को तय करने के लिए कांग्रेस पंचायतें स्थापित की गईं। इनके कार्य के बारे में विचार प्रकट करते हुए महात्मा गांधी ने कहा था कि पंचायतें पुराना इतिहास रखती हैं। शाब्दिक रूप से इनका अर्थ है गांव द्वारा निर्वाचित पांच व्यक्तियों की सभा। यह एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके द्वारा भारत के असंख्य ग्राम गणतंत्र प्रशासित होते थे। अब कांग्रेस द्वारा गांव के वृद्ध व्यक्तियों को नागरिक एवं फौजदारी अधिकार क्षेत्र प्रदान किया गया। इसके लिए प्रथम प्रयास १९२१ में किया गया था किन्तु वह असफल रहा। बाद में यह दुबारा भी किया गया किन्तु महात्मा गांधी का विचार था कि जब तक इसे व्यवस्थित रूप से नहीं किया जायेगा तब तक इसकी सफलता की आशायें धूमिल ही थीं।

सन् १९३१ में नैनीताल के दौरे के समय महात्मा गांधी को उस क्षेत्र की पंचायतों के बारे में कुछ बताया किन्तु गांधी ने इनसे भारी असंतोष प्रकट किया। २८ मई, १९३१ को यंग इण्डिया में लिखते हुए उन्होंने बताया कि यदि पंचायतें अनियमित रहीं तो वे अपने ही भार से गिर कर टूट जायेंगी। गांवों के कार्यकर्त्ताओं के लिए पथ-निर्देशन के रूप में उन्होंने कुछ नियम बनाये जो निम्न प्रकार हैं—

१. कोई भी पंचायत उस समय तक स्थापित नहीं की जानी चाहिए जब तक कि प्रान्तीय कांग्रेस समिति की लिखित स्वीकृति प्राप्त न हो जाये।

२. डोंडी पीट कर गांव में एक ग्राम सभा बुलाई जाये और उस सभा में पंचायत का चुनाव किया जाये।

३. तहसील समिति द्वारा इसकी सिफारिश की जानी चाहिए।

४. इस प्रकार की पंचायतों को किसी प्रकार का फौजदारी अधिकार क्षेत्र प्राप्त नहीं होना चाहिए।

५. यह दीवानी मामलों पर विचार कर सकती है यदि दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हो जायें।

६. किसी को भी इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए कि वह अपने मामले पंचायत के सामने ही लाये।

७. किसी भी पंचायत को जुर्माना करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। इसके पीछे एक मात्र सत्ता इसका नैतिक स्तर है।

८. कुछ समय के लिए कोई भी सामाजिक या अन्य किसी प्रकार का बहिष्कार नहीं होना चाहिए।

९. प्रत्येक पंचायत को जिन विषयों से सम्बन्ध रखना चाहिए वे हैं— उस गांव के लड़के-लड़कियों की शिक्षा, सफाई, मैडीकल आवश्यकतायें, गांव के कुओं तथा तालाबों की सफाई, अछूतों का उद्धार आदि।

१०. यदि कोई पंचायत इन कार्यों को सम्भालने में असफल रहती है या गांव वालों की उसे शुभ कामना नहीं मिल पाती अथवा स्वयं ही आलोचना का पात्र बनती है तो उस पंचायत को खत्म करके उसके स्थान पर दूसरी का चुनाव कराना चाहिये।

गांधीजी ने आगे बताया कि जुर्माना करने अथवा सामाजिक बहिष्कार करने की अयोग्यता, प्रारम्भिक समय की आवश्यकता है। सामाजिक बहिष्कार एक ऐसा खतरनाक हथियार है जो कि अयोग्य एवं बुद्धिहीन लोगों के हाथ में पड़ जाने से अनेक हानिकारक परिणामों का जनक बनता है। जुर्माना करने की व्यवस्था भी एक प्रकार से उस लक्ष्य को समाप्त कर देगी जिसके लिए पंचायतों की स्थापना की गई है। जहां कहीं भी पंचायत वास्तव में लोकप्रिय होगई है तथा उसने रचनात्मक कार्य किये हैं वहां उसके निर्णयों के पीछे एक नैतिक शक्ति कार्य करेगी और वे प्राय: मान लिये जायेंगे। यह एक ऐसी मान्यता है जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है और किसी को इससे वंचित नहीं रखा जा सकता।

महात्मा गांधी यह मानते थे कि प्रजातंत्र की जड़ें, पंचायत व्यवस्था में हैं। एक बार उन्होंने कहा था कि इसमें पर्याप्त सत्यता है कि कांग्रेस ने प्रजातंत्र की परम्परायें ब्रिटेन से ली हैं। इसके लिए कोई भी कांग्रेसी अस्वीकार नहीं करता किन्तु प्रजातंत्र की जड़ें पंचायत व्यवस्था में निहित हैं, यह भी नहीं भूल जाना चाहिए। पंचायतों के कार्यों के बारे में गांधीजी के विचारों को श्री मन्नारायण ने अपनी संविधान की पुस्तक में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि आत्मनिर्भर एवं स्वशासित गांव ही भारत में लोक-प्रशासन की मूल इकाई होनी चाहिये। यदि गांव का आकार छोटा हो तो कई गांव मिल कर के प्रशासन की अेक इकाई बना सकते हैं। गांव-स्तर पर पंचायतों का संगठन एवं कार्य क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध में श्री मन्नारायण ने निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं—

पंचायत का संगठन—प्रत्येक गांव के वयस्क मतदाता साधारणत: पांच सदस्यों की एक पंचायत का चुनाव करेंगे। जहां तक बड़े गांवों का

५. यह दीवानी मामलों पर विचार कर सकती है यदि दोनों ही पक्ष इस बात पर सहमत हो जायें।

६. किसी को भी इस बात के लिए मजबूर नहीं किया जाना चाहिए कि वह अपने मामले पंचायत के सामने ही लाये।

७. किसी भी पंचायत को जुर्माना करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। इसके पीछे एक मात्र सत्ता इसका नैतिक स्तर है।

८. कुछ समय के लिए कोई भी सामाजिक या अन्य किसी प्रकार का बहिष्कार नहीं होना चाहिए।

९. प्रत्येक पंचायत को जिन विषयों से सम्बन्ध रखना चाहिए वे हैं—उस गांव के लड़के-लड़कियों की शिक्षा, सफाई, मैडीकल आवश्यकतायें, गांव के कुओं तथा तालाबों की सफाई, अछूतों का उद्धार आदि।

१०. यदि कोई पंचायत इन कार्यों को सम्भालने में असफल रहती है या गांव वालों की उसे शुभ कामना नहीं मिल पाती अथवा स्वयं ही आलोचना का पात्र बनती है तो उस पंचायत को खत्म करके उसके स्थान पर दूसरी का चुनाव कराना चाहिये।

गांधीजी ने आगे बताया कि जुर्माना करने अथवा सामाजिक बहिष्कार करने की अयोग्यता, प्रारम्भिक समय की आवश्यकता है। सामाजिक बहिष्कार एक ऐसा खतरनाक हथियार है जो कि अयोग्य एवं बुद्धिहीन लोगों के हाथ में पड़ जाने से अनेक हानिकारक परिणामों का जनक बनता है। जुर्माना करने की व्यवस्था भी एक प्रकार से उस लक्ष्य को समाप्त कर देगी जिसके लिए पंचायतों की स्थापना की गई है। जहां कहीं भी पंचायत वास्तव में लोकप्रिय होगई है तथा उसने रचनात्मक कार्य किये हैं वहां उसके निर्णयों के पीछे एक नैतिक शक्ति कार्य करेगी और वे प्रायः मान लिये जायेंगे। यह एक ऐसी मान्यता है जिसे कोई भी प्राप्त कर सकता है और किसी को इससे वंचित नहीं रखा जा सकता।

महात्मा गांधी यह मानते थे कि प्रजातंत्र की जड़ें, पंचायत व्यवस्था में हैं। एक बार उन्होंने कहा था कि इसमें पर्याप्त सत्यता है कि कांग्रेस ने प्रजातंत्र की परम्परायें ब्रिटेन से ली हैं। इसके लिए कोई भी कांग्रेसी अस्वीकार नहीं करता किन्तु प्रजातंत्र की जड़ें पंचायत व्यवस्था में निहित हैं, यह भी नहीं भूल जाना चाहिए। पंचायतों के कार्यों के बारे में गांधीजी के विचारों को श्री मन्नारायण ने अपनी संविधान की पुस्तक में स्पष्ट किया है। उनका कहना है कि आत्मनिर्भर एवं स्वशासित गांव ही भारत में लोक-प्रशासन की मूल इकाई होनी चाहिये। यदि गांव का आकार छोटा हो तो कई गांव मिल कर के प्रशासन की एक इकाई बना सकते हैं। गांव-स्तर पर पंचायतों का संगठन एवं कार्य क्या होना चाहिये, इस सम्बन्ध में श्री मन्नारायण ने निम्न विचार प्रस्तुत किये हैं—

पंचायत का संगठन—प्रत्येक गांव के वयस्क मतदाता साधारणतः पांच सदस्यों की एक पंचायत का चुनाव करेंगे। जहां तक बड़े गांवों का

तो इसके परिणामस्वरूप केवल यही हो सकता है कि वह कर्जदार ही बना हो, कर्ज के नीचे ही जिन्दा रहे और कर्जदार के रूप में ही अपने प्राण त्याग दे। ग्रामीण को सभी आवश्यक गवाह गांव में ही प्राप्त हो जायेंगे और वह वकीलों के शोषणजनक व्यवहार की चपेट में न आयेगा। जब कभी कठिन मामले उपस्थित हो जायें तो उनकी जटिलता से उलझने के लिये जिला या तालुके का उपन्यायाधीश भी एक निर्देशक एवं सहायक का काम कर सकता है। गाँव पंचायत का अध्यक्ष तालुका पंचायत का सदस्य होना चाहिए तथा इसके अध्यक्ष को जिला परिषद का सदस्य होना चाहिये। उसे नागरिकों के साथ निकट का एवं भाईचारे का व्यवहार करना चाहिये तथा जब कभी भी आवश्यकता हो उन्हें कानून से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करनी चाहिये। इस व्यवस्था द्वारा प्रदान किये गये न्याय में बड़ी विशेषतायें होती हैं। यह तुरन्त हो सकता है, यह सस्ता होता है, यह अधिक न्यायपूर्ण होता है क्योंकि सारी बातें अधिक विस्तार के साथ गांव के निवासियों को ज्ञात रहती हैं तथा यहां धोखे की सम्भावनायें कम रहती हैं।

इस प्रकार पंचायत व्यवस्था में गांव को मूल इकाई माना जाता है। श्रीमन्नारायण की पंचायत व्यवस्था में गांव पंचायतों के ऊपर तालुका पंचायतें होती हैं। तालुका में कम से कम बीस गांवों की एक इकाई होनी चाहिये जिसमें कि २०००० के करीब जनसंख्या हो। गांव पंचायतों के अध्यक्ष तालुका पंचायतों के भी सदस्य होने चाहिये। उनके अध्यक्ष मिलकर जिला पंचायत तथा फिर प्रान्तीय पंचायत और इसी प्रकार राष्ट्रीय पंचायत की स्थापना करते हैं। प्रत्येक स्तर पर इसके कार्यों को विस्तार के साथ गिना दिया गया है। यह व्यवस्था की गई कि उच्च पंचायतें अपने कनिष्ठों को परामर्श दें, विशेषज्ञतापूर्ण निर्देशन करें, तथा ग्राम पंचायतों के कार्यों का पर्यवेक्षण एवं समन्वय करें। लोक सेवा में वृद्धि एवं प्रशासकीय कार्य-कुशलता की दृष्टि से यह सब करना उपयोगी रहेगा। महात्मा गांधी ने जिस अहिंसावादी राज्य का वर्णन किया है वहां इकाइयों द्वारा केन्द्र पर नियंत्रण रखा जायेगा—इसका उल्टा नहीं होगा। महात्मा गांधी का यह पक्का मत था कि 'प्रजातन्त्र' केन्द्र के बीस व्यक्तियों द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्र के फल और फूलों को प्रस्फुटित करने के लिए यह जरूरी है कि उसे नीचे से उठाया जाये, अर्थात् गांवों में इसके बीजों को बोया और अंकुरित कराया जाये। भारत के सच्चे प्रजातन्त्र की इकाई गांव ही हो सकते हैं। अगर अेक गांव पंचायती राज चाहता है तो कोई भी उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकता। प्रजातन्त्र तो उसके सभी सदस्यों का सक्रिय सहयोग चाहता है और इसी में उसके फल प्राप्त हो सकते हैं।

स्वतन्त्रता से पूर्व स्थानीय निकायों के कार्य

(Functions of Local bodies before independence)

ब्रिटिश शासन-काल में देश के एवं विदेश के अनेक परिवर्तनों से प्रभा-वित होकर स्थानीय सरकार के क्षेत्र में समय-समय पर महत्वपूर्ण परिवर्तन

प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सहकारी दुकानों के माध्यम से अच्छे बीज मुहैया कराये जायें। जहां तक सम्भव हो सके सारा खाद्यान्न गांव में ही पैदा कराने की व्यवस्था करे। व्यापारिक फसलों के उत्पादन को निरुत्साहित किया जाये। कर्जों की आवश्यक छानबीन की जाये, ब्याज की दर निश्चित की जाये तथा उसको विनियमित किया जाये। जहाँ सम्भव हो सके वहां सहकारी क्रेडिट बैंकों की स्थापना की जाये। सम्मिलित प्रयास द्वारा अपव्यय को रोका जाये तथा भूमि को बंजर होने से बचाया जाये।

(५) औद्योगिक दृष्टि से ग्राम पंचायतों को खादी के उत्पादन एवं खपत के लिए संगठन बनाने चाहिये। सहकारी आधार पर अन्य ग्रामीण उद्योगों को संगठित करना चाहिये। एक सहकारी दुग्धशाला खोलनी चाहिये। भैंसों के स्थान पर गायों को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। मरे हुए पशुओं की खाल का उपयोग करने के लिये उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

(६) व्यापार एवं वाणिज्य की दृष्टि से कृषि-सम्बन्धी एवं औद्योगिक उत्पादन के लिये सहकारी भण्डार खोले जाने चाहिये। सहकारी उपभोक्ता भण्डार खोलने चाहिये। केवल उन्हीं चीजों का आयात किया जाये जो कि गांव में पैदा नहीं की जा सकती हैं और उन चीजों का निर्यात किया जाये जो कि आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होती हैं। आवश्यक कार्यों के लिये कलाकारों को सुविधायें प्रदान की जानी चाहिये।

(७) सफाई एवं मैडीकल सुविधा—गांव में सफाई का प्रबन्ध करने के लिये नालियों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। जनता की ज्यादतियों को रोककर महामारी को फैलने से बचाना चाहिये। पीने के पानी का पर्याप्त प्रबन्ध किया जाना चाहिये। गाँव का एक अस्पताल हो तथा शिशु चिकित्सालय एवं प्रसूतिगृह हों और उनके द्वारा क्षेत्र के निवासियों को पर्याप्त सुविधायें प्रदान की जायें।

(८) गांव में रहने वाले लोगों को सस्ता न्याय प्रदान किया जाना चाहिये। इसके लिये पंचायत को विस्तृत कानूनी शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहियें। उनको दीवानी एवं फौजदारी दोनों ही क्षेत्रों में अधिकार होने चाहियें। मुफ्त कानूनी सहायता एवं आवश्यक सूचना का प्रबन्ध किया जाना चाहिये।

(९) धार्मिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों के अवसर पर गांव के लोगों से उचित दान वसूल करना तथा यह देखना कि आय तथा व्यय के सही लेखे रखे जा रहे हैं अथवा नहीं।

पंचायतों के न्याय सम्बन्धी कार्यों के बारे में विस्तार के साथ बताते हुये श्री मन्नारायण ने लिखा है कि ग्राम पंचायत को न्याय की स्थापना का कार्य सौंपा जायेगा। अलग से न्याय पंचायतों की कोई आवश्यकता नहीं है। गांव में रहने वाले लोग गरीब होते हैं और इसलिये उनको गांव से बाहर जाने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। यदि न्यायालय के पीछे एक ग्रामीण महीनों तक कस्बों में रहे तथा अपना अमूल्य धन एवं समय नष्ट करता रहे

तो इसके परिणामस्वरूप केवल यही हो सकता है कि वह कर्जदार ही पैदा हो, कर्ज के नीचे ही जिन्दा रहे और कर्जदार के रूप में ही अपने प्राण त्याग दे। ग्रामीण को सभी आवश्यक गवाह गांव में ही प्राप्त हो जायेंगे और वह वकीलों के शोषणजनक व्यवहार की चपेट में न आयेगा। जब कभी कठिन मामले उपस्थित हो जायें तो उनकी जटिलता से उलझने के लिये जिला या तालुके का उपन्यायाधीश भी एक निर्देशक एवं सहायक का काम कर सकता है। गाँव पंचायत का अध्यक्ष तालुका पंचायत का सदस्य होना चाहिए तथा इसके अध्यक्ष को जिला परिषद का सदस्य होना चाहिये। उसे नागरिकों के साथ निकट का एवं भाईचारे का व्यवहार करना चाहिये तथा जब कभी भी आवश्यकता हो उन्हें कानून से सम्बन्धित जानकारी प्रदान करनी चाहिये। इस व्यवस्था द्वारा प्रदान किये गये न्याय में कई विशेषतायें होती हैं। यह तुरन्त हो सकता है, यह सस्ता होता है, यह अधिक न्यायपूर्ण होता है क्योंकि सारी बातें अधिक विस्तार के साथ गांव के निवासियों को ज्ञात रहती हैं तथा यहां धोखे की सम्भावनायें कम रहती हैं।

इस प्रकार पंचायत व्यवस्था में गांव को मूल इकाई माना जाता है। श्रीमन्नारायण की पंचायत व्यवस्था में गांव पंचायतों के ऊपर तालुका पंचायतें होती हैं। तालुका में कम से कम बीस गांवों की एक इकाई होनी चाहिये जिसमें कि २०००० के करीब जनसंख्या हो। गांव पंचायतों के अध्यक्ष तालुका पंचायतों के भी सदस्य होने चाहिये। उनके अध्यक्ष मिलकर जिला पंचायत तथा फिर प्रान्तीय पंचायत और इसी प्रकार राष्ट्रीय पंचायत की स्थापना करते हैं। प्रत्येक स्तर पर इसके कार्यों को विस्तार के साथ गिना दिया गया है। यह व्यवस्था की गई कि उच्च पंचायतें अपने कनिष्ठों को परामर्श दें, विशेषज्ञतापूर्ण निर्देशन करें, तथा ग्राम पंचायतों के कार्यों का पर्यवेक्षण एवं समन्वय करें। लोक सेवा में वृद्धि एवं प्रशासकीय कार्य-कुशलता की दृष्टि से यह सब करना उपयोगी रहेगा। महात्मा गांधी ने जिस अहिंसावादी राज्य का वर्णन किया है वहां इकाइयों द्वारा केन्द्र पर नियंत्रण रखा जायेगा—इसका उल्टा नहीं होगा। महात्मा गांधी का यह पक्का मत था कि 'प्रजातन्त्र' केन्द्र के बीस व्यक्तियों द्वारा क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। प्रजातन्त्र के फल और फूलों को प्रस्फुटित करने के लिए यह जरूरी है कि उसे नीचे से उठाया जाये, अर्थात् गांवों में इसके बीजों को बोया और अंकुरित कराया जाये। भारत के सच्चे प्रजातन्त्र की इकाई गांव ही हो सकते हैं। अगर अेक गांव पंचायती राज चाहता है तो कोई भी उसे ऐसा करने से रोक नहीं सकता। प्रजातन्त्र तो उसके सभी सदस्यों का सक्रिय सहयोग चाहता है और इसी में उसके फल प्राप्त हो सकते हैं।

स्वतन्त्रता से पूर्व स्थानीय निकायों के कार्य

(Functions of Local bodies before independence)

ब्रिटिश शासन-काल में देश के एवं विदेश के अनेक परिवर्तनों से प्रभावित होकर स्थानीय सरकार के क्षेत्र में समय-समय पर महत्वपूर्ण परिवर्तन

प्रबन्ध किया जाना चाहिए। सहकारी दुकानों के माध्यम से अच्छे बीज मुहैया कराये जायें। जहां तक सम्भव हो सके सारा खाद्यान्न गांव में ही पैदा कराने की व्यवस्था करे। व्यापारिक फसलों के उत्पादन को निरुत्साहित किया जाये। कर्जों की आवश्यक छानबीन की जाये, ब्याज की दर निश्चित की जाये तथा उसको विनियमित किया जाये। जहाँ सम्भव हो सके वहां सहकारी क्रेडिट बैंकों की स्थापना की जाये। सम्मिलित प्रयास द्वारा अपव्यय को रोका जाये तथा भूमि को बंजर होने से बचाया जाये।

(५) औद्योगिक दृष्टि से ग्राम पंचायतों को खादी के उत्पादन एवं खपत के लिए संगठन बनाने चाहिये। सहकारी आधार पर अन्य ग्रामीण उद्योगों को संगठित करना चाहिये। एक सहकारी दुग्धशाला खोलनी चाहिये। भैंसों के स्थान पर गायों को अधिक प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। मरे हुए पशुओं की खाल का उपयोग करने के लिये उचित प्रबन्ध होना चाहिये।

(६) व्यापार एवं वाणिज्य की दृष्टि से कृषि-सम्बन्धी एवं औद्योगिक उत्पादन के लिये सहकारी भण्डार खोले जाने चाहिये। सहकारी उपभोक्ता भण्डार खोलने चाहिये। केवल उन्हीं चीजों का आयात किया जाये जो कि गांव में पैदा नहीं की जा सकती हैं और उन चीजों का निर्यात किया जाये जो कि आवश्यकता से अधिक उत्पन्न होती हैं। आवश्यक कार्यों के लिये कलाकारों को सुविधायें प्रदान की जानी चाहिये।

(७) सफाई एवं मैडीकल सुविधा—गांव में सफाई का प्रवन्ध करने के लिये नालियों की समुचित व्यवस्था होनी चाहिये। जनता की ज्यादतियों को रोककर महामारी को फैलने से बचाना चाहिये। पीने के पानी का पर्याप्त प्रबन्ध किया जाना चाहिये। गाँव का एक अस्पताल हो तथा शिशु चिकित्सालय एवं प्रसूतिगृह हों और उनके द्वारा क्षेत्र के निवासियों को पर्याप्त सुविधायें प्रदान की जायें।

(८) गांव में रहने वाले लोगों को सस्ता न्याय प्रदान किया जाना चाहिये। इसके लिये पंचायत को विस्तृत कानूनी शक्तियाँ प्रदान की जानी चाहियें। उनको दीवानी एवं फौजदारी दोनों ही क्षेत्रों में अधिकार होने चाहियें। मुफ्त कानूनी सहायता एवं आवश्यक सूचना का प्रवन्ध किया जाना चाहिये।

(९) धार्मिक एवं सामाजिक कार्यक्रमों के अवसर पर गांव के लोगों से उचित दान वसूल करना तथा यह देखना कि आय तथा व्यय के सही लेखे रखे जा रहे हैं अथवा नहीं।

पंचायतों के न्याय सम्बन्धी कार्यों के बारे में विस्तार के साथ बताते हुये श्री मन्नारायण ने लिखा है कि ग्राम पंचायत को न्याय की स्थापना का कार्य सौंपा जायेगा। अलग से न्याय पंचायतों की कोई आवश्यकता नहीं है। गांव में रहने वाले लोग गरीब होते हैं और इसलिये उनको गांव से बाहर जाने की जरूरत नहीं होनी चाहिये। यदि न्यायालय के पीछे एक ग्रामीण महीनों तक कस्बों में रहे तथा अपना अमूल्य धन एवं समय नष्ट करता रहे

किया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अहमदाबाद नगरपालिका (१९२४-२८) का तथा ख्वाजा नाजिमुद्दीन ने ढाका नगरपालिका का प्रबन्ध अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया।

स्थानीय मामलों का प्रबन्ध बोर्ड की लम्बी मीटिंगों द्वारा किया जाता था जहां कि औपचारिक रूप से प्रस्ताव रखे जाते थे तथा उन पर वाद-विवाद किया जाता था। यह बहुत कुछ उसी प्रकार व्यवहार करती थीं जिस प्रकार कि विधान परिषदें करती थीं। अपेक्षाकृत अब बैठकें अधिक होने लगीं, साथ ही इनमें उपस्थिति भी बढ़ गई। ये सभी बातें एक स्वस्थ परम्परा की सूचक थीं जो कि स्थानीय सरकार को वास्तविक रूप प्रदान करती थीं। इससे पूर्व अधिकांश कार्य जिलाधीश के कमरे में बैठकर किये जाते थे। समिति व्यवस्था, जो कि ब्रिटिश लोक प्रशासन की मूल विशेषता मानी जाती है, अभी तक यहां की विशेषता नहीं बन पाई थी। एक अधिकारिक प्रतिवेदन (Official report) के अनुसार समिति एवं उप-समितियों, में जहां पर कि वास्तविक कार्य सम्पन्न किया जाता है, मूलत: बहुमत दल रहता है तथा अन्य दल को निर्वाचन में कोई अवसर प्राप्त नहीं होता। नीति को प्रभावित करने में अल्पसंख्यक पार्षदों का कोई महत्व नहीं होता, वे सामान्य बैठकों में केवल बोल सकते थे, मतदान कर सकते थे।[1]

स्थानीय सरकार की सेवाओं की असंतोषजनक सम्पन्नता का कारण बोर्ड के सदस्यों का उनके अधिकारियों एवं सेवकों के प्रति दृष्टिकोण ही समझा जाता था। किसी भी महत्वपूर्ण कार्यपालिका नियुक्ति को मतभेद का विषय बना दिया जाता था तथा प्रत्येक स्थानीय चुनाव के बाद राजनैतिक महत्व के पदों को सुविधायें प्रदान की जाती थीं। उत्तर प्रदेश के राजनीतिज्ञों की एक समिति इस बात पर सहमत थी कि—'वर्तमान व्यवस्था में भाई-भतीजावाद एवं पक्षपातपूर्ण व्यवहार को आधार बनाकर ही नियुक्तियां एवं पदोन्नतियां की जाती हैं और उम्मीदवार की योग्यता अथवा उपयुक्तता पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है'।[2] अनेक नियुक्तियां व्यक्तिगत, साम्प्रदायिक अथवा राजनैतिक आधारों पर की जाती थीं। यहाँ तक कि जिन वरिष्ठ तकनीकी अधिकारियों की नियुक्ति के लिए सरकार कुछ योग्यतायें निर्धारित कर देती थी वे भी प्राय: उन योग्यताओं के बिना ही नियुक्त कर दिये जाते थे। इसके अतिरिक्त स्थानीय सरकार की सेवाओं में ऐसा कुछ भी नहीं था जो कि योग्य

1. "The Committees and Sub-committees, in which the real work is carried on are composed in almost every case of the majority party....and the other members have no chance of election.....the minority Councillors have no scope [for influencing policy] except to speak and vote at the general meetings."

—See U. P. Local-self Govt. Committee, 1938-39, Part II, P. 9, and Bombay Local self Govt. Committee, 1938, P. 62

2. U. P., Local-Self-Govt. Committee, 1938-9, Part II, P. 3.

व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। विशेष रूप से कम शक्तियों के वरिष्ठ पदों की स्थिति और भी खराब थी। इन पदों पर पदोन्नति की गति अत्यन्त धीमी एवं पक्षपातपूर्ण होती थी।

सामान्य रूप से 'शहरी प्रशासन' देहाती प्रशासन की अपेक्षा अधिक ऊंचा था। इसके अनेक स्पष्ट कारण थे। नगरपालिका की प्रतिव्यक्ति आय अधिक थी, प्रशासन की इकाइयाँ अधिक फैली हुई नहीं थीं, सदस्य-गण समस्याओं का ऐसे ही समाधान कर सकते थे मानो वे उनके दरवाजों पर ही प्रारम्भ हुई हों। इसके अतिरिक्त कस्बे के मामलों पर लोकमत का प्रभाव अधिक स्पष्ट रूप से पड़ सकता था। द्वैत शासन के वर्षों में एक बात यह तो स्पष्ट हो गई कि स्थानीय सरकार की वर्तमान व्यवस्था संतोषजनक नहीं है। इस विचार से सरकारी अधिकारी एवं राष्ट्रीय नेता दोनों ही सहमत थे।

स्वतंत्रता के बाद पंचायती राज में उल्लेखनीय विकास

[Important Landmarks in Post-independence Panchayati Raj.]

स्वतंत्र भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने गांवों को प्रशासन की मूल इकाई माना है जो कि प्राचीन काल से ही अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान करती रही हैं। संविधान सभा ने स्वतंत्र भारत के संविधान का प्रथम प्रारूप फरवरी, १९४८ में प्रसारित किया। इसमें गांव पंचायतों का उल्लेख नहीं था इसलिए अनेक लोगों ने इसकी आलोचना करते हुए सुझाया कि भारतीय संविधान को मूलत: भारतीय होना चाहिए। हिन्दू राजनीति में गांव-पंचायतें प्रशासन का आधार थीं अत: आज भी उनकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए। इसके जवाब में डॉ० अम्बेडकर ने प्राचीन भारतीय गांवों के योगदान की सारहीनता पर जोर डालते हुए कहा कि यदि इनको पुन: स्थापित कर दिया गया तो हममें से किसी को भी इन पर क्या गर्व हो सकता है ? यद्यपि गांव प्रारम्भ से अब तक चले आ रहे हैं किन्तु किसी भी चीज का अस्तित्व मात्र ही उसके मूल्य एवं महत्व का आधार नहीं माना जा सकता। डॉ० अम्बेडकर ने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया कि जो लोग प्रान्तीयता एवं साम्प्रदायिकता का विरोध करते हैं वे ही क्यों और किस आधार पर ग्राम-पंचायतों का समर्थन करते हैं। उन्हीं के शब्दों में—गांव स्थानीयता का प्रतीक है और अज्ञान, संकुचित दिमाग एवं साम्प्रदायिकता की निशानी है। मुझे प्रसन्नता है कि संविधान के प्रारूप में गांव का बहिष्कार करके व्यक्ति को इसकी इकाई बनाया गया है।[1]

---

1. "What is the village but a stink of localism and a den of ignorance, narrow mindedness and communalism ? I am glad that the draft Constitution has discarded the village and adopted the individual as its unit."

—Dr. B. R. Ambedkar

डॉ० अम्बेडकर के इस मत का भारी विरोध किया गया। इसको महात्मा गांधी के स्वप्नों का विरोधी माना गया। श्री टी० प्रकाशम् ने कहा कि संविधान में इस प्रकार का संशोधन किया जाना चाहिए कि वह उन लाखों गांव वालों के लिए उपयोगी बन सके जिनके लिए स्वतंत्रता प्राप्त की गई है। गोकुलभाई भट्ट ने तो यहाँ तक कह दिया कि जो संविधान ग्राम पंचायतों को कोई स्थान नहीं देता वह भारत के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। इसी प्रकार की अनेक आलोचनाओं के परिणामस्वरूप जब १६ नवम्बर, १६४८ को राज्य की नीति के निर्देशक तत्वों पर बहस प्रारम्भ हुई तो २२ नवम्बर को के० सत्थानम् ने एक नया अनुच्छेद जोड़ने का प्रस्ताव किया और कहा कि राज्य को ग्राम पंचायतों का संगठन करना चाहिए तथा उनको वे शक्तियां प्रदान करनी चाहिए जो कि उनको स्वायत्त सरकार की इकाई के रूप में कार्य करने को प्रोत्साहित कर सकें। एच० वी० कामथ ने भी कुछ इसी प्रकार का संशोधन रखा था। श्री सुरेन्द्रमोहन घोष ने कहा कि अतीत काल में गांवों ने भारत की एकता को बनाये रखने के लिए बहुत कुछ किया है। डॉ० अम्बेडकर ने इस संशोधन को स्वीकार कर लिया। नये भारतीय संविधान के भाग चार के चालीसवें अनुच्छेद में यह कहा गया है कि "राज्य, ग्राम पंचायतों को संगठित करने के लिए कदम उठायेगा तथा उनको इतनी शक्तियां एवं सत्ता सौंपेगा जो कि उनको स्वायत्त सरकार की इकाइयों के रूप में कार्य करने के योग्य बना सकें।"[1] भारतीय संविधान में पंचायती राज-व्यवस्था के महत्व का उल्लेख अपने आप में एक ऐतिहासिक महत्व रखता है। एच० डी० मालवीय के कथनानुसार "भारतीय संविधान में पंचायत-विचार को संलग्न करना अत्यन्त महत्व की घटना थी जिसका राज्य की बनावट पर बड़ा एवं सुदूरगामी प्रभाव होने वाला था।"[2] इस निर्णयका पूरे देशभर में स्वागत किया गया। इसके द्वारा उस सिद्धान्त को मान्यता दे दी गई जो पहले केवल शब्दों तक ही सीमित था। अब यह सम्भव हो गया कि ग्राम पंचायतें आर्थिक संगठन का एक मुख्य आधार बन जायें तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने में भी महत्वपूर्ण योगदान करें। राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तों में स्थान मिलने के बाद से ही भारत में ग्राम पंचायतों का संगठन किया जाने लगा। बहुत शीघ्र ही ये पंचायतें लोकप्रिय होने लगीं। कांग्रेस दल ने पंचायती राज की स्थापना से

---

1. "The State shall take steps to organise Village Panchayats and endow them with such powers and authority as may be necessary to enable them to function as units of Self-Govt."

—Indian Constitution, Part IV, Article-40

2. "The incorporation of the Panchayat idea in the Indian constitution was an event of profound importance pregnant with great and far reaching consequences on the very structure of the state."

—*H. D. Malaviya*, Village Panchayats in India, Economic and Political Research Deptt., AICC, New Delhi, 1956, P. 261

शीघ्र ही अपनी नीतियों एवं व्यवहार को प्रभावित करना प्रारम्भ किया। मई, १९५४ के अन्तिम सप्ताह में जब नयी दिल्ली में कांग्रेस दल की बैठक हुई तो कार्यकारी समिति ने यह प्रस्ताव पास किया कि—"कार्यकारी समिति विभिन्न राज्यों में पंचायती राज की स्थापना के महत्व को जानती है। यह न केवल प्राचीन भारत की परम्पराओं को बनाये रखने का ही एक तरीका है वरन् यह आज की परिस्थितियों में भी उपयुक्त है। आधुनिक राज्य धीरे-धीरे केन्द्रीयकरण की ओर बढ़ते जा रहे हैं। इस प्रवृत्ति को स्थानीय स्वायत्त-सरकार की संस्थाओं का विकास करके संतुलित करना चाहिए ताकि स्वयं जनता ही अपने प्रशासन में भाग ले सके तथा सामाजिक जीवन के अन्य पहलुओं जैसे आर्थिक, न्यायिक आदि में भी सक्रियता के साथ योगदान कर सके। यह सबसे अच्छी प्रकार तभी किया जा सकता है जबकि भारत के गांवों में पंचायतों का विकास किया जा सके। इन पंचायतों के पास न्यायिक कार्यों की भांति प्रशासनिक कार्य भी सौंपे जायेंगे।" समिति ने न्याय पंचायतों की रचना पर जोर दिया ताकि नियमित न्यायालयों का भार कम किया जा सके। इस व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय जल्दी तथा कम खर्च में प्राप्त किया जा सकता था। समिति का मत था कि इस प्रकार की पंचायतें स्थानीय परिस्थितियों एवं परम्पराओं के अनुसार स्थापित की जानी चाहिएं। इनको अपने क्षेत्र के पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करना चाहिए। इस दृष्टि से धर्म या जाति के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए।

विषय का महत्व देखते हुए कार्यकारी समिति ने एक समिति नियुक्त की जिसमें डॉ० कैलाशनाथ काटजू, श्री जगजीवनराम, गुलजारीलाल नन्दा, ग्यानी गुरुमुखसिंह मुसाफिर, केशवदेव मालवीय तथा श्रीमन्नारायण जैसे उच्च कोटि के नेताओं को सदस्य बनाया गया। इस समिति का संगठन इस-लिए किया गया था कि यह प्रश्न के सभी पहलुओं पर विचार करे, विभिन्न राज्यों से पंचायत के कार्यों के बारे में जो प्रतिवेदन आयें उन पर भी विचार करे, कार्यकारी समिति की होने वाली अगली बैठक में अपना प्रतिवेदन प्रस्तुत करे।

इस उच्च स्तरीय समिति ने अपनी नियुक्ति के बाद एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार की जिसे लगभग एक हजार पतों पर भेजा गया। प्रायः सभी राज्य सरकारों ने इस प्रश्नावली के उत्तर भेजे। इनको प्राप्त करते ही समिति तुरन्त ही महत्वपूर्ण मसलों पर विचार करने के लिए बैठाई गई। विचार-विमर्श के समय समिति ने केन्द्रीय वित्त मंत्री सी० डी० देशमुख, राष्ट्रीय नियोजन आयोग के उपसभापति वी० टी० कृष्णमाचारी, मोहनलाल गौतम आदि को आमंत्रित किया। समिति के प्रतिवेदन पर १९ जुलाई, १९५४ को हस्ताक्षर कर दिये गये। इस समिति की मुख्य सिफारिशों का सार निम्न प्रकार दिया जा सकता है—

कांग्रेस ग्राम पंचायत समिति की सिफारिशें

१. पंचायत व्यवस्था भारत में स्वस्थ प्रजातंत्रात्मक परम्पराओं के लिए एक सारयुक्त आधार प्रदान करती है। राज्य को चाहिए कि वह इनके

विकास को प्रोत्साहित करे ताकि वह प्रशासन एवं समाज के अन्य कार्यों जैसे सामाजिक, आर्थिक एवं न्यायिक आदि में सक्रिय योगदान करे।

२. संविधान में दिये गये लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए पंचायतों को न केवल स्थानीय स्वायत्त सरकार की इकाई के रूप में ही कार्य करना चाहिए वरन् उन्हें सामाजिक न्याय एवं सहकारी जीवन के साथ ही पूरा-पूरा रोजगार प्रदान कराने के लिए भी प्रयास करना चाहिए।

३. यदि ग्राम पंचायतों की संस्था के माध्यम से आर्थिक एवं राजनैतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर दिया जाये तो संविधान के आधारभूत सिद्धान्तों को आसानी से प्राप्त किया जा सकेगा।

४. भूमि सुधार के व्यवस्थापन द्वारा मध्यस्थों की व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। राज्य को यह कार्य गांव पंचायतों को प्रोत्साहन के माध्यम से ही पूरा करना चाहिए।

५. ग्राम–पंचायतों को इस प्रकार के प्रजातंत्र का विकास करना चाहिए जिसके माध्यम से इस प्रकार का नेतृत्व पनप सके जो ग्राम्य–जीवन के सभी तत्वों का प्रतिनिधित्व करे तथा समाज के कार्यों का संचालन करे।

६. ग्राम पंचायतों की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि वे ग्राम्य समाज में कितना उत्साह एवं एकता की भावना पनपा सकती हैं। यदि गांव की जनता के सभी भागों का विश्वास इन्हें प्राप्त है तो सफलता की आशायें बढ़ जाती हैं। इसलिए यह आवश्यक है कि पंचायतों को दलीय राजनीति से अलग रखा जाना चाहिए।

७. ग्राम पंचायतों के चुनाव में सर्वसम्मत्ति को बहुत महत्व दिया जाना चाहिए। एकता लाने की दृष्टि से उन पंचायतों को अधिक शक्ति प्रदान की जाये जो कि अपना सरपंच सर्वसम्मत्ति से चुन सकें।

८. जहां तक सम्भव हो सके, उक्त मूल मान्यताओं से दूर हटने की सम्भावनाओं को रोका ही जाना चाहिए किन्तु यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सारे देश में पंचायतों के प्रतिदिन के कार्यों में कठोरता नहीं बरती जा सकती। यह राज्यों के ऊपर ही छोड़ दिया जाना चाहिए कि वे स्थानीय परम्पराओं, आवश्यकताओं तथा परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही पंचायतों का संगठन करें।

९. पंचायतों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए। गांव के सभी वयस्कों को गांव सभा का सदस्य बनाना चाहिए। जहां वयस्कों की संख्या बहुत अधिक हो, वहां परिवारों के प्रतिनिधियों को मिला कर ही ग्राम सभा बना देनी चाहिए। गांव सभा द्वारा निर्वाचित ग्राम पंचायत को एक प्रकार से इसकी कार्यकारिणी माना जाना चाहिए। गांव पंचायत के सदस्यों की संख्या गांव की जनसंख्या के आकार पर निर्भर करती है। पंचायत में अनुसूचित एवं जन–जातियों को उनकी जनसंख्या के आधार पर सुरक्षित स्थान प्राप्त होने चाहिएं।

१०. ग्राम पंचायतों के चुनाव की व्यवस्था उतनी सरल होनी चाहिए जितनी कि वह हो सकती है। जिन पंचायतों में चुनाव सर्वसम्मति से हो सकता हो वहां किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होनी चाहिए। जहाँ सभी सदस्यों का चुनाव एक मत से न हो सके वहाँ गुप्त मतदान द्वारा चुनाव किया जाना चाहिए। गांव के ही बरतनों या पीपों का उपयोग करके व्यवस्था को और भी सरल किया जा सकता है। समिति का विचार था कि जहाँ गांव की जनता इस बात से सहमत हो वहाँ पर हाथ उठा कर चुनाव करने में भी किसी प्रकार की बुराई नहीं है।

११. गांव पंचायत के संगठन की इकाई एक ऐसा गांव होना चाहिए जिसकी जनसंख्या १५०० से २००० तक की हो; केवल ऐसी पंचायतें ही समाज की आवश्यकताओं के अनुसार कार्य कर सकती हैं। फिर भी प्रत्येक राज्य की परिस्थितियां अलग-अलग हो सकती हैं इसलिए इस सम्बन्ध में कठोरता का रुख नहीं अपनाना चाहिए। जहाँ कहीं भी आवश्यक हो वहाँ कुछ छोटे गांवों को मिलाकर एक इकाई बना दी जाये।

१२. पंचायत के कार्यों का पर्यवेक्षण करने के लिए तथा उनको विनियमित एवं समन्वित करने के लिए एक निकाय होना चाहिए। इस निकाय के कुछ कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य भी होने चाहिए। इन निकायों को मनोनीत नहीं किया जाना चाहिए वरन् सरपंचों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित किया जाना चाहिए।

१३. पंचायतों के अनेक प्रकार के कार्य होने चाहिये उदाहरण के लिये नगरपालिका सम्बन्धी, सामाजिक, आर्थिक न्यायिक आदि। नगरपालिका सम्बन्धी कार्यों में सफाई, गांव की सड़कें, सामाजिक भवनों की रचना एवं रक्षा, पेय जल के लिये व्यवस्था हों। यदि शिक्षा की देख-रेख जिला बोर्ड द्वारा नहीं की जा रही है तो ग्राम पंचायतों को यह कार्य सौंपा जा सकता है। ऐसी स्थिति में पंचायतों के शिक्षा सम्बन्धी कार्य राज्य के शिक्षा विभाग के आधीन होंगे। इन नगरपालिका कार्यों के अतिरिक्त गाँव पंचायतों को कुछ ऐच्छिक कार्य भी करने चाहिए जो कि राज्य सरकार द्वारा समय-समय पर उन्हें सौंपे जायें।

१४. न्याय पंचायतों का संगठन एवं कार्य ग्राम पंचायतों से भिन्न प्रकार का होना चाहिए। प्रत्येक न्याय पंचायत को पांच या छः हजार की जनसंख्या वाले तथा तीन मील के घेरे में रहने वाले लोगों की सेवा करनी चाहिए। प्रत्येक ग्राम सभा को पंचायत में प्रतिनिधि चुनने के अतिरिक्त न्याय पंचायत में कार्य करने के लिए भी पांच सदस्यों की पैनल चुन देनी चाहिए। इस आधार पर न्याय पंचायत में लगभग तीस निर्वाचित सदस्य हो जायेंगे। मामलों पर विचार केवल पांच सदस्यों द्वारा ही किया जाना चाहिए। जो मामला जिस गांव का हो उसे वहीं पर सुना जाना चाहिए। जहाँ तक सम्भव हो सके एक मामले को एक ही बैठक में सुलझा देना चाहिये ताकि अनावश्यक रूप से देरी न हो। इन न्याय पंचायतों में किसी वकील को न आने दिया

जाये । गांव द्वारा न्याय पंचायत के लिए जो पांच सदस्यों की पैनल चुनी जाये उसमें एक हरिजन तथा एक स्त्री का होना जरूरी है ।

१५. भारत में नियोजन केवल तभी सफल हो सकता है जबकि यह गांवों पर आधारित हो । इसमें गांव पंचायतें अत्यन्त महत्वपूर्ण योगदान कर सकती हैं । इसके लिए विकास परिषद को नियोजन करते समय ग्राम पंचायतों का सहारा लेना चाहिए । इससे गांवों में एक स्थायी प्रकार का नेतृत्व निखरेगा साथ ही इससे गाँवों के देहाती विकास के सभी पहलुओं को देखने में भी मदद मिलेगी ।

१६. कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण के लिए पर्याप्त उपबन्ध होने चाहियें ताकि वे विकास कार्य को अपनी समस्त तकनीकों के साथ चला सकें । यह एक प्रकार से बेरोजगार युवकों को एक अवसर प्रदान करेगी । गैर अधिकारी अभिकरणों का सहयोग प्राप्त करने का भी प्रयास करना चाहिये उदाहरण के लिये सर्व सेवा संघ, गांधी राष्ट्रीय स्मृति निधि, कस्तूरबा गांधी राष्ट्रीय स्मारक निधि आदि ।

१७. पंचायतों को राजस्व इकट्ठा करने का कार्य अधिक से अधिक सौंपा जाना चाहिये तथा उनके प्रतिदिन के कामों को सम्पन्न करने के लिये १५ अथवा २५ प्रतिशत भाग उन्हें दे देना चाहिये । पंचायतों को श्रम कर लगाने का अधिकार भी होना चाहिये । अर्थात् उन्हें यह शक्ति होनी चाहिये कि वह आवश्यकता पड़ने पर गांव वालों की सेवा प्राप्त कर सकें । तो भी यह प्रयास किया जाना चाहिये कि गांव वाले स्वेच्छा से ही श्रमदान के रूप में सार्वजनिक कामों में भाग ले सकें । यदि कोई व्यक्ति श्रम न करना चाहे या न कर सके तो उसको उस कार्य में लगने वाले धन का दुगना भरना चाहिये । गांव की सामान्य भूमि भी पंचायत की आमदनी का एक अन्य स्रोत हो सकती है । राज्य को भी पंचायतों के कार्य संचालन को सरल बनाने के लिये समय-समय पर योगदान करते रहना चाहिये ।

१८. सहकारी संस्थाओं एवं ग्राम पंचायतों के कामों को अलग-अलग बनाये रखना चाहिये क्योंकि सहकारी भण्डारों का क्षेत्र ग्राम पंचायतों से अधिक व्यापक है, यह ऐच्छिक है तथा पंचायतों की भांति आवश्यक नहीं है । पचायतों को चाहिये कि वे सहकारिता के विकास के लिये प्रयास करें तथा समय-समय पर विकास से सम्बन्धित प्रतिवेदन प्राप्त करती रहें ।

कांग्रेस ग्राम पंचायत समिति के प्रतिवेदन पर सम्पूर्ण भारत में विचार किया गया । यह आज तक भी ग्राम पंचायतों से सम्बन्धित व्यवस्थापन को प्रभावित करता रहता है ।

स्थानीय स्वायत्त-सरकार मन्त्री सम्मेलन, शिमला (१९५४)

जून, १९५४ में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री राजकुमारी अमृत कौर ने सभी राज्यों के स्थानीय स्वायत्त सरकार मंत्रियों का एक सम्मेलन बुलाया । यह सम्मेलन शिमला में २५, २६ तथा २७ जून को हुआ । इसमें योजना आयोग के प्रतिनिधि, स्थानीय स्वायत्त सरकारों के प्रतिनिधि तथा अन्य आमंत्रित लोग उपस्थित थे । साथ ही स्व० श्री जी० वी० मावलंकर ने इसका उद्घाटन किया

तथा केन्द्रीय गृहमंत्री डॉ० के० एन० काटजू ने भाषण दिया। प्रारम्भिक भाषण के समय बोलते हुये राजकुमारी अमृत कौर ने प्रधानमंत्री के इस कथन का हवाला दिया कि हमारी राजनैतिक एवं न्यायिक व्यवस्था का आधार ग्राम पंचायतें होनी चाहिये। वक्त के अनुसार हमारी यह एक गलत आदत है कि हम शीर्ष से प्रजातंत्र को बनाना चाहते हैं नीचे से नहीं। यद्यपि संविधान ने पंचायतों की व्यवस्था का उल्लेख किया है किन्तु आज तक इस दृष्टि से संतोषजनक कार्य नहीं किया गया। उस समय तक लगभग एक लाख पंचायतें काम कर रही थीं अतः यह आवश्यक था कि विभिन्न राज्यों के अनुभवों को एक साथ मिलाया जाये ताकि वे प्रशासन एवं न्याय की प्रभावशील इकाइयां बन सकें और राष्ट्रीय नियोजन में महत्वपूर्ण योगदान कर सकें।

अपने उद्घाटन भाषण में मि० मावलन्कर ने प्रशासन के विकेन्द्रीकरण पर जोर डाला। उन्होंने बताया कि स्थानीय निकायों को न केवल कम शक्तियां एवं उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं वरन् जो कुछ भी सौंपे गये हैं उन पर अनेक प्रतिबन्ध एवं विरोधी प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। उन्होंने बताया कि उच्च निकायों को अधीनस्थ निकायों पर विश्वास करना चाहिये तथा यहाँ तक कि उनको गलती करने की स्वतंत्रता भी सौंपी जानी चाहिये। मावलन्कर का यह कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि "एक आत्म प्रशासित निकाय अपनी मान्यता के अनुसार पूरी तरह से स्थानीय या नगरपालिका निकाय नहीं है यद्यपि इसके कार्य अधिकतर नगरपालिका के या स्थानीय हो सकते हैं। इसे अपने स्वराज्य का इस आधार पर मुख्य तथा मूल इकाई बनाना चाहिये कि स्वराज्य केवल हम कुछों के द्वारा संचालित नहीं किया जायेगा वरन् उस प्रत्येक भारतीय द्वारा जिसको इसके कार्यों में योगदान करने का अवसर प्रदान किया गया है।" इस प्रकार एक स्थानीय निकाय स्वराज्य की इकाई भी है तथा हमारे प्रजातंत्र को वास्तविक एवं विस्तृत बनाने वाली प्रशिक्षण की भूमि भी है।[1]

अपने प्रारम्भिक भाषणों के बाद सम्मेलन दो उपसमितियों में विभाजित हो गया। एक समिति ग्राम पंचायतों की समस्याओं पर अध्ययन के लिये थी और दूसरी समिति नगरपालिका एवं स्थानीय बोर्डों की समस्याओं का अध्ययन करने के लिये। उत्तर प्रदेश के स्थानीय स्वायत्त सरकार मन्त्री श्री मोहनलाल गौतम को पंचायत समिति की अध्यक्षता करने के लिये चुना गया। इस समिति ने अपनी एक विस्तृत कार्य-सूची तैयार की। स्थानीय स्वायत्त सरकार मन्त्रियों के सम्मेलन ने इस समिति की जिन सिफारिशों को मान्यता प्रदान की उनमें से मुख्य-मुख्य निम्न प्रकार हैं:—

---

1. "A self-governing body is not, therefore, to be taken as a purely local and municipal body in its conception though its functions may mostly be municipal and local. *It has to* be conceived as primary and basic unit for the entire *structure* of our Swaraj on the basis that Swaraj has to be *run* not by a few of us only but by every Indian who has to be given an opportunity to share in its work."

—*G. V. Mavalankar*

१. पंचायतें स्वायत्त सरकार तथा नियोजन की मूल इकाइयां हैं:— समिति का मत था कि यदि हम यह चाहते हैं कि पंचायतें स्वायत्त सरकार की मूल इकाई के रूप में कार्य करें तथा नियोजन का मूल अभिकरण बन जायें और साथ ही उचित प्रशासन तथा ग्राम्य समाज के विकास के लिये उत्तरदायी बन जायें और ग्राम्य स्तर पर ग्राम्य जीवन के न्यायिक, कार्यपालिका एवं आर्थिक क्षेत्रों में यह सब किया जाये तो यह जरूरी है कि गांव की पूरी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व किया जाये तथा उनमें रचनात्मक योग्यता को लाया जाये। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह जरूरी है कि सारे गांव की जनसंख्या की बैठकें समय-समय पर बुलाई जायें। इनकी बैठकों में आगामी वर्ष के कार्य-क्रम को स्वीकार किया जाये तथा बजट को सहमति प्रदान की जाये। ग्राम सभा में या तो पंचायत क्षेत्र के सभी वयस्क हो सकते हैं अथवा प्रत्येक परिवार से केवल एक ही वयस्क लिया जा सकता है। पंचायतों का चुनाव दलीय भेदभाव के आधार पर नहीं होना चाहिये, मुख्य रूप से उन पंचायतों में जो कि अपने प्रारम्भिक स्तर पर हैं। यह बहुत अच्छा रहेगा कि पंचायत के चुनाव सर्वसम्मत्ति से हो जायें और मतदान की आवश्यकता न पड़े। चाहे ऐसा हाथ उठाकर किया जाये अथवा अन्य किसी भी सरल तरीके द्वारा। चुनाव न होने पर खर्चा एवं परेशानी दोनों से ही बहुत कुछ छुटकारा प्राप्त हो जायेगा। जब सर्वसम्मत्ति से चुनाव होने लगेंगे तो पंचायत का गठन अराजनैतिक बन जायेगा साथ ही यह स्थानीय दलों को विभाजित होने से रोक देगा। यह भी सुझाया गया कि सर्वसम्मत्ति से गठित की गई पंचायत को अधिक शक्तियां एवं राज्य की सहायता प्रदान की जाये।

२. पंचायतों का अधिकार क्षेत्र:— समिति का यह विचार था कि पंचायतों की स्थापना करते समय हमारा लक्ष्य यह रहता है कि ग्रामीण समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने में प्रत्येक वयस्क से प्रत्यक्ष रूप में उसका योगदान कराया जाये, उन आवश्यकताओं के सम्बन्ध में प्राथमिकतायें निश्चित की जायें, उन कार्य-क्रमों को बनाया तथा क्रियान्वित किया जाये जो कि ग्राम्य स्तर पर सस्ता एवं शीघ्र न्याय एवं प्रशासन प्राप्त करा सकें आदि-आदि। इन लक्ष्यों को ध्यान में रखने के बाद ऐसा प्रतीत होता है कि केवल गांव ही पंचायतों की स्थापना के लिये उपयुक्त इकाई हो सकता है जिसको आधार बनाकर नई सामाजिक व्यवस्था की रचना की जा सकती है। इन सब बातों को ध्यान में रखने के बाद उपयुक्त यह रहेगा कि १०००-१५०० की जनसंख्या वाले गांवों के लिये ही एक पंचायत स्थापित करदी जाये। जहां कहीं भी ऐसा करना सम्भव नहीं हो सके वहां पर उक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखकर आवश्यक परिवर्तन कर देने चाहिये।

३. पंचायतों द्वारा राजस्व का संकलन:— समिति यह विचार था कि राजस्व एकत्रित करने का कार्य पंचायतों द्वारा कराना तथा एकत्रित राजस्व का कुछ भाग उनको सौंप देना एक प्रगतिशील कदम है जो कि पंचायतों की आय को बढ़ा देगा। किन्तु उचित यह रहेगा कि इस प्रयोग को कुछ चुनी हुई पंचायतों में करके देखा जाये।

४. गांव के भूमि अभिलेखों (Land Records) को बनाये रखना:— समिति का यह विचार था कि पंचायतों को भी गांव की भूमि का अभिलेख रखने के कार्य में हाथ बंटाना चाहिये। ऐसा करने के लिये पटवारी को पट्टेदारी से सम्बन्धित सभी परिवर्तनों की सूचना पंचायत को देनी चाहिये।

५. बेकार भूमि का प्रबन्ध:— समिति का मत था कि सामान्य भूमि का प्रबन्ध पंचायतों के हाथ में होना चाहिये। पंचायतें ही इस प्रकार की भूमि का प्रबन्ध करने तथा रक्षा करने के लिये उत्तरदायी होंगी, वे ही उसको खेती अथवा अन्य कार्य के लिये पट्टेदारी पर देंगी। किरायेदारों को अधिक भार से बचाने के लिये इस प्रकार की भूमि को प्रत्यक्ष रूप से नहीं वरन् पंचायतों के माध्यम से दिया जाना चाहिये।

६. पंचायत एवं गांव का आर्थिक जीवन:— समिति का विचार था कि विभिन्न उद्देश्यों के लिये सहकारी समाज की रचना की जानी चाहिये ताकि वह लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरी कर सके। इसके अतिरिक्त पंचायतों को उन सहकारी समाजों के कार्य संचालन में भी सक्रिय सहयोग प्रदान करना चाहिये किन्तु हर स्थिति में दोनों संस्थाओं को अलग-अलग रखना चाहिये। पंचायतों को सम्पूर्ण गांव के प्रत्येक क्षेत्र में विकास के लिये प्रयास करना चाहिये जब कि सहकारी समाजों का सम्बन्ध केवल आर्थिक जीवन से ही रहता है। यह कहा गया कि पंचायतें चाहें तो सहकारी संस्था के कुछ कार्यों को स्वयं सम्भाल सकती हैं उदाहरण के लिये उन्नत बीजों की बिक्री आदि। समिति के कुछ सदस्यों का मत था कि ग्रामीण जीवन में दोहरा संगठन एक प्रकार से अनावश्यक है और इसलिये पंचायतों को ही बहुउद्देशीय सहकारी समाजों के कार्य सम्भाल लेने चाहिये। राज्य द्वारा दी जाने वाली सहायता के माध्यम के रूप में पंचायतों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाना चाहिये।

७. सार्वजनिक उद्देश्य के लिये आवश्यक सेवा:— समिति का कहना था कि स्थानीय सार्वजनिक कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिये ग्राम्य समाज द्वारा श्रमदान पर अधिक जोर दिया जाना चाहिये। पंचायतों को यह अधिकार होना चाहिये कि वे अपने क्षेत्र में बाध्यकारी सेवा लागू कर सकें तथा यह राज्य की स्वेच्छा पर छोड़ देना चाहिये कि इस प्रकार की शक्तियों के लिये उचित पंचायती व्यवस्थापन किया जाये।

८. पंचायत के कार्य— पंचायत को विभिन्न प्रकार के कार्य सौंपे जाने चाहिए। प्रशासकीय एवं न्यायिक दोनों ही प्रकार के कार्य इसे सम्पन्न करने चाहिए। प्रशासकीय दृष्टि से समिति ने २७ कार्यों की एक सूची प्रदान की जो कि ग्राम्य निकायों द्वारा सम्पन्न किये जाने चाहिए। इनमें से अधिकांश कार्य नगरपालिका एवं विकास से सम्बन्धित हैं। पंचायतों को कार्य सौंपते समय एक दीर्घगामी कार्यक्रम ध्यान में रखना चाहिए तथा कार्यों के निर्धारण का आधार 'जो सम्भव है' वह न होकर 'जो होना चाहिये' रखना होगा। पंचायतों द्वारा जिन अतिरिक्त कार्यों एवं उत्तर-दायित्वों को सम्भालने की सामर्थ्य प्रदर्शित की जाये उनके लिए उन्हें

प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए चाहे पंचायत व्यवस्थापन में इस प्रकार के कार्यों अथवा उत्तरदायित्वों के लिये विशेष व्यवस्था हो अथवा न हो।

समिति का कहना था कि न्यायिक कार्य पंचायत कार्यपालिका से भिन्न किसी अन्य निकाय द्वारा किये जाने चाहिए। इसके लिये चार या पांच गांवों को मिलाकर अेक न्याय पंचायत बनाने की सिफारिश की गई। समिति का यह निश्चयपूर्ण मत था कि जहां तक सम्भव हो सके इन पंचायती न्यायालयों को दीवानी, फौजदारी एवं राजस्व के मामलों में अधिक से अधिक शक्तियां हस्तांतरित की जायें। पंचायतों को दीवानी तथा फौजदारी दोनों ही मामलों में राजीनामा कराने की शक्ति होनी चाहिये, यदि दोनों ही पक्ष इस बात के लिये सहमत हों।

९. पंचायतों की वित्तीय व्यवस्था—समिति ने पंचायतों के लिये कर के विभिन्न स्रोतों का वर्णन किया किन्तु फिर भी उसका मत था कि ये पंचायतों की आय के पर्याप्त स्रोत नहीं हैं अतः राज्य को चाहिये कि वह पंचायतों को अधिक अनुदान प्रदान करे। राज्य सरकारों को भू-राजस्व का भी एक निश्चित भाग पंचायतों को सौंप देना चाहिये। पंचायतों को सरकार से अथवा व्यक्तियों से दान के रूप में पर्याप्त भूमि प्राप्त कर लेनी चाहिये। इस प्रकार की भूमि से प्राप्त आमदनी द्वारा वे अपनी वित्तीय व्यवस्था सुधार सकती हैं। रुपयों अेवं वस्तुओं के रूप में स्वेच्छापूर्ण दान लेकर भी पंचायतें अपनी वित्तीय व्यवस्था को सुधार सकती हैं। निषेधात्मक रूप से अपनी आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ रखने के लिये पंचायतों को अपने स्थापन पर कम से कम खर्च करना चाहिये।

१०. मध्यस्थ इकाइयां—समिति के अधिकांश सदस्यों की यह आम धारणा थी कि पंचायतों अेवं राज्य के बीच स्वायत्त सरकार की अेक मध्यस्थ इकाई भी होनी चाहिये। इस इकाई का यह कार्य होगा कि पंचायतों के कार्य को पर्यवेक्षित अेवं समन्वित करे तथा उनके विकास को प्रोत्साहन दे और दूसरे कुछ ऐसे मौलिक कार्य करे जिनको पंचायत स्तर पर सम्पन्न नहीं किया जा सकता।

मध्यस्थ इकाई को पंचायत के मूल कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। इकाई को राजस्व प्राप्त करने की शक्ति होनी चाहिये तथा पंचायत के सदस्यों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव करके इसको संगठित किया जाना चाहिये। यदि राज्य सरकार चाहे तो कुछ सदस्यों को प्रत्यक्ष रूप से चुनकर भी इसमें मिला सकती है। समिति के कुछ लोगों का यह भी विचार था कि इस इकाई के अधिकतर सदस्यों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से ही होना चाहिये। यह सिफारिश की गई थी कि राज्य सर-कार एवं स्थानीय निकायों को यह तय करना चाहिये कि स्थानीय स्वायत्त इकाइयों को कितने कार्य सौंपे जायें। समिति द्वारा दिये गये सुझावों में एक यह भी था कि केन्द्र को देहाती क्षेत्रों में सुरक्षित जल वितरण के लिये पंचायत की सहायता करनी चाहिये तथा

पंचायतों को यह शक्ति होनी चाहिये कि वे अपने क्षेत्रों में सार्वजनिक न्यासों का प्रबन्ध कर सकें।

पंचायतों के लिए विनोबा का पंच-सूत्री कार्यक्रमः—सितम्बर, १९५४ में आचार्य विनोबा भावे ने ग्राम पंचायतों के लिये एक पंच-सूत्री योजना तैयार की। उनके मतानुसार इस कार्यक्रम को अपनाने पर ही हमारे गांवों में रामराज्य स्थापित किया जा सकता है। विनोबा भावे के कार्यक्रम में निम्नलिखित बातें थीं—

१. प्रत्येक पंचायत को एक अध्ययन संघ का संगठन करना चाहिये ताकि गांव के लोग राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में होने वाले महत्वपूर्ण विकासों एवं नये विचारों से परिचित हो सकें। इस संघ में विशेष रूप से गांधीवादी एवं सर्वोदयवादी साहित्य पढ़ा जाना चाहिये। इस प्रकार के साहित्य की चुनी हुई कृतियां लोगों के सामने पढ़ी जानी चाहियें।

२. पंचायत को चाहिये कि वह उत्पादन में वृद्धि को अपने मुख्य उत्तरदायित्वों में से एक बना ले। जब तक उत्पादन की मात्रा में वृद्धि नहीं होती और गांवों में फैली हुई बेकारी दूर नहीं हो जाती उस समय तक गांव वासी विकास की किसी भी योजना में अपना सक्रिय योगदान प्रदान करने को प्रोत्साहित नहीं होंगे। यदि गांव वालों को यह पता है कि सड़कों का प्रयोग उन लोगों द्वारा किया जायेगा जो उनके शोषणकर्त्ता हैं तो वे उनको बनाने में अपना सहयोग क्यों प्रदान करने लगे ?

३. पंचायतों को यह देखना अपना कर्त्तव्य बना लेना चाहिये कि उनके क्षेत्र का कोई भी व्यक्ति भूखा न रहे अथवा बेरोजगार न रहे। जिस प्रकार से विदेशी चीजों के बहिष्कार ने स्वराज्य लाने में सहायता की उसी प्रकार से मिलों की बनी चीजों के बहिष्कार द्वारा ग्राम-राज्य आ सकता है।

४. गांवों में जमीन ही सभी प्रकार के उत्पादन का आधार होती है अतः गांव की भूमि सभी में विभाजित की जानी चाहिये। भूमि का स्वामित्व राज्य के हाथ में होना चाहिये और गांव में कोई भी बिना भूमि का नहीं होना चाहिये।

५. पंचायती राज्य की वास्तविक शक्ति जनता के समर्थन में निहित है। अतः पंचायतों को उसकी इच्छा माननी चाहिए तथा उसी के नियंत्रण में कार्य करना चाहिये। उनको इस बात से कम सारोकार रखना चाहिये कि सरकार उनको पहचानती है या नहीं। लोगों को अपनी शक्ति पर विश्वास करके आगे बढाना चाहिये।

स्थानीय सरकार का क्षेत्र

[THE AREA OF LOCAL GOVERNMENT]

भारत में स्थानीय सरकार के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिये विभिन्न सत्ताओं का संगठन किया जाता है जो कि अपने क्षेत्र के अन्तर्गत कार्य करते हुये जनता की अधिक से अधिक सेवा का प्रयास करती हैं। विभिन्न स्थानीय निकायों के क्षेत्र का निर्धारण करते समय मूलतः इस बात को ध्यान में रखा जाता है कि अेक विशेष निकाय का सम्बन्ध शहरी इलाके से है अथवा देहाती इलाके से है। देहाती तथा शहरी के भेद के आधार पर जब विभिन्न स्थानीय निकायों को श्रेणीबद्ध किया जाता है तो वे मुख्यतः छः प्रकार के हो जाते हैं। यदि हम स्वतन्त्रता के बाद की प्रारम्भिक स्थिति का अध्ययन करें तो पायेंगे कि उस समय तीन निकाय शहरी क्षेत्र में तथा तीन निकाय ग्रामीण क्षेत्र में हुआ करते थे। इसे स्पष्ट रूप से इस तरह कहा जा सकता है कि क्षेत्र के आधार पर शहरी इलाकों का प्रशासन तीन प्रकार के निकायों द्वारा किया जा सकता था। बड़े नगरों में नगर निगम (Municipal Corporations) होते थे। मध्यम आकार के तथा छोटे आकार के कस्बों में नगरपालिकायें होती थीं। तीसरे, कुछ इंगित क्षेत्र समितियां (Notified Area Committees) होती थीं जो कि ऐसे क्षेत्र का प्रशासन करती थीं जिसमें अेक कस्बे की समस्त विशेषतायें नहीं होती थीं किन्तु वह गाँव की मुख्य विशेषताओं से ऊपर उठ चुका होता था। देहाती क्षेत्रों में भी इसी तरह तीन प्रकार की प्रशासनिक व्यवस्था थी। वहां सबसे नीचे गांव पंचायत थी तथा सर्वोच्च स्तर पर जिला बोर्ड। इन दोनों के बीच स्थानीय बोर्ड होते थे। शहरी क्षेत्र की प्रत्येक सत्ता अपने आप में सवतंत्र थी। एक जैसी सत्ताओं के बीच अथवा विभिन्न प्रकार की सत्ताओं के बीच किसी प्रकार का सम्बन्ध ही नहीं था। देहाती क्षेत्रों में स्थिति यह नहीं थी। वहां स्थानीय बोर्ड को जिला बोर्ड का अभिकरण माना जाता था। ग्राम पंचायतों का बहुत कुछ स्वतन्त्र अस्तित्व था किन्तु एक बात की स्वीकृति उन्हें भी जिला बोर्ड से लेनी पड़ती थी। स्थानीय विकास की उस प्रत्येक योजना के बारे में जिला बोर्ड की पूर्व स्वीकृति आवश्यक थी जिसमें पांच हजार अथवा उससे अधिक रुपये से खर्च करना जरूरी था।

स्थानीय प्रशासन की दृष्टि से किस क्षेत्र को शहरी कहा जायेगा तथा किसको देहाती कहा जायेगा, यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर विभिन्न दृष्टियों से विचार करने के बाद ही कोई उपयुक्त निष्कर्ष निकाला जा सकता था। विभिन्न राज्यों में प्रायः उस कस्बे के लिए नगरपालिका संगठित कर करदी जाती

थी जो कि मुख्य रूप से इन शर्तों को पूरा करे। प्रथम, इसकी जनसंख्या कम से कम पांच हजार होनी चाहिए। दूसरे कम से कम तीन चौथाई वयस्क पुरुष-जनसंख्या कृषि के अलावा अन्य जीविका के साधन अपनाये। तीसरे, प्रत्येक वर्गमील में कम से कम एक हजार व्यक्ति रहते हों। इन सब बातों को ध्यान में रखकर कस्बे का गठन कर दिया जाता था। सरकार अपने अधिकार क्षेत्र को स्वयं ही परिभाषित कर लेती थी।

सामान्य रूप से शहरी इलाकों में जो बड़े-बड़े नगर होते हैं वहां नगर निगम (Municipal Corporation) की स्थापना कर दी जाती है। इसे एक नीति सम्बन्धी प्रश्न माना जाता है कि किस शहर में नगर निगम बनाया जाये। जनसंख्या का आकार, क्षेत्र एवं साधन-स्रोतों की उपलब्धता आदि मिलकर इस नीति सम्बन्धी निर्णय को लेने में सहयोग प्रदान करते हैं। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली आदि राजधानी नगरों में नगर निगम व्यवस्था को लागू किया गया। भारत के कुछ राज्यों में शहरी इलाकों को दो क्षेत्रों में विभाजित किया गया है। पर्याप्त आकार वाले क्षेत्रों को नगरपालिका क्षेत्र (Municipal area) तथा छोटे कस्बों को इंगित या कस्बा क्षेत्र (Notified or town area) कहा गया है। नगरपालिका क्षेत्रों की प्रशासकीय सत्ता को नगरपालिका बोर्ड या समिति कहा जाता है जबकि इंगित या कस्बा क्षेत्रों में इंगित या कस्बा क्षेत्र समितियां कार्य करती हैं।

नगरपालिकाओं को स्थानीय क्षेत्र में पूरी शक्ति प्राप्त होती है। ये मुख्य रूप से निर्वाचित निकाय होती हैं। नगरपालिकाओं के स्वरूप एवं महत्व के बारे में किसी प्रकार का मतभेद नहीं है। प्रायः सभी विचारक इस बात को स्वीकार करते हैं कि पर्याप्त आकार वाले नगर या कस्बे में पूर्ण शक्तिसम्पन्न स्वतन्त्र नगरपालिका क्षेत्र होना चाहिए। पर्याप्त जनसंख्या किसे माना जाये तथा किन साधन-स्रोतों को नगरपालिका क्षेत्र की रचना के लिए उपयुक्त समझा जाये, आदि नीति सम्बन्धी प्रश्नों का निर्धारण राज्य सरकार द्वारा किया जायेगा। इस प्रावधान के फलस्वरूप नगरपालिका के क्षेत्र निर्धारण में एक प्रकार की लोचशीलता आ जाती है जो कि अत्यन्त उपयोगी रहती है। यह कहा जाता है कि नगरपालिका के स्तर का निर्धारण करने में कठोर नियमों से काम नहीं लेना चाहिए तथा जनसंख्या या अन्य किसी आधार पर मापदण्ड निश्चित नहीं कर देना चाहिए। ऐसा करने पर बहुत कम अन्तर वाले क्षेत्रों में कठोरता का व्यवहार आवश्यक बन जाता है।

इंगित क्षेत्रों (Notified areas) को केवल कुछ ही नगरपालिका कार्य सौंपे जाते हैं। इनकी रचना में निर्वाचित सदस्यों की अपेक्षा मनोनीत सदस्य अधिक होते हैं। कस्बा क्षेत्र (Notified areas) मुख्य रूप से स्वच्छता एवं सफाई रखने का कार्य करते हैं तथा इनकी अन्य सेवायें जिला बोर्डों द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। बाद में यह सुझाया गया कि इंगित क्षेत्रों (Notified areas) को समाप्त कर दिया जाना चाहिए। इनके आधार संगठित किये गये निकायों की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इन निकायों के कार्यों को कस्बा क्षेत्रों एवं नगरपालिकाओं में ही मिला देना चाहिए तथा एक स्वतन्त्र श्रेणी के

रूप में इनका अस्तित्व समाप्त कर दिया जाना चाहिए। इंगित क्षेत्र समितियों (Notified area Committees) को समाप्त करने के लिए अन्य विचारकों ने एक दूसरा ही तरीका बताया है। उनके कथनानुसार पांच हजार तक की जनसंख्या वाले छोटे कस्बे तथा वे क्षेत्र जहां पर कि आज इंगित क्षेत्र समितियां हैं, अपने प्रशासन के लिए ग्राम पंचायतों का संगठन करें। इस प्रकार के क्षेत्रों की समस्याओं का समाधान करने के लिए ग्राम पंचायतों को आवश्यक संगठन एवं शक्ति प्रदान किये जाने चाहिए। अतः यह कतई आवश्यक नहीं है कि इन क्षेत्रों के लिए अलग प्रकार की सरकार बनाई जाये।

शहरी इलाकों के किन क्षेत्रों को राजधानी नगर (Metropolitan City) माना जाये और किन को नहीं, यह भी एक विचारणीय प्रश्न रहा है। एक राजधानी क्षेत्र केवल बड़े आकार के नगर का ही द्योतक नहीं है वरन् इससे कुछ अधिक है। राजधानी क्षेत्र की अपनी कुछ विशेषतायें होती हैं जैसे—अत्याधिक भीड़भाड़, अस्थिर निवासी, व्यापक दृष्टिकोण आदि। यहाँ के निवासी धर्म, जाति, विश्वास, रंग, रुचि, व्यवसाय आदि के आधार पर अनेक विभिन्नताओं से पूर्ण होते हैं। यही कारण है कि इस प्रकार के क्षेत्रों की प्रशासनिक समस्यायें अत्यन्त जटिल होती हैं। उलझी हुई समस्यायें होने के कारण सरकार के सचालन का प्रति व्यक्ति व्यय भी अधिक होता है। इस क्षेत्र में प्रशासकीय निकायों के बीच समन्वय की समस्या भी अत्यन्त गम्भीर होती है। राजधानी क्षेत्रों की ओर आस-पास की जनता का आकर्षण रहता है और इसी आकर्षण के फलस्वरूप निरन्तर उनका क्षेत्र व्यापक होता जाता है। राज्य सरकारें भी इन क्षेत्रों के प्रति विशेष रुचि रखती हैं क्योंकि ये देश की सभ्यता एव संस्कृति की प्रगति के प्रतिनिधि बन जाते हैं साथ ही प्रमुख औद्योगिक केन्द्र भी होते हैं। राजधानी क्षेत्र की विशेष आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से अनेक योजनायें सुझाई गई हैं तथा उन पर अमल करने का भी प्रयास किया गया है। इसके लिए एक सरलतम सुझाव यह है कि नगर की सरकार का अधिकार क्षेत्र बढ़ा दिया जाये और आस-पास के व्यापक क्षेत्र को भी उसमें समाहित कर दिया जाये। इस सुझाव का उन लोगों द्वारा विरोध किया जाता है जो कि नगर सरकार के अधिकार क्षेत्र में लाये जाते हैं क्योंकि उनका विकास का स्तर मूल क्षेत्र के निवासियों की तुलना में बहुत पीछे रहता है। उनकी अपनी कुछ विशेष आवश्यकतायें होती हैं जिनका निर्वाह संतोषजनक रूप से नगर सरकार के आधीन नहीं हो पाता। इस व्यवस्था का एक अन्य दोष यह है कि स्थानीय सरकार का क्षेत्र अधिक बड़ा हो जाता है; इतना बड़ा कि नागरिकों की समस्याओं में सरकार व्यक्तिगत रुचि नहीं ले पाती और स्थानीय सरकार का मूल लक्ष्य ही पिछड़ जाता है। इसका अप्रत्यक्ष परिणाम यह होता है कि अधिक से अधिक जनता नागरिकों के प्रशिक्षण में भाग नहीं ले पाती।

राजधानी क्षेत्रों की प्रशासकीय समस्याओं को सुलझाने के लिए एक उपाय यह बताया जाता है कि द्वि-स्तरीय व्यवस्था (Two Tier System) कायम कर दी जाये और इस प्रकार राजनैतिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं का उचित रूप में निर्वाह कर दिया जाये। इन क्षेत्रों में ऐसी भी कई एक

समस्यायें होती हैं जिनको सुलझाने के लिए प्रशासन की छोटी इकाई को प्राथमिकता दी जाती है। एक छोटी स्थानीय इकाई राजनैतिक आवश्यकताओं का निर्वाह करने में श्रेष्ठ समझी जाती है। कलकत्ता निगम जांच-आयोग के सम्मुख भी यह मांग रखी गई थी कि वह द्वि-स्तरीय व्यवस्था करने का प्रयास करे। आयोग ने इस मांग को स्वीकार नहीं किया किन्तु वार्ड समितियों के प्रावधान की सिफारिश की। इस व्यवस्था की तुलना संघीय व्यवस्था से की जा सकती है। संघीय व्यवस्था में देश के प्रशासन में एकरूपता के साथ-साथ स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी विशेष प्रावधान होता है और वह स्थानीय भावनाओं को संतुष्ट करने में सफल सिद्ध होती है। प्रस्तावित वार्ड समितियों को राजधानी के साथ एकीकृत होने के लिए तभी तैयार किया जा सकता है जबकि उनको व्यक्तिगत महत्व प्रदान किया जाये। इस योजना के अन्तर्गत अनेक मामलों को इन बाह्य क्षेत्रों की अपनी स्थानीय सत्ताओं को सौंप दिया जाता है अतः यह डर नहीं रह जाता कि उनकी इच्छाओं की अवहेलना की जायेगी। इस योजना का एक महत्व यह भी है कि इसको अपनाने के बाद केन्द्रीय नगर-सरकार का अतिरिक्त कार्य-भार कम हो जाता है।

इस द्वि-स्तरीय व्यवस्था के जहाँ अपने लाभ हैं वहाँ यह अनेक समस्यायें उत्पन्न करने का कारण भी बनती है। इसके द्वारा उत्तरदायित्वों के बीच भ्रम पैदा कर दिया जाता है और इस प्रकार नगर सरकार एवं स्थानीय सत्ता के बीच गतिरोध पैदा हो सकता है। इस गतिरोध को दूर करने के लिए यह जरूरी है कि उनके उत्तरदायित्वों को परिभाषित कर दिया जाये। दोनों के बीच समन्वय की समस्या भी गम्भीर बन सकती है जिसे सुलझाने के लिए एक उपयुक्त समन्वयकर्त्ता यंत्र का गठन करना होगा। लंदन जैसे बड़े राजधानी नगरों का स्थानीय शासन द्वि-स्तरीय व्यवस्था के आधीन है। भारत में भी बड़े-बड़े नगरों में इसी को अपनाया जाना चाहिए। भारत में चार बड़े नगर हैं जहां कि नगर-निगम व्यवस्था द्वारा स्थानीय सरकार का प्रशासन संचालित किया जाता है। इन चारों को ही राजधानी क्षेत्र कहा जा सकता हैं। ये हैं—देहली, कलकत्ता, मद्रास और बम्बई। इन चारों का प्रशासकीय ढांचा उनके अपने अधिनियमों पर आधारित है। देहली नगर निगम अधिनियम १९५७ में बना था। कलकत्ता नगरपालिका अधिनियम १९५२ में, मद्रास नगरपालिका अधिनियम १९१९ में (यह १९५१ में परिवर्तित किया गया) तथा बम्बई नगरपालिका अधिनियम १८८८ में (यह १९५५ में परिवर्तित किया गया), पास किये गये। इन अधिनियमों में मद्रास तथा बम्बई के अपेक्षाकृत अधिक पुराने हैं और इनमें समय-समय पर संशोधन किये जाते रहे हैं। देहली नगर निगम का अधिनियम भारतीय संसद द्वारा प्रशासित होता है जबकि अन्य तीनों ही अधिनियम अपनी-अपनी व्यवस्थापिका सभा द्वारा प्रशासित होते हैं।

'नगर' का महत्वपूर्ण स्थान—शहरी स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र का अध्ययन करते समय यदि हम नगर या शहर के आधुनिक जीवन में महत्वपूर्ण स्थान के सम्बन्ध में भी कुछ विचार कर लें तो अप्रासंगिक न होगा। नगर के

सहारे ही सभ्यता पनपती है। आधुनिक विश्व में ऐसी कोई सभ्यता नहीं है जिसका आधार नगर न हो। कला एवं विज्ञान की प्रगति, सभ्य जीवन के मूल तत्वों का विकास और यहाँ तक कि विश्व भर में सभ्यता का प्रसार आदि बातें नगरों द्वारा प्रदत्त सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर ही सम्भव बन पाती हैं। स्पेंग्लर (Spengler) महाशय के इस कथन में कुछ सत्यता अवश्य है कि विश्व का इतिहास नागरिक पुरुष का इतिहास है। जनता, राज्य, राजनीति, सभी विज्ञान एवं सभी कलायें मानव जीवन के एक मुख्य वातावरण पर आधारित हैं, वह है 'कस्बा'।[1] नगरों में रहने वाले समाज के बीच श्रम विभाजन हुआ रहता है, बुद्धि का विशेषीकरण होता है, पर्याप्त धन एवं अवकाश रहता है। इस सब के साथ ही व्यक्ति एवं मस्तिष्क का मिलन रहता है जिसके फलस्वरूप बौद्धिक विकास होता है। मि० रोवे (L. S. Rowe) के कथनानुसार नगर का जीवन नयी आर्थिक क्रियायें उत्पन्न करता है, नवीन राजनैतिक विचारों एवं आदर्शों को, सामाजिक सम्बन्धों के नये रूप को तथा विचारों के आदान-प्रदान की नई सम्भावनाओं को जन्म देता है।[2]

नगर द्वारा व्यक्ति को बौद्धिक क्रियाओं के लिए पूर्व शर्तें प्रदान की जाती हैं। प्रजातंत्र एवं स्वतंत्रता जो कि आज विश्व के राजनैतिक जीवन के दो आधार-स्तम्भ बने हुए हैं, प्राचीन यूनानी नगर राज्यों में ही पनपे थे। मध्य युग में नगरपालिकाओं ने स्थानीय स्वायत्त-सरकार के लिए लड़ाई लड़ी और उसमें सफलता प्राप्त की। मनुष्य के जीवन का प्रवाह कृषि कार्य से औद्योगीकरण की ओर ज्योंही आया उसके परिणामस्वरूप शहरी विकास आवश्यक बन गया। अधिकांश उन्नत देशों में शहर मानवीय जीवन के केन्द्र बन चुके हैं। वहाँ की दो तिहाई से भी अधिक जनता शहरों में रहती है। गांवों का शहरीकरण तथा शहरों का आगे का विकास इस प्रकार होता जा रहा है कि धीरे-धीरे पुराने युग का वह देहाती इलाका समाप्तप्राय: होता जा रहा है जहाँ सभ्यता एवं विज्ञान की उपलब्धियां अत्यन्त पिछड़ी हुई रहती थीं। आज शहर औद्योगीकरण के केन्द्र बन चुके हैं। उत्पादन के अधिकांश साधन एवं श्रम मूलत: नगरों में ही इकट्ठे होते चले जा रहे हैं। सरकार की दृष्टि से भी नगर एक ऐसी इकाई होती है जो कि प्राय: नागरिक जीवन को छूती रहती है। एक संयुक्त रूप में यह उन कार्यों को करने में समर्थ होती

---

1. "World history is the history of civic man. Peoples, states, politics, all arts and all sciences rest upon one prime phenomenon of human being, the town."

   —*O. Spengler*, The decline of the west, trans. C. F. Atkinson, 1928, II PP. 90-91

2. "City li.e creates new economic activities, new political ideas and ideals, new forms of Social intercourse, new possibilities of interchange of ideas."

   —*L. S. Rowe*, Problems of City Govt. New York, D. Appleton and Company, 1915, P. 13.

है जिनको कि हम व्यक्तिगत रूप से नहीं कर पाते। इस प्रकार स्वास्थ्य, शिक्षा, सुरक्षा, गृह, तथा अन्य बहुत से कार्य इसके हाथों में आ जाते हैं। शहरी परिस्थितियों में रहने वाले जीवन का अस्तित्व बिना शहरी सरकार के असम्भव बन जाता है। कुल मिलाकर नगर को मानवीय जीवन की कुंजी माना जा सकता है।

'नगर' का अर्थ—नगर द्वारा हमारे प्रतिदिन के जीवन में महत्वपूर्ण योगदान किया जाता है अत: यह जानना उपयोगी एवं आवश्यक हो जाता है कि नगर का अर्थ क्या है? नगर को कई रूपों में परिभाषित किया जा सकता है जैसे कि जनसंख्या का संयोग, एक समुदाय, एक राजनैतिक इकाई आदि। नगर का एक समाजशास्त्रीय स्वरूप भी होता है जो कि अत्यन्त व्यापक है। यहाँ हमारा सम्बन्ध मुख्यत: प्रशासकीय साधन से है अत: उसका वर्णन करना उपयोगी नहीं रहेगा। एक परिभाषा के अनुसार शहरी इलाका वह होता है जहाँ की जनसंख्या २५०० या इससे अधिक होती है।

संयुक्त राज्य अमरीका में शहरी क्षेत्रों (Urbanised areas) को सर्वप्रथम १९५० में परिभाषित किया गया था ताकि शहरी एवं देहाती इलाकों को अलग-अलग किया जा सके। सन् १९४० में प्रत्येक शहरी क्षेत्र में कम से कम एक नगर होता था जिसकी जनसंख्या ५०००० या इससे भी अधिक होती थी। सामान्य रूप से शहरी क्षेत्र प्रवासी राजधानी क्षेत्रों की बिखरे रूप में बसी जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। बाकी की जनसंख्या को देहाती कहा जाता है। खेतों पर रहने वाले लोग, चाहे उनका व्यवसाय कुछ भी क्यों न हो, खेतीहर जनता का ही एक भाग माने जाते हैं। मोटरकार का जन्म एवं प्रसार होने के बाद से यह माना जाता है कि नगर को एक इकाई के रूप में उस समय तक पूरा नहीं कह सकते जब तक कि उससे घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित लोगों को भी शहरी इकाई का अभिन्न भाग न मान लिया जाये। अर्ध-शहरी एवं शहरीकरण की प्रक्रिया में संलग्न देहाती क्षेत्र भी मूल शहर से अपना भिन्न स्थान घोषित करते हैं किन्तु फिर भी आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से वे अब भी एक शहरी समाज के भाग हैं।

जनसंख्या के घनेपन के आधार पर शहरी इलाकों का वर्गीकरण करने से शहरी एवं देहाती क्षेत्रों का अन्तर स्पष्ट हो जाता है। जहां जनसंख्या का केन्द्रीकरण होता है वहां अधिक सरकारी नियंत्रण रखा जाता है। यह भी शहरी एवं देहाती क्षेत्रों के अन्तर का एक आधार है। संख्या पर आधारित वर्गीकरण से आगे बढ़ने पर हम नगर को एक सामाजिक तथ्य के रूप में भी देख सकते हैं। 'नगर' जनता का एक समूह है जो कि अनेक प्रकार के सम्बन्धों से युक्त होकर रहता है। यदि जनता सामाजिक प्राणी है तो वह निश्चय ही एक सामान्य लक्ष्य वाले समाज में बन्ध कर रहेगी जहां कि एक जैसे रीति-रिवाज होंगे तथा एक जैसे ही आदर्श भी। एक समाजशास्त्री के अनुसार नगर एक कार्यकारी इकाई (Functional unit) है जो कि लोगों के जीवन के साथ घनिष्ठ रूप में एकाकार होती है।

नगर एक मनः स्थिति है। यह प्रकृति की और विशेष रूप से मानवीय प्रकृति की उपज है।[1]

यद्यपि नगर का संगठन व्यक्तियों द्वारा होता है तथा यह एक समाज के रूप में रहता है किन्तु यह इससे भी अधिक है। बेकर (Benjamin Baker) के शब्दों में यह एक सरकार का अस्तित्व है तथा समाज की राजनैतिक संगठित अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है; एक संयुक्त जीवन है जो कि संगठित रूप में उन कार्यों को सम्पन्न करता है जिनको व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता। नगर जनता के लिए कार्य करता है।·········संक्षेप में एक नगर के पास सरकारी शक्ति होती है ताकि वह एक क्षेत्र में लोगों के केन्द्रीकरण के परिणामस्वरूप उत्पन्न सामाजिक आवश्यकताओं को निपटा सके।[2] इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि नगर एक शहरी स्थान होता है जिसकी भूमिगत सीमायें होती हैं। इनके कुछ कानूनी साधन भी होते हैं जो कि वहां की जनता के व्यवहार एवं आचरण को निर्देशित करते हैं। 'नगर सरकार' शहरी सरकार होती है। यह एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से समाज संगठित राजनैतिक रूप में पारस्परिक हितों के आधार पर अपनी समस्याओं को सुलझाने का प्रयास करता है।

वर्तमान युग में अनेक कारणों से उत्पन्न यह प्रवृत्ति देखने को मिलती है कि शहरों का लगातार विस्तार होता जा रहा है। जो शहर नहीं थे वे बनते जा रहे हैं और जो पहले से ही शहर थे उनका आकार बढ़ रहा है।

नगरों के विकास का परिणामः—नगरों की प्रगति मानव सभ्यता की प्रगति है। जीवन का एक केन्द्रीय स्थल होने के कारण जब नगरों का विकास होता है तो मानव जीवन के विभिन्न पहलू भी प्रगति की दिशा में अग्रसर होने लगते हैं। मि० रोवे (Rowe) का कथन बहुत कुछ सही ही है। उनके मतानुसार नगर आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक एवं वैचारिक दृष्टि से अत्यन्त प्रभावशाली होते हैं। नगरों में श्रमशक्ति का केन्द्रीयकरण हो जाने के कारण यह सम्भव हो जाता है कि श्रम विभाजन कर दिया जाये तथा श्रम की उत्पादनशीलता को बढ़ा दिया जाये। जिस प्रकार प्राचीन यूनान में दासों के कारण जनता को अवकाश प्राप्त होता था, आज मशीनों के

---

1. "The city is a "State of mind..a product of nature and particularly human nature"

   —*R. E Park, E. W Burgess. and R. D Mckenze*: The City, Chicago, University of Chicago Press, 1925, PP. 1,4.

2. "It is a governmental entity, representing the politically organised express on of the community; a corporate being which in its collective capacity performs those functions which the individual cannot carry out for himself. The city acts for the public....The city, in brief, holds governmental powers to deal with the needs of society resulting from the concentration of people within a given area,"

   —*Benjamin Baker*, Urban Government, 1957, P. 7

परिणामस्वरूप यह आम जनता को प्राप्त हो जाता है। इस विकास से जहां एक ओर नगरपालिका संस्थाओं के विकास का पता चलता है वहां इससे बौद्धिक विकास के लिये भी आवश्यक शर्तें प्रदान की जाती हैं। नगरों में दूसरे लोगों से सम्पर्क स्थापित करने की सुविधा होती है, प्रयासों में प्रतियोगिता रहती है तथा सम्मान एवं प्रभाव के स्तर पर पहुंचे हुये लोगों की नकल की जाती है। ये सभी स्थितियां बौद्धिक विकास की प्रेरक हैं। एक नगर निवासी इनका लाभ उठाता है अथवा नहीं यह दूसरी बात है किन्तु तथ्य यह है कि विश्व की महान् सभ्यतायें मूल रूप से शहरी ही रही हैं।

दूसरे, शहरों के विकास के साथ-साथ नागरिक जीवन में जो परिवर्तन आते हैं उनके फलस्वरूप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मान्यता बदलती रहती है। शहरी जीवन के पारस्परिक सम्बन्धों की भूल-भुलैया में व्यक्ति एवं समाज के आपसी सम्बन्ध अनेक रूपी होते हैं। किसी को अपनी सम्पत्ति जाने का खतरा रहता है तो किसी का स्वास्थ्य ही संकट में पड़ जाता है। ऐसी स्थितियों में नगर को कानूनन इस बात में रुचि रहती है कि वह व्यक्ति के स्वेच्छापूर्ण निर्णयों में उस जगह पर हस्तक्षेप करे जहां वे समाज विरोधी बनने जा रहे हों। संक्षेप में नगर स्वार्थपूर्ण होता है अथवा उसे होना चाहिये। नगर में अस्तित्व का मूल्य यह चुकाना पड़ता है कि व्यक्ति को अपने स्वार्थपूर्ण हितों को समाज के हितों से गौण बना देना चाहिये।

नगरों की ओर लोगों के झुकाव के परिणामस्वरूप व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मान्यता बदल जाती है। यह सच है कि सरकार व्यक्ति के अधिकारों की संरक्षक होती है किन्तु फिर भी कई बार नगर को व्यक्ति के उन मामलों में भी हस्तक्षेप करना पड़ता है जो कि राष्ट्रीय स्तर पर व्यक्ति के लिये ही छोड़ दिये जाते हैं। नगर में किसी भी व्यापार पर रोक लगाई जा सकती है अथवा केवल कुछ लोगों को नियन्त्रित रूप में करने की अनुमति दी जा सकती है। नगर सरकार द्वारा खाने के वितरण तथा भवनों के निर्माण की सुविधायें दी जाती हैं और इस दृष्टि से वह समाज के हित में व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अनेक प्रतिबन्ध भी लगा सकती है।

तीसरे, नगरों के विकास से वहां की सरकार के कार्य बढ़ जाते हैं। जब हम नगरों द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्यों को देखते हैं तो यह बात स्वतः ही प्रमाणित हो जाती है। नगर सरकार का बढ़ता हुआ खर्चा इस बात का प्रतीक होता है कि कानून द्वारा एक महत्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है।'

चौथे, सरकार की बनावट के सम्बन्ध में दृष्टिकोण बदल रहा है। नगर-विकास ने एक विरोधाभास को जन्म दिया है वह यह है कि शहरी परिस्थितियों में देहाती परम्पराओं को किस प्रकार बनाये रखा जाये। गांवों की जनता जब शहर में जाकर बसने लगती है तो वह अपने साथ शहर की आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के लिये देहाती दृष्टिकोण लेकर चलती है। यद्यपि इन देहाती लोगों के मत कभी भी निर्णायक नहीं रहते

किन्तु इनके दृष्टिकोण द्वारा नगर के मूल निवासियों में कुछ बड़प्पन के भाव जागृत हो जाते हैं। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरों का विकास हुआ है। इसने नगर सरकार की बनावट को बदलने के लिये भी आधार प्रदान किया है। कृषि-प्रधान अमरीका में कार्यपालिका की शक्ति का खतरा वहां की सरकार की मुख्य विशेषता मानी जाती थी। उस समय मेयर-समिति एवं बोर्डों के बीच शक्ति का वितरण रहता था। किन्तु गृहयुद्ध के बाद ज्योंही औद्योगिक विकास हुआ, जनता नगरों की ओर आकर्षित होने लगी, नगर के जीवन की बुराइयां सामने आने लगीं तो इन सबके परिणाम-स्वरूप अधिक मौलिक सिद्धान्तों की खोज की जाने लगी। धीरे-धीरे तकनीकी एवं निर्बाध प्रशासन की आवश्यकता बढ़ने लगी। शक्ति के केन्द्रीकरण का कम समर्थन किया गया तथा लोगों के प्रति उत्तरदायित्व पर जोर दिया जाने लगा। व्यापार के क्षेत्र में प्रशासन–विज्ञान का सफलतापूर्वक प्रयोग किया जाने लगा और इसके परिणामस्वरूप नगर निगमों में भी इसके प्रयोग का प्रभाव डाला गया।

इन सब विकासों के परिणामस्वरूप नगरपालिका सरकार में शक्ति का स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। सरकार की शक्ति धीरे-धीरे एक शक्तिशाली कार्यपालिका द्वारा ले ली गई चाहे वह मेयर हो अथवा नगर प्रबन्धक। बोर्डों तथा स्वतन्त्र निगमों का समर्थन समाप्त हो गया। सामान्यरूप से पहले सरकार की शक्ति के प्रति जो अविश्वास किया जा रहा था उसमें परिवर्तन आगया। अविश्वास के सिद्धान्त के स्थान पर समन्वय एवं सहयोग के सिद्धान्त पनपने लगे।

नगर विकास के कारण:—वर्तमान समय में कृषि-प्रधान देशों को पिछड़ा अथवा विकासशील देश कहा जाता है। एक देश की प्रगति में इस तथ्य को बाधक समझा जाता है कि वहां पर बहुत सारे गांव हों तथा अपेक्षाकृत देहाती इलाका अधिक हो। इसके विपरीत जो देश औद्योगिक क्षेत्र में उन्नत होते हैं तथा जहां की अधिकांश जनता शहरी होती है वे सभ्यता में अग्रगण्य समझे जाते हैं। शहरों का विकास एक प्रक्रिया है जो की नहीं जा सकती किन्तु क्रमिक रूप से होती है। उसको उपयुक्त परिस्थितियां प्रदान की जा सकती हैं। शहरों के विकास का एक कारण तो यह है कि जनता ने जीविका के लिये भूमि पर निर्भर रहने की आदतें छोड़ दीं। व्यापार एवं उद्योगों ने नगरों के विकास एवं उन्नति में महत्वपूर्ण योगदान किया है। भूमि को तलाक देने के बाद व्यक्ति कल कारखानों की ओर बढ़ा और इसलिये गांवों का स्थान शहर लेने लगे। प्रारम्भ में आवश्यकतायें सीमित थीं और जिस चीज की भी जरूरत होती थी व्यक्ति उसका उत्पादन खेत पर अथवा खाली समय में कर लिया करता था किन्तु आज आवश्यकतायें बहुत बढ़ चुकी हैं और कोई भी एक व्यक्ति या परिवार इनको पूरी नहीं कर सकता; साथ ही सभ्य बने रहने के लिये वह इनकी अवहेलना भी नहीं कर सकता। उत्पादन के क्षेत्र में विशेषीकरण होने लगा और जो आवश्यकतायें खेतों से पूरी नहीं की जा सकती थीं उनको अलग किया गया। गांवों में ही जुलाहे तथा बुनकरों को अलग-अलग कर दिया गया। वे स्वतन्त्र

व्यवसाय बन गये। नगर का विकास कृषि उत्पादन की अवहेलना करके हुआ हो यह बात नहीं थी। इसके विपरीत वास्तविकता तो यह है कि नगरों का विकास केवल तभी हो सकता है जब कि कृषि के उत्पादन में वृद्धि की जाये क्योंकि नगर में ऐसे लोग रहते हैं जो कृषि उत्पादन नहीं करते किन्तु उसका उपयोग पूरी तरह से करते हैं। भारत में औद्योगीकरण के साथ-साथ ज्योंही शहरी इलाकों की बढ़ोतरी हुई त्योंही यहां की कृषि व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई और आज खाद्य समस्या देश की सभी समस्याओं में प्रधान तथा कई अन्य समस्याओं की जननी है। असल में शहर का अस्तित्व ही यह मानकर चलता है कि गांव की जनता अतिरिक्त खाद्यान्न से उसका भरण-पोषण करेगी। भूमि को उपजाऊ बनाया जाता है, उत्पादन की मात्रा को बढ़ाया जाता है, यातायात के उन्नत साधनों का प्रयोग किया जाता है। जब नगर प्रगति करने लगता है तो ये सारी परिस्थितियां मौजूद होती हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि शहर के लोग उस समय नहीं रह सकते जब कि उनके अधिकांश समय को खाद्यान्न के उत्पादन में लगाने को कहा जाये। नगर की उन्नति तभी होती है जब कि गांवों द्वारा उनको पर्याप्त कृषि उत्पादन एवं अतिरिक्त श्रम प्रदान किया जाता है। ममफोर्ड (Mumford) के कथनानुसार कस्बों का विकास देहाती इलाकों के कृषि विकास पर निर्भर करता है।[1] अतिरिक्त कृषि उत्पादन के कारण ही रोम तथा यूनान में नगरों का विकास हो सका।

यद्यपि यह सच है कि नगरों के विकास के लिये अतिरिक्त कृषि उत्पादन बहुत जरूरी होता है किन्तु यह सही नहीं है कि केवल वे ही देश शहरी केन्द्रीकरण के विकास में आगे बढ़ सकते हैं जिनके पास अतिरिक्त कृषि उत्पादन ही हो। आजकल के युग में उत्कृष्ट यातायात के साधन भी उतने ही जरूरी हैं। यदि एक देश के पास पर्याप्त कृषि उत्पादन के साधन नहीं हैं तो वह विदेशों से आयात करके इस कमी को पूरा कर सकता है। इस प्रकार एक देश में नगरों का विकास इस बात पर भी निर्भर करता है कि उसमें अन्न के आयात की सम्भावनायें कितनी हैं।

दूसरे, नगरों के विकास के लिये वाणिज्य एवं व्यापार की प्रगति भी परम आवश्यक है। जब कृषकों के पास अतिशय अन्न का उत्पादन होने लगा तो उन्होंने कृषि करना छोड़कर उस खाद्यान्न को बेचना प्रारम्भ कर दिया और इस प्रकार व्यापार का जन्म हुआ। सामान एवं सेवाओं का विनिमय किया जाने लगा। व्यापारिक केन्द्र बन गये और कृषि क्षेत्र धीरे-धीरे शहरी क्षेत्रों में बदल गये। बिना व्यापार एवं वाणिज्य के शहरों के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती क्योंकि इसी के द्वारा शहरों के अ-कृषक निवासियों के लिये आवश्यक कृषि उत्पादन प्रदान किया जाता है।

---

1. The thriving of towns has its origin in the agricultural improvement of the Country side.."
   —*L. Mumford,* The culture of cities, New York 1938. P. 24.

नगरों में वहां के निवासियों की आवश्यकताओं के परिणामस्वरूप हस्तकला उद्योगों का विकास हुआ। धीरे-धीरे नगरों में सुन्दर बाजारों की स्थापना की जाने लगी जहां कि सामान तथा सेवाओं का हेर–फेर करने वाले लोग पाये जाने लगे। व्यापार किसी भी कस्बे का एकाधिकार हो गया और बाहर से आने वालों के साथ भेदभाव का बर्ताव किया जाने लगा। मध्य युग में नगर के जीवन का आर्थिक पहलू इतना महत्वपूर्ण बन गया कि व्यापारी एवं धनवान लोग, जिनके हाथों में आर्थिक शक्ति थी, नगर के वास्तविक शासक बन गये। बाद में यातायात के साधनों का विकास होने पर एकाधिकार टूटा और वे आर्थिक क्षेत्र के व्यापारिक केन्द्र बन गये। धीरे-धीरे राजनैतिक दशायें सुधरीं और कस्बे की अर्थ-व्यवस्था राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था बन गई।

नगरों के विकास का तीसरा कारण यह है कि फैक्ट्री व्यवस्था एवं तकनीकी के कारण जो परिवर्तन आये उनका यह एक स्वाभाविक परिणाम था। बहुत बड़े २ बाजार बन जाने पर यह जरूरी होगया था कि उत्पादन की मात्रा भी बढ़ाई जाये। इसके लिए बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियां लगाई जाने लगीं। फलस्वरूप शहरों में जनता का केन्द्रीकरण होने लगा और जो श्रम विभाजन शहरों में पहले से ही मौजूद था अब अधिक बढ़ गया। इस औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप ही वह नगर सामने आया जिसे कि हम आज देखते हैं। नगर, फैक्ट्री व्यवस्था की उपज है और अनेक वैज्ञानिक आविष्कारों के परिणामस्वरूप इसका अस्तित्व बना हुआ है। यातायात एवं शक्ति के साधन के रूप में भाप का अधिकाधिक प्रयोग भी इस दृष्टि से उपयोगी रहा है। भाप के युग में फैक्ट्रियां बड़ी होती चली गईं और उनके साथ ही शहर भी बड़े होते गये। जब रेलों का आविष्कार हुआ तो जनता और भी अधिक केन्द्रीकृत होने लगी। रेलों के कारण बाजारों का विस्तार होगया तथा कच्चे माल के स्रोतों का पता लगाया जाने लगा। सामान और व्यक्ति दोनों ही शहरों में केन्द्रीकृत होने लगे। शहरों की ओर अधिक फैक्ट्रियां आकर्षित हुईं। विद्युत आदि के आविष्कार ने इन सभी परिवर्तनों को सहारा दिया। शहर का आकार बढ़ाने में इनका योगदान महत्वपूर्ण है। विद्युत एक ऐसी शक्ति है जिसे बिना अधिक खर्चे के ही लम्बी दूरियों तक ले जाया जा सकता है। इसके फलस्वरूप शहरों से दूर फैक्ट्रियां बनायी जाने लगीं।

चौथे, यातायात के साधनों के विकास ने नगरों के विकास पर उल्लेखनीय प्रभाव डाला। प्रसिद्ध समाजशास्त्री कूली (C. H. Cooley) के मतानुसार केवल शक्ति साधनों में विकास के परिणामस्वरूप ही शहरों का विकास नहीं हो सकता था जब तक कि यातायात के साधनों के विकास द्वारा उसे समर्थित न किया जाता। शक्ति औद्योगिक प्रक्रिया का एक भाग मात्र होती है। इसके साथ ही श्रम विभाजन, कच्चा माल एवं यंत्र आदि भी होने चाहिए। इन सभी को

यातायात के द्वारा एक साथ लाया जा सकता है।[1] इस प्रकार नगरों की बढ़ोतरी में यातायात का महत्वपूर्ण स्थान है।

पांचवें, जनस्वास्थ्य को बड़े शहरों की महत्वपूर्ण आवश्यकता समझा जाता है। आधुनिक जन स्वास्थ्य तरीकों के आविष्कार के पूर्व बड़े शहरों में जन्म की अपेक्षा मरने वालों की संख्या अधिक होती थी। घनी बस्तियों में महामारियां इस प्रकार फैलती हैं, जैसे कि जंगल में लगी हुई आग फैलती है। यद्यपि बड़े शहरों में आज भी बीमारियों का भय रहता है किन्तु वहां अनेक कदम ऐसे उठाये गये हैं जिनके परिणामस्वरूप इनकी सम्भावना को कम कर दिया गया है। सफाई की व्यवस्था, बेकार चीजें रखने की व्यवस्था, सुरक्षित जल वितरण, छूत की बीमारियों पर सरकारी नियंत्रण तथा इसी प्रकार के जन-स्वास्थ्य के अन्य उपाय अपनाये गये हैं। चिकित्सा के क्षेत्र में बढ़े हुए ज्ञान से भी शहरों का पर्याप्त लाभ हुआ है। हेजार्ड (Haggard) के मतानुसार आधुनिक शहरी सभ्यतायें प्रतिरोध की दवाओं पर आधारित हैं। यदि प्रतिरोधात्मक उपायों को ढीला कर दिया जाये तो महामारियाँ बड़ी जल्दी ही लौट आयेंगी और सभ्यतम देश भी वैसा ही बन जायेगा जैसे कि मध्य युग के देश थे।[2]

इस प्रकार अनेक कारणों से शहरों का विकास हुआ। शहरी जीवन सभ्यता एवं संस्कृति के केन्द्र बन गये। किन्तु ज्यों-ज्यों शहरों का विकास हुआ त्यों-त्यों शहरी क्षेत्रों के निवासियों के जीवन की जटिलतायें बढ़ती चली गईं। धीरे-धीरे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि व्यक्ति ने अपने चारों ओर की समस्याओं का स्वयं समाधान करने में अपने आपको असमर्थ पाया। फलतः उसके स्थान पर नगरपालिका द्वारा इन समस्याओं का सामना किया जाने लगा। तीव्र गति से बढ़ते हुए शहरी क्षेत्रों के सम्भावित परिणामों से बचने के लिए नगरपालिकाओं की सेवाओं का विस्तार किया गया। स्वास्थ्य की रक्षा, शिक्षा की सुविधायें तथा नागरिकों के कल्याण के प्रावधान आज-कल इतने आम बन गये हैं कि इनको सामान्य समझा जाता है।

देहाती स्थानीय सरकार के क्षेत्र

[Areas of Rural Local Government]

भारतीय देहातों के स्थानीय प्रशासन के लिए पहले तीन प्रकार की व्यवस्थायें थीं। नीचे के स्तर पर ग्राम पंचायतें और सर्वोच्च स्तर पर जिला बोर्ड तथा इन दोनों के बीच स्थानीय बोर्ड थीं। सन् १९५९ तक यह समझा जाता था कि जिला एवं जिला बोर्ड देहाती स्थानीय सरकार की सत्ता का

---

1. *C. H. Cooley*, Sociological Theory and Social Research, New York, 1930, P. 64.
2. "Modern urban civilization is founded on preventive medicine..If preventive measures were relaxed, the pestilences would quickly return and even the most civilized countries would be ravaged now as they were in the middle ages."
   —*H. W. Haggard*; Devils, Drugs and Doctors, 1946, P. 196.

मुख्य क्षेत्र है। उस समय मध्य प्रदेश के कुछ भागों को छोड़कर देश में इनका संगठन किया गया था। मध्य प्रदेश में तहसीलों एवं जनपद सभाओं ने जिला एवं उसकी परिषदों का स्थान ले रखा था। ग्राम पंचायतें भारत के सभी राज्यों में स्थित हैं यद्यपि संगठन एवं कार्यों की दृष्टि से उनके बीच पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। जिला बोर्डों एवं पंचायतों के बीच अनेक राज्यों में एक मध्यस्तरीय सत्ता भी थी। इनको स्थानीय, तहसील या तालुका बोर्ड कहा जाता था किन्तु कुछ समय पश्चात उनका अस्तित्व समाप्त हो गया। उत्तर प्रदेश में तहसील बोर्डों को सन् १९०६ में ही समाप्त कर दिया गया था, मद्रास में सन् १९३४ में इनको खत्म कर दिया गया। इस प्रकार मध्यस्थ सत्ता के बिना अर्थात द्वि-स्तरीय व्यवस्था के विकास का समर्थन किया गया। राजनैतिक विचारक इस बात पर सहमत नहीं थे कि जिला बोर्डों के आधीन कौन-कौन से क्षेत्र होने चाहिए और इनकी संख्या क्या होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद बना ही रहा।

ग्राम पंचायतों के महत्व एवं अस्तित्व के बारे में दो राय नहीं हैं। महात्मा गांधी गांवों को अपने रामराज्य की योजना में एक केन्द्रीय स्थान प्रदान करते हैं। हम जीवन को चाहे कुछ भी रूप देना चाहें, गांव उसका आधार होना चाहिए। भारत गांवों का देश है जहां की अधिकांश जनता देहाती क्षेत्रों में निवास करती है। इन इलाकों की अवहेलना करके किसी भी योजना या कार्यक्रम को सार्थक नहीं बनाया जा सकता। औद्योगीकरण के प्रसार की गति ने अभी तक गांवों के महत्व को कम नहीं किया है किन्तु बढ़ती हुई खाद्यान्न की आवश्यकता के कारण यह बढ़ता ही जा रहा है। यदि भारतीय समाज की प्रगति करनी है और उस प्रगति को स्थायी बनाना है तो गांवों पर पर्याप्त ध्यान देना होगा।

जिला स्तर से नीचे स्थानीय सरकार की इकाई कितनी होनी चाहिए इस सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं थे। कुछ का कहना था कि जिला स्तर से नीचे स्थानीय सरकार की दो इकाइयां होनी चाहिए। दूसरे लोग केवल एक ही इकाई का समर्थन करते थे। अन्य लोगों का कहना था कि इकाई की संख्या तो एक ही हो किन्तु उसका आकार अपेक्षाकृत बड़ा होना चाहिए। देहाती स्थानीय सरकार के तीन स्तरों का वर्णन सर्वप्रथम विकेन्द्रीकरण पर शाही आयोग के द्वारा किया गया था—सबसे नीचे गांव पंचायत, बीच में तहसील या तालुका बोर्ड तथा शीर्ष पर जिला बोर्ड। लार्ड रिपन (Lord Rippon) की योजना में गाँवों का नाम नहीं था। उसमें स्थानीय सरकार के केवल दो ही क्षेत्रों का उल्लेख किया गया था अर्थात जिला बोर्ड एवं तहसील या उनके छोटे सम्भागों के लिए स्थानीय बोर्ड। आयोग द्वारा ग्राम पंचायतों की स्थापना को अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया था जिन पर कि स्थानीय सरकार की सफलता निर्भर करती थी। आयोग ने तहसील या तालुका बोर्डों के महत्व पर भी पर्याप्त प्रभाव डाला और कहा कि ग्राम पंचा-

यतों एवं जिला बोर्डों के बीच स्थित अन्तर को दूर करने के लिए इनका अपना महत्व है। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वायत्त सरकार समिति का भी विचार था कि देहाती स्थानीय सरकार के तीन स्तर ही होने चाहिएं। इसने सिफारिश की कि जिला बोर्डों एवं ग्राम पंचायतों के बीच परगना समितियाँ भी होनी चाहिएं। इन समितियों की न तो स्वतंत्र सदस्यता होनी थी और न ही इनके अलग से वित्तीय स्रोत थे। केवल पंचायतों तथा जिला बोर्डों द्वारा इनको अनुदान दिया जाना था।

स्थानीय सरकार के मध्यवर्ती निकायों ने भारत में संतोषजनक रूप से कार्य नहीं किया। परिणामस्वरूप तहसील या तालुका बोर्डों को एक के बाद एक राज्य में समाप्त किया जाने लगा। व्यवहार में यह पाया गया कि उनके तथा जिला बोर्डों के बीच कार्यों एवं राजस्व के साधनों का वितरण बड़ा कठिन है क्योंकि दोनों ही निकायों के बीच इतनी भारी समानता एवं एकरूपता रहती है कि भेद करना कठिन बन जाता है। तालुका बोर्डों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवायें जिला बोर्डों की तुलना में कम बचत पूर्ण होती थीं। ग्रेट ब्रिटेन एवं फ्रांस आदि देशों के उदाहरणों को देखने के बाद यह कहना गलत नहीं माना जायेगा कि देहाती स्थानीय सरकार के केवल दो ही क्षेत्र होने चाहिएं तीन नहीं।

देहाती स्थानीय सरकार की मुख्य इकाई किसे माना जाये? यह भी एक महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर अलग-अलग विचारकों ने अलग अलग मत प्रकट किये हैं। कुछ का कहना है कि जिले को देहाती स्थानीय सरकार का क्षेत्र नहीं बनाया जाना चाहिए। इस मत का समर्थन मध्य प्रदेश के उन इलाकों में किया गया जहाँ जिले के स्थान पर जनपद योजना को लागू किया गया था। यहाँ १९४८ के एक अधिनियम के अनुसार जिले को स्थानीय सरकार का मुख्य क्षेत्र न मान कर तहसील को माना गया था। उड़ीसा में भी अंचल शासन विधेयक, १९५३ (Anchal Sasan Bill 1953) द्वारा राज्य को ११८ अंचलों में विभाजित करने की योजना बनाई गई। जनपदों की भांति ये अंचल भी संयुक्त प्रकृति के थे अर्थात आधे शहरी और आधे ग्रामीण। बिहार राज्य में जिला बोर्डों के अनेक महत्वपूर्ण कार्य राज्य सरकार द्वारा ले लिए गये। बंगाल आदि राज्यों में सुझाया गया कि या तो इन बोर्डों को समाप्त कर दिया जाये अथवा इनकी शक्तियां इतनी कम कर दी जायें कि इनका कोई महत्व ही न रह जाये। साथ ही ग्राम पंचायतों के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से इनके चुनाव की बात भी कही गई।

इस प्रकार जिला एवं स्थानीय बोर्डों की उपयुक्तता के सम्बन्ध में बहुत समय पूर्व से ही संदेह प्रकट किये जा रहे हैं। स्थानीय सरकार का क्षेत्र ऐसा होना चाहिए कि प्रशासन के लिए उत्तरदायी व्यक्ति क्षेत्र के मुख्य लोगों से व्यक्तिगत रूप में सम्बन्ध बनाये रख सकें। ऐसा होने पर ही वे स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में रुचि के साथ कार्य करेंगे। जिले का क्षेत्र एवं आकार इतना बड़ा होता है कि स्थानीय स्वायत्त सरकार की एक इकाई के रूप में कार्य करते समय यह वांछनीय एकरूपता की भावना को प्रोत्साहित

नहीं कर पाता। परिणामस्वरूप स्थानीय सरकार की पूरी व्यवस्था ही अस्वास्थकारक बन जाती है। इस स्थिति के अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण विकासों ने भी पिछले कुछ वर्षों से जिला बोर्डों की उपयोगिता को गिरा दिया। इनमें से पहला था स्थानीय सरकार के कार्यों का प्रान्तीयकरण और दूसरा था ग्राम पंचायत का विकास। पहले के अनुसार क्रमश: प्राय: सभी कार्य जिला बोर्डों के हाथों से निकल कर राज्य सरकार के हाथों में सौंपे जाने लगे। सड़क, अस्पताल, शिक्षा आदि विषय जिला बोर्डों के हाथ से धीरे-धीरे निकलने लगे। दूसरी ओर ग्राम पंचायतों के संगठन को बल दिया जाने लगा। यदि हम पंचायतों के आवश्यक एवं ऐच्छिक कार्यों पर गौरपूर्वक नजर डाल कर देखें तो पायेंगे कि इन सबके मिल जाने के बाद जिला बोर्डों का उत्तरदायित्व कुछ भी नहीं रह जाता है।

राजस्थान में पंचायत समिति तथा जिला परिषद अधिनियम १९५९ (७०) के द्वारा राज्य को यह अधिकार दिया गया कि वह राजपत्र में सूचना प्रकाशित करने के बाद राज्य में सभी जिला बोर्डों को अथवा किन्हीं विशेष को उसी दिन से समाप्त कर सकता है जिनका कि सूचना में उल्लेख किया गया है। इस प्रकार समाप्त किये गये जिला बोर्ड की सारी सम्पत्ति एवं उत्तरदायित्व राज्य सरकार के हाथ में चले जाते हैं। राज्य सरकार यदि चाहे तो अपने इस उत्तरदायित्व को पूर्ण अथवा आंशिक रूप में किसी भी अधिकारी को सौंप सकती है। जिला बोर्ड समाप्त होने से पहले जिन करों को एकत्रित करती थी वे उसके समाप्त होने के बाद भी एकत्रित किये जाते रहेंगे यदि प्रावधान द्वारा इसके विरुद्ध व्यवस्था न की गई तो। राजस्थान सरकार का यह कानून सम्भवत: बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों के अनुरूप ही था। इस समिति ने जोरदार शब्दों में इस बात का समर्थन किया था कि जिला बोर्डों को समाप्त कर इनके स्थान पर किसी अन्य सत्ता को रखा जाये। समिति ने विकास प्रशासन (Development Administration) को विकेन्द्रित करने के उपाय सुझाये थे। समिति के मतानुसार जिला बोर्डों के स्थान पर खण्ड स्तर की पंचायत समितियां गठित कर दी जायें जिनमें कि पंचायत के अध्यक्ष एवं कुछ अन्य लोग हों। इसके मतानुसार जिला स्तर पर एक समन्वयकर्त्ता परिषद होनी चाहिये जिसका कोई कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य न हो। समिति की सिफारिश थी कि खण्ड स्तर पर एक निर्वाचित स्वशासी संस्था स्थापित की जानी चाहिये जिसका क्षेत्राधिकार उस विकास खण्ड के साथ सह-विस्तारी होना चाहिये।[1] पंचायत समितियों का निर्माण ग्राम पंचायतों से परोक्ष-निर्वाचनों द्वारा किया जाना चाहिये।[2] यद्यपि मेहता समिति की योजना के अन्तर्गत भी

---

1. "At the block level, an elected self-governing institution should be set-up with its jurisdiction co-extensive with a development block"

—Balwantrai Mehta Committee, 4 2-12,

2. "The Panchayat Samiti should be constituted by indirect elections from the Village Panchayats."

—Ibid, 5, 2-15.

जिला स्तर पर जिला परिषदें होंगी किन्तु ये जिला बोर्डों की केवल छायामात्र ही मानी जा सकती हैं क्योंकि इनके पास प्रशासकीय शक्तियां नहीं होतीं। रचना की दृष्टि से इनमें पदेन या अधिकारी सदस्य होते हैं। कार्यों के नाम पर यह केवल समन्वय एवं पर्यवेक्षण की दृष्टि से ही कुछ करती हैं। मेहता समिति की सिफारिशों को मानने के बाद देहाती क्षेत्र में तीन प्रकार की स्थानीय सत्ता कायम की गई—ग्राम्य स्तर पर ग्राम पंचायत, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति और जिला स्तर पर जिला परिषद। इनमें से ग्राम पंचायत एवं पंचायत समिति के पास ही कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य हैं।

मेहता समिति ने बताया कि स्थानीय रुचि को जाग्रत करने के लिये तथा स्थानीय पहल को प्रोत्साहन देने के लिये स्थानीय निकाय छोटे तथा निर्वाचित होने चाहियें। जिला बोर्डों का तत्कालीन रूप इस कार्य के लिये न तो उपयुक्त था और न ही ऐसी परम्परायें ही रखता था। समिति ने सुझाया कि जहां कहीं भी जिला बोर्डों को बनाये रखा जाये वहां उनके कन्धों पर विकास कार्यों का उत्तरदायित्व भी डालना चाहिये।

इसमें जरा भी सन्देह नहीं है कि समिति ने जिला बोर्डों के आकार एवं बहुत बड़ी जनसंख्या के बारे में जो शिकायत की थी वह सही थी। इसके होते हुए यह स्थानीय स्वायत्त सरकार की एक उपयुक्त एवं प्रभावशील इकाई नहीं बनाई जा सकती थी। कई एक जिलों का आकार तो इतना बड़ा था कि उनके प्रबन्ध को असल में स्थानीय सरकार का प्रबन्ध ही नहीं कहा जा सकता। साधनों की कमी के फलस्वरूप वे ऐसे कार्यों को सम्पन्न नहीं कर पायीं जिनसे कि जनता को उनके अस्तित्व का अनुभव हो पाता। फलत: जनता के दिल में जिला बोर्डों के प्रति किसी प्रकार का प्रेम नहीं पनप सका, उनमें जनता के हित संयुक्त नहीं हो सके। यही कारण है कि धीरे-धीरे महत्वपूर्ण कार्यों को उनके हाथ से सरकार द्वारा ले लिया गया। जनता में जिला बोर्डों के प्रति किसी प्रकार का प्रेम-भाव न होना भी उनकी महत्वहीनता का एक प्रमाण बन गया। यह कहा गया कि जिला बोर्ड स्थानीय सरकार की इकाई के रूप में चाहे कितनी भी पर्याप्त क्यों न हों किन्तु वे जनता का प्यार और स्वामिभक्ति खो चुकी हैं तो उनको बने रहने का कोई हक नहीं है।

'गांव' स्थानीय सरकार के क्षेत्र के रूप में:—जिले को स्थानीय सरकार का क्षेत्र बनाने के पक्ष एवं विपक्ष में दिये जाने वाले तर्कों तथा उनके परिणाम-स्वरूप स्थानीय सरकार के क्षेत्र में हुए विकासों को देखने के बाद यह उपयोगी रहेगा कि इसी प्रश्न पर हम गांवों के प्रसंग में विचार करें। जिले को स्थानीय सरकार का क्षेत्र न मानने के लिए सबसे प्रभावशील तर्क यह दिया जाता है कि इसका आकार बड़ा होता है। यह बात यद्यपि गांवों के बारे में नहीं कही जा सकती किन्तु फिर भी गाँवों को इसकी विरोधी आलोचना का विषय बनाया जा सकता है। अर्थात् आलोचक यह कह सकते हैं कि गांव का आकार अत्यन्त छोटा होता है और इसलिये यह स्थानीय सरकार

की प्रभावशील इकाई के रूप में उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकता। जॉन स्टुअर्ट मिल (J. S. Mill) ने गांव को स्थानीय सरकार की इकाई बनाने का विरोध करते हुए कहा था कि "केवल मात्र गांव ही नगरपालिका के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकता। ये स्थान इतने छोटे होते हैं कि यहां एक संतोषजनक नगर परिषद नहीं बन सकती। यदि इनमें सार्वजनिक कार्यों के प्रति योग्यता रखने वाले कुछ लोग होते हैं तो किसी भी एक व्यक्ति की ओर झुक जाते हैं और वही उस स्थान का प्रशासक बन जाता है। यह अच्छा रहेगा कि इस प्रकार के स्थानों को एक बड़े आकार में मिला दिया जाये।"[1] गांवों को स्थानीय सरकार की इकाई बनाने में केवल आकार का छोटापन ही बाधक नहीं है वरन् अन्य कुछ तत्व भी इसके मार्ग में आ जाते हैं। भारतीय गांवों की कुछ अपनी समस्यायें हैं जो कि उनको एक प्रभावशील इकाई बनने से रोक देती हैं। यहां के अधिकांश गांव छोटी-छोटी बस्तियां हैं जिनमें केवल कुछ गिनती के ही घर होते हैं। गांवों में शिक्षा का स्तर सामान्य रूप से इतना नीचा है कि वहां की जनता से प्रशासन के कार्यों में सहयोग प्राप्त करने की आशा एक दुराशा मात्र ही रहेगी। अधिकांश गांवों में भूतपूर्व जमीदारों तथा जागीरदारों का भारी प्रभुत्व है। उनकी इच्छा के विपरीत या भिन्न कोई भी निर्णय लेना टेढ़ी खीर बन जाता है। गांवों का जन-जीवन आज उतना सहयोगपूर्ण एवं पारस्परिक प्रेमभाव से पूर्ण नहीं है वरन् वहां जाति, धर्म, गोत्र, सम्प्रदाय आदि के आधार पर कई गुट बने रहते हैं जो कि सदैव ही एक दूसरे को नीचा दिखाने के प्रयास में संलग्न रहते हैं। सामान्य लक्ष्य के लिये उनके द्वारा मिलकर कार्य करने की तो कल्पना ही नहीं की जा सकती। स्थानीय सरकार के विभिन्न कार्यों की सफलता क्षेत्र के निवासियों के सामूहिक सहयोग पर निर्भर करती है। गांवों में कार्य करने की प्रेरणा का स्रोत क्या होगा वह भी एक समस्या है जिसके परिणामस्वरूप वे वहीं बने रहते हैं जहाँ से कि प्रारम्भ करते हैं। यदि कई गाँवों को मिलाकर एक इकाई बना दिया जाये तो स्थिति पूरी तरह से बदल जाती है। कई गांव जब एक साथ मिल जायेंगे तो आकार की समस्या तो स्वतः ही हल हो जायेगी। इसके अतिरिक्त उनके बीच परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहेगा। प्रसिद्ध तथा योग्य व्यक्तियों से क्षेत्र के सभी लोग परिचित हो जायेंगे। इतने बड़े क्षेत्र में कुछ ऐसे व्यक्तियों को आसानी से खोजा जा सकता है जो कि प्रशासकीय योग्यता रखते हों तथा स्थानीय सरकार के कार्यों का संचालन

---

1. "A mere village has no claim to municipal representation ..such small places have rarely a sufficient public to furnish a tolerable municipal council: if they contain any talent or knowledge applicable to public business, it is apt to be all concentrated in some one man who thereby becomes the dominator of the place. It is better that such places should be merged in a larger circumscription"

—*J. S. Mill*, op. cit., P. 371

सफलतापूर्वक कर सकें। इसलिये एक गांव मात्र को स्थानीय शासन की इकाई बनाने की अपेक्षा कुछ गांवों को मिलाकर ही एक इकाई बनाया जाये तो अधिक सार्थक एवं प्रभावशील रहेगा।

उपर्युक्त तार्किक युक्तियों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है कि गांव को स्थानीय सरकार की इकाई न बनाया जाये। दिखाये गये दोषों में बहुत कुछ सत्यता भी है किन्तु यदि विषयवस्तु पर अन्य कुछ दृष्टियों से विचार करें तो प्रतीत होगा कि दोषपूर्ण एवं आपत्तिजनक होते हुए भी गांव को ही स्थानीय सरकार की इकाई बनाना जरूरी होता है। इस सम्बन्ध में पहली बात तो उन सेवाओं के बारे में कही जाती है जो कि मूलभूत एवं महत्वपूर्ण होती हैं। सफाई, गांव के रास्तों का निर्माण, गांव के कुओं की सफाई एवं निर्माण, प्रकाश की व्यवस्था, अग्नि से सुरक्षा आदि अनेक ऐसी सेवायें हैं जिनको वे लोग ही भली प्रकार सम्पन्न कर सकते हैं जिनको ये प्रभावित करती हैं। अन्य लोग इन सेवाओं को सम्पन्न करते समय कोई भी व्यक्तिगत रुचि नहीं ले सकते। इन सेवाओं की साधना के लिए बाहरी व्यक्तियों को जो प्रेरणा प्राप्त होगी वह आन्तरिक नहीं हो सकती। वह सदैव ही धन पर या अन्य किसी ऐसे ही प्रेरक पर आधारित होगी किन्तु स्थानीय निवासी अपनी अन्तरात्मा की प्रेरणा से यह सब कर सकते हैं। दूसरे, यदि स्थानीय सरकार के माध्यम से जनता को स्वायत्त सरकार के क्षेत्र में कुछ प्रशिक्षण प्रदान करना है अथवा सामान्य हित के मामलों के प्रबन्ध में सहयोग तथा पारस्परिकता के भाव जागृत करने हैं तो प्रत्येक गांव में एक संस्थागत यंत्र का होना परम आवश्यक है। गांव का आकार चाहे कैसा भी हो किन्तु वहां स्थानीय सरकार के निकायों का होना जरूरी है क्योंकि संख्या के आधार पर किसी भी क्षेत्र की अवहेलना नहीं की जा सकती।

भारतीय गांवों में लोगों की प्रवृत्ति आत्म-केन्द्रित इतनी अधिक है कि वे अपने पड़ौसी गांव वाले लोगों की समस्या को तो देखने का प्रश्न ही नहीं उठता, अपने ही गांव की समस्याओं को नहीं सुलझा पाते। जहां लोगों को उनके स्वयं के विकास एवं लाभ के कार्यों में अग्रसर करने की समस्या हो वहां उनसे यह कल्पना करना भ्रामक है कि वे अपने पड़ौसी गांव वाले लोगों की प्रगति में हाथ बंटायेंगे। जब स्वयं का घर जल रहा हो तो दूसरों के जलते हुएँ घरों पर पानी फैंकना न तो सम्भव है और न अधिक व्यावहारिक ही। होना यह चाहिए कि स्थानीय सरकार की संस्थाओं को लोगों के जीवन का ही एक भाग बना दिया जाये। वे उसमें इतने उलझ जायें कि निकल सकना कठिन हो जाये। इस प्रकार कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि यदि राजनैतिक शिक्षा स्थानीय सरकार का एक लक्ष्य है तो इसे प्राप्त करने के लिए प्रत्येक गांव को स्थानीय सरकार की इकाई बनाना होगा। ये गांव अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह संतोषजनक रूप से करते रहें इसके लिए कुछ ऊपर के दबाव डालना भी जरूरी है। यह कार्य पंचायतों से ऊपर वाली संस्थायें कर सकती हैं।

गांवों का स्थानीय सरकार की इकाई के रूप में अपना महत्व है किन्तु इनकी कुछ अपनी कमजोरियां होती हैं। उदाहरण के लिए इनके वित्तीय एवं मानवीय स्रोत बहुत कम होते हैं। इसके परिणामस्वरूप ऐसा नहीं किया जा सकता कि इनको स्वतंत्र इकाई बना दिया जाये तथा नगरपालिकाओं की भांति पूरी शक्तियां प्रदान कर दी जायें। यदि ऐसा सम्भव होता तो पंचायतों के ऊपर स्थानीय सरकार की किसी अन्य सत्ता को नियुक्त करना आवश्यक न समझा जाता। किन्तु क्योंकि वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है अत: पंचायतों के के बाद अन्य उच्च सत्ता नियुक्त करनी होती है जो कि शक्ति की दृष्टि से उच्च है तथा क्षेत्र की दृष्टि से बड़ी है। इन सत्ताओं द्वारा उन सेवाओं को प्रदान किया जाता है जो कि महंगी होती हैं तथा जिनमें अधिक विशेषज्ञता एवं तकनीकी योग्यता की जरूरत होती है। उदाहरण के लिए स्कूल, सड़कें, अस्पताल, आदि। प्रत्येक गांव में एक स्कूल या डिस्पेन्सरी खोलना न तो सम्भव है और न आवश्यक ही। आर्थिक दृष्टि से भी बचतपूर्ण रास्ता यह रहेगा कि कुछ गांवों की आवश्यकताओं को सामान्य साधन से ही पूरा किया जाये। प्रत्येक क्षेत्र के लिए प्रत्येक सेवा का अलग से प्रबन्ध करने पर प्रशासन के छोटे-छोटे गढ़ बन जायेंगे, अनावश्यक रूप से कार्यों का दुहराव होगा तथा मतिभ्रम होगा एवं समन्वय का अभाव रहेगा। इस समस्या का समाधान इस रूप में किया जाता है कि क्षेत्र का आकार सेवा की प्रकृति के आधार पर निश्चित किया जाये तथा उसे इतना बड़ा रखा जाये जितना कि सम्भव हो सके। बड़े क्षेत्र में अनेक छोटे क्षेत्र आ जाते हैं अत: उनकी आवश्यकतायें भी स्वत: ही पूरी हो जायेंगी।

ग्राम पंचायतों से ऊपर की स्थानीय सत्ता का महत्व जान लेने के बाद प्रश्न यह उठता है कि इस सत्ता का क्षेत्र क्या होना चाहिए तथा इसको कितनी सेवाओं का उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिए? सैद्धान्तिक रूप में इस प्रश्न पर विचार करना अत्यन्त कठिन कार्य है। स्थानीय सरकार द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले केवल कुछ ही कार्यों के बारे में यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कितना बड़ा क्षेत्र रखने पर अधिक से अधिक लाभ प्राप्त हो सकेंगे। नालियां, जल-वितरण, विद्युत् व्यवस्था आदि विषयों को इस सीमा में लिया जा सकता है। इन विषयों के अतिरिक्त तकनीकी महत्व के अन्य क्षेत्रों को बांटना अत्यन्त कठिन है। उनके बारे में हम निश्चित रूप से यह अनुमान नहीं लगा सकते कि कितना बड़ा क्षेत्र रखने पर अथवा कितनी जन-संख्या होने पर स्थानीय निकाय अच्छी प्रकार सेवा कर पायेगा। इसका कारण यह है कि ये विषय पूर्ण रूप से केवल क्षेत्र पर ही निर्भर नहीं करते। यद्यपि क्षेत्र के आकार का भी प्रभाव तो होता है किन्तु यह प्रभाव कार्यकर्त्ताओं की योग्यता एवं बौद्धिक स्तर तथा सेवित व्यक्तियों की सामर्थ्य एवं कुशलता के साथ-साथ बदलता रहता है।

कुल मिलाकर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्राथमिक स्थानीय इकाइयों के ऊपर वाले निकाय का क्षेत्र छोटा न होकर बड़ा होना चाहिए। किन्तु यह इतना बड़ा नहीं हो कि सामान्य जनता इसके कार्यों में रुचि

न ले अथवा स्थानीय सरकार के कार्यों में सक्रिय योगदान न करे। ये दोनों ही आवश्यकतायें इस बात की मांग करती हैं कि क्षेत्र को इतना छोटा रखा जाये जितना कि रखा जा सकता है। इस प्रकार हमको दो विरोधी किन्तु परस्पर सम्बन्धित विशेषताओं के बीच सामंजस्य स्थापित करना होगा। एक ओर कार्यकुशलता है और दूसरी ओर स्वायत्त-सरकार का आकर्षण। दोनों के बीच समझौतापूर्ण रवैया अपना कर ही किसी उपयोगी निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है। यदि हम केवल गांव को ही स्थानीय सरकार की एकमात्र इकाई मान लें तो इससे प्रशासनिक कार्यकुशलता को ठेस लगेगी। इसी प्रकार यदि हम स्वायत्त-सरकार के सिद्धान्त की अवहेलना करें तो स्थानीय सरकार द्वारा किये जाने वाले सभी कार्य राज्य सरकार को सौंप देंगे।

बलवन्त राय मेहता समिति की सिफारिशें :—बलवन्त राय मेहता समिति ने सत्ता के विकेन्द्रीकरण की सम्भावनाओं एवं रूपों पर विचार किया। इस समिति ने पंचायती राज के माध्यम से सरकारी यंत्र को विभाजित करके तथा सत्ता को बांट करके देहाती भारत का पुनर्निर्माण करने का प्रयास किया। समिति ने स्थानीय विषयों में निर्णय लेने की विशेष शक्तियों के साथ त्रि-सूत्री संस्थागत व्यवस्था का समर्थन किया। समिति ने पंचायती राज की संस्थागत बनावट के दो पहलुओं पर विशेष जोर दिया। प्रथम, इसकी स्वायत्त-शासी प्रकृति और दूसरे इसकी निर्वाचित प्रकृति। समिति ने जो संस्थागत ढांचा प्रस्तुत किया वह इन दोनों विशेषताओं से पूर्ण था। मेहता समिति की त्रि-सूत्री योजना में सबसे नीचे ग्राम पंचायतें थीं, मध्य में विकास कार्यों से युक्त पंचायत समितियां थीं तथा शीर्ष पर जिला परिषदें। असल में यह योजना द्वि-सूत्री ही थी क्योंकि ग्राम पंचायत एवं पंचायत समिति को ही स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में कुछ करने का काम दिया गया था। जिला परिषद के पास करने के लिए कोई मौलिक कार्य नहीं था। उसे तो अपने अधीनस्थ दोनों ही इकाइयों के कार्यों में समन्वय स्थापित करना था तथा उनका पर्यवेक्षण करना था। इस प्रकार पंचायत समिति को ही स्थानीय सरकार की मुख्य इकाई बना दिया गया तथा जिले के स्थान पर खण्ड को इसका प्रधान क्षेत्र बनाया गया।

जिले के स्थान पर खण्ड को स्थानीय सरकार का मुख्य क्षेत्र बनाने के पीछे कई बातों का ध्यान रखा गया था। इस सम्बन्ध में समिति का तर्क भी उल्लेखनीय है। उसका कहना था कि प्रस्तावित स्थानीय निकाय का अधिकार क्षेत्र न तो इतना बड़ा होगा कि वह उस उद्देश्य को ही समाप्त करदे जिसके लिए यह स्थापित किया गया है और न ही इतना छोटा होगा कि कार्यकुशलता एवं बचत के सिद्धान्तों का विरोध करे। यह स्पष्ट है कि ग्राम पंचायत क्षेत्र, जनसंख्या, वित्तीय साधन आदि की दृष्टि से इन सभी कार्यों को (विकास कार्य) सम्पन्न करने के लिए बहुत छोटी रहती है।[1]

1. "..The jurisdiction of the proposed local body should be neither so large as to defeat the very purpose for which it is created nor so small as to militate against efficiency and

यह दोष खण्ड को स्थानीय सरकार की प्रधान इकाई बनाने पर नहीं आता क्योंकि यह आकार की दृष्टि से पर्याप्त बड़ा होता है। किन्तु यह इतना बड़ा भी नहीं होता कि इसमें वे ही दोष आ जायें जो कि जिला, तहसील, तालुका आदि को स्थानीय सरकार की प्रधान इकाई बनाने पर आ जाते थे। समिति के प्रतिवेदन के अनुसार विकास खण्ड द्वारा उन कार्यों को करने के लिए पर्याप्त बड़ा क्षेत्र प्रदान किया जाता है जो कि ग्राम पंचायत द्वारा नहीं किये जा सकते। साथ ही ये इतने छोटे भी होते हैं कि निवासियों को सेवा एवं रुचियों को आकर्षित कर सकें।[1]

मेहता समिति की सिफारिशों के प्रति अनेक विचारकों एवं लेखकों ने असंतोष प्रकट किया है। इनकी कई आधारों पर आलोचना की जाती है। प्रथम, यह कहा जाता है कि समिति ने सभी जिलों, तहसीलों एवं तालुकों के बारे में जो यह सामान्य निर्णय दिया कि वे बड़े अधिक होते हैं, ठीक नहीं था। जिलों का आकार पूरे भारत में एक जैसा नहीं है। कहीं-कहीं तो काफी छोटे जिले भी पाये जाते हैं उनको केवल इसीलिये स्थानीय सरकार की इकाई न बनाना क्योंकि उनका नाम जिला है, गलत माना जायेगा। यदि केवल क्षेत्र को ही विचार का विषय बनाया जा रहा है तो फिर छोटे जिलों की क्यों अवहेलना की गई। जहाँ कहीं बड़े जिले भी थे उनको समाप्त करने की अपेक्षा दो में बांटा जा सकता था और ऐसा करके भी वांछित परिणाम प्राप्त किये जा सकते थे। दूसरे, कार्यों की तकनीकी एवं प्रकृति पर विचार किये बिना तथा उन पर यथोचित ध्यान दिये बिना ही सामान्य रूप से स्थानीय निकायों का आदर्श आकार निश्चित कर देना पूरी तरह से अवैज्ञानिक है। कई कार्य ऐसे भी हो सकते हैं जिनके लिए खण्ड स्तर भी छोटा एवं अपर्याप्त सिद्ध हो। कहा जाता है कि स्थानीय सड़कों एवं शिक्षा का प्रबन्ध करने में खण्ड छोटा सिद्ध होगा। तीसरे, स्थानीय सरकार के क्षेत्र में वर्तमान प्रवृत्ति यह हो गई है कि देहाती स्थानीय सरकार के क्षेत्रों को व्यापक बनाया जा रहा है तथा छोटे क्षेत्रों से कार्य लेकर बड़े क्षेत्रों को सौंपे जा रहे हैं। भारतवर्ष में इस प्रवृत्ति के विपरीत व्यवहार करने का परामर्श देने वाली समिति को किस आधार पर उचित माना जा सकता है। चौथे, यह तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि जिला बोर्डों को उनके असंतोषजनक कार्यों के लिये बुरा-भला कहना तथा ठुकराना उचित नहीं है क्योंकि इसमें इनका अपना कोई दोष नहीं है। इस सबका मूल कारण अपर्याप्त संगठन, सेवी वर्ग, तथा वित्त आदि पर डाला जाना चाहिये। यदि ये सभी चीजें

---

economy..Obviously, the village panchayat is too small in area, population. and financial resources to carry out all these (the development) functions."

—The Report, Vol. I, P.8.

The development block, however, "offers an area large enough for functions which the village panchayat cannot perform and yet small enough to attract the interest and service of residents."

—Ibid, P. 9

ऐसी ही रहें तो खण्डों द्वारा किया जाने वाला कार्य अपेक्षाकृत और भी खराब रहेगा।

पांचवें, जिला बोर्डों के प्रत्यक्ष निर्वाचन का विरोध करते हुये उसे बहुत खर्चीला तथा समस्याप्रद बताया गया है। यह बात सच है किन्तु इन सबको तो प्रजातन्त्र की कीमत समझा जाता है जिन्हें चुकाये बिना प्रजातन्त्र की देहलीज में दाखिल नहीं हुआ जा सकता। यदि हम प्रजातन्त्र को अपनाने का साहस करते हैं तो यह सब कुछ भी सम्भालना होगा। बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों के अनुसार जब स्थानीय सरकार के निकाय को अप्रत्यक्ष रूप से चुना जायेगा तथा उसमें अनेक पदेन सदस्य होंगे तो प्रजातन्त्र की आत्मा सचमुच ही कराह उठेगी। मेहता समिति की सिफारिशों को प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण को गुरुमंत्र मानना एक अच्छा खासा मजाक है जिसे कई विचारक तो शब्दों का विरोध कह कर पुकारते हैं। असल में मेहता समिति ने स्थानीय सरकार एवं विकास प्रशासन को एकाकार कर दिया था। जब उसने पाया कि 'खण्ड' विकास कार्यक्रमों की इकाई है तो उसी को स्थानीय सरकार की इकाई बनाने की सिफारिश भी करदी।

मेहता समिति द्वारा सुझाये गये तरीके से अर्थात अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा संगठित स्थानीय निकाय निर्वाचकों से दूर रहेंगे तथा वे उस रूप में उनके प्रति उत्तरदायी नहीं रहेंगे जिस रूप में प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित निकाय रह सकते हैं। कई एक विचारकों ने तो इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि एक ऐसी समिति ने जिसकी अध्यक्षता अखिल भारतीय कांग्रेस के भूतपूर्व महासचिव तथा एक बड़े राजनैतिक नेता ने की थी, स्थानीय सरकार के निकायों की स्वायत्तता को छीन लेने की सिफारिशें क्यों की। स्थानीय सरकार की संस्थायें प्रजातन्त्र के पौधे कहलाती हैं जिनके स्वास्थ्य एवं अस्तित्व पर ही देश में प्रजातन्त्र का भविष्य निर्भर करता है। यदि इनके क्षेत्र के सम्बन्ध में मेहता समिति की सिफारिशों को माना गया तो जैसा कि कई लेखकों का मत था यह प्रजातन्त्र के हित में नहीं होगा।

राजस्थान में पंचायती राज का क्षेत्र

[Area of Panchayati Raj in Rajasthan]

राजस्थान को वह सर्वप्रथम राज्य माना जा सकता है जहां पर कि प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण अथवा पंचायती राज की सर्वप्रथम स्थापना की गई। स्वर्गीय प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने नागौर में २ अक्टूबर, १९५९ को इसका उद्घाटन किया। यहां पंचायती राज की स्थापना व्यवस्थापिका के एक विशेष अधिनियम के तहत की गई है। इस अधिनियम के अनुसार योजना के मुख्य लक्ष्यों में प्रथम था जनता को सभी विकास कार्यक्रमों में पूरा-पूरा एवं सक्रिय सहयोग देने योग्य बनाना; दूसरे, स्थानीय लोगों की पहल की शक्ति को विकसित करना; तीसरे, एक सशक्त नेतृत्व तैयार करना जिसके बिना कोई भी प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकती। अधिनियम के अनुसार खण्ड स्तर पर पंचायत समिति

स्थापित की गई तथा जिला स्तरों पर जिला परिषदों का सगठन किया गया। तीसरे एवं सबसे नीचे स्तर पर अर्थात् ग्राम्य स्तर पर पंचायतों का संगठन वैसा ही रखा गया जैसा कि सन् १९५३ के अधिनियम में बताया गया था।

राजस्थान में पंचायती राज को जब वर्तमान रूप प्रदान किया गया तो पूरे राज्य में लगभग ११० खण्ड थे, १७९९० गांव थे तथा लगभग ५९% देहाती जनता थी। सरकार ने यह निर्णय लिया कि पंचायती राज को स्थापना खन्ड स्तर के क्षेत्रों तथा उन क्षेत्रों में भी की जाये जो कि खण्ड स्तर के नहीं हैं। पंचायती राज की इस नवीन योजना के अनुसार राज्य में सितम्बर-अक्टूबर, १९५९ में चुनाव कराये गये। ये चुनाव केवल पंचायत समितियों एव जिला परिषदों तक ही सीमित थे क्योंकि पंचायतें तो पहले से ही स्थापित थीं।

सन् १९५९ में जब पंचायती राज की स्थापना की गई तो पंचायतों की जनसंख्या तीन हजार से लेकर आठ हजार तक थी। प्रत्येक पंचायत के क्षेत्र में एक गांव अथवा कुछ गांवों का एक समुदाय होता था। इन पंचायतों के आधार पर पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों की स्थापना की गई। सन् १९६० में सरकार ने यह निर्णय किया कि पंचायतों का क्षेत्र छोटा कर दिया जाये ताकि इसे राजस्व प्रशासन की सबसे छोटी इकाई अर्थात् पटवार क्षेत्र के समकक्ष बनाया जा सके साथ ही इसके साथ जनता का निकट का एवं घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जा सके। इसके अनुसार ७३९४ पंचायत क्षेत्र स्थापित किये गये। अधिकांश पंचायत एक या अधिक पटवार क्षेत्रों के साथ-साथ रहती है। कुछ पंचायतों में पटवार क्षेत्र का केवल भाग मात्र होता है। ऐसी स्थिति में एक पटवार क्षेत्र को दो या अधिक पंचायतों में विभाजित कर दिया जाता है।

पंचायत समितियों के क्षेत्र ग्राम पंचायतों की तुलना में पर्याप्त व्यापक होते हैं। इस दृष्टि से पूरे राज्य को २३२ खण्डों में विभाजित कर दिया गया तथा प्रत्येक खण्ड तर पर एक पंचायत समिति की स्थापना की गई। इस प्रकार 'खण्ड' को प्रजातन्त्रीय विकेन्द्रीकरण की एक महत्वपूर्ण इकाई बनाया गया। सामुदायिक विकास की दृष्टि से पंचायत समितियों की संख्या इस प्रकार थी—पूर्व प्रसार स्तर के खण्ड—२३, प्रथम स्तर के खण्ड—९८, द्वितीय स्तर के खण्ड—९१ द्वितीय स्तर के बाद के—२०। पंचायत समितियों की सीमाओं को तहसील की सीमाओं का ध्यान रखते हुए विभाजित किया गया था तथा यह प्रयास किया गया था कि पंचायत समिति को यथासम्भव राजस्व तहसील के समकक्ष बनाया जाये। २३२ पंचायत समितियों में से १०१ ऐसी थीं जिनमें एक ही तहसील आती थी। तीन पंचायत समितियां ऐसी थीं जिनके क्षेत्र में दो-दो तहसीलें आती थीं। लगभग २४ तहसीलें ऐसी थी जिनमें से प्रत्येक में दो पंचायत समितियां थीं। शेष तहसीलें पंचायत समितियों के क्षेत्र से इतना सम्बन्ध नहीं रखती थीं। वे कई पंचायत समितियों में आंशिक रूप से व्याप्त रहती हैं।

राज्य के २६ जिलों में से प्रत्येक में एक-एक जिला परिषद की स्थापना की गई। जिला परिषद को प्राय: कोई भी कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य नहीं सौंपा गया। इसका मुख्य कार्य यह था कि जिले की विभिन्न पंचायत समितियों के कार्यों का पर्यवेक्षण एवं समन्वय करे तथा सरकार और पचायत एवं पंचायत समितियों के बीच एक कड़ी का कार्य करे। जिला परिषद द्वारा अपने जिले की समस्त पंचायत समितियों की योजनाओं में समन्वय एवं सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

देहाती स्थानीय शासन की सर्वोच्च इकाई जिला परिषद, क्षेत्र व्यापक होने के कारण उन सभी आलोचनाओं एवं दोषों का प्रतीक बन सकती है जो कि जिला बोर्डों के प्रति की गई थीं। किन्तु फिर भी जिला परिषद के कार्यों का प्रभाव देखकर यह नहीं कहा जा सकता कि यह जनता से अधिक दूर रहेगी और यदि अपने विस्तृत आकार के कारण यह दूर रहती भी है तो इसका कोई विपरीत प्रभाव पड़ने वाला नहीं। क्योंकि इसे जो कार्य सौंपे गये हैं उनमें जनता के सहयोग एवं सक्रिय योगदान की कोई आवश्यकता नहीं है। स्थानीय प्रशासन के विभिन्न उत्तरदायित्वों में कुछ एक ऐसे भी होते हैं जो कि बड़े क्षेत्र की मांग करते हैं और छोटे क्षेत्र वाली इकाइयों द्वारा उनका प्रबन्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरण के लिये सड़कों का निर्माण कम से कम एक ऐसा कार्य है जिसे सम्पन्न करने के हेतु एक बड़ी प्रशासनिक इकाई आवश्यक होती है। यदि ग्रामीण क्षेत्रों में शक्ति की दृष्टि से विद्युतीकरण करने का कार्य गम्भीरतापूर्वक लिया जाये तो हम पायेंगे कि जिला भी उसके प्रशासन के लिये एक अपर्याप्त इकाई है। यही बात जल वितरण एवं अन्य ऐसे ही कार्यों पर लागू होती है। इस सबका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि स्थानीय प्रशासन के ऐसे क्षेत्र को निश्चित करना अत्यन्त कठिन है जो कि प्रत्येक कार्य के लिये सर्वोत्तम सिद्ध हो सके। इस सम्बन्ध में तुलनात्मक आधार पर उपयोगिता का निश्चय किया जाएगा।

राजस्थान में पंचायती राज क्षेत्र पर सादिक अली प्रतिवेदन के विचार [Sadiq Ali Report on the area of Panchayati Raj in Rajasthan]:—सन् १९६२ में राजस्थान सरकार ने पंचायती राज का अध्ययन करने के लिए एक टीम नियुक्त की। इस टीम ने मई, १९६३ में अपना कार्य प्रारम्भ किया। मि० सादिक अली, संसद सदस्य इसके सभापति बनाये गये। सभापति के अतिरिक्त इस टीम में नौ अन्य सदस्य भी थे। इस अध्ययन दल ने अपने प्रतिवेदन में पंचायतों के उपयुक्त क्षेत्र पर पर्याप्त विचार किया। दल का कहना था कि ग्राम पंचायतें स्थानीय क्षेत्र की कार्यपालिका निकाय होती हैं तथा ग्राम सभा इनकी एक सामान्य संस्था है। सन् १९६० से पूर्व राजस्थान में प्रत्येक पंचायत क्षेत्र की जनसंख्या तीन हजार से लेकर आठ हजार तक होती थी। १९६० में पंचायतों को सीमित करके पुनर्गठित किया गया तथा उनकी जनसंख्या डेढ़ हजार से दो हजार तक कर दी गई। एक गांव वाली पंचायतों की जनसंख्या सात हजार तक हो सकती थी। एक पंचायत क्षेत्र को एक या दो पटवार क्षेत्रों में मिलाया गया। सन् १९६४ तक

पंचायतों की कुल संख्या ७३६१ हो गई जबकि राजस्व पटवार क्षेत्र की संख्या ७०६८ थी जहाँ कि ७८०० से भी अधिक पटवारियों को नियुक्त किया गया। १९६० में पंचायतों का जो पुनर्गठन किया गया उसका आधार सन् १९५१ की जनगणना थी। राज्य में पंचायत का औसतन क्षेत्र १७.८१ वर्गमील था।

अध्ययन दल की रिपोर्ट में बताया गया है कि पंचायत क्षेत्र ऐसा होना चाहिए कि जहाँ तक आसानी से पहुंच हो सके।[1] कोई भी पंचायत क्षेत्र का गांव पंचायत के मुख्य कार्यालय से पांच मील से अधिक दूर न हो। राजस्थान के पश्चिमी जिलों की छितरी बसावट में अथवा पहाड़ी इलाकों में यह दूरी अधिक भी, अर्थात् दस मील तक, हो सकती है। पंचायतों को पंचायती राज की एक मूल इकाई बनाना था इसलिए यह आवश्यक समझा गया कि अधिक दूर रख कर पंचायत के मुख्य कार्यालय को जनता से दूर न किया जाये। पंचायतों द्वारा जनता को जो राहत एवं सुविधा पहुंचाई जा सकती है वह बिना अधिक परेशानी तथा किराया खर्च किये ही उसे प्राप्त होनी चाहिए। एक प्रतिनिधि निकाय तथा गांव की जनता के बीच का सम्बन्ध इतना घनिष्ठ तथा निकट का होना चाहिए जितना कि हो सके।

पंचायत का क्षेत्र तय करते समय एक अन्य ध्यान में रखने योग्य बात पंचायत क्षेत्र की आर्थिक सामर्थ्य है। यहाँ यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि ग्राम्य स्तर पर पूर्ण आर्थिक स्वतत्रता तो सम्भव नहीं है। यह तो उस समय भी प्राप्त नहीं हो सकती जबकि ग्राम पंचायत के क्षेत्र को बड़ा कर दिया जाये। किन्तु फिर भी आर्थिक पहलू भी ध्यान में रखने योग्य है। ग्राम पंचायतों तक पहुंच में आसानी तथा उनकी आर्थिक सम्पन्नता दो परस्पर विरोधी बातें हैं; क्योंकि पंचायत का क्षेत्र जितना अधिक छोटा होगा उस तक लोगों की पहुंच उतनी ही आसानी से हो सकेगी किन्तु उसकी आर्थिक स्थिति उतनी ही कमजोर हो जायेगी। अत: इन दोनों ही विचारों के बीच एक न्यायपूर्ण संतुलन स्थापित करना जरूरी है। यह देखा गया है कि पहुंच की सुविधाओं को प्रभावित किये बिना ही एक संस्था में उपयुक्त आर्थिक स्तर प्राप्त किया जा सकता है।

पंचायतों के आकार का निश्चय करते समय उनके छोटे आकार से सम्बन्धित सुझावों को रद्द कर दिया गया क्योंकि प्रशासकीय एवं आर्थिक दृष्टि से ये उपयुक्त नहीं थे। पंचायतों के आकार को छोटा करने के पक्ष में प्राय: कम लोग हैं। अधिकांश लोग वर्तमान आकार को ही बनाये रखना चाहते हैं। जिन लोगों का यह मत है कि पंचायतों के क्षेत्र को बड़ा कर देना चाहिए वे अपने पक्ष में मुख्य रूप से निम्न तर्क प्रस्तुत करते हैं—

---

1. 'Easy accessibility should be an important consideration in determining the size of the panchayat area."

—The study Team Report, op. cit; P. 26

(i) पंचायत का बड़ा आकार आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न इकाई की स्थापना करेगा।

(ii) बड़ी इकाइयों में अधिक अच्छा नेतृत्व प्राप्त किया जा सकता है।

(iii) जाति भेद के आधार पर पड़े हुए मतभेदों को इससे प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

(iv) स्थापना की लागत कम हो जायेगी।

उक्त चारों ही तर्कों पर एक के बाद एक करके विचार कर लिया जाये तो उपयुक्त रहेगा। यह एक तथ्य है कि यदि वर्तमान आकार को पूरी तरह से बढ़ा दिया जाये तो भी पूर्ण रूप से आर्थिक सम्पन्नता तो प्राप्त नहीं की जा सकती। यह सच है कि बड़ा आकार हो जाने पर साधनों की मात्रा बढ़ जायेगी किन्तु साथ ही यह भी सच है कि प्राप्त होने वाला लाभ जितने लोगों में बंटना है वह संख्या भी कई गुना हो जायेगी। दूसरे, यह भी निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि बड़े आकार वाली पंचायतों में अच्छा नेतृत्व विकसित हो सकेगा। अच्छा नेतृत्व तो केवल तभी उत्पन्न हो सकेगा जबकि प्रजातंत्रात्मक ढंग से योगदान किया जाये। इस दृष्टि से आकार का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। तीसरे, यह आशा भी निराधार सी ही प्रतीत होती है कि इकाई का आकार बढ़ा देने के बाद जाति व वर्ग पर आधारित उसके मतभेद दूर या कम हो जायेंगे। जाति की समस्या हमारे सामाजिक जीवन का एक प्रमुख तत्व है और इसका मुकाबला करने के लिए आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक सभी प्रकार के उपाय बरतने होंगे। चौथे, बड़े आकार के कारण स्थापन के खर्चे में कमी हो जायेगी यह कहना तो बहुत कुछ ठीक ही प्रतीत होता है किन्तु इस एक लाभ के लिए पंचायतों के क्षेत्र को नहीं बढ़ाया जा सकता क्योंकि उनके वर्तमान क्षेत्र को बनाये रखने के पक्ष में दिये जाने वाले तर्क अधिक प्रभावशाली हैं। वर्तमान आकार को बदलने से एक खतरे की सम्भावना यह भी होती है कि अनिश्चय की भावना फैल जायेगी। अध्ययन दल का विचार था कि अब तो स्थायत्व प्राप्त करने के लिए प्रत्येक कदम उठाया जाना चाहिए तथा आकार एवं क्षेत्रीय अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित परिवर्तनों को जहाँ तक सम्भव हो सके निम्न स्तर पर तो करना ही नहीं चाहिए।

पंचायतों के वर्तमान क्षेत्र के अपने कुछ लाभ हैं जिनके कारण इसको बदलना उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। ये लाभ निम्न प्रकार हैं—

१. यह आकार न तो अधिक बड़ा है और न ही अधिक छोटा।

२. पंचायत का मुख्य कार्यालय 'क्षेत्र' के दूरस्थ गांव से भी इतना दूर नहीं है कि वहाँ तक पहुंचने में अधिक परेशानी हो। एक संस्था का जनता के नजदीक होना भी अपने आप में महत्वपूर्ण है।

३. संस्था का आकार इतना बड़ा तो है ही कि कम से कम आर्थिक सम्पन्नता संस्था को प्रदान कर सके।

४. पंचायत क्षेत्र एक या अधिक पटवार क्षेत्रों से सह-आस्तित्व रखते हैं। यह प्रशासकीय एवं समन्वय की दृष्टि से अत्यन्त लाभप्रद है।

५. जनता स्थानीय सरकार की वर्तमान प्रादेशिक इकाइयों से परिचित हो चुकी है।

पंचायत के क्षेत्र का १५०० से लेकर २००० तक की जनसंख्या वाला आकार सन् १९५१ की जनगणना के आधार पर तय किया गया था। जनसंख्या में वृद्धि के साथ यह आकार भी स्वतः ही बढ़ गया। इस समय पंचायतों का आकार दो हजार से लेकर ढ़ाई हजार तक की जनसंख्या के बीच में है।

ग्राम पंचायतों के क्षेत्र एवं बनावट के सम्बन्ध में सादिक अली के सभापतित्व में गठित इस अध्ययन दल ने कुछ सिफारिशें प्रस्तुत कीं। वे सिफारिशें निम्न हैं—

(१) दल ने बताया कि उसने अपने अध्ययन काल में कई एक ऐसे उदाहरणों को देखा जहाँ कि जनसंख्या के आधार पर गठित पंचायत का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो गया था। दूसरी ओर ऐसे भी उदाहरण थे जहाँ कि दो निकट के गांवों को दो अलग-अलग पंचायतों में विभाजित कर दिया गया क्योंकि उनकी जनसंख्या दी गई अधिकतम जनसंख्या से ज्यादा थी। दल ने सुझाया कि ऐसे मामलों में जनसंख्या एवं प्रदेश दोनों को ही पंचायत सीमा निर्धारण का आधार बनाना चाहिए। पंचायत की जनसंख्या तो वर्तमान की भांति २००० से २५०० तक होनी चाहिए किन्तु यह एक कठोर नियम नहीं होना चाहिए तथा दूरी को कम करने एवं अधिकतम सहयोग प्राप्त करने के लिए उपयुक्त समायोजन करते रहना चाहिए।

(२) पंचायत क्षेत्र एवं पटवार क्षेत्रों का सह-अस्तित्व बनाये रखना चाहिए। पंचायत एवं पटवार सर्किल के मुख्य कार्यालय एक ही गांव में होने चाहिए। यद्यपि आज भी ऐसा ही है किन्तु जहाँ पटवार सर्किल तथा ग्राम पंचायतों के मुख्य कार्यालय अलग-अलग गांवों में है वहां आवश्यक परिवर्तन के लिए कदम उठाने चाहिए।

(३) राजस्थान पंचायत अधिनियम, १९५३ में पंचों की कम से कम तथा अधिक से अधिक संख्या क्रमशः ५ और १५ बताई गई है। किन्तु यथार्थ में कम से कम पंचों की संख्या केवल आठ है। अतः दल का सुझाव था कि कानून को वास्तविक दशाओं के अनुकूल बदला जाना चाहिए तथा पंचों की संख्या ८ से १५ तक की जानी चाहिए।

(४) ग्राम पंचायत के पंचों का चुनाव वर्तमान की भाँति ही गुप्त मतपत्र एवं वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए।

(५) पंचायत सर्किल को उतने ही वार्डों में विभाजित कर देना चाहिए जितने कि पंचों का चुनाव करना है। एक वार्ड से केवल एक ही पंच को चुना जाये। यह निश्चित करने के लिए कि पंचायत क्षेत्र के वार्डों का बंटवारा बिना किसी भेदभाव के, वस्तुगत रूप से किया गया है तथा जाति, वर्ग आदि को ध्यान में नहीं रखा गया है, अध्ययन दल ने सुझाया कि विधान सभा की मतदाता सूची में से क्रमानुसार घरों की एक निश्चित संख्या लेकर उनका एक वार्ड बना देना चाहिए।

५

स्थानीय निकायों की बनावट

[THE STRUCTURE OF LOCAL BODIES]

स्थानीय प्रशासन के विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने वाले निकायों की प्रकृति के आधार पर उन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे निकाय आते हैं जिनमें कि विषय पर एवं स्थानीय संस्थाओं के विभिन्न पहलुओं पर विचार–विमर्श किया जाता है। दूसरी श्रेणी में उन निकायों को लिया जाता है जो कि विचार–विमर्श के पश्चात् लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने में योगदान करते हैं। ये दोनों ही प्रकार के निकाय देहाती एवं शहरी दोनों ही क्षेत्रों में अलग-अलग होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन दोनों ही क्षेत्रों में स्थानीय सरकार के विभिन्न निकायों का संगठन देखने का प्रयास किया जाएगा।

शहरी क्षेत्र के स्थानीय निकाय

[Local Bodies in Urban Areas]

शहरी क्षेत्र में भिन्न–भिन्न प्रकार के स्थानीय निकायों का प्रचलन था और है। उनमें से उल्लेखनीय हैं नगर निगम (Municipal Corporation), नगर समिति (Municipal Committee), नगर बोर्ड (Municipal Board), आदि–आदि। भारत के प्रत्येक राज्य में इन निकायों की संख्या एवं संगठन पूरी तरह से एक जैसा नहीं है। उनके बीच पर्याप्त भिन्नता वर्तमान है। अत: यह स्वाभाविक है कि यदि हम निश्चित रूप से इन निकायों की रचना का अध्ययन करना चाहें तो हमको अलग-अलग राज्यों में व्याप्त इनकी विभिन्नताओं पर विचार करना होगा। इसके साथ ही विभिन्न राज्यों में प्राप्त इन निकायों के रूप में कुछ सामान्य विशेषताएं भी हैं।

नगर निगम

[Municipal Corporation]

शहरी क्षेत्र में स्थानीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई नगर निगम होती है जिसकी स्थापना बड़े–बड़े शहरों तथा राजधानी क्षेत्रों (Metropolitan areas) में की जाती है। भारत के विभिन्न शहरों में कुल मिलाकर एक

दर्जन से भी अधिक नगर निगम हैं। पटना, अहमदाबाद, पूना, नागपुर जबलपुर, हैदराबाद, सिकन्दराबाद, बैंगलोर, त्रिवेन्द्रम, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, दिल्ली आदि बड़े नगरों में स्थानीय प्रशासन का संचालन नगर निगमों द्वारा किया जाता है। नगर निगम के कार्य एवं शक्तियों का क्षेत्र नगरपालिकाओं की तुलना में अत्यन्त व्यापक होता है। इनको कर संग्रह की अधिक शक्तियां तो प्राप्त होती ही हैं साथ ही बजट को बनाने एवं कार्यों को सम्पन्न करने में भी नगरपालिकाओं की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। नगरपालिकाओं पर सरकार का जितना नियन्त्रण रहता है उतना नियन्त्रण नगर निगमों के कार्यों एवं प्रशासन पर नहीं रहता। यद्यपि वर्तमान काल में अधिकाधिक नियन्त्रण की प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं किन्तु फिर भी नगरपालिकाओं की तुलना में वे अब भी कम हैं।

विभिन्न नगर निगमों की शक्ति एवं संगठन को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से इनके बीच एकरूपता पाई जाती है। नगर निगम में एक परिषद, कुछ स्थायी समितियां एक मुख्य कार्यपालिका अधिकारी आदि सत्ताएं होती हैं। नगर निगम की परिषद पूरी तरह से एक निर्वाचित निकाय है। निगम में एक अथवा अधिक स्थायी समितियां होती हैं। इनमें से कुछ को अन्तिम निर्णय लेने की वैधानिक शक्ति प्राप्त होती है। राज्य सरकार द्वारा एक मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति की जाती है जिसको मेयर अथवा अन्य कोई नाम दिया जाता है। विषय के महत्व के आधार पर शक्तियों को विभिन्न सत्ताओं के बीच विभाजित किया जाता है। कभी-कभी एक ही कार्य को विभिन्न अधिकारियों के बीच बांट दिया जाता है। नगर निगम के संगठन की पर्याप्त जानकारी के लिए यह उपयुक्त रहेगा कि कलकत्ता और बम्बई जैसे महानगरों में इसके संगठन पर विचार कर लिया जाए।

कलकत्ता नगर निगम

[Calcutta Municipal Corporation]

कलकत्ता नगरपालिका अधिनियम १९५१ को कलकत्ता निगम के इतिहास में एक प्रधान चरण माना जाता है। इसके द्वारा उन परम्परावादी बातों को छोड़ दिया गया जिनके अनुसार धीमी गति से सुधार किए जाते थे। १९५१ के अधिनियम ने सम्पूर्ण व्यवस्था को पुनर्गठित कर दिया। कई एक लेखकों के अनुसार यह कलकत्ता नगरपालिका के जीवन में सुधार मात्र नहीं था वरन यह एक प्रकार की क्रान्ति थी। सुविमल मुखर्जी (Subimal Mukherjie) के शब्दों में यह एक पुराने पेड़ की अव्यवस्थित रूप से विकसित शाखाओं को काटने का प्रयास नहीं था वरन् एक परिचित भूमि पर पुरातन को उखाड़ कर नवीन को आरोपित करना था। यदि पुराने निगम के जीवित पार्षद आज नई बनावट का निरीक्षण करें तो उन्हें लगेगा कि यह उनकी जानी-पहिचानी नहीं है।

इस अधिनियम के अनुसार कलकत्ता में अमरीका में पाई जाने वाली परिषद प्रबन्धक योजना (Council Manager Plan) को लागू किया

गया [1]। इस योजना में कार्यों के पृथक्करण एवं शक्तियों के एकीकरण को मिला दिया जाता है। यह योजना संयुक्त स्टाक के संगठन के सिद्धान्तों पर आधारित रहती है तथा नगर प्रशासन में व्यापारिक सिद्धान्तों को लागू करती है। निगम में नगर परिषद संचालक मण्डल (Board of Directors) की जगह होती है तथा करदाताओं को उसका अंशभागी कहा जा सकता है। नगर प्रबन्धक, परिषद का सवेतनिक अधिकारी होता है और उसके द्वारा निर्धारित नीतियों को लागू करने तथा क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी होता है। यह योजना विचार करने वाली तथा विचार को क्रियान्वित करने वाली संस्थाओं के बीच अन्तर करती है। इसके लिए कार्यपालिका अधिकारी को स्वतन्त्रता दी जाती है और समन्वयकर्ता सत्ताओं के सिद्धान्त को लागू किया जाता है। १९५१ के अधिनियम के अधीन विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए तीन प्रकार की नगरपालिका सत्ताओं की व्यवस्था की गई। ये हैं:–निगम (The Corporation), स्थायी समितियां (The Standing Committees) और आयुक्त (Commissioner)। इन तीनों सत्ताओं में निगम को एक मात्र सर्वोच्च निकाय नहीं माना जा सकता जो कि अन्य निकायों को शक्ति का हस्तांतरण करता हो। अधिनियम के सम्भाग २४ (१) के अनुसार निगम को सामान्य अधिकार प्राप्त हैं किन्तु यह उन कार्यों को करने का कोई अधिकार नहीं रखती जो कि अधिनियम द्वारा अथवा अन्य किसी कानून द्वारा स्थायी समिति या आयुक्त को सौंपे गए हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि शक्तियों के वितरण पर कानूनी सीमाएं हैं तथा प्रत्येक निकाय अपने क्षेत्र में अन्य निकाय के हस्तक्षेप के बिना ही कार्य कर सकता है।

कलकत्ता नगर निगम में पारषद (Councillors), न्यायाधीश (Aldermen), मेयर (Mayor) तथा उप–मेयर (Deputy Meyor) आदि होते हैं। पारषदों की संख्या वार्डों की संख्या पर निर्भर करती है। सन् १९५१ में ७५ वार्ड होने के कारण पारषदों की संख्या भी ७५ थी। इनके अतिरिक्त नगर विकास न्यास का अध्यक्ष इसका पदेन सदस्य था। ये पारषद मिलकर पांच न्यायाधीशों (Aldermen) को चुनते थे। न्यायाधीशों का सहयोग सहकृत के सिद्धान्त का प्रतीक है। १९५१ के अधिनियम द्वारा यह व्यवस्था की गई कि कोई भी ऐसा व्यक्ति न्यायाधीश के चुनाव के लिए खड़ा नहीं हो सकता जो कि एक बार पारषद के पद के लिए खड़ा हुआ हो और हार गया हो। यह व्यवस्था इसलिए की गई ताकि गन्दी राजनीति से प्रभावित उन लोगों के व्यवहार पर रोक लगाई जा सके जो कि अपना बहुमत बनाने के लिए हारे हुए मित्रों को साथ लेना चाहते हैं। यह व्यवहार प्रजा-

1. "It is not an attempt to chop off the disorderly overgrown branches of an old tree. It is deplanting the old and replanting a new on the familiar soil."
—*Subimal Mukherjee*, The Machinery of Mun cipal Administration of Calcutta (under the Act of 1951), Problems of Public Administration in India edited by B. B. Majumdar, Pustak Mahal, Patna, P. 257.

तन्त्र के विपरीत है अतः कानून द्वारा इस पर रोक लगा दी गई। पूरा निगम मिलकर अपने मेयर तथा उप-मेयर का चुनाव करता है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, नगर निगम को सामान्य शक्तियाँ सौंपी गई हैं। किन्तु यह उन कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकता जो कि समितियों एवं आयुक्त को दिए गए हैं। इस प्रकार कार्य–विभाजन के मौलिक सिद्धान्त को अपनाया गया है।

नगरपालिका सत्ता का दूसरा प्रकार स्थायी समितियाँ हैं। ये समितियाँ कानूनी होती हैं क्योंकि अधिनियम के सम्भाग १४ में यह कहा गया है कि निर्वाचन के बाद अपनी प्रथम बैठक में ही निगम विभिन्न विषयों पर समितियों की रचना करेगा जैसे शिक्षा, लेखे, कर एवं वित्त, स्वास्थ्य, कस्बा नियोजन एवं विकास-कार्य तथा भवन। इस प्रकार इन सात विषयों पर सात समितियाँ बनाई जाएंगी। इन समितियों के अतिरिक्त निगम द्वारा प्रत्येक बारो के लिए अलग-अलग समितियाँ भी बनाई जाएंगी। एक बारो कम से कम चार और अधिक से अधिक पांच वार्डों को मिलाकर बनाया जाता है। इस प्रकार उक्त सात स्थायी समितियों के अतिरिक्त उतनी ही स्थायी बारो समितियाँ भी होंगी जितने कि बारो होंगे। प्रत्येक स्थायी समिति के कार्य, शक्तियाँ एवं कर्त्तव्य इस उद्देश्य के लिए निगम द्वारा बनाए गए नियमों के आधार पर निश्चित किए जाएंगे। केवल स्थायी लेखा समिति एवं स्थायी वित्त समितियां ही ऐसी हैं जिनके कार्य कानून द्वारा निश्चित कर दिए गए हैं; नहीं तो अन्य समितियों के कार्य निगम द्वारा ही निश्चित होते हैं। बारो समितियों के अपने स्वतन्त्र फण्ड नहीं होते किन्तु निगम द्वारा ही अपने बजट अनुमानों में उन्हें इतना धन दिया जाता है कि वे अपने कार्यों, शक्तियों एवं कर्त्तव्यों का पालन कर सकें। इन स्थायी समितियों के अतिरिक्त दो या अधिक स्थायी समितियों की संयुक्त समितियाँ भी हो सकती हैं। संयुक्त समिति की उप-समितियाँ, विशेष समितियाँ तथा अन्य प्रकार की समितियाँ भी हो सकती हैं।

सन् १९५१ के अधिनियम के आधीन तीसरी नगरपालिका सत्ता आयुक्त (Commissioner) थी। आयुक्त को नगर प्रबन्धक (City Manager) माना जाएगा। इसकी स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण है। अधिनियम के भाग २८ के अनुसार सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्तियां आयुक्त को सौंपी गई हैं। इस प्रकार कार्यों के बीच एक स्पष्ट विभाजक रेखा खींच दी गई है। निगम द्वारा सामान्य विचार विमर्श की शक्तियों का प्रयोग किया जाएगा जबकि आयुक्त द्वारा समस्त कार्यपालिका शक्ति प्रयुक्त की जाएगी। आयुक्त को इस क्षेत्र में निर्विवाद अधिकार प्राप्त नहीं हैं। उसे इस सम्बन्ध में निगम द्वारा बनाए गए नियमों के अनुसार काम करना होता है। आयुक्त की नियुक्ति राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर पांच वर्ष के लिए राज्य सरकार द्वारा की जाती है। आयुक्त निगम का सदस्य नहीं होता लेकिन फिर भी अनेक अवसरों पर उसे निगम की बैठकों में भाग लेने का अधिकार होता है, किन्तु वह मत नहीं दे सकता। आयुक्त की नियुक्ति की शर्तें एवं दशाएं राज्य सरकार द्वारा निश्चित की जाती हैं। सामान्य रूप

से वह पांच वर्ष के लिए ही नियुक्त होता है किन्तु फिर भी निगम द्वारा राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर राज्य सरकार की स्वीकृति के बाद उसके कार्यकाल को अगले पांच वर्ष के लिए और भी बढ़ाया जा सकता है। किन्तु ऐसा वह एक बार ही कर सकता है। आयुक्त को अपने समय से पूर्व भी राज्य सरकार द्वारा हटाया जा सकता है। ऐसा करने के लिए निगम की विशेष बैठक बुलाई जाएगी। उसमें आयुक्त को हटाने का प्रस्ताव रखा जाएगा और यदि आधे से अधिक सदस्य इसका समर्थन करते हैं तो इसे मान लिया जाएगा।

इस अधिनियम के अनुसार आयुक्त का पद अमरीका के नगर-प्रबन्धक से मिलता जुलता है। नगर प्रबन्धक की भांति वह समस्त कार्य-पालिका शक्तियों पर नियन्त्रण रखता है और बिना अनावश्यक हस्तक्षेप के उनका प्रयोग करता है। यदि आयुक्त अपना कार्यकाल समाप्त होने से दो माह पूर्व हटा दिया जाए या त्यागपत्र दे दे या उसकी मृत्यु हो जाए तो उसके स्थान पर कार्यवाहक आयुक्त भी राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जा सकता है। निगम एक अथवा एक से अधिक उप-आयुक्त नियुक्त कर सकता है। इसमें कुछ अन्य अधिकारी भी होते हैं। इनमें से किसी की नियुक्ति तो राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर और किसी की नगरपालिका सेवा आयोग की सिफारिश पर निगम द्वारा की जाती है। नगरपालिका सेवा आयोग, राज्य द्वारा बनाया जाता है। इसमें एक सभापति होता है जो कि राज्य लोक सेवा आयोग का सदस्य होता है और अन्य दो सदस्य होते हैं जिनमें से एक तो राज्य सरकार द्वारा और दूसरा निगम द्वारा नामजद किया जाता है।

संक्षेप में यह कलकत्ता के नगरपालिका अधिनियम के अनुसार वहाँ का नगरपालिका प्रशासन का संगठन है। यह संयुक्त राज्य अमरीका की परिषद प्रबन्धक योजना (City Manager Plan) से बहुत कुछ मिलता जुलता सा है। यदि तुलनात्मक आधार पर अध्ययन किया जाये तो इन दोनों के बीच हमें पर्याप्त समानतायें एवं असमानतायें दृष्टिगोचर होंगी। दोनों के मध्य सर्वप्रथम भेद तो यह है कि कलकत्ता की निगम परिषद का आकार बहुत बड़ा है जबकि अमरीका में प्रबन्धक योजना के अधीन नगर परिषद पर्याप्त छोटे आकार की होती है। संयुक्त राज्य अमरीका में यह एक सामान्य मत है कि सात से लेकर नौ सदस्यों तक की परिषद अधिक प्रभावपूर्ण एवं उपयुक्त होती है तथा इसमें अधिक योग्यता वाले लोगों के आने की सम्भावना बन जाती है। निगम जांच आयोग (Corporation Investigation Commission) का तो यहाँ तक कहना था कि परिषद-प्रबन्धक योजना में नगर परिषद जितनी छोटी होगी वह उतनी ही कार्यकुशल भी होगी। इतने पर भी कलकत्ता निगम के पार्षदों की संख्या को ७५ से कम नहीं किया जा सका। फिर भी इतना अवश्य है कि एक विचार-विमर्श करने वाली संस्था का आकार इतना बड़ा तो होना ही चाहिए। नौ अथवा पांच सदस्यों की परिषद विषय पर अच्छी प्रकार से विचार नहीं कर

सकेगी। परिषद एक नीति-निर्माता निकाय होता है और यह कहा जाता है कि अधिक लोगों के बीच ही बुद्धि का निवास रहता है। यद्यपि परिषद का बहुत बड़ा आकार अनेक समस्याओं से पूर्ण है किन्तु छोटा आकार भी समस्याओं से अछूता नहीं है। मैक्डानल्ड के कथनानुसार क्योंकि परिषद पूरी तरह से एक विचार-विमर्श करने वाली संस्था है अतः इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता कि इसे पांच व्यक्तियों तक ही सीमित रख दिया जाये।[1] यह सच है कि छोटे आकार की परिषदें अमरीका में कुशलतापूर्वक कार्य कर रही हैं किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि बड़े आकार की परिषदों में वांछित कार्यकुशलता रह ही नहीं सकती। किसी विचार-विमर्श करने वाले तथा नीति-निर्माता निकाय के आकार में वृद्धि को उस समय तक गलत नहीं माना जाना चाहिए जब तक कि वह अव्यवस्था की सीमा तक न पहुंच जाये। कार्यकुशलता को मापदण्ड बनाकर परिषद का कोई निश्चित आकार निर्धारित नहीं किया जा सकता। जहाँ नगर के जीवन की समस्यायें कम तथा साधारण हैं वहाँ परिषद का छोटा आकार अत्यन्त कार्यकुशल सिद्ध हो सकता है। जहाँ पर समस्यायें अनेक हैं, विभिन्न प्रकार की हैं तथा जटिल हैं वहाँ अनेक दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व होना चाहिए और इसलिए आकार भी बड़ा होना चाहिए। उसमें विभिन्न भौगोलिक, आर्थिक एवं सामाजिक समूह का प्रतिनिधित्व होना चाहिए किन्तु यह निकाय इतना बड़ा न हो जाये कि कोरा वाद-विवाद का स्थल ही बन कर रह जाये। यह संदिग्ध है कि मात्र पांच या छः सदस्यों की परिषद बड़े नगर के जीवन के विभिन्न पहलुओं का प्रतिनिधित्व कर पायेगी। इस प्रकार आकार के बारे में कोई भी कठोर रुख नहीं अपनाया जा सकता। यह तो एक देश की विशेष परिस्थितियों पर निर्भर करता है। संयुक्त राज्य अमरीका में भी आजकल यह विचार जोर पकड़ता जा रहा है कि विचार-विमर्श करने वाली इस संस्था के आकार की वृद्धि उसकी कार्यकुशलता पर बुरा प्रभाव नहीं डालती। अतः कलकत्ता नगर निगम की परिषद के आकार का बड़ा होना अपने आप में कोई आलोचना का विषय नहीं माना जाना चाहिए।

एक दूसरा वाद-विवाद का प्रश्न नगर प्रबन्धक की नियुक्ति एवं पदच्युति से सम्बन्ध रखता है। कलकत्ता अधिनियम के अधीन उसे आयुक्त (Commissioner) कहा गया है। हम यह देख चुके हैं कि उसकी नियुक्ति पांच वर्ष के लिए राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर राज्य सरकार द्वारा की जाती है। उसकी सेवा की शर्तें एवं दशायें भी राज्य सरकार द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। उसे राज्य सरकार द्वारा कभी भी हटाया जा

---

1. "Since the council is purely a deliberative or policy determining body, there is no reason why it should be restricted to five members."
—*Macdonald*, American city government and administration, 1951, P. 239

सकता है। निगम भी बहुमत से यदि प्रस्ताव पास कर दे तो वह हटा दिया जायेगा। असल में आयुक्त निगम का सेवक होता है। उसका मुख्य उत्तर-दायित्व उन नीतियों एवं कार्यक्रमों को क्रियान्वित करना है जो कि एक विचार-विमर्श के निकाय के रूप में निगम द्वारा निर्धारित की गई हैं। यद्यपि दिन प्रतिदिन के कार्य की दृष्टि से आयुक्त निगम का सेवक होता है तथा उसी के फन्ड से वह वेतन पाता है किन्तु नियुक्ति एवं पदच्युति के मामलों में उसको सरकार का सेवक बनाया गया है। इस प्रकार दो मालिकों की सेवा करते हुए आयुक्त के व्यवहार में अनेक प्रकार की समस्यायें पैदा हो सकती हैं। आदेश की एकता (Unity of Command) के सिद्धान्त को न अपनाने के कारण उत्तरदायित्व के निर्धारण में भी भ्रम पैदा हो सकता है। आयुक्त पर राज्य सरकार का नियन्त्रण अधिक प्रभावपूर्ण है क्योंकि वह जब चाहे तभी उसे पद से हटा सकती है जब कि निगम को ऐसा करने के लिए बहुमत से प्रस्ताव पास करने की आवश्यकता है। मनुष्य स्वभाव से अपने आपको उसका सेवक मानता है जो कि उसकी नियुक्ति करे तथा जो उसे हटाने की शक्ति भी रखे। इस रूप में राज्य सरकार का निगम के कार्यपालिका अध्यक्ष पर वास्तविक नियन्त्रण रहेगा। इस पहलू की पर्याप्त आलोचना की गई है। विधेयक को जब व्यवस्थापिका में प्रस्तुत किया गया तो एक सदस्य ने कहा था कि इस प्रकार निगम अपने चरित्र की स्वतन्त्रता को खो देगा और सरकार के एक विभाग जैसा बन जायेगा। सभी आलोचनाओं का केन्द्रीय विचार यह था कि इसके द्वारा राज्य के असीमित नियन्त्रण का क्षेत्र खुल जायेगा। यह विधेयक एक प्रकार से प्रगतिशील कलकत्ता के उत्थान को दबाने का एक प्रयास था। आयुक्त अपनी नियुक्ति की दृष्टि से निर्देशन के लिये सचिवालय की ओर देखेगा। यह एक प्रकार से जनता की स्वतन्त्रता पर एक आक्रमण है और श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी की स्मृति की तौहीन है।

अमरीका में नगर प्रबन्धक (City Manager) की नियुक्ति कुछ दूसरे ही प्रकार से होती है। नगर परिषद का सेवक होने के कारण वह उसी के द्वारा असीमित काल के लिए नियुक्त किया जाता है। यह कहा जाता है कि वह उस समय तक अपने पद पर रहेगा जब तक कि वह संतोष-जनक रूप से कार्य करता रहे। वह परिषद के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहेगा और अप्रत्यक्ष रूप से नगर के लोगों के प्रति। मैक्सी (Maxey) के मतानुसार नगर प्रबन्धक योजना की एक विशेषता यह है कि नगर प्रबन्धक को पार्षद आयोग द्वारा अनिश्चित समय के लिये चुना जायेगा तथा उसे कभी भी हटाया जा सकता है। वह एक उच्च वेतन प्राप्त कार्यपालिका होती हैं।[1] मैकोर्कले (Mac Corkle) लिखते हैं कि नगर प्रबन्धक एक नियुक्त कार्यपालिका है उसे केवल भाड़े पर लिया ही नहीं जा सकता किन्तु

---

1. "The city manager is appointed by the Councillor commission for an indefinite term of office and may be removed at any time and is a highly salaried professional executive."

—*Maxey*, The American problem of Government, ch. 13.

नगर परिषद द्वारा उसे कभी भी हटाया भी जा सकता है।[1] नगर प्रबन्धक अपने पद पर नगर परिषद की कृपापर्यन्त रहता है। नियमानुसार वह तब तक इस पद पर बना रहेगा जब तक कि नगर परिषद उससे त्यागपत्र देने की प्रार्थना न करे अथवा वह अपनी इच्छा से ही त्यागपत्र न दे दे।[2] इस प्रकार संयुक्त राज्य अमरीका में नगर प्रबन्धक को परिषद द्वारा नियुक्त एवं पदच्युत किया जा सकता है जब कि कलकत्ता में इन दोनों कार्यों के समय राज्य सरकार सामने रहती है। यहां राज्य का नियन्त्रण अधिक स्पष्ट एवं व्यापक है। आयुक्त की नियुक्ति एवं पद-विमुक्ति पर सरकार की स्वीकृति आवश्यक होने के कारण उसे कार्यालय की सुरक्षा प्राप्त हो जाती है और वह प्रभावशील पार्षदों के हाथों की कठपुतली बनकर जैसा वे चाहें वैसा करने के लिये मजबूर नहीं होता। अधिनियम के निर्माताओं ने आयुक्त की नियुक्ति एवं पद-विमुक्ति के मामले में परिषद को मुख्य तत्व बनाने के स्थान पर सरकार को सर्वोच्च बना दिया। आलोचकों का तर्क था कि इस प्रकार की व्यवस्था ने आयुक्त को निगम से स्वतन्त्र बनाकर द्वैत शासन की स्थापना का प्रयास किया। असल में स्थानीय स्वायत्त सरकार एवं प्रजातन्त्र के सिद्धान्तों के आधार पर सरकार को निगम की स्वायत्तता एवं नागरिकों के नागरिक अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये।

परिषद प्रबन्धक योजना का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि प्रबन्धक के हाथों में समस्त प्रशासकीय सत्ता एकत्रित हो जाती है। प्रबन्धक परिषद के प्रति उत्तरदायी होता है। वह परिषद के निर्देशन में रहकर समस्त प्रशासकीय कार्यों के बीच समन्वय करता है तथा परिषद के प्रति प्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी रहता है। उत्तरदायित्व का यह तत्व कलकत्ता नगरपालिका अधिनियम में भी पाया जाता है किन्तु किसी भी समय उसे हटा सकने का राज्य सरकार का अधिकार इसे महत्वहीन बना देता है। एक आयुक्त जो कि परिषद द्वारा बनाई गई नीतियों एवं योजनाओं को उचित रूप से क्रियान्वित कर रहा है, यदि किसी कारणवश मन्त्री को नाखुश कर दे तो उसे तुरन्त हटा दिया जायेगा। इसी प्रकार यदि सरकार

---

1. "The City manager is an appointive executive..He is not *only hired but like-wise may be discharged by* the city council."

   —*Mac Corkle*, American Municipal Government and Administration. 1948, PP. 271-273

2. "The city manager owes his position to the city council..As a rule the manager holds his position until such a time as the council may request his resignation unless he resign of his own will."

   —*Zink*, Government of Cities in the United States, 1948, P. 323.

यह समझती है कि एक प्रबन्धक कुशलतापूर्वक अपने पद पर कार्य कर रहा है तो भी यदि वह परिषद के बहुमत का समर्थन खो दे तो उसे हटाया जा सकता है। इस प्रकार आयुक्त के दो स्वामी हो जाते हैं और यदि उनकी दलीय स्थिति एक दूसरे से भिन्न है तो दोनों को खुश रखना कठिन हो जायेगा। दोनों के बीच संघर्ष होना अपरिहार्य है और जब वे अपनी शक्ति आजमाने में लगे होंगे तो आयुक्त बेचारा बीच में वैसे ही पिसता रहेगा। इस प्रकार यह उपबन्ध गतिरोध भी पैदा कर सकता है। आयुक्त की नियुक्ति एवं पद-विमुक्ति के मामले में सरकार का नियन्त्रण आवश्यक है किन्तु यह एक अस्थायी रूप में होना चाहिये। इस सम्बन्ध में मूल शक्ति निगम के पास रहनी चाहिये। सरकार का कार्य तो केवल स्वीकृति प्रदान करने के औपचारिक दायित्व को पूरा करना होना चाहिये। सरकार को तो केवल रोक एवं प्रतिबन्ध लगाने चाहिये उसे स्वयं निर्देशन एवं आचरण नहीं करना चाहिये। सरकार का नियन्त्रण अस्थायी होना चाहिये।

आयुक्त का पद महत्वपूर्ण होने के कारण कुछ विशेष गुणों की मांग करता है जिनके होने पर ही एक व्यक्ति इस पद के दायित्वों का भली प्रकार एवं संतोषजनक रूप में निर्वाह कर पायेगा। एक कार्यकुशल प्रबन्धक को सभी कलाओं एवं विज्ञानों का प्रकाण्ड ज्ञाता होना चाहिए। इसमें बुद्धि, राजनीतिज्ञता, धैर्य, साहस आदि गुणों का उचित समन्वय होना जरूरी है। व्यवहार की दृष्टि से कोई भी एक व्यक्ति दिल, दिमाग और चरित्र के इन अप्राप्य गुणों को परस्पर मिलाने में असमर्थ रहेगा। केवल अमानवीय गुणों से युक्त उच्च व्यक्तित्व ही इस पद की आवश्यक विशेषताओं से युक्त हो सकते हैं। संयुक्त राज्य अमरीका में एक लम्बे व्यवहार के परिणामस्वरूप नगर प्रबन्धक का एक व्यावसायिक वर्ग ही बन गया है। कलकत्ता में यह एक नया प्रयोग था तथा यहाँ की समस्यायें अधिक जटिल थीं। अमरीका में नगर प्रबन्धक योजना के बड़े से बड़े शहर की जनसंख्या भी कलकत्ता की जनसंख्या से कम है। इसके अतिरिक्त वहां इस योजना को ऐसे समय में लागू किया गया जबकि पूर्वी पाकिस्तान से शरणार्थी भारी संख्या में शरण लेने के लिए कलकत्ता के आस-पास जमा हो रहे थे। शहर नियोजन, गृहनिर्माण, सफाई जल वितरण, नालियां आदि की समस्यायें ऐसी स्थिति में कई गुना हो जाती हैं। ऐसी स्थिति में कलकत्ता नगर निगम की स्थापना उसकी सफलता के लिए एक बड़ी चुनौती थी।

बम्बई नगर निगम
[Bombay Municipal Corporation]

बम्बई नगर निगम का इतिहास भी अपने पीछे स्थानीय लोक प्रशासन की लम्बी परम्पराएं रखता है। वर्तमान समय में बम्बई नगर निगम की अनेक समन्वयकर्त्ता कानूनी सत्ताएं हैं। इनमें परिषद सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। परिषद में कुल मिलाकर १२४ सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन क्षेत्र की जनता द्वारा किया जाता है। निर्वाचन के उद्देश्य से महा बम्बई को ४१ वार्डों में विभाजित किया गया है। परिषद की माह में एक बार बैठक होना

आवश्यक है। किन्तु व्यवहार में यह सप्ताह में दो बार तथा आवश्यकता पड़ने पर कई बार बैठकें बुला लेती है। परिषद की बैठकों की अध्यक्षता मेयर द्वारा की जाती है जो कि प्रतिवर्ष अप्रेल में होने वाली इसकी प्रथम बैठक में निर्वाचित किया जाता है।

बम्बई नगर निगम में परिषद के अतिरिक्त एक स्थायी समिति होती है जिसे कि अन्य कानूनी सत्ता माना जा सकता है। इसे मौलिक रूप से सन् १८७२ के बम्बई अधिनियम III (Bombay Act III of 1872) के द्वारा की गई थी ताकि नगर आयुक्त के ऊपर वित्तीय नियन्त्रण रखा जा सके। उस समय इसे नगर परिषद (Town Council) कहा जाता था। इसमें बारह पार्षद होते थे इनमें से चेयरमैन सहित चार की नियुक्ति सरकार द्वारा की जाती थी। सन् १८८८ में नगर परिषद की जगह स्थायी समिति स्थापित की गई जिसे प्रतिवर्ष अपना सभापति चुनने का अधिकार दिया गया। सन् १९२२ में समिति का आकार बढ़ा दिया गया। अब इसमें सोलह सदस्य रखे गए जिनमें से बारह परिषद द्वारा निर्वाचित और चार सरकार द्वारा मनोनीत होते थे। सन् १९३१ में इसके संविधान में संशोधन किया गया और नामजदगी की प्रथा को समाप्त कर दिया गया। इस समय समिति में सोलह सदस्य हैं। ये सभी परिषद द्वारा निर्वाचित होते हैं। समिति के आधे सदस्य प्रत्येक वर्ष के अन्तिम दिनों में सेवा निवृत हो जाते हैं। शिक्षा समिति का सभापति स्थायी समिति का अतिरिक्त सदस्य होता है। इसके सभापति को प्रतिवर्ष प्रथम बैठक में इसके सदस्यों द्वारा चुना जाता है। स्थायी समिति के मुख्य कार्य हैं—ठेकों को स्वीकृति देना, बजट की छानबीन करना, सेवा सम्बन्धी नियम बनाना, धन को खर्च करने की अनुमति देना, लेखे रखने का तरीका निश्चित करना तथा लेखों की छान बीन करना, आदि। यह समिति प्रति सप्ताह एक बार मिलती है।

स्थायी समिति के अलावा एक विकास समिति (The Improvement Commitee) होती है जोकि सभी विकास एवं सुधार योजनाओं को संचालित करने के लिए उत्तरदायी है। यह समिति गन्दी बस्तियों की सफाई, गरीबों के रहने का प्रबन्ध, भूमि की खरीद एवं बिक्री आदि विषयों से सम्बन्ध रखती है। इसका संविधान बहुत कुछ स्थायी समिति से मिलता है। यह प्रायः महीने में दो बार मिलती है।

बम्बई विद्युत वितरण एव संचार समिति नामक एक अन्य समिति होती है जो कि विद्युत वितरण एवं यातायात उद्यमों से सम्बन्ध रखती है। इस समति में नौ सदस्य होते हैं। इसका एक सदस्य स्थायी समिति का सभापति होता है। इस पदेन सदस्य के अतिरिक्त अन्य सदस्यों की नियुक्ति परिषद द्वारा ऐसे लोगों में से की जाती है जो कि उसके सदस्य हो भी सकते हैं और नहीं भी। इन सदस्यों को प्रशासन, यातायात या विद्युत वितरण अथवा इन्जीनियरिंग, औद्योगिक, व्यापारिक, वित्तीय या श्रम मामलों में अनुभव होता है। इस समिति का सभापति प्रति वर्ष समिति के सदस्यों द्वारा चुना जाता है। सभापति एवं सदस्यों को समिति की बैठकों में उपस्थित होने के लिए पारिश्रमिक प्रदान किया जाता है। समिति को यह

अधिकार है कि अपनी उप-समितियां नियुक्त कर सके और उनको यह अपनी शक्तियां एवं कर्तव्यों में से हस्तांतरण कर सके। यह समिति निगम के विद्युत प्रसारण एवं यातायात उद्यम पर सामान्य नियन्त्रण रखती है। ऐसा करते समय वह परिषद की शक्ति के आधीन रहती है।

बम्बई नगर निगम में एक अन्य महत्वपूर्ण समिति शिक्षा समिति है जिसमें कि सोलह सदस्य होते हैं। इनमें से बारह सदस्य तो पारषद होते हैं और अन्य चार सदस्य गैर पार्षद होते हैं। गैर-पार्षद सदस्यों की नियुक्ति के लिए योग्यतायें निर्धारित करदी गई हैं। जिस व्यक्ति में ये योग्यताएं हों उसको समिति का सदस्य बनाया जा सकता है। प्रत्येक वर्ष के अन्त में इसके आधे सदस्य सेवा–निवृत हो जाते हैं। यह समिति महिने में एक बार मिलती है और प्राथमिक शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर विचार करती है।

उक्त समितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य विशेष समितियां भी होती हैं जो कि परिषद द्वारा नियुक्त की जा सकती हैं और जिनको परिषद अपनी शक्तियां सौंप सकती है। ऐसा करने के लिए परिषद को अपने सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पास करना होगा। परिषद द्वारा इन विशेष समितियों का कार्य-क्षेत्र परिभाषित कर दिया जाता है, और इस प्रकार एक विषय को तत्सम्बन्धी समिति के पास भेजा जा सकता है। ये समितियां अपने लिए प्रस्तुत किए गए विषयों पर पर्याप्त विचार करने के बाद परिषद को अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करती हैं। सन १९५६–५७ में चार इस प्रकार की विशेष समितियां थीं। ये थीं-कार्य समिति (Works Committee), बाजार एवं उद्यान समिति (Markets and Gardens Committee), मेडीकल सुविधा और जन–स्वास्थ्य समिति (Medical Relief and Public Health Committee), कानून, राजस्व एवं सामान्य उद्देश्य समिति (Law, Revenue and General Purposes Committee)। इनमें से प्रत्येक विशेष समिति में चौबीस सदस्य होते थे जिनकी नियुक्ति चयन समिति की सिफारिशों के आधार पर परिषद द्वारा की जाती थी। चयन समिति की नियुक्ति प्रत्येक सामान्य चुनाव के बाद होती थी। प्रत्येक विशेष समिति में एक सभापति होता था और एक उप–सभापति जो कि एक वर्ष तक अपने पद पर कार्य करते थे। उनको पुन: निर्वाचित भी किया जा सकता था।

इन समितियों के अतिरिक्त कुछ अन्य प्रकार की समितियां भी होती थीं जिनको सम्पर्क समिति (Consultative Committee) कहा जाता था। परिषद किसी भी विषय को इन समितियों में विचारार्थ भेज सकती थी जिस पर पर्याप्त विचार करने के बाद ये समितियां अपना प्रतिवेदन परिषद को भेजती थीं। इस प्रकार की समितियों के सदस्यों की संख्या पर किसी प्रकार की सीमा नहीं लगाई गई।

विभिन्न प्रकार की इन समितियों के अलावा नगर निगम की एक अन्य सत्ता नगर आयुक्त (Municipal Commissioner) है। नगर आयुक्त की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है। वह प्राय: भारतीय प्रशासनिक सेवा का सदस्य होता है। वैसे वह तीन वर्ष के लिए नियुक्त होता है किन्तु

उसे पुन: नियुक्त भी किया जा सकता है। सभी पार्षदों के ५/८ मत से उसे कभी भी हटाया जा सकता है। वह प्रशासकीय स्टाफ का अध्यक्ष होता है। वह परिषद तथा उसकी समितियों की बैठकों में उपस्थित रहता है, वाद-विवाद में भाग लेता है किन्तु मत देने का अधिकार नहीं रखता।

सामान्य प्रबन्धक (General Manager) की नियुक्ति राज्य सरकार की स्वीकृति से परिषद द्वारा की जाती है। यह अधिकारी अपना पूरा समय निगम की सेवाओं में व्यतीत करता है। इसे पुन: कई बार चुना जा सकता है। इसका एक बार का अधिक से अधिक कार्यकाल पांच वर्ष होता है। इसे परिषद के पूर्ण सदस्यों के आधे मत द्वारा ही हटाया जा सकता है। विद्युत वितरण एवं यातायात उद्यमों के सम्बन्ध में उसके कर्त्तव्य नगर आयुक्त से मिलते हैं।

बम्बई नगर निगम की वित्तीय शक्तियां केवल कुछ करों तक ही सीमित हैं जिनका कि व्यक्तिगत रूप से उल्लेख कर दिया गया है। यह प्रवृत्ति आजकल बदल चुकी है। बाद में बनाए गए नियमों में यह प्रयास किया गया है कि कानूनी उपबन्धों के क्षेत्र को बढ़ाया जाए ताकि सरकार आवश्यकता के अनुसार कर लगा सके।

पटना नगर निगम
(Patna Municipal Corporation)

बिहार में सन् १९५६–५७ के समय शहरी स्थानीय प्रशासन के लिए तीन प्रकार की संस्थाएं कार्य कर रही थीं। ये हैं—नगर निगम, नगर-पालिकाएं, और सूचित क्षेत्र समितियां (Notified Area Committees)। इनमें से नगर निगम संस्था पटना में कार्य करती है। पटना का नगर निगम उसी श्रेणी में आता है जिसमें कि अहमदाबाद, बम्बई, पूना, नागपुर आदि नगरों के निगम आते हैं। यह कलकत्ता और मद्रास के निगमों से भिन्न है। इन दोनों प्रकार के निगमों की रचना यद्यपि कार्यों के वितरण के सिद्धान्त पर आधारित हैं किन्तु फिर भी दोनों प्रकारों के बीच पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर समितियों के स्तर एवं शक्तियों से सम्बन्ध रखता है। पटना नगर निगम के कार्यों को सम्पन्न करने के लिए मुख्य रूप से तीन प्रकार की सत्ताएं हैं—परिषद, स्थायी समिति, मुख्य कार्यपालिका अधिकारी। परिषद की महत्वपूर्ण शक्तियों का सम्बन्ध बजट, सामान्य नीतियां, बड़े समझौते एवं नियुक्तियों से रहता है। परिषद को नियम एवं उप-नियम बनाने की शक्ति है। स्थायी समितियों की शक्तियां एवं कार्य, कार्यपालिका एवं वित्तीय प्रशासन से सम्बन्ध रखते हैं। इसका एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के कार्यों एवं निर्णयों पर नियन्त्रण स्थापित करना है। इस व्यवस्था में परिषद को नगर का सर्वोच्च प्रशासकीय निकाय माना गया है तथा मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को परिषद एवं इसकी समितियों की इच्छा तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने वाला कहा गया है। प्रशासकीय उत्तरदायित्व को विषय के महत्व के अनुसार बांटा गया है। उदाहरण के लिए मुख्य अभियन्ता, स्वास्थ्य का मेडीकल अधिकारी, उप मुख्य कार्यपालिका अधिकारी तथा पर्याप्त वेतन पाने वाले अन्य ऐसे ही

अधिकारियों की नियुक्ति परिषद द्वारा की जाती है। छोटी-मोटी नियुक्तियों को मुख्य कार्यपालिका अधिकारी कर लेता है। प्रशासकीय उत्तरदायित्वों का यह विभाजन प्रशासकीय नीतियों के निर्माण तथा नीतियों के क्रियान्वयन के भेद पर आधारित है।

परिषद की शक्तियों को उसकी स्थायी समितियों में भी बांट दिया गया है। विभाजन के सिद्धान्त समान हैं। इस विभाजन के सिद्धान्त की दो विशेषताएं हैं। प्रथम, विस्तृत कार्यों के सम्बन्ध में कार्यपालिका सत्ता का वैधानिक सम्भाग है। दूसरे, स्वयं कानून द्वारा समिति को परिषद के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। पटना में भी स्थायी समिति को बम्बई की भांति कुछ प्रशासकीय कार्य सौंपे गए हैं; जैसे कम धन वाले ठेकों की स्वीकृति, छोटी-मोटी नियुक्तियां, आदि। इस सम्बन्ध में दो पहलुओं पर मुख्य रूप से विचार किया जा सकता है। प्रथम यह है कि क्या समिति को कुछ ऐसी शक्तियां देना उपयुक्त था जिनका प्रयोग वह अपनी नियुक्तिकर्ता परिषद के नियन्त्रण से बाहर रहकर कर सके और दूसरे, क्या यह सही था कि प्रशासकीय कार्य को कठोर लाईनों पर वितरित कर दिया जाए। वास्तविक व्यवहार की दृष्टि से देखा जाए तो समिति का स्वतन्त्र व्यवहार यथार्थ से दूर है क्योंकि दूसरे चुनाव का भय समिति के सदस्यों पर सदैव ही छाया रहता है। उन्हें अपनी शक्तियों का प्रयोग इस रूप में करना होता है जिसे कि परिषद के सदस्यों का बहुमत पसन्द करे। ऐसा होने पर ही वे पुन: निर्वाचित होन का स्वप्न देख सकते हैं। ऐसी स्थिति में उद्देश्य असफल हो जाता है।

पटना नगर निगम में ५२ सदस्य होते हैं। सदस्यों की यह संख्या कानून द्वारा निर्धारित की गई है। पारषद कहलाने वाले कुल सदस्यों में से ३७ सदस्य निर्वाचित होते हैं, पांच सदस्य निर्वाचित एवं नियुक्त पारषदों द्वारा सहवृत किए जाते हैं। इनमें से एक अनुसूचित जाति का होता है, चार अधिकारी इसके प्रदेन सदस्य होते हैं। निर्वाचन की दृष्टि से निगम के अधिकार क्षेत्र में आने वाले पूरे प्रदेश को ३७ वार्डों में विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक वार्ड चार वर्ष के कार्यकाल के लिए एक सदस्य चुनता है। इसके पदेन सदस्यों में जनस्वास्थ्य, जनस्वास्थ्य इंजीनियरिंग, जन कार्य विभाग के प्रमुख तथा पटना विकास न्यास का सभापति होता है। पटना नगर निगम में पदेन एवं नियुक्त सदस्यों की परम्परा बम्बई से ग्रहण की गई है, जहां इसे छोड़कर अब पूर्णत: निर्वाचित परिषद को अपना लिया गया है। कलकत्ता नगर निगम में इस प्रकार का कोई उपबन्ध नहीं है। मनोनीत तथा पदेन सदस्यों की व्यवस्था अप्रजातन्त्रात्मक मानी जाती है। इस व्यवस्था को चाहे किसी भी आधार पर न्यायोचित ठहराया जाए किन्तु प्रजातन्त्र की दृष्टि से यह अनुपयुक्त ही कही जाएगी। इसी प्रकार नियुक्त किए जाने वाले सदस्यों का उपबन्ध भी अप्रजातन्त्रात्मक है। कभी-कभी वे निर्वाचित समूह के बीच सन्तुलन स्थापित कर लेते हैं। परिणामस्वरूप कई बार ऐसा होता है कि एक नियुक्त सदस्य अपने आपको सभापति के रूप में निर्वाचित करने में सफल हो जाता है। पटना नगर निगम अपनी स्थापना के बाद कई वर्षों तक नियुक्त सदस्य के सभापतित्व में रही। कभी-कभी निर्वाचित बहुमत के

नेता को नागरिक प्रशासन का अध्यक्ष होने से रोक दिया जाता है। नामजदगी की व्यवस्था की अतीतकाल में हमारे नेताओं ने पर्याप्त आलोचनाएं की हैं। स्वतन्त्रता के बाद अनेक राज्यों में इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया किन्तु बिहार ने इसे अपना कर अपनी रूढ़िवादिता एवं नौकरशाही दृष्टिकोण का परिचय दिया। उपबन्ध में सहवृत के सिद्धान्त को अपना लेने के बाद भी नामजदगी की व्यवस्था को बनाए रखना निगम पर अनुचित रूप से केन्द्रीय नियन्त्रण को स्थापित रखा। फ्रांस, अमरीका तथा ग्रेट ब्रिटेन में इस व्यवस्था का कोई उदाहरण प्राप्त नहीं होता। निगम के लिए होने वाले निर्वाचनों में प्रत्येक वह व्यक्ति बोल सकता है जो कि २१ वर्ष का है तथा पटना में रहता है। प्रत्येक मतदाता को निर्वाचन वाले वर्ष में पटना की सीमाओं में कम से कम छः माह तक रहना जरूरी है। कोई भी कम्पनी अथवा संस्था, यदि वह मतदाता के रूप में रजिस्टर में लिखी जा चुकी है, मत देने का अधिकार रखती है।

जब परिषद की प्रथम बैठक होती है तो वह उसमें एक मेयर और एक उपमेयर का चुनाव करती है। यह चुनाव एक वर्ष के लिए किया जाता है और एक व्यक्ति को एक से अधिक वर्षों तक पुनः अवसर दिया जा सकता है। पटना नगर निगम में मेयर का कार्यालय बम्बई की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। मेयर स्थायी समिति का पदेन सदस्य होता है। जब मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति की जाती है तो मेयर से विचार-विमर्श किया जाता है। इस प्रकार मेयर केवल एक नागरिक अध्यक्ष ही नहीं है वरन् इससे भी कुछ अधिक है। स्थायी समिति का सभापति होने के कारण यह राजनैतिक कार्यपालिका निकाय का अध्यक्ष बन जाता है और इस प्रकार वित्तीय प्रशासन से सम्बन्धित मामलों में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के कार्यों का निरीक्षण करता है। बम्बई या कलकत्ता का मेयर नगरपालिका प्रशासन में इतना महत्वपूर्ण नहीं होता। इन महत्वपूर्ण कार्यों के अतिरिक्त मेयर अन्य सामान्य कर्त्तव्यों का निर्वाह भी करता है, उदाहरण के लिए निगम की बैठकों की अध्यक्षता करना, उसकी बैठकें बुलाना तथा कार्य-सूची तैयार करना आदि। उपमेयर, मेयर का अनुपूरक होता है। वह ऐसे समयों में मेयर के कार्यों को सम्पन्न करता है जबकि मेयर अनुपस्थित हो। मेयर स्थायी समिति का पदेन सदस्य होता है।

निगम की शक्तियां [Powers of the Corporation]—पटना नगर निगम की महत्वपूर्ण शक्तियों का सम्बन्ध नियम व उपनियम बनाने, महत्वपूर्ण नियुक्तियां करने, बड़े ठेके करने, बजट के अनुमान पास करने तथा नगर की सरकार की सामान्य समस्याओं से रहता है। इस प्रकार निगम को अधिकार है कि वह अपनी बैठकों का कार्य संचालन करने के लिए नियम तथा उपनियम बना सके; साथ ही नियुक्त किए जाने वाले अधिकारियों एवं सेवकों की नियुक्ति का तरीका, उनकी सेवा की शर्तें, जैसे कर्त्तव्य, नियुक्ति, छुट्टी, सजा, पदविमुक्ति आदि का भी निश्चय करते हैं। निगम द्वारा बनाए गए ये नियम राज्य सरकार की स्वीकृति के विषय होते हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निगम इस क्षेत्र में पहल करने की शक्ति रखता है, अन्तिम निर्णय लेने की शक्ति नहीं। तीन सौ रुपये से कम वेतन पाने वाले

अधिकारियों की नियुक्ति निगम द्वारा की जा सकती है। निगम की यह शक्ति भी असीमित नहीं है। इसे लोक सेवा आयोग से विचार-विमर्श करना होता है और इसलिए इसकी शक्तियों पर प्रतिबन्ध लगा हुआ है। उप मुख्य कार्य-पालिका अधिकारी की नियुक्ति के समय मेयर को राज्य सरकार की स्वीकृति लेनी होती है। राज्य सरकार की स्वीकृति के बाद निगम कर लगा सकता है। इसकी कर लगाने की शक्ति पर भी कुछ प्रतिबन्ध लागू किए गए हैं। बजट बनाते समय भी निगम मनमानी नहीं कर सकता क्योंकि बजट की मदें उसी प्राथमिकता में रखनी होती हैं जो कि कानून द्वारा बनाई गई हैं। निगम की एक अन्य महत्वपूर्ण शक्ति यह है कि वह एक विशेष उपबन्ध द्वारा अपनी किसी भी शक्ति को किसी भी विचार–विमर्श की समिति के लिए हस्तांतरित कर सकती है, यद्यपि इस शक्ति का प्रयोग उसके द्वारा बहुत कम ही किया जाता है।

निगम की ये विभिन्न महत्वपूर्ण शक्तियां हैं। इन सभी का प्रयोग वह विभिन्न समितियों एवं मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की सहायता एवं सहयोग से करता है। असल में देखा जाए तो ये शक्तियां पहल करने की शक्तियां हैं। वास्तविकता यह है कि इन शक्तियों के प्रयोग पर इतने प्रतिबन्ध लगे हुए हैं कि निगम यह नहीं सोच पाता कि उसका भी स्वतन्त्र राजनैतिक अस्तित्व है और अपने आन्तरिक मामलों तक का प्रबन्ध करने की उसे स्वतन्त्रता है। निगम माह में कम से कम एक बार अवश्य मिलती है। इसकी साधारण बैठकों के लिए कुल संख्या का १/३ होने पर गणपूर्ति मानी जाती है जबकि असाधारण बैठकों के लिए आधे सदस्यों का होना जरूरी है।

समितियां [The Committees]—पटना नगर निगम व्यवस्था में दो प्रकार की समितियां है। एक प्रकार की समितियां स्थायी समितियां हैं और दूसरे प्रकार की समितियां विचार–विमर्श करने वाली समितियां हैं। इन दो समितियों के बीच मूल अन्तर उन शक्तियों के आधार पर है जिनका कि ये प्रयोग करती हैं। स्थायी समिति (The Standing Committee) तीन समन्वयकर्त्ता नगरपालिका सत्ताओं में से एक है। अधिनियम द्वारा इसको कुछ शक्तियां सौंप दी गई हैं। परामर्शदात्री समितियां (Consul-ttive Committees) के पास ये शक्तियां नहीं होती। जैसा कि इनके नाम से प्रतीत होता है परामर्शदात्री समितियां मुख्य रूप से परामर्श देने वाले निकाय हैं। इनको कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां प्राप्त नहीं हैं। फिर भी निगम द्वारा उनको कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य भी सौंपे जा सकते हैं। इस प्रकार इन समितियों का अधिकार क्षेत्र स्थायी समिति के अधिकार क्षेत्र से पूर्णत: भिन्न होता है। इसकी शक्तियां निगम द्वारा सौंपी जाती हैं और उनको कभी भी वापस लिया जा सकता है। स्थायी समिति की शक्तियो को निगम इस प्रकार वापस नहीं ले सकता।

स्थायी समिति के कार्य वे हैं जो कि वित्त एवं कार्यपालिका समिति द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। इसकी शक्तियों का सम्बन्ध नियुक्ति, ठेके, तथा बजट निर्माण आदि से होता है। १५० से लेकर ३०० रुपये प्रति माह वेतन पाने वाले पदों पर नियुक्तियां करने की शक्ति इसे प्राप्त होती है। इस शक्ति

का प्रयोग समिति द्वारा निगम की स्वीकृति के आधार पर किया जा सकता है। ५००० से अधिक और ५०००० रुपयों से कम खर्चे वाले प्रत्येक ठेके पर स्थायी समिति की स्वीकृति आवश्यक समझी जाती है। बजट अनुमानों को तैयार करने का उत्तरदायित्व मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर होता है किन्तु निगम के सम्मुख प्रस्तुत किए जाने से पूर्व उन पर समिति द्वारा पूर्णतः विचार किया जाता है। समिति को यह अधिकार है कि वह एक ही मुख्य शीर्षक के अधीन, एक बजट अनुदान की मात्रा अथवा उसके कुछ भाग को दूसरे में भेज दे अथवा उसे कम करदे। इस प्रकार की प्रत्येक कमी एवं परिवर्तन की सूचना आवश्यक रूप से निगम को देनी होती है। यदि रुपयों की मात्रा ५०० से ऊपर है तो निगम जैसी चाहे वैसी आज्ञा प्रसारित कर सकता है।

स्थायी समिति को वित्तीय प्रशासन के कुछ पहलुओं में भी कुछ अधिकार होते हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रशासकीय मामलों में भी मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को स्थायी समिति की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है।

स्थायी समितियों के अतिरिक्त दूसरे प्रकार की समितियां परामर्शदात्री समितियां होती हैं। ऐसी समितियों की संख्या चार हैं—(i) शिक्षा समिति, (ii) मेडिकल, जनस्वास्थ्य और पशु चिकित्सा समिति, (iii) जन-कार्य समिति, (iv) बाजार और बाग समिति। इनमें से प्रत्येक समिति के लिए यथोचित विषय विचारार्थ प्रस्तुत किया जाता है। इसका अर्थ यह है कि शिक्षा से सम्बन्धित सभी मामले पहले शिक्षा समिति द्वारा देखे जायेंगे और उसके बाद परिषद इस समिति के प्रतिवेदन के आधार पर ही कार्य करेगी। यदि निगम चाहे तो अपनी कुछ शक्तियां विशेष प्रस्ताव द्वारा इन समितियों को हस्तांरित कर सकता है।

स्थायी समिति में दो पदेन सदस्य तथा तेरह निर्वाचित सदस्य होते हैं। मेयर तथा उपमेयर इसके पदेन सदस्य हैं। इसके तेरह सदस्यों का चुनाव हर तीसरे वर्ष निगम की प्रथम बैठक में किया जाता है। मेयर इस समिति का सभापति होता है। यदि कोई सदस्य बिना छुट्टी प्राप्त किए लगातार दो महीने अनुपस्थित रहता है तो उसकी सदस्यता समाप्त हो जाती है। समिति के सदस्य पुनः निर्वाचित होने का अधिकार रखते हैं। दूसरी ओर प्रत्येक परामर्शदात्री समिति में कम से कम पांच और अधिक से अधिक नौ सदस्य होते हैं। सदस्यों का निर्वाचन एक वर्ष के लिए निगम द्वारा किया जाता है। प्रत्येक समिति अपने एक सदस्य को सभापति चुन लेती है। यदि समिति चाहे तो एक विशेष प्रस्ताव द्वारा निश्चित समय के लिए किसी ऐसे व्यक्ति को अपने कार्यों में सहयोग देने के लिए आमन्त्रित कर सकती है जो कि परिषद का सदस्य नहीं है। इस प्रकार से लिए हुए सदस्यों को समिति की बैठकों में मत देने का अधिकार नहीं होता।

इस प्रकार स्थायी समिति एवं परमर्शदात्री समितियों के आकार एवं संगठन में पर्याप्त अन्तर होता है। स्थायी समिति किसी बाहर के व्यक्ति को अपनी बैठकों में सहयोग देने के लिए नहीं बुला सकती। स्थायी समिति का कार्यकाल भी परामर्शदात्री समिति की तुलना में दुगुना होता है।

एक समिति द्वारा कितना कार्य किया जाएगा, यह बात अनेक तत्वों पर निर्भर करती है; उदाहरण के लिए स्थानीय परिषद के साधन तथा स्रोत, परिषद में बहुमत दल की नीतियां एवं कार्यक्रम तथा स्वयं परिषद की सत्ता का विस्तार आदि। इसी प्रकार एक समिति का आकार भी कई तत्वों पर निर्भर करता है, उदाहरण के लिए परिषद के कुल सदस्यों की संख्या, परिषद की समितियों की कुल संख्या, आदि। यद्यपि समितियों का आकार एक सामान्य प्रश्न है जिस पर अलग से विचार किया जा सकता है किन्तु फिर भी साधारण रूप से यह समझा जा सकता है कि छोटी समितियां प्रभावशाली विचार–विमर्श के लिए अधिक उपयुक्त रहती हैं तथा उनके सदस्यों में उत्तरदायित्व की भावना अपेक्षाकृत अधिक होती है। दूसरी ओर बड़े आकार की समितियों के भी कुछ अपने लाभ हैं जिनके आधार पर ई डी० साईमन (E. D. Simon) ने बड़ी समितियों का समर्थन किया है। बड़ी समिति का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि वह परिषद के सभी भागों का प्रतिनिधित्व कर पाती है। दूसरे, कुछ समितियों का कार्य इतना भारी तथा विभिन्नता–पूर्ण होता है कि उसे सम्पन्न करने के लिए उपसमितियां नियुक्त करना जरूरी हो जाता है। इस प्रकार सिद्धान्त रूप से परिषद की समितियों के आकार के सम्बन्ध में कोई एकरूपता नहीं हो सकती।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी (The Chief Executive Officer)–इस अधिकारी की नियुक्ति बिहार लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर राज्य सरकार द्वारा की जाती है। राज्य सरकार निगम के मेयर से भी सलाह लेती है। यह नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए की जाती है। एक बार कार्यकाल समाप्त होने के बाद एक ही व्यक्ति को पुन: भी नियुक्त किया जा सकता है। पटना नगर निगम में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की स्थिति बम्बई तथा कलकत्ता से भिन्न है। बम्बई में नगरपालिका आयुक्त को तीन वर्ष के लिए नियुक्त किया जाता है तथा कुल पारषदों के ५/८ मतों से कभी भी हटाया जा सकता है। कलकत्ता में उसकी नियुक्ति पाँच वर्ष के लिए होती है किन्तु राज्य लोक सेवा आयोग से विचार करने के बाद तथा राज्य सरकार से स्वीकृति मिल जाने के बाद भी वह केवल एक ही वर्ष के लिए उसका कार्य-काल बढ़ा सकती है।

पटना नगर निगम का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी राज्य सरकार द्वारा ही हटाया जा सकता है। यद्यपि ऐसा करने से पूर्व वह बिहार लोक सेवा आयोग से विचार विनिमय करेगी। जब निगम के प्रस्ताव पर अथवा वैसे ही राज्य सरकार को यह विश्वास हो जाए कि मुख्य कार्यपालिका अधिकारी अपने पद के दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ है अथवा उसने कोई गलत कार्य किया है तो राज्य सरकार बिना किसी बात की प्रतीक्षा किए उसे उसके पद से हटा देगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि पटना में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर निगम का नियन्त्रण कलकत्ता की अपेक्षा कमजोर है। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी का वेतन तथा भत्ते राज्य सरकार द्वारा तय किए जाते हैं तथा इनको उसके कार्यकाल में नहीं बदला जा सकता। यद्यपि सामान्य रूप से वह भारतीय प्रशासनिक सेवा से लिया जाता है किन्तु फिर भी उसे नागरिक सेवा के बाहर से भी लिया जा सकता है।

वह प्रशासकीय स्टाफ का अध्यक्ष होता है तथा नगरपालिका के प्रचलित प्रशासन के लिए उत्तरदायी है। वह समितियों एवं परिषद की इच्छा तथा निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी है। वह निगम तथा उसकी समितियों की बैठकों में भाग लेने का अधिकार रखता है किन्तु मतदान नहीं कर सकता। इसके साथ ही उसको कुछ स्वतन्त्र शक्तियां भी प्राप्त होती हैं। वह कुछ छोटी-मोटी नियुक्तियां करने तथा ठेके करने के कार्य भी कर सकता है। १५० रु० प्रति माह वेतन से नीचे पाने वाले सभी पदों पर नियुक्तियाँ उसी के द्वारा होती हैं। पांच सौ रुपयों से नीचे के खर्चे वाले ठेके भी उसके द्वारा किए जाते हैं। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को कुछ अन्य प्रशासकीय शक्तियां भी प्रदान की गई हैं। वह बजट के अनुमान तैयार करता है तथा कर लगाने के लिए मूल्यांकन सूची बनाता है। राज्य सरकार द्वारा उसे मूल्यांकन सूची के विरुद्ध ऐतराजों को सुनने की शक्ति भी प्रदान की गई है। किसी दुर्घटना, अकल्पित घटना अथवा चुनौती देने वाली स्थिति की दशा में वह कोई भी ऐसा कदम उठा सकता है जैसा कि उस संकट काल में न्यायोचित समझा जाए किन्तु इस कदम की सूचना उसे स्थायी समिति अथवा निगम को देनी होगी।

पटना नगर निगम पर सरकार का नियन्त्रण [Governmental Control over Patna Municipal Corporation]:—जब राज्य सरकार यह अनुभव करे कि नगरपालिका सत्तायें अपना कार्य ठीक प्रकार नहीं कर रही हैं तो वह उनसे ऐसा करने के लिए आग्रह कर सकती है। इतने पर भी यदि वे आवश्यक कदम उठाने में असफल रहती हैं तो राज्य सरकार द्वारा उन्हें सम्पन्न करने के लिए किसी अन्य व्यक्ति को नियुक्त किया जा सकता है। जब राज्य सरकार यह अनुभव करती है कि निगम के किसी अधिकारी अथवा सेवक ने अपने कर्त्तव्यों का ठीक ढंग से पालन न करके शक्तियों का दुरुपयोग किया है तो वह नगरपालिका सत्ताओं को उसे दण्डित करने के लिए आदेश एवं निर्देश प्रसारित कर सकती है। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार को यह अधिकार है कि कानून, शान्ति एवं सुरक्षा के नाम पर नगरपालिका सत्ताओं के किसी भी प्रस्ताव या आज्ञा को क्रियान्वित होने से रोक दे। इस प्रकार राज्य सरकार निगम के ऊपर अनेक प्रकार की शक्तियां रखती है।

नगर निगम के कार्यों पर राज्य सरकार के नियन्त्रण की मात्रा बहुत अधिक है। असल में निगम द्वारा ऐसा कोई भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया जाता जिसमें कि राज्य सरकार से सम्पर्क स्थापित न किया गया हो। निगम द्वारा राज्य सरकार की स्वीकृति के बिना कोई भी कर नहीं लगाया जा सकता। निगम जिन नियमों एवं उपनियमों को बनाती है उन पर राज्य सरकार की स्वीकृति आवश्यक है। राज्य द्वारा नगर निगम को दिए जाने वाली सहायता एवं अनुदान भी एक ऐसा साधन है जिसके माध्यम से वह निगम के कार्यों पर पर्याप्त नियन्त्रण रखने में सफल हो जाती है।

कुल मिलाकर वस्तु स्थिति के निरीक्षण के बाद यह कहा जा सकता है कि पटना नगर निगम द्वारा लिए गये किसी भी निर्णय पर राज्य सरकार निषेध अधिकार रखती है। एक तो पटना नगर निगम अधिनियम का आकार

ही पर्याप्त बड़ा है । व्यवस्थापिका ने ही उसके ऊपर अनेक प्रकार के गम्भीर प्रतिबन्ध लगा दिये हैं । साथ ही व्यवस्थापिका ने कार्यपालिका को नियंत्रण की विस्तृत शक्तियां दी हैं जिनको नौकरशाही के द्वारा काम में लाया जाता है । व्यवस्थापिका के व्यवहार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसने स्थानीय स्तर के अपने साथियों में भारी अविश्वास दिखाया है तथा राज्य सरकार पर अधिक विश्वास किया है । राज्य सरकार एवं स्थानीय परिषद को एक दूसरे को विश्वास में रखकर कार्य करना चाहिए । विश्वास से ही विश्वास पैदा होता है । जब तक राज्य सरकार का इस परिषद पर अविश्वास बना रहेगा तब तक वह परिषद के दिल में भी अपने प्रति विश्वास पैदा नहीं कर सकती ।

स्थानीय परिषद पर राज्य सरकार के अतिशय नियंत्रण के पक्ष में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं । यह कहा जाता है कि राज्य सरकार के पास ज्ञान एव अनुभव अपेक्षाकृत अधिक होता है और इसलिए वह स्थानीय सत्ताओं को सही दिशा में निर्देश एवं प्रथ-प्रदर्शन करने में समर्थ है । दूसरे, राज्य सरकार का यह मुख्य उत्तरदायित्व है कि वह यह देखे कि स्थानीय सत्तायें ठीक प्रकार से कार्य कर रही हैं अथवा नहीं । अपने उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिए इसे शक्तियों की आवश्यकता है तथा जरूरत पड़ने पर यह उन शक्तियों का प्रयोग भी कर सकती है । तीसरे, अतीत काल में स्थानीय निकायों ने बड़े ही अनुत्तर-दायित्वपूर्ण ढंग से कार्य किया है । इस अनुभव का लाभ उठाते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि अब उनके कार्यों पर पर्याप्त नियंत्रण रखा जाये । इन सभी मान्यताओं में सत्यता का कुछ अंश है । विचार यह किया जाना चाहिए कि नियंत्रण के ये तरीके प्रभावशाली हैं अथवा नहीं तथा इन सभी नियंत्रण के तरीकों को बनाये रखना कहां तक उचित है ।

नगरपालिका
[Municipality]

भारत के विभिन्न नगरों में नगरपालिका का प्रारम्भ किसी न किसी रूप में ब्रिटिश शासन काल में ही हो चुका था । यद्यपि उस समय उनका रूप एवं कार्य क्षेत्र आज की तुलना में बहुत कुछ भिन्न था । उस समय इन संस्थाओं का लक्ष्य भी आज से भिन्न था । ये केन्द्रीय सरकार के कार्यभार को कम करने के लिए तथा उसके घाटे के बजट पर अतिरिक्त भार पड़ने से रोकने के लिए स्थापित की गई थीं । जनता को प्रशासनिक कार्यों में प्रशिक्षित करना तथा जनसाधारण को प्रजातंत्र के सिद्धान्तों का परिचय देना इसका उद्देश्य नहीं था । विभिन्न महानगरों की भांति बिहार में नगरपालिकाओं के विकास के लिए विभिन्न व्यवस्थापन किये गये । सन् १८६४ में जिला नगरपालिका विकास अधिनियम ने एक नगरपालिका निकाय की स्थापना का प्रावधान रखा जिसमें संभाग का आयुक्त, मजिस्ट्रेट, कार्यपालिका अभियन्ता तथा सात स्थानीय निवासी रखे जाने थे । इस निकाय के करों का मूल स्रोत जमाखोरी था किन्तु वह घोड़ों, गाड़ियों, हाथियों एवं वाहनों पर भी कर लगा सकता था । लाइसेंस के द्वारा व्यापार को नियंत्रित करने का प्रयास किया गया । १८६७ के अधिनियम ने उक्त अधिनियम में संशोधन किया तथा नगरपालिका को यह शक्ति दी कि टीकों पर भी वह धन खर्च कर सके तथा नगरपालिका

क्षेत्र में आने वाले अस्पतालों पर २५० रु० प्रतिमास तक खर्च कर सके। यह अधिनियम केवल बड़े एवं विकसित कस्बों पर ही लागू होता था। जब १८७६ में इसे समाप्त किया गया तो यह अधिनियम केवल २५ कस्बों में ही प्रभावशील था।

सन् १८६६ के जिला कस्बा अधिनियम ने छोटे कस्बों में भी नगरपालिका संस्थाओं के लिए उपबन्ध रखा। ऐसी समितियों की स्थापना के लिए भी प्रावधान रखे गये जिनमें पांच से कम सदस्य न हों। इनमें अधिक से अधिक एक-तिहाई सरकारी अधिकारी हो सकते थे। इन समितियों द्वारा कस्बे के कार्यों का संचालन किया जाना था। यह निवासियों पर कर लगा सकती थी जो कि ७ रु० से अधिक नहीं होता था। यह कर मजिस्ट्रेट द्वारा नियुक्त व्यक्ति द्वारा इकट्ठा किया जाना था। यह व्यक्ति ही नगरपालिका की कार्यपालिका का कार्य करता था। सन् १८७२ में नगरपालिका से सम्बन्धित चार अधिनियम बंगाल में सक्रिय थे। उस समय बिहार बंगाल का ही एक भाग था। इन अधिनियमों को १८७६ के अधिनियम द्वारा बदला गया। अब नगरपालिकाओं को जनसंख्या तथा जनसंख्या के फैलाव के आधार पर दो भागों में बांट दिया गया। इसके बाद सन् १८८७ का अधिनियम आया जो कि पूरे चालीस वर्षों तक प्रभावशील रहा। सन् १९२२ में एक अधिनियम पास किया गया और इसके द्वारा नगरपालिकाओं के संविधान का प्रजातंत्रीकरण करने का प्रयास किया गया। इस अधिनियम में कई बार संशोधन किये गये। बिहार की नगरपालिकायें मुख्यतः इसी अधिनियम के अनुसार संगठित की गई हैं। बाद में नगरपालिका अधिनियम १९५७ के द्वारा नगरपालिकाओं के रूप एवं कार्य क्षेत्र में क्रान्तिकारी रूप से परिवर्तन किये गये।

नगरपालिकाओं की रचना [The Structure of Municipalities]:—भारत के विभिन्न राज्यों में नगरपालिकाओं की रचना का तरीका एक जैसा ही नहीं है। उनके बीच अनेक जगहों पर थोड़ा बहुत अन्तर अवश्य है। वैसे आम रूप से राज्य सरकार किसी भी ऐसे कस्बे में नगरपालिका का संगठन करा देती है जो कि इन शर्तों को पूरा करता हो:—

(i) उस कस्बे की जनसंख्या कम से कम पांच हजार हो;

(ii) तीन चौथाई प्रौढ़ पुरुष जनसंख्या कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय पर निर्भर रहती हो;

(iii) इसके प्रति वर्गमील क्षेत्र पर एक हजार व्यक्ति रहते हों।

सरकार को यह अधिकार है कि वह नगरपालिका के अधिकार क्षेत्र के प्रदेश को परिभाषित कर सके। कानून ने राज्य सरकार को यह शक्ति प्रदान की है कि वह नगरपालिकाओं को अधिनियम के उन उपबन्धों से मुक्ति प्रदान कर सके जो कि उसके लिए अनावश्यक हैं।

प्रत्येक नगरपालिका में एक परिषद (Council) होती है। एक नगर परिषद की सदस्य संख्या का निर्णय वहां की जनसंख्या के आधार पर राज्य सरकार द्वारा किया जाता है। फिर भी किसी नगर परिषद में प्रायः दस से कम तथा चालीस से अधिक सदस्य नहीं होते। एक परिषद के ४/५ सदस्य वयस्क मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं।

शेष सदस्यों को राज्य सरकार द्वारा नामजद किया जाता है ताकि वे अल्पसंख्यकों एवं विशेष हितों का प्रतिनिधित्व कर सकें।

चुनाव की दृष्टि से सारे कस्बे को राज्य सरकार द्वारा वार्डों में विभाजित कर दिया जाता है। साथ ही वह यह भी निश्चित कर देती है कि एक वार्ड से कितने सदस्य लिए जायेंगे। चुनाव से सम्बन्धित सभी पहलुओं एवं समस्याओं के सम्बन्ध में राज्य सरकार द्वारा नियम बना दिये जाते हैं जिनके आधार पर चुनाव का तरीका, समय, मतदान, मतगणना, याचिका, निर्णय आदि अनेक बातें स्पष्ट हो जाती है। नगर परिषद के सदस्यों का कार्यकाल पाँच वर्ष है। किसी–किसी राज्य में इसका कार्यकाल केवल तीन वर्ष ही रखा गया है। भारत में स्थानीय परिषदों की शक्ति को बढ़ाने की ओर प्रवृति हो रही है। स्थानीय निकायों में वयस्क मताधिकार प्रारम्भ होने के बाद से यह प्रवृति और भी अधिक उभरती चली आ रही है। नगर परिषद की सदस्य संख्या का निर्णय किस प्रकार किया जाये यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पंजाब तथा मध्यप्रदेश में नगर परिषद के सदस्यों की संख्या पांच है जबकि उत्तर प्रदेश में इसकी संख्या आठ है। परिषद के आकार का निश्चय करने के लिए पं० डी० पी० मिश्रा द्वारा एक अत्यन्त रोचक तरीका सुझाया गया है। वह परिषद के आकार का परिषद के चुनाव में डाले गये कुल मतों के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं। उनका कहना है कि प्रत्येक नगरपालिका क्षेत्र को जनसंख्या के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जायेगा, जैसे पांच सौ या एक हजार मतों के पीछे एक सदस्य लिया जायेगा। नगरपालिका समिति की कुल संख्या डाले गये मतों की संख्या पर निर्भर करेगी। बड़े कस्बों में मतदाताओं की संख्या को पांच सौ से अधिक बढ़ा दिया जाये ताकि सदस्यों की कुल संख्या आवश्यकता से अधिक न हो सके। इस तरीके के अन्तर्गत एक कस्बे में उतनी ही छोटी या बड़ी समितियां होंगी जितनी कि रुचि एवं उत्साह दलों द्वारा मतदाताओं के मन में पैदा किया जा सकेगा। अधिकतम सीमा तो उसी परिस्थिति में प्राप्त हो सकेगी जबकि शत प्रतिशत मतदान हुआ हो।

यद्यपि यह सुझाव अत्यन्त रुचिकर है किन्तु इससे अनेक गम्भीर व्यावहारिक समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। परिषद के आकार का निर्णय उस समय किया जायेगा जबकि चुनाव पूरे हो जायें। राजनैतिक दल भी इसमें

---

1. "Each Municipal area will be given representation on a population basis, say, one member for each 500 or 1000 voters... The total strength of a Municipal Committee will depend on the number of votes polled. In case of big towns the base of 500 votes may be raised so as to limit the total strength to a reasonable and workable figures.... Under this method each town will have longer or smaller committees according to the interest and enthusiasm which the parties may be capable of rouring in the mind of the voters. The maximum limit will be reached only in case of hundred percent poll."

—Quoted by *R. Argal*, Municipal Government in India, page 63.

कठिनाई का अनुभव करेंगे कि वे कितने उम्मीदवार खड़े करें। यह योजना सरकार के रूप पर ध्यान नहीं देती तथा परिषद के कार्य का भी ध्यान नहीं रखती। चुनाव के समय मतदाताओं की रुचि क्या थी–इसके आधार पर परिषद द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रसार को निश्चित करना पूर्णत: अनुचित प्रतीत होता है। मतदाताओं का व्यवहार अनेक प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। यदि सारी बातें सामान्य रूप से चलती रहें और किसी विशेष पहलू को उठाकर जनमत को ओजित न किया जाये तो अधिकांश मतदाता अपना मत भी डालना नहीं चाहेंगे। इस प्रकार द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा सुझाई गई यह योजना देखने में जितनी आकर्षक प्रतीत होती है, व्यवहार में यह उतनी ही अनुपयोगी है।

बिहार राज्य की नगरपालिकाओं की परिषद के सदस्यों का कार्यकाल पांच वर्ष होता है। राज्य सरकार इस काल से पूर्व भी किसी सदस्य को उसके अपराध एवं दुराचरण के लिए पद–विमुक्त कर सकती है अथवा वह सदस्य कोई अनैतिक कार्य करता है तथा नगरपालिका की परिषद की कुल संख्या का दो तिहाई बहुमत उस सदस्य को हटाने का प्रस्ताव पास करदे तो वह हटा दिया जायेगा। निर्वाचित सदस्य को वापिस बुलाने का भी उपबंध है। यदि एक वार्ड के तीन चौथाई सदस्य मिलकर राज्य सरकार से प्रार्थना करें तो पर्याप्त पूछ-ताछ के बाद उस सदस्य को हटाया जा सकेगा। किन्तु यह कदम उस समय तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उस सदस्य को कार्य करते हुए कम से कम एक वर्ष व्यतीत न हो गया हो। इस उपबन्ध का मतदाताओं द्वारा कभी उपयोग नहीं किया गया।

नगरपालिका के सदस्यों का चुनाव करने वाले मतदाताओं की योग्यतायें स्वतंत्रता से पूर्व तो अनेक प्रकार की रखी जाती थीं तथा सम्पत्ति, शिक्षा, जायदाद आदि की योग्यताओं के आधार पर ही मतदान करने का अधिकार प्रदान किया जाता था। उस समय पृथक निर्वाचन व्यवस्था भी अपनाई जाती थी। अब इन सबको मिटाकर केवल वयस्क मताधिकार को प्रारम्भ कर दिया गया है। अनेक राज्यों में बहु–सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों (Multi-member Constituencies) का प्रचलन है। मद्रास में सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्येक वार्ड से लगभग १२ सदस्यों को निर्वाचित किया जाता है। उत्तर प्रदेश में कानून के अनुसार एक वार्ड से चुने जाने वाले सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ७ हो सकती है तथा कम से कम संख्या ३ रहेगी इससे कम नहीं। बम्बई तथा बंगाल में कोई एक संख्या निश्चित नहीं की गई है। पंजाब तथा मध्य प्रदेश में एकहरे सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (Single member Constituencies) हैं।

परिषद अपने में से ही एक सदस्य को अध्यक्ष चुन लेती है। यदि राज्य सरकार ने कानून द्वारा नगरपालिका को ऐसा करने से वंचित रख दिया हो तो बात दूसरी है। अध्यक्ष का एक मात्र कार्य परिषदों की बैठकों की अध्यक्षता करना होता है; यहां तक कि वह समाज का नागरिक अध्यक्ष भी नहीं है वह तो मात्र कार्यकर्त्ता होता है।

परिषद की शक्तियां एवं कार्य [The Powers and Functions of the Council]—परिषद एक सर्वोच्च सत्ता होती है और वह उन सभी कार्यों

के लिए उत्तरदायी है जो कि नगरपालिका को सौंपे गये हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बम्बई और मद्रास राज्यों में कानून ने कार्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया है–बाध्यकारी कार्य और ऐच्छिक कार्य। बाध्यकारी कार्यों की श्रेणी में जिन कार्यों को समाहित किया जा सकता है उनमें मुख्य हैं—जनस्वास्थ्य, जनसुरक्षा, जनकार्य एवं प्राथमिक शिक्षा, प्रकाश, सार्वजनिक नालियों की सफाई, अग्निरक्षा, आक्रमणकारी अथवा खतरनाक व्यापार को नियमित करना, शमशान भूमियों को नियमित करना, सार्वजनिक गलियों, बाजारों, शौच स्थानों, तालाबों, कुओं आदि की रचना एवं सुरक्षा, जलवितरण, जन्म को रजिस्टर में लिखना, शादियों तथा मृत्युओं का लेखा रखना, चिकित्सालय, मैडीकल राहत, प्राथमिक स्कूल आदि–आदि।

ऐच्छिक कार्यों का सम्बन्ध सामान्य रूप से नई सार्वजनिक गलियां बनाने तथा पार्क, पुस्तकालय, अजायबघर, दुग्धशाला आदि की स्थापना अथवा रचना से होता है।

बिहार में नगरपालिका की परिषद अपनी शक्तियों का प्रयोग समितियों, सभापति, उपसभापति, वैतनिक अधिकारियों एवं सेवकों की सहायता से करती है। एक रूप में समितियों को प्रत्येक नगरपालिका के संविधान का महत्वपूर्ण भाग माना जा सकता है। कुछ समितियों की नियुक्ति तो आवश्यक मानी जाती है; उदाहरण के लिए जल समिति। कानून के अनुसार जिन विषयों पर परिषद द्वारा समिति नियुक्त की जा सकती हैं वे है—वित्त, जनस्वास्थ्य, जनकार्य, शिक्षा, अस्पताल तथा कानून के लक्ष्यों से सम्बन्धित किसी भी विशेष विषय के सम्बन्ध में। किन्तु यदि नगरपालिका को नल के पानी के वितरण का कार्य सौंपा गया है तो यह उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह एक जल कार्य समिति आवश्यक रूप से नियुक्त करे।

परिषद की समिति में कम से कम तीन सदस्य होना जरूरी है किन्तु सदस्यों की संख्या छः से अधिक भी नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्तियों को भी समिति का सहवृत सदस्य बनाया जा सकता है जो कि असल में परिषद के सदस्य नहीं हैं किन्तु इन सदस्यों की संख्या समिति की कुल सदस्य संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती। जल कार्य समिति के लिये बिहार नगरपालिका में विशेष उपबन्ध है। इसकी सदस्यता चार तक सीमित कर दी गई है। इनमें से एक तो राज्य सरकार द्वारा नामजद होता है और तीन को परिषद द्वारा निर्वाचित किया जाता है। जल कार्य समिति में सहवृत सदस्य लेने का प्रावधान नहीं है।

नगरपालिका की कार्यपालिका [The executive of Municipality]—सामान्य रूप से नगरपालिका प्रशासन में छः प्रकार की कार्यपालिकायें होती हैं। कार्यपालिका के ये विभिन्न प्रकार अलग–अलग देशों में धीरे–धीरे विकसित हुये हैं। ये परस्पर रूप एवं गुण में भिन्नतायें रखते हैं। इन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) **कार्यपालिका के रूप में परिषद (The Council as Executive)**- इस व्यवस्था में परिषद ही कार्यपालिका सम्बन्धी एवं नीति-निर्माण सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करती है। ये शक्तियां परिषद की समितियों के माध्यम से

कठिनाई का अनुभव करेंगे कि वे कितने उम्मीदवार खड़े करें। यह योजना सरकार के रूप पर ध्यान नहीं देती तथा परिषद के कार्य का भी ध्यान नहीं रखती। चुनाव के समय मतदाताओं की रुचि क्या थी—इसके आधार पर परिषद द्वारा किये जाने वाले कार्यों के प्रसार को निश्चित करना पूर्णतः अनुचित प्रतीत होता है। मतदाताओं का व्यवहार अनेक प्रकार की परिस्थितियों से प्रभावित होता है। यदि सारी बातें सामान्य रूप से चलती रहें और किसी विशेष पहलू को उठाकर जनमत को ओजित न किया जाये तो अधिकांश मतदाता अपना मत भी डालना नहीं चाहेंगे। इस प्रकार द्वारकाप्रसाद मिश्र द्वारा सुझाई गई यह योजना देखने में जितनी आकर्षक प्रतीत होती है, व्यवहार में यह उतनी ही अनुपयोगी है।

बिहार राज्य की नगरपालिकाओं की परिषद के सदस्यों का कार्यकाल पांच वर्ष होता है। राज्य सरकार इस काल से पूर्व भी किसी सदस्य को उसके अपराध एवं दुराचरण के लिए पद–विमुक्त कर सकती है अथवा वह सदस्य कोई अनैतिक कार्य करता है तथा नगरपालिका की परिषद की कुल संख्या का दो तिहाई बहुमत उस सदस्य को हटाने का प्रस्ताव पास करदे तो वह हटा दिया जायेगा। निर्वाचित सदस्य को वापिस बुलाने का भी उपबंध है। यदि एक वार्ड के तीन चौथाई सदस्य मिलकर राज्य सरकार से प्रार्थना करें तो पर्याप्त पूछ-ताछ के बाद उस सदस्य को हटाया जा सकेगा। किन्तु यह कदम उस समय तक नहीं उठाया जा सकता जब तक कि उस सदस्य को कार्य करते हुए कम से कम एक वर्ष व्यतीत न हो गया हो। इस उपबन्ध का मतदाताओं द्वारा कभी उपयोग नहीं किया गया।

नगरपालिका के सदस्यों का चुनाव करने वाले मतदाताओं की योग्यतायें स्वतंत्रता से पूर्व तो अनेक प्रकार की रखी जाती थीं तथा सम्पत्ति, शिक्षा, जायदाद आदि की योग्यताओं के आधार पर ही मतदान करने का अधिकार प्रदान किया जाता था। उस समय पृथक निर्वाचन व्यवस्था भी अपनाई जाती थी। अब इन सबको मिटाकर केवल वयस्क मताधिकार को प्रारम्भ कर दिया गया है। अनेक राज्यों में बहु–सदस्य निर्वाचन क्षेत्रों (Multi-member Constituencies) का प्रचलन है। मद्रास में सामान्य व्यवहार के अनुसार प्रत्येक वार्ड से लगभग १२ सदस्यों को निर्वाचित किया जाता है। उत्तर प्रदेश में कानून के अनुसार एक वार्ड से चुने जाने वाले सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या ७ हो सकती है तथा कम से कम संख्या ३ रहेगी इससे कम नहीं। बम्बई तथा बंगाल में कोई एक संख्या निश्चित नहीं की गई है। पंजाब तथा मध्य प्रदेश में एकहरे सदस्य निर्वाचन क्षेत्र (Single member Constituencies) हैं।

परिषद अपने में से ही एक सदस्य को अध्यक्ष चुन लेती है। यदि राज्य सरकार ने कानून द्वारा नगरपालिका को ऐसा करने से वंचित रख दिया हो तो बात दूसरी है। अध्यक्ष का एक मात्र कार्य परिषदों की बैठकों की अध्यक्षता करना होता है; यहां तक कि वह समाज का नागरिक अध्यक्ष भी नहीं है वह तो मात्र कार्यकर्त्ता होता है।

परिषद की शक्तियां एवं कार्य [The Powers and Functions of the Council]—परिषद एक सर्वोच्च सत्ता होती है और वह उन सभी कार्यों

के लिए उत्तरदायी है जो कि नगरपालिका को सौंपे गये हैं। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बम्बई और मद्रास राज्यों में कानून ने कार्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया है—बाध्यकारी कार्य और ऐच्छिक कार्य। बाध्यकारी कार्यों की श्रेणी में जिन कार्यों को समाहित किया जा सकता है उनमें मुख्य हैं—जनस्वास्थ्य, जनसुरक्षा, जनकार्य एवं प्राथमिक शिक्षा, प्रकाश, सार्वजनिक नालियों की सफाई, अग्निरक्षा, आक्रमणकारी अथवा खतरनाक व्यापार को नियमित करना, शमशान भूमियों को नियमित करना, सार्वजनिक गलियों, बाजारों, शौच स्थानों, तालाबों, कुओं आदि की रचना एवं सुरक्षा, जलवितरण, जन्म को रजिस्टर में लिखना, शादियों तथा मृत्युओं का लेखा रखना, चिकित्सालय, मैडीकल राहत, प्राथमिक स्कूल आदि-आदि।

ऐच्छिक कार्यों का सम्बन्ध सामान्य रूप से नई सार्वजनिक गलियां बनाने तथा पार्क, पुस्तकालय, अजायबघर, दुग्धशाला आदि की स्थापना अथवा रचना से होता है।

बिहार में नगरपालिका की परिषद अपनी शक्तियों का प्रयोग समितियों, सभापति, उपसभापति, वैतनिक अधिकारियों एवं सेवकों की सहायता से करती है। एक रूप में समितियों को प्रत्येक नगरपालिका के संविधान का महत्वपूर्ण भाग माना जा सकता है। कुछ समितियों की नियुक्ति तो आवश्यक मानी जाती है; उदाहरण के लिए जल समिति। कानून के अनुसार जिन विषयों पर परिषद द्वारा समिति नियुक्त की जा सकती हैं वे हैं—वित्त, जनस्वास्थ्य, जनकार्य, शिक्षा, अस्पताल तथा कानून के लक्ष्यों से सम्बन्धित किसी भी विशेष विषय के सम्बन्ध में। किन्तु यदि नगरपालिका को नल के पानी के वितरण का कार्य सौंपा गया है तो यह उसका कर्त्तव्य हो जाता है कि वह एक जल कार्य समिति आवश्यक रूप से नियुक्त करे।

परिषद की समिति में कम से कम तीन सदस्य होना जरूरी है किन्तु सदस्यों की संख्या छः से अधिक भी नहीं हो सकती। ऐसे व्यक्तियों को भी समिति का सहवृत सदस्य बनाया जा सकता है जो कि असल में परिषद के सदस्य नहीं हैं किन्तु इन सदस्यों की संख्या समिति की कुल सदस्य संख्या के एक तिहाई से अधिक नहीं हो सकती। जल कार्य समिति के लिये बिहार नगरपालिका में विशेष उपबन्ध है। इसकी सदस्यता चार तक सीमित कर दी गई है। इनमें से एक तो राज्य सरकार द्वारा नामजद होता है और तीन को परिषद द्वारा निर्वाचित किया जाता है। जल कार्य समिति में सहवृत सदस्य लेने का प्रावधान नहीं है।

नगरपालिका की कार्यपालिका [The executive of Municipality]—सामान्य रूप से नगरपालिका प्रशासन में छः प्रकार की कार्यपालिकायें होती हैं। कार्यपालिका के ये विभिन्न प्रकार अलग-अलग देशों में धीरे-धीरे विकसित हुये हैं। ये परस्पर रूप एवं गुण में भिन्नतायें रखते हैं। इन विभिन्न प्रकारों का उल्लेख निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(१) कार्यपालिका के रूप में परिषद (The Council as Executive)-इस व्यवस्था में परिषद ही कार्यपालिका सम्बन्धी एवं नीति-निर्माण सम्बन्धी कार्यों को सम्पन्न करती है। ये शक्तियां परिषद की समितियों के माध्यम से

या उनके द्वारा काम में लाई जाती हैं। कुछ शक्तियां समितियों को हस्तांतरित भी कर दी जाती हैं। दूसरे विषय में समिति परिषद को केवल प्रतिवेदन मात्र देती है। इन व्यवस्था में मेयर को पर्याप्त सम्मान और नागरिक प्रतिष्ठा का पद मिला हुआ होता है यद्यपि उसके पास अधिक शक्तियां नहीं होतीं। यह व्यवस्था ग्रेट ब्रिटेन तथा कुछ अन्य राष्ट्र मण्डल के देशों में पाई जाती है।

(२) परिषद द्वारा नियुक्त कार्यपालिका समिति (Executive Committee Appointed by the Council)—यह व्यवस्था रोम, आदि कुछ देशों में पाई जाती है। इसमें परिषद अपने द्वारा नियुक्त एक कार्यपालिका समिति को समस्त कार्यपालिका शक्तियां सौंप देती है।

(३) नगर प्रबन्धक योजना (City Manager Plan)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत परिषद एक नगर प्रबन्धक नियुक्त करती है जो कि पूर्ण रूप से कार्यपालिका प्रशासन के लिये उत्तरदायी होता है। परिषद का कार्य केवल व्यवस्थापन और नगर प्रबन्धक को नियुक्त करना होता है। यह व्यवस्था सयुक्त राज्य अमरीका में व्यापक रूप से अपनाई जाती है। इस व्यवस्था में प्राय: यह शिकायत की जाती है कि परिषद के सदस्य नगर प्रबन्धक के कार्यो में अवांछित रूप से हस्तक्षेप करते हैं।

(४) कार्यपालिका के रूप में निर्वाचित समिति (Elected Committee as Executive)—इस व्यवस्था में कार्यपालिका शक्ति और कभी-कभी व्यवस्थापिका शक्ति का प्रयोग भी एक ऐसी समिति द्वारा किया जाता है जो कि नागरिकों के प्रत्यक्ष मत द्वारा चुनी जाती है। इसके प्रत्येक सदस्य को एक विशेष कार्यपालिका विभाग का कार्य सौंप दिया जाता है। टोरन्टो (Toronto) और ज्यूरिक (Zurich) में इस व्यवस्था को अपनाया जाता है।

(५) राज्य सरकार द्वारा नियुक्त कार्यपालिका (Executive Appointed by the State Govt.)—इस व्यवस्था में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। निर्वाचित परिषद प्राय: धन की स्वीकृति देती है, नियम तथा उपनियम बनाती है तथा सामान्य नीतियाँ निर्धारित करतो है। इन विनियमों, नियमों तथा उपनियमों के प्रकाश में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी दिन प्रतिदिन के प्रशासन का संचालन करता है। पेरिस में इसी व्यवस्था को अपनाया गया है।

(६) कार्यपालिका के रूप में निर्वाचित मेयर (Elected Mayor As Executive)—इस व्यवस्था के अन्तर्गत कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग सम्पूर्ण मतदाताओं द्वारा निर्वाचित मेयर द्वारा किया जाता है। इस व्यवस्था में शक्ति–पृथक्करण के सिद्धान्त तथा कार्यपालिका की जनप्रिय इच्छा के सिद्धान्तों को मान्यता दी जाती है। इस व्यवस्था में दो उप प्रकार हैं। प्रथम, शक्तिशाली मेयर व्यवस्था जो कि न्यूयार्क में पाई जाती है और जिसमें मेयर उल्लेखनीय शक्तियों का प्रयोग करता है। दूसरे, कमजोर मेयर व्यवस्था जिसमें कि उसकी शक्तियां अपेक्षाकृत सीमित होती हैं। लॉस एन्जिल्स (Las Angeles) इस व्यवस्था का उदाहरण है।

इन उक्त व्यवस्थाओं में से देश की परिस्थिति के अनुसार तथा स्थानीय उपयुक्तता की दृष्टि से किसी भी व्यवस्था को अपना लिया जाता है। बिहार राज्य में प्रत्येक नगरपालिका का एक सभापति (Chairman) और एक उपसभापति (Vice-Chairman) होता है। ये दोनों ही नगर-पालिका परिषद द्वारा पांच वर्ष के लिये चुने जाते हैं। किन्तु इस समय से पूर्व भी इनको कुल संख्या के २/३ बहुमत से प्रस्ताव पास करके हटाया जा सकता है। सभापति प्रशासन का अध्यक्ष होता है। वह नगरपालिका के अधिकारियों और सेवकों के कार्यों को निरीक्षित करता है। उसका कार्य नगरपालिका परिषद के कार्यों एव निर्णयों को क्रियान्वित करना होता है। यद्यपि तकनीकी दृष्टि से देखने पर लगता है कि वह एक कमजोर कार्य-पालिका है किन्तु व्यवहार में उसके पास उल्लेखनीय शक्तियां होती हैं। राजनैतिक दृष्टि से वह बहुमत वाले समूह का नेता होता है, वह परिषद के सदस्यों के बहुमत द्वारा निर्वाचित राजनैतिक कार्यपालिका है। इस प्रकार उसका पद अत्यन्त महत्वपूर्ण और प्रभावशाली है। एक नेता के रूप में वह परिषद के निर्णयों में पहल करता है तथा उनको प्रभावित करता है। साथ ही प्रशासन के अध्यक्ष के रूप में वह उन्हें क्रियान्वित करता है। उसकी स्थिति को कुछ-कुछ मन्त्री की स्थिति से तुलना करके देख सकते हैं यद्यपि नगरपालिका परिषद की तुलना संसदात्मक सरकार की व्यवस्थापिका के साथ में नहीं की जा सकती। परिषद को हम मन्त्री–मण्डल की भांति मान सकते हैं। यथार्थ व्यवहार में इस एक व्यक्ति के हाथों में सत्ता और प्रभाव का केन्द्रीकरण हो जाता है।

उपसभापति सभापति का कार्यपालिका सहायक होता है। सभापति द्वारा इसे परिषद की स्वीकृति से कोई भी कार्य सौंपा जा सकता है और कोई भी शक्ति हस्तांतरित की जा सकती है। उपसभापति सभापति की अनुपस्थिति में उसके कर्त्तव्यों का पालन करता है। उसकी तुलना उपमन्त्री से की जा सकती है। राजनैतिक दृष्टि से आवश्यक रूप से वह आदेश की शृंखला में दूसरे स्थान पर नहीं होता। इस प्रकार देखने में जो व्यवस्था एक कमजोर कार्यपालिका प्रतीत होती है वह वास्तविक व्यवहार में एक शक्तिशाली कार्यपालिका बन जाती है क्योंकि परिषद में सभापति के दल का बहुमत रहता है। किसी भी निर्वाचित परिषद में एक नेता का होना परमा-वश्यक है। वह एक समूह की नीतियों को एकरूपता एवं निर्देशन प्रदान करने में महत्वपूर्ण योगदान प्रदान करता है। ये ही नीतियां बाद में चल कर परिषद की नीतियां बन जाती हैं क्योंकि इन्हें बहुमत दल का समर्थन प्राप्त होता है। सभापति को पूर्ण रूप से राजनैतिक कार्यपालिका होना चाहिए अथवा नहीं, इस प्रश्न पर पर्याप्त मतभेद हैं।

भारत के अन्य राज्यों में नगरपालिका की कार्यपालिका की स्थिति अलग-अलग है। कुछ राज्यों में समस्त कार्यपालिका कार्य पूर्ण परिषद् के हाथ में रहते हैं और परिषद् द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए किसी एक व्यक्ति को उत्तरदायी ठहरा दिया जाता है। यह व्यक्ति परिषद् द्वारा इस कार्य के लिए चुना गया परिषद् का ही कोई सदस्य हो सकता है अथवा परिषद् या राज्य सरकार द्वारा नियुक्त कोई सवैतनिक अधिकारी

हो सकता है। कुछ अन्य राज्यों में कार्यपालिका शक्तियां परिषद द्वारा निर्वाचित समिति को सौंप दी जाती हैं जो कि परिषद के प्रति ही उत्तरदायी होती है। दूसरे अन्य राज्यों में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राजनैतिक कार्यपालिका होती है जिसको कुछ स्वतंत्र कार्यपालिका शक्तियां प्रदान कर दी जाती हैं।

व्यापक रूप से भारत के विभिन्न राज्यों के व्यवहार को देखने के बाद तीन प्रकार की कार्यपालिकाओं का वर्णन किया जा सकता है। प्रथम, प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित व्यक्ति जिसे कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त हैं और जो केवल आंशिक रूप से परिषद के प्रति उत्तरदायी हैं। दूसरे, परिषद द्वारा नियुक्त की हुई राजनैतिक कार्यपालिका जो कि पूर्ण रूप से परिषद के प्रति उत्तरदायी होती है और जिसकी सहायता के लिए कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त एक समिति अथवा कुछ समितियां होती हैं। तीसरे, एक सवैतनिक अधिकारी जो कि परिषद के सामान्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहता है। मद्रास नगरपालिका प्रशासन में तीसरे प्रकार की कार्यपालिका पाई जाती है जबकि बम्बई नगरपालिका प्रशासन में दूसरे प्रकार की कार्यपालिका का उदाहरण प्रस्तुत करता है जहां कि अध्यक्ष की सहायता के लिए कुछ कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त एक स्थायी समिति होती है। बिहार नगरपालिकाओं का अध्ययन उस व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें कि परिषद की शक्तियों का प्रयोग करने में विभिन्न समितियों द्वारा सहायता प्रदान की जाती है। सभापति जिन शक्तियों का प्रयोग करता है वे परिषद द्वारा लिए गए निर्णयों पर आधारित रहती हैं।

प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कार्यपालिका—मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की नगरपालिका में इस प्रकार की कार्यपालिका होती है। इस कार्यपालिका को अध्यक्ष कहा जाता है। यद्यपि इस कार्यपालिका का चुनाव मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता है किन्तु यह परिषद से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। मध्य प्रदेश में परिषद साधारण बहुमत द्वारा उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है। इस प्रकार के प्रस्ताव पास होने के तीन दिन के अन्दर यदि वह त्याग-पत्र दे दे तो वह राज्य सरकार से परिषद को भंग करने की प्रार्थना कर सकता है तथा नए चुनाव कराने के लिए कह सकता है। यदि वह त्याग-पत्र न दे तो राज्य सरकार द्वारा उसे हटाया जा सकता है। यदि एक अध्यक्ष विरोधियों के कारण अपना कार्य पूरा नहीं कर पाता तो उसे त्याग पत्र देकर पुनः निर्वाचन कराना चाहिए। यदि वह दुबारा से निर्वाचित हो जाए तो परिषद को भंग करने के लिए राज्य सरकार से प्रार्थना करनी चाहिए तब परिषद के पुनः निर्वाचन की आज्ञा की जाएगी। अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह दो उपाध्यक्षों की नियुक्ति करे। अनेक विषयों पर वह स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकता है; जैसे करों का मूल्यांकन व संग्रह, भवन निर्माण के प्रार्थना-पत्र, सफाई से सम्बन्धित मामले, आदि। संकट काल में वह उन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जो कि सामान्य रूप से परिषद की शक्तियाँ हैं। यदि परिषद छः महीने के अन्दर-अन्दर किसी विषय को इसके सम्मुख प्रस्तुत न करे तो यह अधिनियम

के अनुसार बताये गए नियमों के सहित उस पर कार्यवाही कर सकता है। उसे कुछ छोटी-मोटी नियुक्तियां करने का अधिकार भी है।

उत्तर प्रदेश में भी अध्यक्ष को मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। यहाँ उसे परिषद द्वारा ऐसी स्थिति में हटाया जा सकता है जबकि वह कुल संख्या के स्पष्ट बहुमत से उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे। ऐसी स्थिति में अध्यक्ष को या तो दस दिन के अन्दर-अन्दर त्याग-पत्र दे देना चाहिए अथवा राज्य सरकार से प्रार्थना करनी चाहिए कि वह परिषद को भंग कर दे। यह राज्य सरकार की मर्जी है कि उसकी प्रार्थना को माने अथवा न माने। यदि उसकी प्रार्थना अस्वीकृत हो जाती है तो उसे तीन दिन के अन्दर-अन्दर त्याग-पत्र देना होगा और यदि अध्यक्ष के कहने पर परिषद भंग कर दी जाती है तो उसका पुनः निर्वाचन किया जाएगा। नव-निर्वाचित परिषद भी यदि उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दे तो ऐसी स्थिति में तीन दिन के अन्दर-अन्दर अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र देना होगा। यदि अविश्वास का प्रस्ताव असफल हो जाए तो दूसरा प्रस्ताव बारह महीने तक नहीं लाया जा सकता। किसी नए अध्यक्ष के प्रति भी एक वर्ष तक कोई अविश्वास का प्रस्ताव नहीं उठाया जा सकता। अविश्वास प्रस्ताव के लिए बुलाई गई बैठक में यदि गणपूर्ति न बैठ सके तो भी इस प्रकार का प्रस्ताव नहीं उठाया जा सकेगा। परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करने के अतिरिक्त वह कार्यपालिका का अध्यक्ष भी होता है। सामान्य एवं वित्तीय प्रशासन की देखभाल करना उसका एक कर्त्तव्य है। नगरपालिका के कर्म-चारियों की नियुक्ति तथा उन पर नियन्त्रण के सम्बन्ध में वह कुछ महत्व-पूर्ण शक्तियां रखता है। जिन अधिकारियों को स्वयं परिषद नियुक्त करती है उन्हें छोड़कर अध्यक्ष उन सभी कर्मचारियों की नियुक्ति, सजा एवं पद-विमुक्ति का अधिकार रखता है जो कि चालीस रुपये या पच्चतर रुपये से अधिक मासिक वेतन पा रहे हैं। यदि वह नगर की नगरपालिकाओं में २५० रुपये पाने वाले पदों पर तथा अन्य नगरपालिकाओं में १०० रुपये पाने वाले पदों पर नियुक्तियाँ करे तो इसके लिए उसे परिषद की स्वीकृति लेनी होगी। जहाँ कहीं कार्यपालिका अधिकारी होते हैं वहाँ छोटी-मोटी नियुक्तियों की शक्तियां उन्हीं के हाथों में रहती हैं।

परिषद द्वारा निर्वाचित राजनैतिक कार्यपालिका—यह व्यवस्था प्रायः उन राज्यों में पाई जाती है, जहां की सारी शक्तियां परिषद में निहित रहती हैं या कुछ कार्यपालिका शक्तियां परिषद की एक समिति अथवा सवैतनिक अधिकारी में निहित रहती हैं। बम्बई की बारो नगरपालिकाओं में कार्य-पालिका शक्तियां स्थायी समिति के हाथों में होती हैं तथा दूसरी नगर-पालिकाओं में ये प्रबन्धक समिति के हाथ में रहती हैं। ऐसी नगरपालिकाओं में भी अध्यक्ष को कुछ पर्यवेक्षण के कार्य करने होते हैं और संकट काल में वह किसी भी कार्य को निर्देशित कर सकता है अथवा उसे रोक सकता है। किन्तु ऐसे सभी कार्यों को स्थायी समिति के लिए प्रतिवेदित किया जाना चाहिए। मद्रास में कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य, कार्यपालिका अधिकारी में निहित रहते हैं। इसकी नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है और यह परिषद से बहुत कुछ स्वतन्त्र रहता है और अध्यक्ष एक नाम मात्र का

हो सकता है। कुछ अन्य राज्यों में कार्यपालिका शक्तियां परिषद द्वारा निर्वाचित समिति को सौंप दी जाती हैं जो कि परिषद के प्रति ही उत्तरदायी होती है। दूसरे अन्य राज्यों में जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित राजनैतिक कार्यपालिका होती है जिसको कुछ स्वतंत्र कार्यपालिका शक्तियां प्रदान कर दी जाती हैं।

व्यापक रूप से भारत के विभिन्न राज्यों के व्यवहार को देखने के बाद तीन प्रकार की कार्यपालिकाओं का वर्णन किया जा सकता है। प्रथम, प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित व्यक्ति जिसे कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त हैं और जो केवल आंशिक रूप से परिषद के प्रति उत्तरदायी हैं। दूसरे, परिषद द्वारा नियुक्त की हुई राजनैतिक कार्यपालिका जो कि पूर्ण रूप से परिषद के प्रति उत्तरदायी होती है और जिसकी सहायता के लिए कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त एक समिति अथवा कुछ समितियां होती हैं। तीसरे, एक सवैतनिक अधिकारी जो कि परिषद के सामान्य नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहता है। मद्रास नगरपालिका प्रशासन में तीसरे प्रकार की कार्यपालिका पाई जाती है जबकि बम्बई नगरपालिका प्रशासन में दूसरे प्रकार की कार्यपालिका का उदाहरण प्रस्तुत करता है जहां कि अध्यक्ष की सहायता के लिए कुछ कार्यपालिका शक्तियां प्राप्त एक स्थायी समिति होती है। बिहार नगरपालिकाओं का अध्ययन उस व्यवस्था का उदाहरण प्रस्तुत करता है जिसमें कि परिषद की शक्तियों का प्रयोग करने में विभिन्न समितियों द्वारा सहायता प्रदान की जाती है। सभापति जिन शक्तियों का प्रयोग करता है वे परिषद द्वारा लिए गए निर्णयों पर आधारित रहती हैं।

प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित कार्यपालिका—मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश की नगरपालिका में इस प्रकार की कार्यपालिका होती है। इस कार्यपालिका को अध्यक्ष कहा जाता है। यद्यपि इस कार्यपालिका का चुनाव मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से होता है किन्तु यह परिषद से पूर्णतः स्वतंत्र नहीं है। मध्य प्रदेश में परिषद साधारण बहुमत द्वारा उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर सकती है। इस प्रकार के प्रस्ताव पास होने के तीन दिन के अन्दर यदि वह त्याग-पत्र दे दे तो वह राज्य सरकार से परिषद को भंग करने की प्रार्थना कर सकता है तथा नए चुनाव कराने के लिए कह सकता है। यदि वह त्याग-पत्र न दे तो राज्य सरकार द्वारा उसे हटाया जा सकता है। यदि एक अध्यक्ष विरोधियों के कारण अपना कार्य पूरा नहीं कर पाता तो उसे त्याग पत्र देकर पुनः निर्वाचन कराना चाहिए। यदि वह दुबारा से निर्वाचित हो जाए तो परिषद को भंग करने के लिए राज्य सरकार से प्रार्थना करनी चाहिए तब परिषद के पुनः निर्वाचन की आज्ञा की जाएगी। अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह दो उपाध्यक्षों की नियुक्ति करे। अनेक विषयों पर वह स्वतन्त्र रूप से विचार कर सकता है; जैसे करों का मूल्यांकन व संग्रह, भवन निर्माण के प्रार्थना-पत्र, सफाई से सम्बन्धित मामले, आदि। संकट काल में वह उन शक्तियों का प्रयोग कर सकता है जो कि सामान्य रूप से परिषद की शक्तियां हैं। यदि परिषद छः महीने के अन्दर-अन्दर किसी विषय को इसके सम्मुख प्रस्तुत न करे तो यह अधिनियम

अथवा अभाव की स्थिति में सहायता एवं राहत पहुंचाना, सार्वजनिक वाहनों की व्यवस्था करना आदि कार्य हैं।

इन सब कार्यों के अतिरिक्त एक सामान्य उपबन्ध द्वारा नगरपालिका को यह शक्ति भी सौंपी गई है कि वह नगरपालिका अधिनियम के उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कोई भी कार्य कर सके तथा ऐसा कोई भी कदम उठा सके जो कि निवासियों की सुरक्षा, स्वास्थ्य, कल्याण एवं सुविधा में वृद्धि करता हो। नगरपालिका ऐसा कोई भी कार्य कर सकती है जिस पर किए जाने वाले खर्चे की राज्य सरकार अनुमति दे दे। ये सब नगरपालिका के कार्यों की एक मोटी रूपरेखा है। नगरपालिका अधिनियम ने इन सभी का विस्तार के साथ वर्णन किया है; उदाहरण के लिए जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से नगरपालिका सैंकड़ों कार्य कर सकती है। इन सभी कार्यों का विस्तृत रूप से उल्लेख करना न तो उपयोगी है और न आवश्यक ही। किसी भी नगरपालिका द्वारा किये जाने वाले समस्त कार्यों को मूल रूप से पांच शीर्षकों के अधीन रखा जा सकता है। ये हैं—

(१) जन सुरक्षा (Public Safety),
(२) जन स्वास्थ्य और सुविधा (Public Health and Convenience),
(३) मेडीकल राहत (Medical Relief),
(४) जन सुविधा (Public Convenience), और
(५) जन शिक्षा (Public Education)।

ऊपर गिनाये गये समस्त कार्यों को इन शीर्षकों में ही समाविष्ट किया जा सकता है।

नगरपालिका प्रशासन की कुछ कठिनाइयां
[Some Difficulties of Municipal Administration]

अलग-अलग राज्यों में प्राप्त नगरपालिकाओं की कुछ अपनी विशेष समस्यायें हैं किन्तु इन विशेष समस्याओं के अतिरिक्त कुछ सामान्य समस्यायें भी होती हैं जो कि प्रत्येक राज्य में किसी न किसी रूप में प्राप्त होती हैं। यदि हम बम्बई राज्य में प्राप्त नगरपालिका प्रशासन का अध्ययन करें तो पायेंगे कि इसमें बनावट की दृष्टि से फ्रांस के आदर्श को अपनाया गया है किन्तु असल में यह ब्रिटिश तरीका है। वास्तविक व्यवहार में इस व्यवस्था में दोनों के ही दोष समन्वित हो गये हैं तथा गुण नहीं आ पाये हैं। बम्बई में स्थानीय स्वायत्त सरकार के निकायों में शीर्ष पर स्थानीय स्वायत्त सरकार के मन्त्री का पद है। उसके बाद एक संचालक होता है जो कि नगरपालिका प्रशासन से सम्बन्धित कलक्टर के कार्यों का पर्यवेक्षण करता है। कलक्टर के अधीन निरीक्षण के लिए तीन प्रकार के स्थानीय निकाय होते हैं; ये हैं:—बॉरो नगरपालिकायें, जिला नगरपालिकायें तथा जिला स्थानीय बोर्ड। जिला स्थानीय बोर्ड ग्राम पंचायतों के कार्यों की देखभाल करती है, साथ ही उन छोटे गाँवों के हितों की भी देखभाल करती है जिनमें किसी प्रकार की पंचायत ही नहीं है। ये सभी निकाय वयस्क मताधिकार के आधार पर चुने जाते हैं।

बॉरो नगरपालिका एवं जिला नगरपालिका के बीच गुण की अपेक्षा प्रशासकीय अन्तर अधिक है। इन दोनों ही प्रकार की नगरपालिकाओं में अनेक प्रकार की व्यावहारिक समस्यायें पैदा होती हैं। बिना धन के कोई कार्य नहीं किया जा सकता और कोई भी धन तब तक प्राप्त नहीं किया जा सकता जब तक कि मतदाताओं पर अतिरिक्त भार न डाला जाये। कार्यकुशलता की दृष्टि से कर लगाना अत्यन्त आवश्यक होने पर भी मत-दाताओं की प्रसन्नता का विचार, ऐसा करने के मार्ग में एक प्रभावशील अड़चन होती है। मतदाताओं की मर्जी की अवहेलना का अर्थ होता है अगले चुनावों में सफलता की आशा को एक ओर रख देना क्योंकि मतदाताओं को केवल ऐसी नीति द्वारा ही खुश रखा जा सकता है जिसमें कि नये कर न लगाये जायें तथा हो सके तो वर्तमान करों में भी कमी की जाये।

भारत में नगरपालिकाओं के प्रशासन में एक अन्य कठिनाई इस तथ्य से भी बढ़ जाती है कि यहां नगरपालिकायें किसी भी सार्वजनिक सेवा का स्वामित्व नहीं करती; जहाँ से लाभ प्राप्त करके ये धन प्राप्त कर सकें। अत: उनको अधिकतर करों पर ही निर्भर रहना रहना होता है। रेट (Rates) को स्थानीय कर के रूप में पर्याप्त आलोचित किया जाता है क्योंकि इस व्यवस्था में लोचशीलता नहीं होती तथा विभिन्न योग्यता एवं सामर्थ्य वाले व्यक्तियों के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं रखा जाता। समाज के गरीब लोगों के ऊपर इससे अनुचित भार डाल दिया जाता है। विशेष रूप से बड़े परिवार वाले लोग जिन्हें कि अधिक स्थान के लिए अधिक भुगतान करना होता है, इस व्यवस्था से पिस जाते हैं।

एक अन्य कठिनाई यह है कि नगरपालिकाओं में उठने वाले सभी प्रस्तावों को पहले संचालक (Director) के सामने प्रस्तुत किया जाता है और यदि उन्हें स्वीकार कर लिया गया तो बाद में वे लोगों के सामने उनकी राय जानने के लिए प्रस्तुत किये जाते हैं। उसके बाद पुन: ये प्रस्ताव संचालक के पास जाते हैं और वही अन्तिम रूप से उनको स्वीकृति प्रदान करता है। इस व्यवस्था में लाल फीताशाही पनपती है; साथ ही सरकार को जनता के विरोध का सामना करना पड़ता है। नगरपालिका का कोई भी प्रस्ताव केवल तभी प्रभावशील बनता है जब कि सरकार द्वारा उसे स्वीकृति प्रदान कर दी जाये। इस प्रकार नगरपालिकायें दो स्वामियों की सेवा करती हैं—एक ओर जनता है और दूसरी ओर सरकार। दोनों के बीच विरोध भी हो सकता है। इस सबके परिणामस्वरूप देरी और मन-मुटाव की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

एक तीसरी कठिनाई यह है कि नगरपालिकाओं के पास धन की सदैव कमी रहती है। उन्हें मजबूर होकर सरकार की सहायता एवं अनुदानों पर निर्भर रहना होता है। आवश्यक धन का केवल एक भाग मात्र ही सरकार द्वारा सहायता के रूप में प्रदान किया जाता है शेष धन का प्रबन्ध नगरपालिका स्वयं ही कर आदि साधनों द्वारा करती है। सरकार द्वारा दी जाने वाली सहायताएं यों ही नहीं दे दी जाती। उनके साथ ही अनेक कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। जब सरकार एक नगरपालिका को सहायता प्रदान कर रही है तो यह स्वाभाविक है कि वह उसके कार्यों में हस्तक्षेप करेगी। ऐसी स्थिति में

नगरपालिका बड़े ही असमंजस में पड़ जाती है। एक ओर तो सरकार को खुश रखना है और दूसरी ओर मतदाताओं के प्रति अपने उत्तरदायित्वों को पूरा करना है। वह किस की सेवा करे, यह एक समस्या बन जाती है।

चौथे, सरकार किसी भी नगरपालिका को कानूनी रूप से कुछ भी करने के लिए मजबूर नहीं कर सकती। कानून के अनुसार सरकार का कार्य केवल यह है कि वह नगरपालिका के गैर-कानूनी, अनियमित एवं अनैच्छिक कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाये। कानून के अनुसार सरकार को विधेयात्मक निर्देशन प्रदान करने की शक्तियां नहीं दी गई हैं। अतः नगरपालिकाओं को अपनी प्रगति का प्रतिवेदन प्रस्तुत करना जरूरी नहीं है, उसे तो केवल यही दिखाना होता है कि उसने कोई गलती नहीं की है। सरकार भी निषेधात्मक नियन्त्रण मात्र से ही कोई उपयोगी कार्य नहीं कर सकती। परिणामस्वरूप नगरपालिका का प्रशासन मत प्राप्त करने की तकनीकों का केन्द्र बन जाता है। कार्य अधूरे पड़े रहते हैं, भ्रम पैदा होते रहते हैं और एक प्रकार से अराजकता की सी स्थिति बन जाती है। अखिल भारतीय राजनैतिक दलों की स्थानीय शाखायें भी अगले चुनाव में समर्थन प्राप्त करने की दृष्टि से इन निकायों के कार्यो में अवांछनीय रूप से हस्तक्षेप करती रहती हैं। वे जनता की सेवा करने के स्थान पर मत की सेवा करती रहती है तथा उनका यह प्रयास रहता है कि ये स्थानीय निकाय ठीक तरह कार्य न करें ताकि वे ढोल पीट-पीटकर अपने विरोधियों पर जनता के बीच कीचड़ उछाल सकें। इस प्रकार प्रजातन्त्र के सभी मूल्यों को तिलांजलि दे दी जाती है तथा राज्य सरकार के अतिशय नियन्त्रण एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार को जोरशोर के साथ एवं बढ़ा-चढ़ाकर गाया जाता है। सरकार के सामने भी ऐसी स्थिति में इसके अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं रह जाता कि वह नियन्त्रण की मात्रा को और बढ़ा दे।

पाँचवें, कर की चोरी करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने के नगरपालिका के अधिकार अत्यन्त सीमित होते हैं। यह सजा के रूप में व्यक्ति की केवल चल सम्पत्ति से ही हाथ लगा सकती है। असल में उसे अपने अपराधियों के विरुद्ध कार्यवाही करने के लिए दीवानी न्यायालयों में ही जाना होता है। इसके अतिरिक्त नगरपालिका द्वारा दण्डित व्यक्ति दो विभिन्न निकायों में अपने पक्ष के लिए अपील कर सकता है। यह स्थानीय वायत्त सरकार के मन्त्री के सम्मुख अपील कर सकता है तथा उससे न्याय की माँग कर सकता है। यदि ऐसा कर सकने में वह असफल हो जाये तो विधि के न्यायालय में भी जाने का उसे अधिकार है। एक नगरपालिका भी निगम की भांति एक कानूनी व्यक्तित्व होती है न कि एक स्वाभाविक निकाय। इसकी शक्तियां स्पष्ट रूप से गिना दी गई हैं। यह एक साधारण व्यक्ति की भांति कानून के प्रति उत्तरदायी है' क्योंकि इसका अस्तित्व ही कृत्रिम है अतः यह कानून द्वारा बताई गई सीमाओं में रहकर ही कानूनी बन सकती है। इस प्रकार धनवान एवं प्रभावशाली व्यक्तियों के हितों की रक्षा हो जाती है। गरीब व्यक्तियों को इन निकायों की स्वेच्छाचारिता का शिकार बनना होता है क्योंकि वे न्यायालय तक नहीं जा सकते। नगरपालिकाएं धनवानों की अचल सम्पत्ति को छू भी नहीं सकती किन्तु गरीबों की चल-सम्पत्ति को

आसानी से छीन सकती हैं। ऐसी स्थिति में गरीबों का सबसे अधिक नुकसान होता है क्योंकि उनके पीछे किसी मन्त्री का सहारा नहीं होता, वे न्यायालय में कार्यवाही नहीं कर पाते और उनके पास देने के लिए रुपया भी नहीं होता।

कुछ व्यावहारिक सुझाव
(Some Practical Suggestions)

नगरपालिका प्रशासन के मार्ग में आने वाली उक्त कठिनाइयों को दूर करने के लिए कई सुझाव प्रस्तुत किये जाते हैं। इस दृष्टि से यह नवीन प्रवृत्ति उल्लेखनीय है जिसके अनुसार स्थानीय सेवाओं को स्थानीय निकायों से लिया जा रहा है तथा उनके प्रशासन को केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार के हाथों में सौंपा जा रहा है। विद्युत, शिक्षा, सड़कें आदि विषय इसके उदाहरण हैं। इस प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप या तो स्थानीय निकायों का क्षेत्र बढाना होगा वरना उनके व्यवहार में हम वह कार्यकुशलता प्राप्त नहीं कर सकेंगे जिसकी आशा की जाती है। अतः ऐसे कार्यों का पुनः समूहीकरण किया जाना चाहिये। इससे यह होगा कि जो सेवायें आज नगरपालिकाओं द्वारा सम्पन्न की जाती हैं तथा जिनका कोई लाभ प्राप्त नहीं हो पाता वे आय के मुख्य स्रोत बन जायेंगे। दूसरे, नगरपालिकाओं में कुछ चुने हुए अनुभवी एवं वयोवृद्ध व्यक्ति भी लिये जाने चाहिए जिनका कार्य काल साधारण सदस्य की तुलना में दो गुना हो। यह व्यवहार ग्रेट ब्रिटेन में बहुत पाया जाता है। यहां परिषद् के पच्चीस प्रतिशत लोगों को वयोवृद्ध (Aldermen) कहा जाता है। इसका चुनाव स्वयं परिषद् द्वारा ही किया जाता है। ये लोग छः वर्ष तक अपने पद पर रहते हैं जबकि साधारण सदस्य केवल तीन वर्ष तक ही अपने पद पर रहता है। इस व्यवस्था को अप्रजातांत्रिक कहकर आलोचना की जाती है किन्तु इसे पार्षदों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है। इसका सम्बन्ध बहस एवं व्यवस्थापन की अपेक्षा प्रशासन से अधिक रहता है। ऐसे स्थानों पर भुगते हुए तथा अनुभवी लोगों को लेना लाभप्रद रहेगा क्योंकि ऐसे लोग प्रायः चुनाव के पचड़ों में नहीं पड़ना चाहते। तीसरे, नगरपालिका निकाय कुल मिलाकर प्रशासकीय अंग ही होते हैं। वे मूलतः नीति को क्रियान्वित करने वाले अंग होते हैं, उनको एक सीमित रूप में नीति निर्माण की शक्तियां भी प्राप्त होती हैं। राष्ट्रीय जीवन में उनकी तुलना व्यवस्थापिका से नहीं वरन् कैबिनेट से की जा सकती है। नगरपालिकायें भी व्यवस्थापन करती हैं किन्तु यह कार्य इतना अधिक महत्वपूर्ण नहीं होता। उनका मुख्य कार्य तो यह देखना है कि उनको सौंपे गये कार्य ठीक प्रकार से क्रियान्वित किये जा रहे हैं अथवा नहीं। इसके लिये यदि किसी भी रूप में समिति व्यवस्था को अपनाया जाय तो अत्यन्त उपयोगी रहेगा। शिक्षा समिति, स्वास्थ्य समिति, माप और तोल समिति, आदि इसकी सहायता कर सकती हैं। इन समितियों की सदस्यता

ब्रिटेन की भांति गठित किये जाने चाहिए, जहां पर कि काउन्टी की परिषद् संस्थायें हैं, नगर निगमों की संस्थायें हैं, शहरी जिला परिषदों की संस्थायें हैं। पांचवें, वर्तमान काल में यह कठिनाई अनेक कारणों से अनुभव की जा रही है कि उच्च सामर्थ्य वाले लोग स्थानीय कार्य में पर्याप्त समय नहीं दे पाते। इस समस्या को सुलझाने के लिए यह किया जा सकता है कि नगर–पालिका पार्षदों को सवैतनिक रूप में रखा जाये जबकि संसद सदस्यों को हरदेश में वेतन प्राप्त होता है तो नगरपालिका के पार्षदों को वेतन न दिये जाने का कोई कारण ही नहीं होता। छठे, जब पार्षदों को वेतन दिया जायेगा तो एक अन्य समस्या भी सुलझ जायेगी। आजकल तो नगरपालिका परिषद् में केवल व्यापारिक एवं आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न समाज के लोग ही आ सकते हैं जो कि बिना अधिक खतरे के सार्वजनिक कार्यों में अपना समय दे सकते हैं। किन्तु जब पार्षदों को वेतन प्राप्त होने लगेगा तो मध्यम वर्ग के उतना ही युवक भी नगर परिषद् के कार्यों में भाग ले पायेंगे। मजदूर वर्ग के लोग भी परिषदों में आ सकेंगे। जब तक सभी वर्गों के प्रतिनिधियों का निर्णय लेने की प्रक्रिया में योगदान न हो उस समय तक यह निश्चित नहीं रहता कि लिए गये निर्णय सम्पूर्ण समाज के लिए न्यायपूर्ण रहेंगे, क्योंकि यदि कर की दृष्टि से गरीब और अमीर दोनों को एक ही लाठी से हांका गया तो ऊपर से लगने वाली यह समानता गरीबों के प्रति घोर अन्याय का प्रतीक होगी। इस मतभेद को मिटाने के लिए सदस्यों को वेतन देना उपयोगी रहेगा। स्थानीय कार्यों में लगाये गये समय के लिए सदस्यों को भुगतान करने से स्थानीय सरकार का आधार विस्तृत हो जायेगा तथा सभी वर्गों एवं स्तरों के व्यक्ति पर्याप्त रूप से भाग ले पायेंगे। कोई भी कार्य, जिसका प्रभाव स्थानीय सरकार को केवल एक वर्ग विशेष की रुचि का विषय बना देता है, उचित नहीं माना जायेगा।

सातवें, ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि जो पार्षद अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में असफल हो जायें उनको दण्ड दिया जा सके। इस प्रकार के प्रावधान ग्रेट ब्रिटेन में मौजूद हैं। यदि स्थानीय निकायों के सदस्य मंत्री की आज्ञाओं को क्रियान्वित न कर सकें तो उनको गिरफ्तार तक किया जा सकता है। यद्यपि इस प्रकार का कदम कदाचित ही उठाया जाता है किन्तु फिर भी एक प्रतिरोधक के रूप में तो इसका अपना महत्व है। ऐसा न होने पर कोई भी व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए सामाजिक हित की अव-हेलना करके मनमानी कर सकता है। आठवें, किसी न किसी रूप में केबिनेट व्यवस्था को भी नगरपालिका स्तर पर अपनाया जाना चाहिए। यद्यपि सुधार करने की दृष्टि से वर्तमान व्यवस्था में परिवर्तन किया जाना जरूरी है किन्तु फिर भी इस व्यवस्था में किसी प्रकार का परिवर्तन करने पर यह हो सकता है कि जनता नागरिक कार्यों में रुचि लेना ही छोड़ दे; क्योंकि यह भी एक महत्वपूर्ण तथ्य है कि नगरपालिका प्रशासन की कार्यकुशलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनता उसके कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान करे। एक यह विचार भी पर्याप्त महत्वपूर्ण है कि नगरपालिका इकाइयों का आकार इतना बड़ा रखा जाए कि वे आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बन सकें। ऐसा करने का अर्थ होगा स्थानीय निकायों पर केन्द्र का अत्यधिक नियंत्रण।

[illegible] रहेगा कि स्थानीय स्वायत्त सरकार की वर्तमान व्यवस्था एवं [illegible] व्यवस्था के बीच का मार्ग अपनाया जाए जो कि बिना अधिक [illegible] दोनों व्यवस्थाओं के गुणों को ग्रहण कर सके। नवें, कुछ स्थानीय [illegible] दल होने चाहिए जो कि नगरपालिका स्तर पर सचेत क्रियाओं को [illegible] कर सकें। इस समय जो अखिल भारतीय राजनैतिक दल नगरपालिका [illegible] पर कार्य कर रहे हैं उनको भी वर्तमान दुःखद परिस्थितियों के लिए कुछ हद तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। ये राजनैतिक दल प्रत्येक स्थानीय समस्या पर अपनी अखिल भारतीय नीति के आधार पर विचार करते हैं। इस प्रकार वे राष्ट्रीय स्तर के अपने मतभेदों एव झगड़ों को स्थानीय स्तर पर भी ले आते हैं। नगरपालिकायें जन सेवा के लिए कार्य करने की अपेक्षा विरोधी गुटों की रस्सा-कसी का अखाड़ा बन जाती हैं। इस प्रकार का आपसी संघर्ष एक ऐसी संस्था में तो उपयुक्त रहता है जिसका कार्य विचार-विमर्श करना एवं नीति निर्धारित करना है। किन्तु नगरपालिका निकाय तो व्यवस्थापिका की अपेक्षा कार्यपालिका एवं प्रशासकीय प्रकृति के अधिक होते हैं। इनमें एक कैबिनेट जैसा उत्साह एवं एकता होनी चाहिए। परस्पर प्रेम, विश्वास एवं सहयोग की भावना रहनी चाहिए। ये सब बातें अधिक दल होने से बढ़े हुए मतभेदों के रहते हुए संभव नहीं हो पातीं। इन राजनैतिक दलों को नगरपालिका प्रशासन से दूर ही रखा जाना चाहिए तथा स्थानीय निकायों को यह सोचकर गठित करना चाहिए कि ये स्थानीय समस्याओं को समझ सकें तथा सुलझा सकें। वर्तमान काल में राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण एवं व्यवहार बहुत कुछ निषेधात्मक एवं विध्वंसकारी है। इसे समाप्त करके रचनात्मक एवं एकारात्मक दृष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए। इस प्रकार से आम जनता अथवा जनता के मुखिया लोग स्थानीय समस्याओं को समझने में रुचि लिया करेंगे तथा उनको सुलझाने में अपनी पहल की शक्ति का प्रयोग करेंगे।

भी भारत में देहाती इलाकों का पर्याप्त महत्व है। स्थानीय सरकार की दृष्टि से भी इन क्षेत्रों को शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा कुछ अधिक ध्यान से देखा जाता है; क्योंकि यह एक सर्वमान्य सत्य है कि जब तक देहाती क्षेत्रों की जनता में राजनैतिक जागृति नहीं आती तथा वहां पर प्रजातंत्र की परम्परायें विकसित नहीं होती तब तक इस देश में प्रजातंत्र के भविष्य के बारे में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

राजस्थान में देहाती स्थानीय प्रशासन
[Rural Local Administration in Rajasthan]

राजस्थान राज्य में देहाती स्थानीय प्रशासन का रूप बलवन्तराय मेहता समिति की सिफारिशों पर आधारित है; जिसने कि प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण की योजना का समर्थन करते हुये स्थानीय प्रशासन के लिये एक त्रिसूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। ग्राम पंचायतें इस व्यवस्था की आधारभूत इकाइयां हैं। राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं का गठन मुख्य रूप से दो अधिनियमों द्वारा किया गया है। इन दोनों अधिनियमों के बीच एक अपूर्व सामंजस्य है। सन् १९५३ का राजस्थान पंचायत अधिनियम जिस समय अस्तित्व में आया उस समय २९४३ पंचायतें राज्य में कार्य कर रही थीं। अधिनियम के आधार पर उन क्षेत्रों में भी पंचायतें स्थापित की गयीं जहाँ कि ये पहले से नहीं थी। अब पंचायतों की संख्या ३९२९ हो गई। १९५३ के राजस्थान पंचायत अधिनियम के अनुसार तहसील स्तर पर, तहसील पंचायतों की स्थापना का भी प्रावधान रखा गया। इस समय जिले स्तर पर कुछ जिलों में जिला बोर्ड थीं। राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद्, १९५९ ने राजस्थान पंचायत अधिनियम, १९५३ में अनेक उल्लेखनीय संशोधन किये ताकि पंचायतों को वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप बनाया जा सके। ग्राम स्तर पर पंचायतें, खण्ड स्तर पर पंचायत समिति एवं जिला स्तर पर जिला परिषद् को एक ही एकीकृत व्यवस्था में जकड़ दिया गया।

ग्राम पंचायत (Village Panchayats):—सन् १९५३ एवं १९५९ के अधिनियमों के अनुसार एक पंचायत में ५ से १५ तक सदस्य हो सकते हैं।[1] सादिक अली प्रतिवेदन ने प्रत्येक पंचायत मे पंचों की संख्या को आठ से लेकर पन्द्रह तक बताया है।[2] पंचायत की रचना गुप्त मतदान द्वारा वयस्क मताधिकार के आधार पर की जाती है। चुनाव की दृष्टि से सम्पूर्ण पंचायत क्षेत्र को उतने ही भागों में बांट दिया जाता है जितने कि पंच लेने होते हैं। प्रत्येक वार्ड से एक पंच चुना जाता है। पंचायत का चुनाव तीन वर्ष के लिए किया जाता है। इस काल तक यह अपने क्षेत्र में आने वाले एक या एक से अधिक गांवों की सेवा करती रहती है। इस प्रकार राजस्थान के पंचायत अध्ययन प्रोजेक्ट की टीम का यह लिखना सही है कि पंचायतें निर्वा—

1. Panchayati Raj in Rajasthan, A case study in Jaipur D;stt, Impex India, New Delhi, 1966, P. 16
2. Report of the study team on Panchayati Raj, 1964, Panchayat and Development Department, Govt. of Raj, P. 11

अच्छा तो यह रहेगा कि स्थानीय स्वायत्त सरकार की वर्तमान व्यवस्था एवं केन्द्रीकृत व्यवस्था के बीच का मार्ग अपनाया जाए जो कि बिना अधिक बुराइयों के दोनों व्यवस्थाओं के गुणों को ग्रहण कर सके। नवें, कुछ स्थानीय राजनैतिक दल होने चाहिए जो कि नगरपालिका स्तर पर सचेत क्रियाओं को स्पष्ट कर सकें। इस समय जो अखिल भारतीय राजनैतिक दल नगरपालिका स्तर पर कार्य कर रहे हैं उनको भी वर्तमान दुःखद परिस्थितियों के लिए कुछ हद तक उत्तरदायी ठहराया जा सकता है। ये राजनैतिक दल प्रत्येक स्थानीय समस्या पर अपनी अखिल भारतीय नीति के आधार पर विचार करते हैं। इस प्रकार वे राष्ट्रीय स्तर के अपने मतभेदों एव झगड़ों को स्थानीय स्तर पर भी ले आते हैं। नगरपालिकायें जन सेवा के लिए कार्य करने की अपेक्षा विरोधी गुटों की रस्सा-कसी का अखाड़ा बन जाती हैं। इस प्रकार का आपसी संघर्ष एक ऐसी संस्था में तो उपयुक्त रहता है जिसका कार्य विचार-विमर्श करना एवं नीति निर्धारित करना है। किन्तु नगरपालिका निकाय तो व्यवस्थापिका की अपेक्षा कार्यपालिका एवं प्रशासकीय प्रकृति के अधिक होते हैं। इनमें एक कैबिनेट जैसा उत्साह एवं एकता होनी चाहिए। परस्पर प्रेम, विश्वास एवं सहयोग की भावना रहनी चाहिए। ये सब बातें अधिक दल होने से बढ़े हुए मतभेदों के रहते हुए संभव नहीं हो पातीं। इन राजनैतिक दलों को नगरपालिका प्रशासन से दूर ही रखा जाना चाहिए तथा स्थानीय निकायों को यह सोचकर गठित करना चाहिए कि ये स्थानीय समस्याओं को समझ सकें तथा सुलझा सकें। वर्तमान काल में राजनैतिक दलों का दृष्टिकोण एवं व्यवहार बहुत कुछ निषेधात्मक एवं विध्वंसकारी है। इसे समाप्त करके रचनात्मक एवं एकारात्मक दृष्टिकोण का विकास किया जाना चाहिए। इस प्रकार से आम जनता अथवा जनता के मुखिया लोग स्थानीय समस्याओं को समझने में रुचि लिया करेंगे तथा उनको सुलझाने में अपनी पहल की शक्ति का प्रयोग करेंगे।

दसवें, यह अत्यन्त आवश्यक है कि स्थानीय निकायों की इकाइयों को उनके प्रशासन से अलग किया जाये। सिद्धान्त रूप में प्रशासन सत्ता कार्य नहीं होता वरन् यह तो स्थानीय निकायों को उनके उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने की सामर्थ्य प्रदान करती है। प्रशासन एवं संगठन को अलग-अलग करने पर इस स्तर की प्रशासकीय समस्याओं को समझना सरल हो जायेगा। इस अन्तर के बाद ऐसा लगता है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा की भांति स्थानीय स्तर पर ही ऐसी ही कुछ व्यवस्था की जानी चाहिये। यद्यपि यह सच है कि भारतीय प्रशासनिक सेवा का स्तर पर्याप्त ऊंचा होता है तथा स्थानीय निकाय इस स्तर का निर्वाह नहीं कर सकते। किन्तु फिर भी कार्यकुशलता का वांछित स्तर प्राप्त करने के लिये कुछ तो किया जाना जरूरी है ही। इन सब बातों के अतिरिक्त स्थानीय निकायों में वास्तविकता होनी चाहिये। उनकी योजनायें जहां तक सम्भव हो सके, कार्यकुशल, कम खर्चीली तथा व्यावहारिक होनी चाहिये।

देहाती क्षेत्रों के स्थानीय निकाय
[Local Bodies in Rural Areas]

देहाती क्षेत्रों की संख्या शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक है तथा ग्राम

चित निकाय होती हैं जिनके पंच तथा सरपंच को प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है तथा जिनको एक सीमित भूभाग में कुछ विशेष कार्य करने का उत्तरदायित्व सौंपा जाता है।[1] इन चुने हुए सदस्यों के अतिरिक्त प्रत्येक पंचायत को कुछ सहवृत सदस्य (Copoted Members) रखने की भी आवश्यकता होती है। इन सहवृत सदस्यों में दो महिलाएं, दो अनुसूचित जाति के सदस्य और दो जनजाति के सदस्य होते हैं। ये सहवृत सदस्य उस स्थिति में लिए जा सकते हैं जबकि इन वर्गों का कोई प्रतिनिधि निर्वाचन द्वारा पंचायत में न आया हो।

पंचायत का सभापति सरपंच कहलाता है। यह पंचायत क्षेत्र के सभी मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। वह पंचायत की मुख्य कार्यपालिका सत्ता के रूप में कार्य करता है तथा पंचायत के धन का ठीक प्रकार से उपयोग करने के लिए तथा उनके पर्याप्त लेखे रखने के लिए उत्तरदायी है। वह पंचायत की बैठकें बुलाता है और उनकी अध्यक्षता करता है। पंचायत के नाम पर धन पैदा करता है और उसकी ओर से खर्च करता है। पंचायत का बजट तैयार करता है और पंचायत समिति द्वारा उसे स्वीकार कराता है। वह पंचायत क्षेत्र में राजस्व इकट्ठा करने के कार्य की देखभाल करता है तथा पंचायत के कार्यों का पर्यवेक्षण करता है। उपसभापति अथवा उपसरपंच का चुनाव पंचायत के सदस्यों द्वारा अपने में से ही किया जाता है। उपसरपंच सरपच की अनुपस्थिति में सरपंच के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है। पंचायत द्वारा अपना सचिव नियुक्त किया जाता है जो कि कार्यालय के लिपिक कार्यों को करने के लिए तथा अन्य ऐसे कार्यों को करने के लिए उत्तरदायी है जो कि पंच या पंचायत द्वारा उसे सौंपे जाएं।

इस प्रकार ग्राम पंचायतें पंचायती राज के पिरामिड का आधार है। यह कहना अतिशयुक्ति नहीं मानी जाएगी कि पंचायती राज का सफल एवं प्रभावशील संचालन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि इन आधारभूत पंचायतों का संगठन कितना सशक्त है। पंचायतें जनता के सर्वाधिक नजदीक की प्रतिनिधि संस्थाएं होती हैं। वे गांवों में जैसा कार्य करेंगी, गांवों के लोग भी पंचायती राज के प्रति वैसी ही प्रतिक्रिया करेंगे। पंचायतें प्रत्यक्ष रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं। ये प्रत्यक्ष रूप से निर्मित प्रतिनिधि संस्था होने के कारण उच्च निकायों के अप्रत्यक्ष संगठन का आधार प्रदान करती हैं। इस प्रकार पंचायतों की कार्य सम्पन्नता पंचायती राज के उच्च सूत्रों की सफलता पर प्रभाव डालती है।

पंचायत संगठन पर अध्ययन दल के विचार—राजस्थान में पंचायतीराज व्यवस्था पर नियुक्त अध्ययन दल का विचार था कि एक संस्था का महत्व उसकी उपयोगिता पर निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में जनता अत्यन्त

---

1. "The Panchayat is thus an elective body whose panchas and sarpanch are directly elected and which is entrusted with a spec fic set of functions for operating in a limited territory"
—Project Study Tram, Panchayati Raj in Rajasthan, op. cit., P. 16

जागरूक रहती है और वह किसी भी संस्था का उसी हद तक समर्थन करती है जहां तक कि वह उनकी सेवा करे। यदि पंचायतें अपने आप में लोगों की रुचि पैदा करना चाहती हैं तो उनको लोगों के प्रतिदिन के जीवन में सेवाएं प्रदान करनी चाहिए तथा उनकी समस्याओं एवं आवश्यकताओं के लिए सुझाव प्रस्तुत करने चाहिए। केवल सरपंच ही प्रभावशाली रूप में कार्य करे तो इससे कोई भी संस्था सक्रिय नहीं बनती। पंचायतों को अधिक महत्वपूर्ण बनाने का एक मात्र तरीका यह है कि लोगों की सामान्य समस्याओं को सुलझाने के लिए उन्हें अधिक से अधिक शक्तियां प्रदान की जाएं। इस दृष्टि से यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि पंचायतों के अधिकार क्षेत्रों में अधिक से अधिक स्थानीय समस्याएं लाई जाएं ताकि लोग अपने सामने आने वाली समस्याओं का उनमें सुझाव पा सकें। जनता को यह अनुभव होना चाहिए कि उन्हें अपने मामलों का प्रबन्ध करने में निर्णयात्मक योगदान करना है। केवल तभी एक अच्छा नेतृत्व उत्पन्न हो सकेगा। अध्ययन दल का विश्वास था कि पंचायती राज का भविष्य बहुत कुछ पंचायतों के सफल संचालन पर निर्भर है। यदि ये मूल संस्थाएं ही व्यापक बनाई गई तो सम्पूर्ण ऊपरी ढांचा कमजोर पड़ जाएगा। अनेक कारणों से यह संभव नहीं है कि गांव के स्तर की सभी समस्याओं को तत्काल पंचायतों के अधिकार क्षेत्र में ला दिया जाए किन्तु उनको अन्तिम लक्ष्य के बारे में स्पष्ट रहना चाहिए। प्रकृति यह होनी चाहिए कि पंचायतों को पर्याप्त शक्तियां एवं कार्य सौंपे जाएं तथा उनको स्थायी सरकार की प्रभावशाली इकाई बनाई जाए।

पंचायती राज-संस्थाओं को व्यापक रूप देने के लिए अध्ययन दल द्वारा अनेक सुझाव प्रस्तुत किए गए। सर्वप्रथम यह बताया गया कि पंचायतों की वित्तीय स्थिति मजबूत की जानी चाहिए। दूसरे, पंचायतों की शक्तियां एवं कार्य अधिक स्पष्ट रूप से उल्लिखित होने चाहिए। तीसरे, कार्यकुशल एवं नियमित सचिवालय का सहयोग प्रदान किया जाना चाहिए। चौथे, नियम तथा प्रक्रिया सरल होनी चाहिए। नियमों का मुख्य लक्ष्य मूल हित की सिद्धि होनी चाहिए। उन्हें इन संस्थाओं के सफल कार्य-संचालन में बाधा बन कर कार्य नहीं करना चाहिए। नियम ऐसे होने चाहिए जिनको सामान्य व्यक्ति समझ सकें। पांचवें, राजस्व एवं पुलिस अभिकरणों से सहयोग स्थापित करना चाहिए। जब राजस्व एवं पुलिस अभिकरणों के साथ स्थानीय स्तर पर सहयोग का अभाव रहता है तो पंचायत की अनेक कठिनाईयां एवं समस्याएं पैदा हो जाती हैं। छठे, विभागों को इन संस्थाओं के साथ सहयोग एवं अभिन्नता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिए तथा इन संस्थाओं के विकास को अपना उत्तरदायित्व बना लेना चाहिए। सातवें, अनियमितताओं एवं गलतियों को रोकने के लिए उनकी सुनवाई की जाए तथा स्वाभाविक गलतियों के प्रति मैत्रीपूर्ण रवैया अपनाया जाए। आठवें, गलती करने वाला चाहे अधिकारी हो अथवा गैर-अधिकारी उसके विरुद्ध कठोर एवं प्रतिरोधपूर्ण कार्यवाही करनी चाहिए। जब एक दोषी व्यक्ति सजा से बच जाता है तो उससे लोगों पर गलत प्रभाव पड़ता है और उनका नैतिक पतन हो जाता है। नवें, सरपंच को लेखा रखने तथा धन सम्बन्धी कार्य करने के उत्तरदायित्व से छुटकारा मिलना चाहिए। अध्ययन दल ने अपने अध्ययन के

दौरान यह पाया कि अनेक सरपंच केवल इसलिए समाप्त हो गए क्योंकि वे किसी बुरे अभिप्राय से नहीं बल्कि अपनी अज्ञानता के कारण वित्तीय मामलों को ठीक प्रकार से नहीं निभा सके। दसवें, ग्राम सभाओं को सक्रिय होना चाहिए और उन्हें एक प्रभावशील योगदान करना चाहिए। ग्यारहवें, जनता को शिक्षित करने के लिए कठोर कदम उठाने चाहिएं। प्राथमिक शिक्षा के प्रसार को व्यापकता मिलनी चाहिए। सामाजिक शिक्षा कार्यक्रमों एवं प्रौढ़ शिक्षा पर भी जोर दिया जाना चाहिए। इन सब सुझावों के माध्यम से अध्ययन दल ने पचायत संस्थाओं को अधिक सक्रिय एवं प्रभावशील बनाने का सुझाव रखा।

पंचायत समितिः—पंचायत समिति त्रिसूत्री पंचायती राज योजना की मध्यम श्रेणी है। राजस्थान में पंचायत समितियों को खण्डस्तर (Block level) पर गठित किया गया है। यहाँ २३२ खण्ड हैं और प्रत्येक खण्ड में एक पंचायत समिति है। इस प्रकार राजस्थान में पंचायत समितियों की संख्या भी २३२ है। पंचायत समिति को तहसील की सीमाओं से भिन्न रखा गया है किन्तु फिर भी प्रयास यह किया गया है कि पंचायत समिति को राजस्व तहसील के साथ सम्बन्धित किया जाय। २३२ में से १०१ पंचायत समितियां ऐसी हैं जिनका एक तहसील के साथ सहअस्तित्व है। पंचायत समिति भी एक निर्वाचित निकाय होती है किन्तु इसके सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से चुने जाते हैं। एक पंचायत समिति में उस पंचायत समिति के क्षेत्र में आने वाली पंचायतों के सभी सरपंच होते हैं। इसमें एक कृषि विशेषज्ञ होता है जो कि फसल प्रतियोगिता के बाद जिला परिषद द्वारा निर्वाचित घोषित किया जाता है। इन सदस्यों के अतिरिक्त पंचायत समिति के सदस्यों द्वारा निर्वाचित सहकृत सदस्य भी होते हैं। सहकृत सदस्यों की प्रोजेक्ट टीम (Project team) ने छः श्रेणियाँ बताई हैं। प्रथम, उन गांवों की ग्राम सभाओं के सभापति जिनको कि राजस्थान ग्रामदान अधिनियम १९६६ के अनुसार ग्रामदान के अन्तर्गत रख दिया गया है। दूसरे, दो महिलाएं यदि कोई भी महिला पंचायत समिति की सदस्य न हों और एक महिला, यदि एक महिला पहले से ही सदस्य बन चुकी हो। तीसरे, दो अनुसूचित जाति के सदस्य, यदि वे पंचायत समिति के सदस्य न हों। चौथे, प्रत्येक उस जनजाति से २१० जिसकी जनसंख्या, खण्ड की जनसंख्या का पांच प्रतिशत है। पांचवें, खण्ड में पंजीकृत एवं कार्य कर रहे सहकारी समाजों की प्रबन्धक समितियों के सदस्यों में से एक व्यक्ति। छठे, दो ऐसे व्यक्ति जिनका अनुभव प्रशासन, जनजीवन एवं देहाती विकास में लाभदायक सिद्ध हो सके।

इन पदेन सदस्यों को पैत्रिक सदस्य (Parent Members) कहा जाता है। इन पदेन तथा सहकृत सदस्यों के अतिरिक्त राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम, १९५९ ने पंचायत समिति क्षेत्र के प्रत्येक विधान सभा सदस्य (M. L. A) को इसका सदस्य बनाने का प्रावधान रखा है। ऐसे सदस्यों को सहयोगी सदस्य (Associate Members) कहा जाता है। ये पंचायत समिति की बैठकों में उपस्थित होने तथा भाग लेने का अधिकार तो रखते हैं किन्तु मत देने का अथवा पंचायत समिति

में कोई निर्वाचित पद ग्रहण करने का अधिकार नहीं रखते। पंचायत समिति का कार्यकाल भी तीन वर्ष का होता है। पंचायत समिति के सदस्य अपने में से एक सभापति चुनते हैं जो कि प्रधान कहलाता है। प्रधान मुख्य कार्यपालिका अधिकारी (जिसे विकास अधिकारी कहते हैं) पर प्रशासकीय नियन्त्रण रखता है; साथ ही वह पंचायत समिति एवं उसकी स्थायी समितियों के निर्णयों तथा प्रस्तावों को क्रियान्वित कराने के लिए पंचायत समिति के स्टाफ पर भी नियन्त्रण रखता है। संकटकाल के समय वह विकास अधि-कारी के साथ मिलकर किसी भी कार्य अथवा अधिनियम को निर्देशित कर सकता है जिसमें कि साधारण रूप से पंचायत समिति अथवा स्थायी समिति की आज्ञा आवश्यक होती है।

पंचायत समिति का बजट जिला विकास अधिकारी को भेजा जाता है जो कि अपने नोट के साथ इसे जिला परिषद को भेज देता हैं। जिला परिषद अधिनियम के उपबन्धों को प्रभावशील बनाने के लिए कोई भी सुझाव प्रस्तुत कर सकता है। पंचायत समिति को इन सुझावों पर विचार करना होता है और यदि वह आवश्यक समझे तो उनके साथ इसे पास कर सकती है। पंचायत समिति स्थायी समितियों के माध्यम से कार्य करती है। एक पंचायत समिति के लिए यह बाध्यकारी समझा जाता है कि वह कम से कम तीन स्थायी समितियाँ नियुक्त करे। प्रथम, उत्पादन कार्यक्रमों के लिए, दूसरे, सामाजिक सेवाओं और सामाजिक सुविधाओं के लिए और तीसरे, वित्त कर एवं प्रशासन के लिए। पंचायत समिति यदि चाहे तो इन समि-तियों के अतिरिक्त भी एक या दो समितियां नियुक्त कर सकती है। स्थायी समिति के सदस्यों की संख्या सात तक सीमित है। इनमें ऐसे दो व्यक्ति सहवृत रूप में लिए जा सकते हैं जो कि विषय का अनुभव रखते हैं और पंचायत समिति के क्षेत्र में निवास करते हैं। विकास अधिकारी पंचायत समिति के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में कार्य करता है। इसे राज्य द्वारा नियुक्त किया जाता है। राज्य सरकार पंचायत समितियों में प्रसार अधिकारी (Extension officers) भी नियुक्त करती है। पंचायत समिति के स्टाफ के अन्य सदस्य जैसे कि मन्त्री स्तरीय स्टाफ, ग्राम सेवक, अध्यापक, ड्राईवर, कम्पाउण्डर आदि पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा के सदस्य होते हैं।

सादिक अली समिति के प्रतिवेदन के अनुसार राजस्थान में पंचायती-राज की वर्तमान योजना में पंचायत समिति एक धुरी के समान है जिसके चारों ओर पंचायती-राज की अधिकाँश क्रियाएं केन्द्रित हैं।[1] वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो जिला परिषद एक मात्र परामर्शदाता एवं पर्यवेक्षण-कर्त्ता संस्था है। कार्यपालिका शक्तियाँ एवं कार्य तो पंचायत समिति के हाथो में रहते हैं। पंचायत समितिका गठन प्रत्येक विकास-खण्ड के प्रशासन

---

1. "In the present scheme of Panchayati Raj in Rajasthan, Panchayat Samiti is the pivot round which most of the activities of Panchayati Raj are entered."
—*Sadiq Ali Report*, op cit., P. 74

के लिए किया जाता है। पंचायत समिति की औसतन जनसंख्या जो कि १९५१ की जनगणना के अनुसार ५७००० थी वह १९६१ की जन-गणना के अनुसार ६८५०० हो गई। व्यक्तिगत पंचायत समितियों की जनसंख्या ४०००० से लेकर १,२५००० तक है। सादिक अली समिति ने यह सिफारिश की है कि पंचायत समितियों का पुनर्गठन किया जाय ताकि उन्हें एक या अधिक पूर्ण राजस्व तहसीलों के सहअस्तित्व में रखा जा सके।

जिला परिषद—पचायती राज व्यवस्था में सर्वोच्च स्तर पर जिला परिषदों का संगठन किया गया है। राज्य के सभी जिलों में एक-एक जिला परिषद है जो कि मूल रूप से परामर्शदाता निकाय है, जिसका मुख्य कार्य पंचायतों और पंचायत समितियों पर सामान्य निरीक्षण बनाए रखना है। प्रत्येक जिला परिषद में अनेक पदेन सदस्य होते हैं जैसे जिले की सभी पंचायत समितियों के प्रधान, लोक सभा के वे सदस्य जिनका चुनाव क्षेत्र उस जिले में पड़ता है, राज्य सभा के वे सदस्य जो कि उस जिले में रहते हैं, विधान सभा के वे सदस्य जिनका चुनाव क्षेत्र उस ज़िले में पड़ता है, केन्दीय सहकारी बैंक के अध्यक्ष जो कि जिले में कार्य कर रहे हैं। इन पदेन सदस्यों के अतिरिक्त कुछ सहवृत सदस्य भी लिए जाते हैं; जैसे आवश्यकता के अनुसार एक या दो महिलाएं, यदि पहले से ही सदस्य न हो तो अनुसूचित जाति का एक व्यक्ति, प्रत्येक उस जन जाति का एक व्यक्ति जिसकी जनसंख्या जिले की कुल जनसंख्या के पांच प्रतिशत से अधिक है और जो पहले से सदस्य नहीं हैं, दो ऐसे व्यक्ति जिनको कि प्रशासन, जनजीवन एवं देहाती विकास का अनुभव है। इन सब सदस्यों के अतिरिक्त जिले का जिलाधीश, जिला परिषद का मतदान विहीन सदस्य होता है। जिला परिषद के इन सभी पदेन एवं सहवृत सदस्यों में से जिनमें कि लोक सभा, राज्य सभा, एवं विधान सभा के सदस्य आते हैं, सदस्यता के पूरे अधिकार रखते हैं, अर्थात् वे मतदान कर सकते हैं, निर्वाचित पद पर रह सकते हैं एवं जिला परिषद की कार्यवाहियों में भाग ले सकते हैं। इस सम्बन्ध में सादिक अली समिति ने यह सुझाया था कि लोक सभा और विधान सभा के सदस्यों को मत देने का अधिकार तो होना चाहिए किन्तु उन्हें पंचायती राज संस्थाओं में कोई पद ग्रहण करने का अधिकार नहीं होना चाहिए। जिलाधीश को छोड़कर जिला परिषद के अन्य सदस्य अपने में से एक सभापति चुनते हैं जो कि प्रमुख कहलाता है। जिला प्रमुख जिला परिषद की बैठकों की अध्यक्षता करता है और सचिव एवं जिला परिषद के स्टाफ पर प्रशासकीय नियन्त्रण रखता है। वह पंचायतों एवं पंचायत समितियों के सामयिक निरीक्षण द्वारा निरन्तर सम्पर्क बनाए रखता है, उससे यह आशा की जा सकती है कि वह उनकी योजनाओं एवं कार्यक्रमों में निर्देशन प्रदान करेगा। जिला परिषद के प्रशासकीय स्टाफ में एक सचिव होता है जो कि साधारणतः राजस्थान की प्रशासकीय सेवा का वरिष्ठ अधिकारी होता है। उसके अतिरिक्त एक छोटा लिपिक संस्थान भी होता है जिसमें निम्न एवं उच्च श्रेणी के लिपिक होते हैं।

जिला परिषदों को मुश्किल से ही कोई कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य दिया जाता है। उसका मुख्य कार्य विभिन्न पंचायत समितियों के कार्यों को पर्यवेक्षित एवं समन्वित करना है तथा पंचायत,पंचायतसमिति और सरकार के

बीच एक कड़ीं का काम करना है। जिला परिषद द्वारा पंचायत समिति की योजनाओं को समन्वित एवं एकीकृत किया जाता है। यह आवश्यक नहीं है कि जिला परिषद स्थायी समितियों की नियुक्ति करे किन्तु यह सोचा जाता है कि वह उप-समितियों के माध्यम से ही कार्य करेगी। ये उपसमितियां उस प्रकार से उस समय तथा उतनी संख्या में नियुक्त की जाएंगी जितनी की आवश्यक हों।

अन्य राज्यों में देहाती स्थानीय प्रशासन
(Local Government in other States)

कुल मिला कर देखा जाये तो भारत में देहाती स्थानीय सरकार की वर्तमान व्यवस्था का इतिहास लम्बा नहीं है। सन् १९०६ में विकेन्द्रीकरण पर जो शाही आयोग नियुक्त किया गया उसने गांवों में स्वायत्त सरकारकी स्थापना पर जोर दिया। आयोग का कहना था कि एक गांव की अवहेलना करके नगरपालिकाओं और स्थानीय बोर्डों द्वारा शक्ति प्रदान करके सरकार ने एक गलत कदम के साथ प्रारम्भ किया है। देहाती स्वायत्त सरकार व्यवस्था को प्रारम्भ करने में अब तक अल्प सफलता प्राप्त हुई है, जिसके पीछे मुख्य कारण यह है कि हमने जड़ से प्रारम्भ नहीं किया है और इसलिए यह अत्यन्त वांछनीय है कि गांवों में कुछ स्थानीय कार्यों के प्रशासन के लिए ग्राम पंचायतें बनाई और विकसित की जाएं।[1] भारत सरकार ने इस दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए प्रान्तीय सरकारों को भेजे गये अपने १९१५ के प्रस्तावों में इस विषय पर प्रकाश डाला। सन् १९१९ के संवैधानिक सुधारों के साथ-साथ कई प्रान्तों में ग्राम पचायतों की स्थापना के लिए कदम उठाये गये किन्तु जनता के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण एव दोषपूर्ण योजनाओं के कारण कुछ भी उल्लेखनीय कार्य न हो सका।

बिहार में पंचायती-राज अधिनियम सन् १९४७ में पास किया गया और इसकी क्रियान्विति १९४९ में प्रारम्भ हुई। इस राज्य में ३१ मार्च, १९५६ तक ७९३६ ग्राम पंचायतें गठित हो चुकी थीं। अब तक करीब पूरा राज्य ग्राम पंचायतों से व्याप्त हो चुका है। ग्राम पंचायत अधिनियम के अनुसार राज्य सरकार एक सूचना द्वारा किसी भी गांव में पंचायत की स्थापना कर सकती है। राज्य सरकार द्वारा पंचायत के नाम तथा सीमा निश्चित कर दी जाती है। अधिनियम के द्वारा गांव को परिभाषित नहीं किया गया है तथा इसे कार्यपालिका पर ही छोड़ दिया गया है कि वह

---

1. "In ignoring a village,the primary unit at the time of giving power of local Govt. through municipalities and Local Boards the Govt. made the beginning with a false step. The scanty success hitherto made to introduce a system of rural self-Govt. is largely due to the fact that we have not built from the bottom,and hence it is most desirable to constitute and develop Village Panchayats for administration of certain local affairs within the village."

—Royal Commission on Decentralization.

इस बात का निश्चय करे कि ग्राम पंचायत का गठन करने के उद्देश्य से गांव किसे माना जाना चाहिए। कार्यपालिका द्वारा यह निर्णय किया गया कि उत्तरी बिहार के जिलों में एक पंचायत की स्थापना, पांच हजार की जनसंख्या पर कर दी जाये जबकि छोटा नागपुर जिलों में कम से कम जनसंख्या २५०० रखी गई है। असल में बिहार राज्य में पंचायतों के संगठन का आधार समाज की भावना न होकर संस्था का सिद्धान्त हैं। यह सिद्धान्त इतना जड़ है कि इसके द्वारा स्थानीय स्वायत्त सरकार की संस्थाओं की मूल प्रकृति को भी भुला दिया जाता है। यद्यपि भौगोलिक तथ्य, जनसंख्या तथा जनसंख्या का प्रसार-महत्वपूर्ण तत्व माने जा सकते हैं किन्तु इनको समाजशास्त्रीय तत्वों से अधिक महत्व नहीं दिया जा सकता। यदि संख्या के सिद्धान्त को कठोरता से लागू किया जाये तो हमें उन गांवों का विभाजन करना पड़ेगा जिनकी जनसंख्या ५००० से आगे है तथा कई बार गांवों को परस्पर मिलाना भी होगा ताकि जनसंख्या की दृष्टि से उनको पर्याप्त बनाया जा सके। जब कई गांवों को एक साथ मिला करके एक पंचायत की स्थापना की जाती है तो प्रायः ऐसी ग्राम पंचायत में एकता की भावना नहीं रह पाती। एक बहु ग्राम्य संगठन के सम्बन्ध में लिखते हुए बलवन्तराय मेहता समिति ने अपने प्रतिवेदन में बताया है कि सामान्यतः इसमें भावनात्मक एकता का अभाव होता है और इसलिये उन लोगों द्वारा विकास कार्यों में कम प्रतिक्रिया प्रदर्शित की जाती है जो कि एक से अधिक गांवों में रहते हैं। प्रायः यह भी देखा गया है कि सामयिक पंचायतों के कार्य सरल नहीं होते, उनमें अनेक समस्याएं और झंझट पैदा हो जाते हैं। स्कूल अथवा चिकित्सालय खोलने जैसे मामलों पर अनेक गलत फहमियां पैदा हो जाती हैं। अधिकार क्षेत्र की सीमाएं भी कई गम्भीर समस्याएं पैदा कर देती हैं। इन पंचायतों की बैठकों में रहने वाली उपस्थिति भी हल्की होती है। इन सब हानियों के होते हुये भी यह कहा जाता है कि कई गांवों को मिलाकर बनाई गई पंचायत में आवश्यक स्टाफ का खर्च कम हो जाता है तथा ग्रामीण जीवन में विष फैलाने वाली जातिगत भेद-भाव की प्रवृत्तियां भी दब जाती हैं। असल में इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। समूहीकृत पंचायतें एक स्थान पर अच्छा कार्य कर सकती है तो दूसरे स्थान पर वही अनेक समस्याएं पैदा कर सकती हैं। जब गांवों को समूहीकृत किया जाता है तो पर्याप्त ध्यान रखा जाता है तथा वहां की जनता द्वारा अभिव्यक्त इच्छाओं के विरुद्ध कुछ भी नहीं किया जा सकता।

ग्राम सभा (Village Assembly)—बिहार राज्य में एक ग्राम पंचायत के अधिकार क्षेत्र में रहने वाले सभी वयस्क मिल कर ग्राम सभा बनाते हैं जिसको कि पंचायत कहा जाता है। यह खरीफ और रबी की फसल के बाद एक वार्षिक तथा एक अर्ध—वार्षिक सामान्य बैठक बुलाती है। मुखिया यदि स्वयं चाहे अथवा पंचायत के १/५ सदस्य उससे लिखित में प्रार्थना करे तो वह अतिरिक्त बैठक भी बुला सकता है। कुल सदस्यता का १/४ भाग गणपूर्ति के लिए जरूरी है। पंचायत का आकार बहुत बड़ा होता है क्योंकि मोटे रूप से कुल जनसंख्या कम से कम आधा भाग इक्कीस वर्ष से

ऊपर का होता है। इस प्रकार पंचायत की सदस्य संख्या २५०० हो जायेगी तथा कम से कम ६०० व्यक्ति उसकी गणपूर्ति के लिए जरूरी हैं।

कार्यपालिका या मुखिया (The Executive or Chief)—प्रत्येक पंचायत में एक मुखिया होता है जो कि सम्पूर्ण वयस्क जनसंख्या द्वारा सरकार द्वारा निर्धारित रीति से चुना जाता है। मुखिया का चुनाव गुप्त मत-पत्र व्यवस्था द्वारा होता है। उसे पंचायत के बहुमत के निर्णय द्वारा हटाया जा सकता है, वैसे उसका कार्यकाल तीन वर्ष का होता है।

कार्यपालिका समिति (The Executive Committee)—इसमें सात से लेकर पन्द्रह तक सदस्य होते हैं जो कि मुखिया द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यह पचायत का कार्यपालिका अंग है। यह एक प्रकार से मन्त्री मण्डल सरकार के सिद्धान्तों पर आधारित होती है किन्तु इस सम्बन्ध में एक कानूनी आवश्यकता यह है कि कार्यपालिका समिति के निर्णय इसके सदस्यों के बहुमत द्वारा लिये जाने चाहिये। यह तत्व मन्त्री मण्डल सरकार के सिद्धान्तों की श्रेणी में नहीं आता। एक व्यक्ति द्वारा नियुक्त समिति स्वाभाविक रूप से विभाजित हो सकती है। इसमें कैबीनेट जैसी एकता की आशा नहीं की जा सकती। कार्यपालिका समिति के सदस्य प्रायः मुखिया के प्रस्ताव को मान लेते हैं क्योंकि ऐसा न करने पर मुखिया को त्याग-पत्र देना पड़ेगा और परिणामस्वरूप कार्यपालिका समिति भंग कर दी जायेगी।

संयुक्त समितियां (Joint Committees)—इस प्रकार की समितियां दो या इससे अधिक पंचायतों द्वारा बनाई जाती हैं। ऐसा करने के लिये उन्हें लिखित रूप में उन उद्देश्यों को रखना होता है जिनकी साधना के लिये यह समिति गठित की जा रही है तथा जिसमें वे संयुक्त रूप से रुचि लेते हैं। इस प्रकार की समितियों के पास वे हस्तांतरित शक्तियां रहेंगी जो कि सम्बन्धित पंचायतों द्वारा इनको सौंपी जायें। इन समितियों के बारे में पंचायतों के बीच उठने वाला कोई भी मतभेद जिला पंचायत अधिकारी को भेजा जाता है जिसका निर्णय अन्तिम माना जायेगा। इस प्रकार की समिति में तीन सदस्य होंगे जिनका निर्वाचन प्रत्येक पंचायत द्वारा किया जायेगा और इस समिति में होने वाले सम्पूर्ण व्यय का भार सम्बन्धित पंचायतों द्वारा उठाया जायेगा।

ग्राम सेवक—ग्राम सेवक सरकार द्वारा नियुक्त एक स्थायी सेवक होता है। यह ग्राम पंचायत कार्यालय का कर्ता-धरता है तथा क्रियान्वित की जाने वाली योजनाओं एवं कार्यक्रमों को तैयार करने के लिये उत्तरदायी है। वह कार्यपालिका समिति के सम्मुख स्वीकृति के लिये कार्यक्रम को प्रस्तुत करता है। यह देखना भी उसका कार्य समझा जाता है कि मुखिया और कार्यपालिका समिति ऐसा कोई कार्य न करें जो कि कानून और नियमों के विपरीत हो। वह कार्यपालिका समिति के लिये मुख्य प्रशासक सहायक होता है। उसका कार्य, कार्यपालिका समिति के निर्णयों को क्रियान्वित करना है। वह सरकार का एजेन्ट भी है। ग्राम सेवक अपने कार्यों को भली प्रकार सम्पन्न कर सके इसके लिये आठ सप्ताह की एक प्रशिक्षण योजना भी लागू की गई है। उनके लिए एक स्थायी प्रशिक्षण स्कूल खोला गया है। ग्राम

सेवक की योग्यताओं एवं उसके वेतन को देखते हुये उसके कर्त्तव्य तथा उत्तरदायित्व बहुत अधिक हैं। वह थोड़ा बहुत शिक्षित होता है तथा उसे वेतन भी अच्छा नहीं मिलता। क्या दो माह के प्रशिक्षण काल में उसे कुछ सिखाया जा सकेगा, कदापि नहीं।

स्वयंसेवक गण (Volunteer Force)—बिहार पंचायत अधिनियम के भाग २६ के अनुसार प्रत्येक ग्राम पंचायत को कार्यपालिका समिति द्वारा नियुक्त मुख्य अधिकारी के अधीन एक ग्राम स्वय सेवक गण का संगठन करना होता है। इस संघ में १४ से लेकर ३० तक की उम्र वाले सभी स्वस्थ युवकों को लिया जाता है। इसका कार्य सामान्य देखभाल करना है तथा आग लगने, बाढ़ आने एवं महामारी फैलने जैसी संकट की घड़ियों में उपयोगी कार्य करना है। राज्य सरकार द्वारा इस संघ के प्रशिक्षण, अनुशासन एव सद्व्यवहार के लिये अनेक नियम बनाये गये हैं।

मैसूर राज्य में ग्राम पचायतें

[Village Panchayats in Mysore]

मैसूर राज्य के गांवों में दोहरी प्रशासन व्यवस्था है। एक तो प्राचीन वंश परम्परा व्यवस्था पर आधारित है और दूसरी निर्वाचन व्यवस्था पर। ग्राम्य प्रशासकीय संगठन अतीतकाल की तरह आज भी पुरानी परम्पराओं एवं आचरण को बनाए हुए है जबकि केन्द्रीय सत्ताओं ने चुनाव के आधार पर व्यवस्थापन पारित कर लिया ताकि गांवों में अच्छा प्रशासन रखा जा सके। यद्यपि विभिन्न नियम, उपनियम बन चुके हैं किन्तु फिर भी ग्राम अधिकारियों के पद-स्तर में आज भी पुरानी वंश परम्परागत व्यवस्था लागू है। सन् १९२६ के ग्राम पंचायत नियमन ने निर्वाचन व्यवस्था को प्रारम्भ किया जिसके अनुसार सभापति, सचिव एवं ग्राम समिति को गांव के सभी वयस्कों द्वारा चुना जाना था। किन्तु दुर्भाग्य से नई व्यवस्था इच्छा के अभाव एवं पुरानी परम्पराओं की उपस्थिति के कारण सफल न हो सकी। पिछले पच्चीस वर्ष का अनुभव यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करता है कि नई व्यवस्था को उचित रूप से क्रियान्वित नहीं किया गया और वह सफलता प्राप्त नहीं कर रही है। यद्यपि १६००० गांवों में १२४९८ पंचायतें मौजूद हैं किन्तु फिर भी देहाती विकास कार्यों में कोई उल्लेखनीय कार्य नहीं हुआ। असल में नई व्यवस्था के अन्तर्गत गांव के अधिकारी नाम मात्र के लिए कार्य कर रहे हैं और व्यावहारिक रूप से गांवों के प्रशासन में उनकी कोई प्रभावशील आवाज नहीं है। उनके स्थान पर पटेल, शानभोग, थालवारी, थोटी तथा निरगन्थी आज भी गांव के प्रशासकीय क्षेत्र को प्रभावित करते हैं। यह मानना पड़ेगा कि प्रशासन की व्यवस्था चाहे कुछ भी क्यों न हो किन्तु पंचायतें केन्द्रीय प्रशासन की आशाओं के अनुकूल कार्य नहीं कर रही हैं। पंचायतों के कार्यों को अतिरिक्त आकर्षण प्रदान करने के लिए मैसूर सरकार ने ग्राम पंचायत अधिनियम, १९५२ को पास किया। इस प्रकार इस राज्य में भी धीरे-धीरे पंचायती राज्य संस्थायें प्राचीन परम्पराओं को छोड़कर वर्तमान की ओर मुड़ी हैं।

हरण के लिये वे ऐतिहासिक महत्व के स्थानों की रक्षा एवं मरम्मत का कार्य करते हैं तथा सरकारी सम्पत्ति पर उचित संरक्षक नियुक्त करते हैं ।

मैसूर राज्य में पंचायत व्यवस्था की प्रगति एवं कार्य अधिक संतोषजनक नहीं कहे जा सकते । इसके पीछे अनेक कारण हैं । सर्वप्रथम वंश परम्परागत सिद्धान्त का नाम लिया जा सकता है जो कि अधिक उत्साहपूर्ण कार्य एवं प्रतियोगितापूर्ण दृष्टिकोण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है । जो लोग गांव के इन पदों पर आसीन होते हैं वे अपनी योग्यताओं के आधार पर ऐसा नहीं करते वरन् वंश परम्परागत रूप में ही वे इसे प्राप्त कर लेते हैं । इनमें से अधिकांश तो सन्तोषजनक रूप से प्रशिक्षित भी नहीं होते और न ही वे अच्छी शिक्षा प्राप्त होते हैं । इन लोगों के कुछ निहित स्वार्थ एव रुढ़िवादी दृष्टिकोण होते हैं । गांव समाज के हित इसकी तुलना में गौण बन जाते हैं । इस व्यवस्था में ऐसे व्यक्ति के शक्ति में आने के अवसर कम रहते हैं जो कि कठिन परिश्रमी हो तथा कार्यालय में आने का अच्छा अनुभव रखता हो और इस प्रकार समाज के हितों की अच्छी प्रकार से साधना कर सके । ऐसे व्यक्ति जिनको ग्रामीण समाज में पर्याप्त सम्मान और आदर प्राप्त है, गाँव में चुनाव व्यवस्था के आधार पर कार्य कर रही समितियों पर अपना पूरा-पूरा असर रखते हैं । वे ग्राम समिति के चुनाव के लिए ऐसे व्यक्ति को उम्मीदवार बनाते हैं जो कि उनकी आज्ञाओं का अधिक से अधिक पालन कर सके । इस प्रकार वे निर्वाचित समितियों के स्तर एवं शक्ति को नीचे गिरा देते हैं ।

करते हैं। यह व्यवस्था कुछ परिवर्तनों के साथ आज भी १९०९ के गांव कार्यालय नियमन के अनुसार कार्य कर रही है।

दूसरी ओर भिन्न व्यवस्था भी है जो कि १९२६ के नियमन द्वारा स्थापित निर्वाचित व्यवस्था के आधार पर कार्य कर रही है। इस नियमन के अनुसार प्रत्येक गांव या तो स्वयं की अपनी पंचायत रखता है अथवा एक पंचायत के नीचे आ जाता है। पंचायतों में कम से कम ७ और अधिक से अधिक १२ सदस्य होते हैं। ये आंशिक रूप से नामजद होते हैं तथा आंशिक रूप से इनको निर्वाचित किया जाता है। किसी भी स्थिति में चुने हुए सदस्य कुल संख्या के आधे से कम नहीं होने चाहिए। कुछ सीटें अनुसूचित एवं आतंकित वर्ग के लिए सुरक्षित रहती हैं। शराबियों एवं अपराधियों को छोड़कर गांव के सभी वयस्क चुनावों में भाग ले सकते हैं।

सन् १९२६ के नियमन ने पंचायतों को यह अधिकार दिया कि वे अपना सभापति (Chairman) चुन सकें। प्रारम्भ में इस शक्ति का प्रयोग बहुत कम पंचायतों द्वारा किया गया। सन् १९२७ में लगभग २५७८ पंचायतों को उनका सभापति चुनने का अधिकार था किन्तु इनमें से केवल ४८३ ने ही अपने अधिकार का प्रयोग किया। सन १९५१ में स्थित १२४९८ पंचायतों में से केवल ११५२२ पंचायतों ने अपने अधिकार का प्रयोग किया। बाकी पंचायतों में सभापति को उप-आयुक्त द्वारा नियुक्त कर दिया जाता था। यदि सभापति लिखना-पढ़ना नहीं जानता हो तो समिति के सदस्यों में से एक को उसका सचिव बना दिया जाता तथा इसके लिए उसे कुछ भत्ता दिया जाता। अलग-अलग वर्षों के आंकड़ों को देखने पर प्रतीत होता है कि पंचायतों की बैठकें कम होती थीं किन्तु जब बैठक होती थी तो कुछ न कुछ कार्य अवश्य किया जाता था। जो पंचायतें इस प्रकार निर्वाचन के सिद्धान्त पर गठित हैं उनका अस्तित्व नाम मात्र का है, वे कार्य कुछ भी नहीं करती। पंचायतों का चुनाव तीन वर्ष में एक बार होता है।

स्थानीय सरकार की अन्य इकाइयों की भांति पंचायतों को भी तीन प्रकार के कार्य सौंपे गये हैं—बाध्यकारी कार्य, स्वेच्छापूर्ण कार्य तथा हस्तांतरित कार्य। पंचायतों के बाध्यकारी कार्यों में हम जिन कार्यों को समाहित कर सकते हैं वे हैं—गांव की सड़कों तथा पुलों की बनावट एवं मरम्मत, गाँवों के बीच संचार व्यवस्था को मजबूत बनाना, कुआ तथा तालाबों की रचना, गलियों एवं नालियों को साफ रखना, पशुओं तथा मनुष्यों को पीने के पानी की सुविधा, दुकानों, भवनों एवं मनोरंजन गृहों की रचना का प्रावधान करना, यात्राओं, मेलों, एवं समारोहों का आयोजन करना आदि-आदि। ऐच्छिक श्रेणी में आने वाले पंचायतों के कार्य प्रगतिवादी हैं। मैसूर की वार्षिक प्रशासकीय रिपोर्ट में इस बात पर जोर दिया गया है। १९४९-५० में गाँव सड़क का विकास २८८ मील तथा ५ फर्लाङ्ग लम्बी सड़क तक किया गया। इसी प्रकार जल वितरण, पौधारोपण, पिछड़ी जातियों का कल्याण आदि क्षेत्रों में पंचायतों द्वारा पर्याप्त उपयोगी कार्य किये गये। राज्य के कई गांवों में सार्वजनिक वाचनालय एवं पुस्तकालय भी हैं। पंचायतों के पास कुछ ऐसे कार्य भी होते हैं जो कि सरकार द्वारा हस्तांतरित किये जाते हैं। उदा-

हरण के लिये वे ऐतिहासिक महत्व के स्थानों की रक्षा एवं मरम्मत का कार्य करते हैं तथा सरकारी सम्पत्ति पर उचित सरक्षक नियुक्त करते हैं ।

मैसूर राज्य में पंचायत व्यवस्था की प्रगति एवं कार्य अधिक संतोषजनक नहीं कहे जा सकते । इसके पीछे अनेक कारण हैं । सर्वप्रथम वंश परम्परागत सिद्धान्त का नाम लिया जा सकता है जो कि अधिक उत्साहपूर्ण कार्य एवं प्रतियोगितापूर्ण दृष्टिकोण के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा है । जो लोग गांव के इन पदों पर आसीन होते हैं वे अपनी योग्यताओं के आधार पर ऐसा नहीं करते वरन् वंश परम्परागत रूप में ही वे इसे प्राप्त कर लेते हैं । इनमें से अधिकांश तो सन्तोषजनक रूप से प्रशिक्षित भी नहीं होते और न ही वे अच्छी शिक्षा प्राप्त होते हैं । इन लोगों के कुछ निहित स्वार्थ एव रुढ़िवादी दृष्टिकोण होते हैं । गांव समाज के हित इसकी तुलना में गौण बन जाते हैं । इस व्यवस्था में ऐसे व्यक्ति के शक्ति में आने के अवसर कम रहते हैं जो कि कठिन परिश्रमी हो तथा कार्यालय में आने का अच्छा अनुभव रखता हो और इस प्रकार समाज के हितों की अच्छी प्रकार से साधना कर सके । ऐसे व्यक्ति जिनको ग्रामीण समाज में पर्याप्त सम्मान और आदर प्राप्त है, गाँव में चुनाव व्यवस्था के आधार पर कार्य कर रही समितियों पर अपना पूरा-पूरा असर रखते हैं । वे ग्राम समिति के चुनाव के लिए ऐसे व्यक्ति को उम्मीदवार बनाते हैं जो कि उनकी आज्ञाओं का अधिक से अधिक पालन कर सके । इस प्रकार वे निर्वाचित समितियों के स्तर एवं शक्ति को नीचे गिरा देते हैं ।

पंचायतों की अकार्यकुशलता उनके वित्तीय प्रशासन के बारे में भी देखी जा सकती है जिस पर कि सारी चीजें निर्भर करती हैं । वे अनुमानित कर को एकत्रित नहीं कर पाते और इस प्रकार लाखों रुपये की रकम बकाया के रूप में पड़ी रहती है । तीसरे, पंचायतों की एक महत्वपूर्ण कमजोरी यह भी है कि ये उन अधिकारों एवं शक्तियों की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं देते जो कि विभिन्न नियमनों द्वारा इनको सौंपी गई हैं । उन्होंने अपने अधिकारों पर वांछनीय जोर नहीं दिया है और इसी कारण अभी तक उच्च सत्ताओं की अधीनस्थता में कार्य करती हैं । समय-समय पर पंचायतों के प्रशासन में जो विस्तार होता है, गाँव वाले लोग उसके प्रति भी जागरूक नहीं रहते । वे अभी तक इसी धारणा के हैं कि उनके प्रशासन का क्षेत्र सीमित है । उनको कुछ कर उगाहने हैं तथा उन्हें स्थानीय मेलों तथा त्यौहारों पर खर्च कर देना है । इसके अलावा उनका कोई कार्य नहीं है ।

पंचायतों के कार्य का यह रुख इस बात को स्वाभाविक बना देता है कि उच्च अधिकारी वर्ग पंचायतों के कार्यो में हस्तक्षेप करें और उनकी प्रक्रिया के लिये उलझे हुये नियम बना डाले । फलतः अनेक पंचायतों ने अपने गांवों के विकास कार्यो में उत्साह रखना ही छोड़ दिया । पंचायतों के वित्तीय स्रोत भी सीमित होते हैं अतः वे वांछित कार्यो को सम्पन्न नहीं कर पातीं । अल्प राजस्व के होते हुये वे व्यापक विकास योजनाओं के बारे में नहीं सोच सकती । प्रत्येक कार्यक्रम के लिये उसे सरकार की सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है जिसका अर्थ होता है सरकार का अधिक पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण । इन परिस्थितियों में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मैसूर राज्य की पंचायतें केन्द्र सरकार की दृष्टि से संतोषजनक कार्य नहीं कर रही हैं ।

मैसूर राज्य की पंचायतों को देश के प्रशासकीय पदसोपान स्तर में वास्तविक एवं मूल आधारभूत इकाई बनाने के लिये कुछ सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं। सर्वप्रथम यह कहा जाता है कि वर्षों पुराने वंश–परम्परागत सिद्धांत को समाप्त कर दिया जाये और उसके स्थान पर पूर्णत: निर्वाचन व्यवस्था को लागू किया जाये। यह नयी व्यवस्था योग्य व्यक्तियों को कार्यालय में आने के लिये प्रोत्साहित करेगी तथा सम्भव बनायेगी। गांव के कार्यालयों में उनके आने से गांव की जनता में चेतना जागृत होगी। निर्वाचन व्यवस्था लागू हो जाने के बाद देहाती जनता गांव की समस्याओं में अधिक रुचि लेगी तथा सभी के कल्याण के लिये अधिक उत्तरदायित्व वहन कर सकेगी। दूसरे, पंचायतों को अधिक स्वायत्तता प्रदान की जानी चाहिये। वे अपने वित्त में आत्मनिर्भर होनी चाहिए। यदि ये संस्थायें अधिक स्वायत्त रहें तथा सरकार का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण इन पर कम से कम हो तो गांव के अधिकारी अपने गांव को विकसित करनें में अधिक रुचि लेंगे। तीसरे, गाँव की जनता को शहरी क्षेत्रों में स्थानान्तरित होने से रोकने के लिए देहाती कुटीर उद्योगों को रक्षित एवं प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। इस प्रयास से बेरोजगारी की समस्या हल होगी और साथ ही उत्पादन भी बढ़ेगा। वैसे मैसूर राज्य में पंचायतों के विकास को अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय माना जा रहा है। सन् १९५२ के मैसूर ग्राम पंचायत तथा जिला बोर्ड अधिनियम के उपबन्ध के अनुसार प्रत्येक गाँव अपने भू-राजस्व का १२॥ प्रतिशत भाग पंचायतों को देगा। इससे उनकी वित्तीय स्थिति सुदृढ़ हुई तथा विभिन्न उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए अपेक्षाकृत अधिक शक्ति आई।

पंजाब राज्य में पचायत प्रशासन
(Panchayat Administration in Punjab State)

ब्रिटिश शासन काल में देहाती क्षेत्रों का प्रशासन पटवारी, नम्बरदार, सफेदपोश तथा जेलदारों द्वारा किया जाता था। इनमें नम्बरदार का मुख्य कार्य अपने गांव में से राजस्व एकत्रित करना तथा उसे जिला मुख्य कार्यालय की ट्रेजरी में जमा करा देना था। वह गांव में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने की कुछ कानूनी शक्तियां रखता था। प्राय: वह ग्राम पचायत की बैठकों की अध्यक्षता करता था। वह कुछ ग्रामीण मदों का प्रशासन करता था। वह अपराधों की खोजबीन करने तथा अपराधियों का पता लगाने में पुलिस की सहायता करता था। वह गांव में मरने वालों तथा जन्म लेने वालों की एक सूची रखता था तथा पुलिस को उसकी सूचना देता था। वैसे गांव में प्राय: एक ही मुखिया होता था किन्तु किसी-किसी गांव में कई मुखिया भी हो जाते थे। इन सब नम्बरदारों के ऊपर कार्य करने वाले आला नम्बरदार को सफेद पोश कहा जाता था। चालीस से पचास तक गांवों को एक जेल में समूहीकृत कर दिया जाता था जो कि जेलदार के अधीन कार्य करता था। जेलदार जेल का सर्वाधिक प्रभावशील व्यक्ति होता था तथा सभी नम्बरदारों एवं सफेद पोशों के कार्य का पर्यवेक्षण करता था। प्रशासन की दृष्टि से ये जेलदार जिला बोर्डों में रहते थे। इनको नामजदगी द्वारा अथवा निर्वाचन के द्वारा जिला बोर्ड का सदस्य बना दिया जाता था। यहां वे दर–आयुक्त

(Deputy Commissioner) के अधीन रह कर कार्य करते थे जो कि जिले के प्रशासकीय यंत्र का मान्य तानाशाह था। साथ ही वह स्थानीय सरकार का अध्यक्ष भी था। इन जेलदारों के द्वारा देहाती जनता का प्रशासन किया जाता था। इस प्रकार की प्रशासकीय व्यवस्था अत्यन्त केन्द्रीकृत व प्रभावशाली थी। इससे ब्रिटिश सरकार को बहुत लाभ था क्योंकि इसके द्वारा वह अपनी नीतियों को शीघ्र ही क्रियान्वित करा लेती थी तथा शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने में भी उसे मदद मिलती थी।

स्वतंत्रता के बाद स्थानीय प्रशासन की समस्या को दूसरे ही रूप में देखा जाता है। पंजाब राज्य में प्रचलित व्यवस्था को सुधारने की अपेक्षा सरकार ने यह निर्णय लिया है कि विकेन्द्रीकरण के रूप में देहाती समाज में नया ही प्रयोग किया जाये। नया विकल्प जिसको परीक्षित किया जा रहा है वह है 'पंचायती राज'। वैसे पंजाब में पंचायतें सन् १९३८ से अनियमित रूप से जगह-जगह संगठित होती रही हैं। स्वतंत्रता के बाद पंचायती-राज पर राज्य व्यवस्थापिका द्वारा व्यवस्थापन किये गये तथा यह प्रयास किया गया कि पंचायतों को यथार्थ में शक्तिशाली एवं उपयोगी बनाया जाये। नवीन व्यवस्थापन के अनुसार पांच सौ की जनसंख्या वाले प्रत्येक गांव में एक ग्राम सभा की स्थापना की जायेगी तथा गांव का प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष इस सभा का सदस्य होगा। ग्राम सभा की बैठकें फसलों के बाद साल में दो बार हुआ करेंगी। सरपंच की मर्जी से अथवा १/५ सदस्यों को प्रार्थना पर सभा की विशेष बैठकें भी बुलाई जा सकती हैं। १/८ सदस्यों की उपस्थिति गणपूर्ति के लिए आवश्यक मानी गई है। सभा की प्रथम बैठक में ही सदस्यगण एक सरपंच तथा एक नायब सरपंच का चुनाव करते हैं। सरपंच तथा नायब सरपंच को कुल सदस्यों के २/३ बहुमत से हटाया जा सकेगा। ऐसा करने से पूर्व पंचायतों के संचालक की अनुमति लेना अनिवार्य है।

सरपंच द्वारा पंचायत की बैठक माह में कम से कम एक बार अथवा जब भी पंचों के बहुमत द्वारा प्रार्थना की जाये, बुलाई जायेगी। इसकी गणपूर्ति ५१ होती है। ग्राम पंचायतों द्वारा अनेक कर्मचारियों को नियुक्त किया जायेगा जिनकी संख्या एवं तरीका उपयुक्त अधिकारी द्वारा निर्धारित होंगे। पंचायत के कार्य अनिवार्य एवं ऐच्छिक दोनों ही प्रकार के हैं। गांवों में प्राथमिक शालायें खोलना ऐच्छिक श्रेणी के विषयों में रखा गया । ग्राम पंचायतों को जनकल्याण की दृष्टि से कुछ आज्ञायें प्रसारित करने का अधिकार दिया गया है। उदाहरण के लिए वे ऐसे कुओं से पानी पीने पर रोक लगा सकती है जिससे कि जन-स्वास्थ्य को हानि होने का खतरा हो। यदि पंचायत की आज्ञाओं की अवहेलना की जाये तो पंचायतें २५ रु० तक का जुर्माना कर सकती हैं। पंचायत को यह अधिकार प्राप्त है कि वह अपने सदस्यों के २/३ बहुमत से एक प्रस्ताव पास करके अपने पंचायत क्षेत्र में नशाबन्दी लागू कर सकती है और उसके निर्णय आबकारी निरीक्षक को मानने होंगे। सरपंच तथा पंचायत द्वारा विशेष रूप से शक्ति प्राप्त पंच को अपने क्षेत्र के किसी भी घर में प्रवेश पाने का अधिकार है। किन्तु इसके लिए पूर्व सूचना भेजना जरूरी है ताकि महिलायें अपना निवास बदल सकें। पंचायतें भूमि रख सकती

हैं तथा मेलों एवं बाजारों का प्रबन्ध करती हैं। पंचायतों का एक समूह मिलकर स्कूल, अस्पताल आदि खोल सकता है। न्यायिक कार्य करने की दृष्टि से पंचायतों को प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय श्रेणियों में विभाजित किया गया है। विकेन्द्रीकरण की नीतियों द्वारा पुलिस तथा अन्य स्थानीय अधिकारियों की तानाशाही को समाप्त करने के लिए पर्याप्त स्वागत किया गया है। इसमें मानवीय मूल्यों पर पर्याप्त जोर देते हुए प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को बढ़ावा देने का प्रयास किया गया है।

पंचायती राज की नवीन व्यवस्था में भी अनेक खतरनाक सम्भावनायें हैं। गांव की जनता प्राय: अशिक्षित एवं अज्ञानयुक्त है। उसके कन्धों पर उत्तरदायित्व का भार डालना अनुपयुक्त है। गांव वालों की सामान्य बुद्धि पर जो भरोसा किया गया है वह इतना विश्वसनीय नहीं है जितने कि उनकी गरीबी, अशिक्षा एवं अज्ञान आदि संदेहजनक हैं। पंचायतों के कार्यों का अतीत अनुभव यह बताता है कि इनमें प्राय: धोखेबाज तथा सस्ते लोग चुन कर आ जाते हैं। खुले पत्र द्वारा चुनाव होने के कारण अनेक अप्रिय घटनायें घट जाती हैं। इस प्रकार निर्वाचित पंच कभी भी अपने विरोधी को नहीं भूल पाता तथा निर्णय लेते समय वह अपनी इस प्रवृत्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। पंचायती राज की स्थापना का लक्ष्य सहयोग एवं आत्मविश्वास की भावना को जागृत करना है किन्तु पंचायतों का अब तक का अनुभव तो यह बताता है कि जो कार्य गांव वालों के ऐच्छिक सहयोग पर निर्भर करता है वह कार्य कभी भी सम्पन्न नहीं होता। गांव के बदनाम लोगों पर से अपने करों को उगाहने की हिम्मत तक इन पंचायतों को नहीं हो पाती। पंचों को कोई वेतन आदि नहीं दिया जाता किन्तु फिर भी ये निकाय इतने अधिक कार्यरत रहते हैं तथा वह सब कार्य करना चाहते हैं जो कि जनता को स्वयं ही करना चाहिए था। इससे सचेत व्यक्तियों एवं उनके परिवारों को नुकसान होता है और असचेत व्यक्ति भ्रष्टाचारी बन जाते हैं तथा दूसरे प्रकारों से अपनी क्षतिपूर्ति करने का प्रयास करते हैं।

नम्बरदार तथा पंचायत प्रमुख के रूप में दोहरे अधिकारियों के रहने पर उनके बीच संघर्ष की सम्भावना बढ़ जाती है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि पंचायती राज एवं सत्ता का विकेन्द्रीकरण यद्यपि प्रजातंत्र के सफल कार्य-संचालन के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं किन्तु फिर भी इसके रूप एवं कार्य संचालन में पर्याप्त संशोधन करना जरूरी है।

मध्य प्रदेश की जनपद योजना

[The Janpad Scheme of Madhya Pradesh]

भारत के अन्य राज्यों की भांति मध्य प्रदेश में भी प्रजातंत्रीय विकेन्द्रीकरण की योजना को क्रियान्वित किया गया। यहां पर विकेन्द्रित प्रशासन के लिए जनपद योजना को लागू किया गया। जनपद योजना का आधार विकेन्द्रीकरण है। प्रजातंत्रात्मक राज्यों में विकेन्द्रित सत्ता की आवश्यकता का अनुभव किया जाता है। बड़े देशों में यह आवश्यकता और भी अधिक प्रभावपूर्ण बन जाती है। प्रशासन की जनपद योजना का १ जुलाई, १९४८ को उद्घाटन किया गया। इस योजना की मूल विशेषता यह है कि इसके

हैं। प्रशासन में पर्याप्त अनुभव प्राप्त कर लेने के वाद सम्भवतः सभा को ही ये विषय दे दिये जायेंगे।

जनपदों को दी गई स्वायत्तता पूर्ण अथवा हस्तक्षेप–विहीन नहीं है क्योंकि यह ऐसी हो भी नहीं सकती। नई योजना के अनुसार जनपदों पर सरकार के नियंत्रण की व्यवस्था है। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी से लेकर नीचे तक का वरिष्ठ स्टाफ राज्य सरकार सेवा का सदस्य होता है तथा उसी के द्वारा इसे वेतन प्राप्त होता है। जनपद सभा पूरी तरह से एक विचारकर्त्ता (deliberative) निकाय है; इसके पास कोई भी कार्यपालिका सत्ता नहीं होती। यह तो मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के हाथों में रहती है जिसे सभा के नियंत्रण से पूर्णतः स्वतंत्र रखा जाता है। सरकार द्वारा जनपद की क्रियाओं पर सामान्य निरीक्षण, निर्देशन एवं नियंत्रण रखा जाता है। सरकार चाहे तो सभा की राय को रद्द करके भी कार्य कर सकती है। इस प्रकार सरकार जब भी चाहे जनपद की इच्छा एवं क्रियाओं को पूरी तरह नियंत्रित कर सकती है। ऐसा वह प्रत्यक्ष रूप से अपनी शक्तियों का प्रयोग करके कर सकती है तथा अप्रत्यक्ष रूप से मुख्य कार्यपालिका अधिकारी जैसे अधिकारियों के माध्यम से भी कर सकती है। इतना नियंत्रण सम्भवतः इसलिए रखा गया था क्योंकि ये संस्थायें वयस्क मताधिकार के आधार पर संगठित की गई तथा इनमें ऐसे लोग आये जिनको अपने नये कार्य का कोई प्रशासकीय अनुभव नहीं था। असल में सरकार का नियन्त्रण अवरोधात्मक की अपेक्षा

स्थानीय सत्ताओं के कार्य

[THE FUNCTIONS OF LOCAL AUTHORITIES]

स्थानीय सरकार का संगठन इसलिए किया जाता है ताकि स्थानीय जनता अपनी समस्याओं एवं उलझनों से निपटने के लिए स्वयं ही पहल करे तथा अपनी ही शक्ति, श्रम एवं धन के आधार पर उनका समाधान कर लें। यह स्थानीय समस्यायें मुख्य रूप से वे होती हैं जिनका नागरिकों के दिन-प्रतिदिन के जीवन से सम्बन्ध रहता है तथा जो कि तत्काल ही समाधान चाहती हैं क्योंकि थोड़ा समय बीत जाने के बाद उनका महत्व ही नहीं रह जाता। इसके अतिरिक्त इन सेवाओं में अधिक धन लगाने की आवश्यकता नहीं होती। यद्यपि ये सेवायें अधिक जटिल एवं तकनीकी प्रकृति की नहीं होतीं किन्तु तो भी इनको समझने के लिए स्थानीय व्यक्ति का होना उपयोगी समझा जाता है।

मोन्टेग्यू हैरिस (Montagu Harris) के कथनानुसार स्थानीय सत्ताओं द्वारा किये जाने वाले कार्यों के सम्बन्ध में दो मूल सिद्धान्त होते हैं।[1] प्रथम सिद्धान्त यह है कि स्थानीय सत्ता प्रत्येक उस कार्य को कर सकती है जिसे कि वह यह समझे कि समाज के लिए जरूरी है। वह ऐसा कोई कार्य नहीं कर सकती जिसे करने के लिये कानून द्वारा स्पष्ट रूप से मना किया गया हो अथवा कानून ने उसे करने का उत्तरदायित्व किसी अन्य सत्ता को सौंप दिया हो। दूसरा सिद्धान्त यह है कि कोई भी स्थानीय सत्ता ऐसे किसी कार्य को नहीं कर सकती जिसे करने का उसे संसद के व्यक्तिगत अथवा सरकारी कानून द्वारा उत्तरदायित्व न सौंपा गया हो। इस सम्बन्ध में एक तीसरा सिद्धान्त और भी है जिसका कि सोवियत रूस में प्रचलन है। इस सिद्धान्त के अनुसार कानून द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिस पर कि स्थानीय सत्ता कार्य न कर सके; किन्तु इसके कार्यों को उच्च सत्ता द्वारा प्रभावहीन बनाया जा सकता है। यूरोप के विभिन्न देशों की स्थानीय सरकारें इन सिद्धान्तों में से ही किसी के आधार पर कार्य करती हैं।

---

1. "There are two main principles regarding the functions which may be exercised by local authorities."
—*Montagu Harris*, Comparative Local Government, London, 1948, P. 76

किसी भी देश में स्थानीय सरकार के कार्य या तो बाध्यकारी (Obligatory) हो सकते हैं अथवा गैर-बाध्यकारी (Non-obligatory)। जब स्थानीय सरकार का कोई निकाय पहली श्रेणी में आने वाले कार्यों को सम्पन्न करता है तो वह केन्द्र सरकार का एजेन्ट मात्र होता है, यद्यपि प्रशासन के विस्तार के सम्बन्ध में उसे कुछ स्वेच्छापूर्ण शक्तियां सौंपी जा सकती हैं। ग्रेट ब्रिटेन की स्थानीय सरकार ऐसे भी कार्य करती है जिनको कि इन दोनों ही श्रेणियों के मध्य का माना जा सके। इसमें केन्द्रीय सरकार द्वारा कम से कम का मापदण्ड निश्चित कर दिया जाता है तथा स्थानीय सत्ता यदि चाहे तो उससे बाहर भी जा सकती है।

स्थानीय सरकार के कार्यों के बारे में कोई एकरूपता नहीं है। प्रत्येक देश की इस सम्बन्ध में अलग-अलग नीतियां हैं। संघ राज्यों में तो यहां तक है कि उसकी विभिन्न इकाइयों में स्थानीय सरकार के कार्य अलग-अलग होते हैं। एक देश में जिन कार्यों को करने के लिए स्थानीय इकाइयों को उत्तरदायी ठहराया गया है, दूसरे देशों में वे ही कार्य केन्द्रीकृत करके या तो केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों द्वारा प्रशासित कराये जाते हैं अथवा स्थानीय सरकार ही केन्द्र सरकार के अभिकरण के रूप में इनको सम्पन्न करती है। स्थानीय सरकार द्वारा किये जाने वाले कार्यों में विशेष रूप से उल्लेखनीय कार्य हैं—पुलिस, शिक्षा, सड़क, गृह, नियोजन, जन–सहायता, बेरोजगारी, व्यापारिक उद्यम, पुस्तकालय, न्याय का प्रशासन, आदि।

इस प्रकार स्थानीय संस्थाओं द्वारा कई प्रकार की सेवायें प्रदान की जाती हैं। इतने पर भी यह एक तथ्य है कि ऐसे बहुत कम लोग ही स्थानीय सरकार के बारे में अधिक ज्ञान रख पाते हैं जिनका कि इससे सम्बन्ध नहीं है। गली के आम व्यक्ति के लिए नगरपालिका एक दूर की चीज है जो कि समय-समय पर उसके कूड़े के ढोल को खाली करती रहती है। यदि उससे पूछा जाये तो वह मुश्किल से ही ऐसी अन्य किसी सेवा का नाम बता सकेगा जिसे कि स्थानीय नगरपालिका द्वारा सम्पन्न किया जाता है। यद्यपि नगर-पालिका जनता की लगातार उनके जीवन भर सहायता करती रहती है। स्थानीय सरकार से व्यक्ति का सम्बन्ध जन्म से पूर्व ही हो जाता है जबकि उसकी मां को गर्भ के समय अस्पताल द्वारा सेवायें प्रदान की जाती हैं।

जन्म ग्रहण करते ही बालक का आगमन नगरपालिका अथवा किसी भी स्थानीय सत्ता को सूचित किया जाता है। बालक के प्रारम्भिक विकास में स्थानीय सरकार की पर्याप्त रुचि रहती है। स्थानीय स्वास्थ्य सत्तायें इस बात की देखभाल रखती हैं कि माता-पिता द्वारा बालक के साथ कैसा व्य-वहार किया जा रहा है। कुछ बड़ा होने के बाद बालक को अन्य स्थानीय सत्ता अर्थात् नर्सरी स्कूल की सेवायें प्राप्त होने लगती हैं। जब वह पांच वर्ष का हो जाता है तो स्थानीय सरकार द्वारा संचालित प्राथमिक स्कूलों में वह भर्ती करा दिया जाता है। स्कूल में अध्ययन के समय भी अस्पतालों द्वारा उसे मेडीकल सेवायें प्राप्त होती रहती हैं। स्कूल में भी उन बालकों पर विशेष ध्यान दिया जाता है जो कि शारीरिक या मानसिक रूप से अपाहिज होते हैं। बालक जिस घर में रहता है उसकी रचना स्थानीय सत्ता के नियमों के

अनुसार ही की जाती है। मकानों में परनालों की व्यवस्था की जाती है। स्थानीय सत्ता उनको या तो स्वयं ही जल का वितरण करेगी अथवा इस बात का प्रबन्ध करेगी कि कोई अन्य अभिकरण उनको शुद्ध एवं पर्याप्त जल प्रदान करे। गृहस्वामी द्वारा फेंकी गई बेकार चीजों को इकट्ठा करके हटाया जायेगा। उसके घर के बाहर की गली में प्रकाश किया जायेगा, गली की मरम्मत की जायेगी तथा सफाई भी की जायेगी।

स्थानीय निकाय द्वारा व्यक्ति को यातायात का साधन प्रदान किया जायेगा। जहां कहीं यातायात का प्रबन्ध किसी व्यक्तिगत संस्था द्वारा कर दिया जाता है वहां भी उसका संचालन स्थानीय संस्था के नियमन के अधीन किया जाता है तथा जो पुलिसमेन उसे नियमाधीन रखता है वह भी प्राय: स्थानीय संस्था का ही कर्मचारी होता है। यदि व्यक्ति गली में चलते-चलते ही दुर्घटना-ग्रस्त हो जाये तो चिकित्सायान उसे अस्पताल तक पहुंचा देगा। यदि व्यक्ति असावधान है और अपनी सम्पत्ति में आग लगा देता है तो अग्नि रक्षा सेवायें आकर उसकी सहायता करेंगी।

खाली समय में व्यक्ति स्थानीय पुस्तकालय द्वारा ली गई पुस्तकों के साथ स्वस्थ मनोरंजन कर सकता है। यदि व्यक्ति दूरस्थ स्थान में रहता है तो चल पुस्तकालय उसकी सेवा कर सकता है। छुट्टी के दिनों में वह स्थानीय सरकार द्वारा संचालित, कला—प्रदर्शनियों एवं अन्य मनोरंजन के स्थलों का उपयोग कर सकता है। अन्त में, जब व्यक्ति के कार्य करने की उम्र समाप्त हो जाती है और वह अधिकतर बीमार रहने लगता है तो परिवार वाले लोग उसकी देखभाल करने में परेशानी का अनुभव करते हैं और ऐसी स्थिति में स्थानीय सरकार द्वारा संचालित संस्थायें उसे उसी की उम्र वालों के साथ रखने का प्रबन्ध कर देती है। मरने के बाद व्यक्ति का जहां अन्तिम संस्कार किया जाता है वह श्मशान भूमि भी स्थानीय संस्था द्वारा ही प्रबन्धित की जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्थानीय सरकार द्वारा स्थानीय नागरिकों को अनेक सेवायें प्रदान की जाती हैं। यदि हम स्थानीय सरकार के कर्म-चारियों के व्यवसायों एवं कार्यों पर विचार करें तो पायेंगे कि इसके कार्य और भी अधिक व्यापक हैं। स्थानीय सरकार का एक मुख्य कार्य लोक सेवायें प्रदान करना है जिनको प्राप्त करने के लिए रेट तथा कर प्रदान किये जाते हैं। स्थानीय सत्ता का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य आवश्यकता के अनुसार जिले में रहने वाली जनता की क्रियाओं पर नियंत्रण रखना है। इस कर्त्तव्य को पूरा करने के लिए स्थानीय सत्ता उपनियम बनाती है तथा उन लोगों को सजा देती है जो कि उन उपनियमों का पालन नहीं करते।

स्थानीय निकायों द्वारा किये जाने वाले कार्यों के बारे में सामान्य रूप से जानकारी प्राप्त कर लेने के बाद यह जानना उपयोगी रहेगा कि भारत में स्थानीय संस्थायें क्या-क्या कार्य करती हैं। जैसा कि स्थानीय संस्थाओं की बनावट का अध्ययन करते समय हमने पढ़ा था, भारत में स्थानीय निकायों को शहरी एवं ग्रामीण क्षेत्रों के आधार पर अलग-अलग संगठित किया है। इन क्षेत्रों में भी जनसंख्या के आधार पर विभिन्न निकायों की रचना की गई

है। यहां हमारी रुचि का केन्द्र शहरी क्षेत्रों में स्थित नगर निगम एवं नगर-पालिकायें आदि हैं तथा ग्रामीण क्षेत्रों में स्थित पंचायत, पंचायत समिति, जिला परिषद, ग्राम सभा, एवं न्याय पंचायत आदि-आदि हैं। इनके कार्यों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जायेगा कि भारत में स्थानीय निकायों से क्या कुछ करने की आशा की गई है। वैसे ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्रों के स्थानीय निकायों के बीच कार्य की दृष्टि से एक मूल अन्तर है और वह यह है कि देहाती क्षेत्रों के निकायों को मुख्य रूप से विकास कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। यद्यपि वे नागरिक सुविधा के कार्य भी सम्पन्न करते हैं किन्तु ये कार्य प्रमुख नहीं होते। इसके विपरीत शहरी क्षेत्रों में स्थानीय निकायों का मुख्य उत्तरदायित्व नागरिक सुविधायें प्रदान करना है। इनका विकास कार्यों में दखल नहीं होता। इन विभिन्न स्थानीय निकायों द्वारा किये जाने वाले कार्यों का संक्षिप्त अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है:—

नगर निगमों के कार्य

[Functions of the Municipal Corporations]

भारत में बड़े नगरों के प्रशासन के लिए नगर निगम की स्थापना की गई है। दिल्ली, कलकत्ता, मद्रास, बम्बई, पटना आदि राज्यों का स्थानीय शासन इसी निकाय द्वारा चलाया जाता है। दिल्ली नगर निगम में ८० पार्षद हैं तथा ६ एल्डरमेन हैं। इसका कार्यकाल ४ वर्ष है। केन्द्र सरकार चाहे तो इसके कार्यकाल को अधिक से अधिक एक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। पार्षदों का चुनाव वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। इसके लिए दिल्ली को कई वार्डों में विभाजित कर दिया जाता है। चुनाव के तुरन्त बाद होने वाली बैठक में एल्डरमेन का चुनाव कर लिया जाता है। मद्रास के नगर निगम में ८० पार्षद हैं तथा पांच एल्डरमेन हैं। कार्यालय का कार्यकाल तीन वर्ष होता है। राज्य सरकार द्वारा नगरपालिका प्रशासन में विशेष ज्ञान एवं अनुभव रखने वाले अनेक विशेष पार्षदों को विशेष विषयों के लिए नियुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार नियुक्त विशेष पार्षद, परिषद के केवल उसी विषय में भाग ले सकता है जिसके लिए उसको नियुक्त किया गया है। किन्तु वह परिषद की किसी भी बैठक में आ सकता है तथा मत देने के अधिकार के बिना ही उसके वाद–विवाद में भाग ले सकता है। कलकत्ता नगर निगम में ७६ पार्षद तथा ५ एल्डरमेन हैं। इनका कार्य-काल ३ वर्ष होता है। बम्बई नगर निगम में १२४ पार्षद होते हैं। प्रत्येक पार्षद का कार्यकाल चार वर्ष होता है।

इन चारों ही नगर निगमों के कार्यों के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि दिल्ली तथा बम्बई की निगम के अधिनियमों में नगर निगम के बाध्यकारी एवं ऐच्छिक कार्यों की विस्तृत सूची दी गई है किन्तु मद्रास एवं कलकत्ता के अधिनियमों में इस सम्बन्ध में केवल सामान्य बातें ही कही गई हैं। इन दोनों ही राज्यों के अधिनियमों में कहा गया है कि शहर की नगरपालिका सरकार, निगम में निहित रहेगी जो कि अधिनियम, नियम, उपनियम, विनियम आदि के अधीन रहकर कार्य करेगी। किन्तु परिषद किसी भी ऐसी शक्ति का प्रयोग नहीं कर सकती तथा कार्य को सम्पन्न नहीं कर

सकती जो कि इन नियमों अथवा अन्य नियमों द्वारा आयुक्त अथवा किसी स्थायी समिति को विशेष रूप से सौंपे दिये गये हैं। मद्रास अधिनियम में यह कहा गया है कि यदि किसी कार्य के सम्बन्ध में किसी भी नगरपालिका सत्ता को कोई संदेह हो तो वह मामला मेयर द्वारा राज्य सरकार के सामने पेश किया जा सकता है। उस पर राज्य सरकार का निर्णय अन्तिम माना जायेगा।

बम्बई तथा दिल्ली के अधिनियमों में नगर निगम के कार्यों को दो भागों में विभाजित कर दिया गया है। ये हैं—बाध्यकारी कार्य तथा ऐच्छिक कार्य। इन दोनों भागों में अनेक कार्यों को समाहित किया गया है जो कि निम्न प्रकार हैं—

बाध्यकारी कार्य Obligatory Functions]:—

(१) नालियां एवं ऐसी ही अन्य 'सार्वजनिक सुविधायें
(२) सरकारी एवं व्यक्तिगत उद्देश्य से जल का वितरण
(३) कीचड़ तथा मल को इकट्ठा करना और हटाना
(४) गन्दी बस्तियों की सफाई
(५) मुर्दों का अन्तिम संस्कार करने के लिए श्मशान भूमि का नियमन एवं देखभाल करना
(६) जन्म तथा मृत्यु को पंजीकृत करना
(७) जनता में टीका लगवाना
(८) खतरनाक बीमारियों को रोकना
(९) अस्पताल डिस्पेन्सरी तथा अनाथों के लिए कल्याण—केन्द्र खोलना
(१०) खतरनाक एवं घातक व्यापारों पर नियंत्रण रखना
(११) खतरनाक भवनों को हटा देना
(१२) सार्वजनिक गलियां एवं पुल बनवाना
(१३) सार्वजनिक गलियों में प्रकाश एवं सफाई का प्रबन्ध
(१४) गलियों एवं पुलों पर से बेकार चीजों को हटाना
(१५) गलियों को गिनना तथा उनका नाम रखना
(१६) प्राथमिक शिक्षा के लिए स्कूल खोलना
(१७) बिजली वितरण, सड़क यातायात एवं जल—वितरण सेवाओं के लिए उद्यमों की रचना, स्थापना एवं प्रबन्ध करना।
(१८) नगरपालिका कार्यालय एवं निगम की अन्य सम्पत्ति की रचना एवं मरम्मत।

ऐच्छिक कार्य [Discretionary Functions]:—

(१) अन्य साधनों द्वारा प्राथमिक शिक्षा को बढ़ावा देना
(२) पुस्तकालयों, अजायबघरों, कला—प्रदर्शनियों आदि का आयोजन करना
(३) सार्वजनिक पार्क, बगीचे तथा मनोरंजन गृह बनाना
(४) भवनों एवं भूमियों का सर्वेक्षण करना
(५) शादियों का पंजीकरण

(६) अग्निरक्षक, आराम-गृह, गरीब-गृह, बालक-गृह आदि का प्रबन्ध करना ।

बम्बई शहर में राज्य सरकार द्वारा १० मेडीकल संस्थाओं का प्रबन्ध किया जाता है । इसके लिए नगर निगम राज्य सरकार को प्रत्येक माह की पहली तारीख को ही २४५४१ रुपये प्रदान कर देता है ।

दिल्ली की नगर निगम द्वारा नई दिल्ली की नगरपालिका समिति को पीने का पानी वितरित करना होता है । नई दिल्ली की नगरपालिका जिन परनालों का उत्तरदायित्व निगम को सौंप दे वे भी इसी के द्वारा प्रशासित होंगे तथा इनका खर्चा भी अनुपात के आधार पर नगरपालिका को ही देना होगा ।

नगरपालिका के कार्य
[The Functions of Municipality]

नगरपालिकायें अपेक्षाकृत छोटे शहरों में वही कार्य करती हैं जो कि बड़े शहरों में नगर निगम द्वारा किये जाते हैं । सामान्य रूप से इसके मुख्य कार्यों का अध्ययन निम्न शीर्षकों में किया जा सकता है—

१. जन स्वास्थ्य [Public Health]—जन-स्वास्थ्य से सम्बन्धित सेवाओं का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है तथा इसमें वे अनेक सेवायें आ जाती हैं जिनका सम्बन्ध बीमारी को रोकने से है, जैसे कि सफाई सेवायें अर्थात् नालियों एवं गलियों की सफाई का प्रावधान एवं निरीक्षण, भोजन तथा दवाओं का निरीक्षण, ऐसे व्यवहारों को रोकना जो कि स्वास्थ्य पर बुरा असर डालते हों । दूसरे, वे सेवायें जो कि स्वास्थ्य की उन्नति में सहायक हों; उदाहरण के लिए स्नानगृह एवं सफाई-गृह बनाना "गर्भवती स्त्री एवं बालकों के लिए कल्याण सेवायें प्रदान करना । तीसरे, बीमारी का इलाज करने से सम्बन्धित सेवायें" उदाहरणार्थ क्लिनिक एवं चिकित्सा केन्द्रों की व्यवस्था । इस प्रकार बीमारी को रोकना, स्वास्थ्य को प्रोत्साहन देना एवं बीमारी का इलाज करना—ये नगरपालिकाओं द्वारा जन-स्वास्थ्य के क्षेत्र में किये जाने वाले तीन मुख्य कार्य हैं । इनको सम्पन्न करने के लिए वह क्या-क्या करती है—इस पर थोड़ा प्रकाश डालना भी उपयोगी रहेगा ।

(A) **बीमारी रोकने के लिए**—शहर में बीमारियां न फैलने पायें इसके लिए नगरपालिका द्वारा अनेक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं । प्रथम, वह नालों एवं नालियों की सफाई तथा उचित व्यवस्था का प्रबन्ध करती है । नाले का कार्य एक से अधिक घरों की कीचड़ को बाहर ले जाना है । नाला व्यक्तिगत भी हो सकता है और सरकारी भी; अर्थात् वह गृह-स्वामी द्वारा भी बनाया जा सकता है और सरकार द्वारा भी । व्यक्तिगत नालों की देख-भाल उनके स्वामियों द्वारा की जाती है, यद्यपि स्थानीय निकाय भी उस पर अपना पर्यवेक्षण रखते हैं । स्थानीय सत्ता भवनों के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रबन्ध का भी पर्यवेक्षण करती है तथा चाहे तो ऐसा करने के लिए वह उपनियम भी बना सकती है । सभी व्यक्तिगत नालों को बाद में चल कर बड़े सरकारी नाले में ही गिरना होता है । स्थानीय सत्ता को इनका भी उचित प्रबन्ध करना होता है कि जहां ये नाले परस्पर मिल रहे हैं वहां सफाई की पूरी

व्यवस्था रहे। नाली का सम्बन्ध प्रत्येक घर से व्यक्तिगत रूप में होता है। सड़कों एवं मोहल्लों से पानी को ले जाने के लिए भी नालियाँ होती हैं। स्थानीय निकाय के प्रतिनिधियों का यह मुख्य उत्तरदायित्व होता है कि वे देखें कि उनके क्षेत्र में नालियों का उचित प्रबन्ध किया गया है अथवा नहीं। अपने सफाई से सम्बन्धित उत्तरदायित्वों के सहारे स्थानीय सत्तायें शौचगृह बनाने का अधिकार रखती हैं।

दूसरे, स्थानीय निकाय सार्वजनिक दृष्टि से जल के उपयोग एवं वितरण पर नियंत्रण रखते हैं। यद्यपि नदी के तट पर अथवा झरनों के निकट रहने वाले लोगों को यह कानूनी अधिकार होता है कि वे उसका उपयोग कर सकें। किन्तु यदि स्थानीय सत्ता आवश्यक समझे तो इस प्रयोग को नियमित भी कर सकती है। यदि शहर में वितरित किया जाने वाला जल किसी बन्ध या तालाब से आता है तो स्थानीय सत्ता को यह अधिकार होगा कि उसके ऊपरी भाग को ढक दे तथा उस पर आवश्यक नियंत्रण रखे। स्थानीय सत्ता द्वारा ही क्षेत्र की जनता के लिए नल के पानी की व्यवस्था की जाती है।

तीसरे, घातक व्यापार पर रोक लगाने के लिए स्थानीय निकाय स्वास्थ्य निरीक्षकों की नियुक्ति कर देते हैं जो कि स्वास्थ्य के लिए घातक चीजों की बिक्री पर रोक लगा सके। इसके अतिरिक्त फैक्ट्रियों, पशुपालन गृहों, धुएं गृहों से, रुके हुए पानी से तथा ऐसे ही अन्य स्थानों से गन्दगी फैलने का डर न रहे, यह देखने के लिए भी निरीक्षकों द्वारा कार्य किये जाते हैं। कुछ ऐसे व्यापार, जिनके कारण दुर्गन्ध फैलती है तथा जो जनस्वास्थ्य के लिए घातक हैं, पर स्थानीय सरकार द्वारा उचित नियंत्रण रखा जायेगा।

चौथे, स्थानीय निकाय द्वारा घरों के कूड़े करकट को हटाने का उचित प्रबन्ध किया जाता है। जमीन के नीचे चलने वाले मल पाइपों की सफाई की जाती है। वे घरों के लिए कूड़ा गृह रखने का भी प्रावधान बना सकते हैं। स्थानीय सत्तायें कभी-कभी गलियों को धोने का कार्य करती हैं।

पांचवें, भोजन तथा दवाइयों के बारे में स्थानीय सरकार द्वारा कुछ मापदण्ड तय कर दिये जाते हैं, तथा दूध, मक्खन, आटा एवं अन्य खाद्य पदार्थों में शुद्धता रखने के लिए पर्याप्त प्रयास किया जाता है। खाद्य पदार्थों का उत्पादन, रक्षण, बिक्री एवं प्रयोग पूर्णतः स्वास्थ्य के नियमों के आधार पर ही किया जाये। विषैले भोजन की तुरन्त ही इन निकायों को सूचना देनी चाहिए। दूध बेचने वालों को पंजीकृत कर लिया जाता है। बाजारों में इनका निरीक्षक कार्य करता है। भोजन तथा अन्य खाद्य पदार्थों के नमूने लिए जा सकते हैं ताकि सरकारी विश्लेषणकर्त्ता द्वारा उनका अध्ययन किया जा सके। नगर-पालिका द्वारा स्वयं का बाजार भी खोला जा सकता है।

छठे, नगरपालिकायें छूत की बीमारी के प्रसार को रोकने के लिए कुछ कदम बढाने का अधिकार रखती हैं। ऐसी बीमारियों की सूचना स्थानीय स्वास्थ्य अधिकारी को दी जानी चाहिए। इन बीमारियों की सूची परिस्थिति के अनुसार बदलती रहती है। इन बीमारियों से प्रभावित व्यक्ति को तुरन्त ही अस्पताल में भर्ती कराया जा सकता है। छूत की बीमारी से प्रभावित व्यक्ति के परिवार को अस्थायी निवास की सुविधा प्रदान की जा सकती है।

सातवें, स्थानीय सत्ता द्वारा नवजात शिशु के छः माह के भीतर–भीतर टीके लगाने चाहिए, यदि माता–पिता द्वारा अधिक विरोध न किया जाये।

(B) स्वास्थ्य को प्रोत्साहन (Promotion of Health)—जनता के स्वास्थ्य को प्रोत्साहन देने के लिए स्थानीय निकाय, सर्वप्रथम, स्नानगृह आदि बनाने का अधिकार रखते हैं। वह तरणताल आदि का भी प्रबन्ध कर सकती है। तरणतालों को केवल सरकारी उद्देश्य के लिए भी रखा जा सकता है। कई शहरों में कपड़े धोने के स्थानों का भी प्रबन्ध किया जाता है।

दूसरे, गर्भवती स्त्री एवं बच्चों के कल्याण के लिए स्थानीय सत्ता द्वारा जच्चागृह खोले जाते हैं जहां जन्म से पूर्व एवं बाद में बच्चे की पूरी देखभाल की जा सके तथा भावी संतति को स्वस्थ एवं सुन्दर बनाने में सहायता की जा सके। शिशु–कल्याण के कार्य उस समय तक जारी रह सकते हैं जब तक कि बालक स्कूल न जाने लग जाये। उसके बाद स्कूल में स्थानीय शिक्षा सत्ता द्वारा मैडिकल सेवाएं प्रदान की जायेंगी। बालक का जन्म होने की सूचना स्थानीय मैडीकल अधिकारी को दी जानी चाहिए ताकि वह सहायता एवं परामर्श दे सकें।

तीसरे, कहीं–कहीं इसे भी स्थानीय सरकार का उत्तरदायित्व माना जाता है कि प्रत्येक क्षेत्र में योग्य एवं पर्याप्त दाइयां मिल सकें। इसके लिये स्थानीय सत्ता स्वयं ही दाइयां नियुक्त कर सकती है नहीं तो स्वेच्छापूर्ण संगठनों को ऐसा करने के लिए कह सकती है।

(C) बीमारी का इलाज (Cure of ill-health)—स्थानीय सत्ता का यह एक महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व समझा जाता है कि वह चिकित्सा के लिये अस्पतालों तथा अन्य केन्द्रों की व्यवस्था करे। बड़ी स्थानीय सत्ता द्वारा अस्पताल खोले जाते हैं तथा निदान केन्द्रों की व्यवस्था की जाती है जब कि छोटी सत्ताएं संयुक्त समितियों एवं मन्डलों द्वारा डिस्पेन्सरियां आदि खोल देती हैं। स्थानीय सत्ता द्वारा स्वास्थ्य केन्द्रों में इस प्रकार की भी व्यवस्था की जा सकती है जहां कि एक डाक्टर अथवा कई डाक्टर जनता को स्वास्थ्य सम्बन्धी सलाह देने के लिये प्राप्त हो सकें। स्थानीय सत्ताओं द्वारा चिकित्सा-यान की सुविधाएं प्रदान की जाती हैं जो कि न केवल गली में दुर्घटनाग्रस्त व्यक्ति को ही ले जाती हैं वरन् गम्भीर रोगियों को भी उनके घर से अस्पताल तथा अस्पताल से घर तक लाने–ले जाने का प्रबन्ध करती हैं।

(२) गृह, शहर नियोजन, भवन एवं पार्क (Housing, Town planning, Building, Parks)—स्थानीय सत्तायें गृह निर्माण के कार्य में पर्याप्त हस्तक्षेप रखती हैं। यह कहा जाता है कि केवल मैडीकल देखभाल तथा सफाई के सम्बन्ध में कुछ कदम उठाने मात्र से ही जन–जीवन अच्छा नहीं बन सकता। जनता का स्वास्थ्य बहुत कुछ घर की उचित दशाओं पर निर्भर करता है। इसलिए जन–स्वास्थ्य से मिलती–जुलती सी सेवा के रूप में स्थानीय सत्ता को जनता की निवास स्थान सम्बन्धी आवश्यकताओं के बारे में भी कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं। प्रारम्भ में स्थानीय सत्ता के इन कार्यों का सम्बन्ध मजदूर वर्ग से ही बताया गया किन्तु बाद में निवास स्थान की

कमी से उत्पन्न समस्याओं के प्रसंग में मध्यम वर्ग को भी इन कार्यों के अन्तर्गत ले लिया गया। क्षेत्र के विभिन्न भागों में स्थानीय सत्ता द्वारा अनेक घरों का निर्माण कराया जाता है। गृह निर्माण की शक्ति के अन्तर्गत दूकानों एवं अन्य आवश्यक भवनों की रचना का कार्य भी आ जाता है। यह गृह निर्माण क्वार्टर्स के रूप में हो सकता है अथवा अन्य दूसरे रूप में।

स्थानीय सत्ता गन्दी बस्तियों को खाली कराने का अधिकार रखती है। यदि किसी क्षेत्र में गृह दशायें इतनी बद्तर हो जायें कि वहां के निवासियों को रहने में भी परेशानी महसूस होने लगे तो स्थानीय सत्ता उन सभी मकानों को खाली करने की आज्ञा प्रसारित कर सकती है। किसी भी गन्दी बस्ती को समाप्त न करके, स्थानीय सत्ता उसे पुनर्विकास का क्षेत्र भी घोषित कर सकती है तथा मन्त्री के सम्मुख वह उस क्षेत्र के पुनर्विकास की योजना रखेगी अथवा गृह स्वामी स्वयं ही पुनर्विकास की योजना को स्थानीय सत्ता के सामने रख सकते हैं तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए स्वयं कदम उठा सकते हैं। यदि स्थानीय सत्ता, गृह–स्वामियों की योजना को स्वीकार कर लेती है तो वह पुनर्विकास के कार्य को उन्हीं के भरोसे पर छोड़ देगी।

स्थानीय सत्ता को यह भी अधिकार दिया जाता है कि वह भग्न इमारतों आदि की सम्पत्ति को खरीद व बेच सके। स्थानीय सत्ता को अपने क्षेत्र का सर्वेक्षण करने का अधिकार दिया गया है ताकि वह इस बात का पता लगा सके कि कहां अधिक भीड़भाड़ है। जो गृह स्वामी अधिक भीड़भाड़ इकट्ठी करने के लिये उत्तरदायी है अर्थात् छोटे से मकान में अनेक किरायेदार भरे हों तो उसके विरुद्ध कानूनी कार्यवाही की जा सकती है। स्थानीय सत्ता द्वारा मन्त्री के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा जा सकता है कि वह नये घरों की रचना करके अधिक भीड़भाड़ पर रोक लगाये।

स्थानीय सत्ता स्वयं इस बात का निरीक्षण करती है कि उसके क्षेत्र के लोगों के घर ऐसे हों जिनमें व्यक्ति की आवश्यकताएं पूरी हो सकें। इसके लिए वह घरों की दशाओं के बारे में नियम तथा उपनियम बना सकती है तथा श्रमिकों के घरों का निरीक्षण करा सकती है। स्थानीय सत्ता गृह–स्वामी को मकान की वांछित मरम्मत कराने को कह सकती है और यदि ऐसा न किया गया तो वह उस मकान को तोड़ने तक की कार्यवाही कर सकती है।

स्थानीय सत्ता एक सीमित रूप में छोटे घरों की खरीद के लिये इच्छुक लोगों को सहायता प्रदान करती है। निवास एवं अन्य उद्देश्य से बनाये गये भवनों का स्थानीय सत्ता द्वारा निरीक्षण किया जा सकता है ताकि वह यह देख सके कि वे उचित एवं सुरक्षित रूप से बनाये गये हैं अथवा नहीं, उनमें पर्याप्त स्थान है अथवा नहीं, वे अनावश्यक रूप से ऊंचे न हों, उनमें सफाई का पर्याप्त प्रबन्ध हो, जल वितरण एवं रोशनी दोनों की उचित व्यवस्था हो। इसके लिये उपनियम बनाये जा सकते हैं। कोई भी भवन बनाने से पूर्व उसका नक्शा नगरपालिका द्वारा पास कराना होता है। खतरनाक भवनों के सम्बन्ध में स्थानीय सत्ता उचित कार्यवाही कर सकती है।

जितने भी सामान्य निवास गृह हैं, वे सभी स्थानीय सत्ता के यहाँ पंजीकृत होते हैं तथा उनका संचालन स्थानीय निकाय के नियमों के अनुसार ही

किया जाता है। शहर एवं कस्बा नियोजन एक नयी सेवा है जो कि स्थानीय सरकार द्वारा सम्पन्न की जाती है। इस सेवा की ओर आजकल विशेष ध्यान दिया जाता है क्योंकि योजनाबद्ध रूप से शहर में भवनों एवं सार्वजनिक स्थानों की रचना के बाद ही शहर का एक वांछित नक्शा प्राप्त किया जा सकेगा। अतीत काल में अनियमित विकास के परिणाम-स्वरूप अनेक समस्यायें सामने आईं। घर और कल–कारखाने पास-पास ही बन गये, मुक्त स्थान कम तथा अपर्याप्त रहे। किसी भी शहर का ऊपरी रूप तथा उसकी कुशलता एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है जिसका जन–जीवन पर प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से भारी प्रभाव पड़ता है।

भवनों की रचना एवं उनके डिजाइन पर नियंत्रण करने के अतिरिक्त स्थानीय सत्ता यह देखने का भी अधिकार रखती है कि भवन का उपयोग किस रूप में किया जा रहा है तथा उसके रूप को किस प्रकार विकसित किया गया है। सत्ता चाहे तो अपने क्षेत्र को उद्देश्य की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर सकती है, उदाहरणार्थ निवास के लिए, व्यापार के लिए, उद्योगों के लिए आदि। एक क्षेत्र में भवनों का विशेष रूप निर्धारित कर दिया जायेगा तथा उससे भिन्न भवन को बनाने की आज्ञा न होगी। एक क्षेत्र में उसी विषय से सम्बन्धित भवन बनाये जा सकेंगे।

स्थानीय सत्ता विकास कार्य को चलाने के लिए किसी भी भूमि को अनिवार्य रूप से ले सकती है। जिस व्यक्ति की भूमि को आवश्यक रूप से खरीदा गया है, उसको मुआवजा दिया जायेगा। प्रत्येक स्थानीय निकाय को यह अधिकार है कि वह पार्क, बगीचे तथा मुक्त आवास के लिए जमीन खरीद सके अथवा भेंट के रूप में स्वीकार कर सके। पार्कों में स्थानीय सत्ता द्वारा मनोरंजन के साधन प्रदान किये जाते हैं। खेल-कूद, तरणताल एवं संगीत आदि की व्यवस्था की जाती है। स्थानीय सत्ता अपने क्षेत्र से बाहर भी जमीन खरीद सकती है ताकि उन्मुक्त आवास बना सके। इसके लिए वह दूसरी स्थानीय सत्ता के साथ सहयोग स्थापित कर सकती है।

(३) शिक्षा (Education)—स्थानीय सत्ता द्वारा बच्चों के लिए प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। बच्चों को न केवल अक्षर ज्ञान कराया जाता है वरन् उनकी नैतिक, शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं धार्मिक प्रवृत्तियों को विकसित कर उनमें निहित योग्यताओं को उभारने का प्रयास किया जाता है। माता-पिता का यह कर्त्तव्य होता है कि वे पांच वर्ष की उम्र के बाद से उस उम्र तक अपने बालकों को शिक्षा प्रदान करायें जो कि बालक की योग्यता, सामर्थ्य एवं सूझ-बूझ के अनुरूप है। इसके लिए बालक को नियमित रूप से स्कूल भेजा जा सकता है अथवा अन्य कोई प्रबन्ध किया जा सकता है। स्थानीय सत्ता द्वारा इस सम्बंध में आवश्यक उपबन्ध बनाये जा सकते हैं।

बालकों की तन्दुरुस्ती एवं शारीरिक स्वास्थ्य को नियमित रूप से किये जाने वाले मैडीकल निरीक्षण अथवा इलाज द्वारा देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त बालकों को जो दूध तथा दोपहर का खाना दिया जाता है, पहनने को जो कपड़े दिये जाते हैं, निवास का जो प्रबन्ध किया जाता है, मनोरंजन

की जो सुविधायें दी जाती हैं तथा सामाजिक एवं शारीरिक जो प्रशिक्षण दिया जाता है उस सब के परिणामस्वरूप उनका सर्वांगीण विकास करने का प्रयास किया जाता है। बालकों को घर से स्कूल तक का रास्ता तय करने के लिए यातायात का समुचित प्रबन्ध किया जाता है।

स्थानीय सत्ता द्वारा बालकों एवं युवकों की नियुक्ति पर भी नियन्त्रण रखा जा सकता है ताकि उनको शिक्षा का पूरा-पूरा लाभ प्रदान किया जा सके। विश्वविद्यालयों, सरकारी स्कूलों तथा अन्य संस्थानों में वजीफे का प्रबन्ध भी किया जा सकता है।

(४) गरीबों को राहत (Poor Relief)—स्थानीय सत्तायें अपनी सामर्थ्य के अनुसार यह प्रयास करती हैं कि गरीबों और अनाथों की सहायता की जाये। प्राय: प्रत्येक प्रज तंत्रात्मक देश इस बात का प्रयास करता है कि उसका कोई भी नागरिक भूख के कारण न मरने पाये अथवा निवास स्थान के अभाव में उसका जीवन नष्ट न हो जायें। इसके लिए स्थानीय सत्तायें गरीबों एवं अभावग्रस्तों को राहत पहुंचाने के लिए प्रयास करती हैं। वृद्धों एवं असहायों को पेन्शन के रूप में धन दिया जाता है, गृह-विहीनों को शरण पाने के लिए रैन-बसेरों की व्यवस्था की जाती है। स्थान-स्थान पर धर्म-शालायें हैं। इस कार्य में व्यक्तिगत संस्थायें भी स्थानीय सत्ताओं को पर्याप्त सहयोग प्रदान करती हैं।

(५) पुल एवं सड़कें (Bridges and High-ways)—पुलों तथा सड़कों को बनाना तथा उनकी मरम्मत कराना स्थानीय सत्ता के पुराने कार्यों में से एक है। स्थानीय सत्तायें या तो स्वयं नयी सड़कें बना सकती हैं अथवा स्थित सड़कों में सुधार कर सकती हैं, उनको चौड़ा कर सकती हैं। जो स्थानीय सत्ता सड़कों की दशा को सुधारने का अधिकार रखती है प्रायः उसी को नई सड़कें बनाने की भी सत्ता प्रदान नहीं की जाती। पुलों के सम्बन्ध में भी स्थानीय सत्ता को कुछ-कुछ ऐसे ही अधिकार प्राप्त होते हैं जैसे कि उसे सड़कों के बारे में होते हैं। अनेक पुलों पर से गुजरने वाली चीजों पर भार के आधार पर सीमा लगा दी जाती है।

(६) पुलिस (Police)—क्षेत्र में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्थानीय सत्ता को कुछ पुलिस अधिकार सौंपे गये हैं। आवश्यकता के समय पुलिस स्थानीय सत्ता के साथ हो जाती है। इसी प्रकार यदि जरूरत हो तो स्थानीय सत्ता को भी पुलिस की सहायता करनी होती है।

(७) अन्य कार्य (Miscellaneous Functions)—राष्ट्रीय एवं स्थानीय आवश्यकता के अनुसार स्थानीय संस्थाओं को और भी कई प्रकार के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। इनमें से कुछ का सम्बन्ध जन-सुविधा के प्रावधानों से रहता है, कुछ जनता की सुरक्षा से सम्बन्ध रखते हैं, अन्य का रूप आवश्यक सेवाओं का है तथा कुछ लोक अभिलेखों से सम्बन्धित हैं।

स्थानीय सरकार द्वारा सार्वजनिक पुस्तकालय एवं कला-प्रदर्शनियों का आयोजन किया जा सकता है। ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों की रक्षा की जाती है। जंगली पशु एवं पक्षियों की कुछेक नस्लों को सुरक्षित रखा जाता है तथा उनको नष्ट करना एक अपराध माना जाता है।

स्थानीय सत्तायें कानून को लागू करने एवं उसका प्रशासन करने का कार्य भी करती हैं।

जिस स्थान पर विघटनकारी चीजों को रखा जाता है अथवा फैक्ट्रियाँ बनायी जाती हैं वह जगह स्थानीय सत्ता द्वारा पंजीकृत की जाती है अथवा उसके लिए लाइसेंस प्रदान किया जाता है। अग्नि-रक्षक सेवायें स्थानीय सत्ता के अधीन रह कर कार्य करती हैं। मनोरंजन करने वाली संस्थाओं को भी स्थानीय सत्ता से लाइसेंस प्राप्त करना होता है। सिनेमा एवं जन-मनोरंजन के अन्य साधनों पर जनता की इन संस्थाओं का नियंत्रण रहता है।

दुकानों को स्थानीय संस्थाओं द्वारा नियमित किया जाता है। दुकानों पर कार्य कर रहे कर्मचारियों की रक्षा का इनके द्वारा पूरा प्रयास किया जाता है। कार्य के घंटे, छुट्टी के दिन, रविवार का कार्य, दोपहर के भोजन का समय, सफाई की दशायें आदि विषयों पर स्थानीय सत्ता द्वारा विचार किया जाता है। वह यह भी देखती रहती है कि कानूनों का समुचित रूप से पालन किया जा रहा है या नहीं।

स्थानीय सत्तायें माप एवं तोल सम्बन्धी नियमों के उपयोग का परीक्षण करने के लिए निरीक्षकों की नियुक्ति करती हैं। यदि किसी को कानून का उल्लंघनकर्त्ता पाया जाये तो उसके विरुद्ध कार्यवाही की जाती है।

स्थानीय संस्थायें अनेक आवश्यक सेवायें सम्पन्न करती हैं। इन सार्वजनिक सेवाओं में नागरिक रेस्तरां, जल-वितरण, ट्राम्वे, नगरपालिका बाजार, अन्य व्यापारिक सेवायें आदि का नाम लिया जा सकता है। स्थानीय सत्ताओं को ये सेवायें करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता किन्तु तो भी अपने क्षेत्र की जनता की आवश्यकताओं का निर्वाह करने के लिए वे इनको सम्पन्न करने का प्रयास करती हैं। स्थानीय सत्ता मुर्दों के अन्तिम संस्कार के लिए शमशान भूमि का प्रबन्ध करती है।

स्थानीय सत्ता द्वारा जिन कार्यों का एवं तथ्यों का अभिलेख रखा जाता है, वे हैं—जन्म, मृत्यु, शादी, मतदाता भूमि कर, मोटर-यान एवं ड्राइवरों के लाइसेंस आदि।

स्थानीय सरकार के नगरपालिका स्तर पर इन सभी कार्यों को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि ये सत्तायें जिन कार्यों को सम्पन्न करती हैं वे संख्या की दृष्टि से अत्यन्त व्यापक एवं गुण की दृष्टि से अत्यन्त विभिन्नता पूर्ण हैं। स्थानीय सत्ताओं के लिए सरकार शब्द का प्रयोग इसलिए न्यायोचित ठहराया जा सकता है क्योंकि ये नागरिकों के जीवन एवं कार्यों को नियंत्रित करने का अधिकार रखती हैं। किन्तु इन सत्ताओं द्वारा रखे जाने वाले नियंत्रण की मात्रा इनके द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं की तुल में नगण्य होती है।

एक अर्थ में स्थानीय सत्ताओं को व्यवस्थापिका एवं जनता की कडी कहा जा सकता है। व्यवस्थापिका का कार्य कानून बनाने है। कानूनों की रचना करने के बाद वह इनको क्रियान्वित करने कम ध्यान देती है। स्थानीय सत्तायें इस कार्य को अपने हाथ में वस्थापन की सार्थकता प्रदान करती हैं। नागरिकों को स्वायत्त

अन्य नागरिक सुविधायें आदि ।[1] शहरी क्षेत्रों का विकास आन्दोलन वर्तमान का ही एक विकास है जिसका उद्देश्य नगरों की गन्दी बस्तियों को समाप्त करना, तथा केन्द्रीय क्षेत्रों में भूमि के मूल्यों में स्थायित्व रखना आदि है ।

भारत में नगर विकास आन्दोलन के क्षेत्र में केन्द्र, राज्य एवं स्थानीय स्तर पर जो प्रयास किये गये हैं उनका संक्षिप्त अध्ययन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

केन्द्रीय स्तर पर आन्दोलन

[The Movement at Central Level]

भारत सरकार में एक कस्बा नियोजन विभाग है जो कि सरकारी आर्कीटेक्ट द्वारा प्रशासित किया जाता है । यह विभाग दिल्ली राज्य की नियोजन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करता है तथा उन राज्यों को भी परामर्श देता है जहां नगर विकास के लिए कोई संगठन नहीं है । विस्थापितों को बसाने के लिए निलोखेरी एवं फरीदाबाद नगरों को बनाने का कार्य इसी विभाग द्वारा किया गया । सन् १९४७ में विस्थापितों को बसाने की ...प से मुख्य बन गई और इसलिए इस कार्य का अलग मंत्रालय बनाया ... १९५२ में कार्य, गृह एवं वितरण का एक नया विभाग बन... उपयोग का परी- पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने एक राष्ट्रीय गृह ... किसी को कानून किया । प्रथम पंचवर्षीय योजना में इन कार्यों पर ३८... की जाती है । पंचवर्षीय योजना में १२० करोड़ रुपये रखे गये । ...करती हैं । इन सार्व-

सन् १९५५ में भारत सरकार ने एक प्रस्ताव ...गरपालिका बाजार, नियोजन (Town and Country Planning) का एक ...स्थानीय सत्ताओं देहाती, शहरी एवं क्षेत्रीय नियोजन के विभिन्न पहलुओं पर ...तो भी अपने क्षण की सुविधायें प्रदान की जा सकें । सन् १९५७ में ...इनको सम्पन्न मंत्रालय ने एक केन्द्रीय क्षेत्रीय तथा शहरी नियोजन संगठन ...कार के लिए जो कि शहरी तथा क्षेत्रीय नियोजन की समस्याओं को अपने ह... इस संगठन को दिल्ली महान के लिए मास्टर योजना (Ma... ...ख रखा बनाने का कार्य सौंपा गया । इसके अतिरिक्त इसका कार्य यह था ...ड्राइवरों एवं शहरी नियोजन के मामलों में राज्य सरकारों तथा स्थानीय नि... परामर्श दे । दूसरे, दुर्गापुरा जैसे स्टील के कस्बों, दामोदर घाटी ...रखने घाटी क्षेत्रों तथा अन्य क्षेत्रीय नियोजनों के विकास के बारे में परामर्श ...हैं

---

1. "In its main essentials, the development of a city inclu... an orderly planned and co-ordinated layout and expansio... Slum prevention, determination of future populations an... densities; Master plan, allocation of land for industry, housing commerce, recreation and other essential uses; means of communication, adequate water supply, electricity, transport and other civic amenities."
—Indian Institute of Public Administration, Improving city Govt., Proceedings of a Seminar—Sept. 13-14, 1958, New Delhi, page 118.

तीसरे, एक ऐसा ढंग तैयार करे जिसके अनुसार कस्बा नियोजन संगठन तथा अन्य ऐसे ही निकाय कार्य कर सकें। १९५६ में विस्तृत दिल्ली के लिए एक अन्तरिम सामान्य योजना बनाई गई तथा बाद में मास्टर योजना तैयार की गई।

केन्द्रीय स्तर पर शहर विकास आन्दोलन में मुख्य भाग लेने वाले अनेक निकाय हैं। कई मंत्रालय भी इस कार्य में संलग्न हैं। इनमें से मुख्य का विवरण इस प्रकार है—

स्वास्थ्य मंत्रालय [Ministry of Health]—विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा स्थानीय स्वायत्त सरकार के क्षेत्र में जो कार्य किये जा रहे हैं, संघीय स्वास्थ्य मंत्रालय द्वारा उनमें एक सामान्य समन्वय स्थापित किया जाता है। भारत सरकार ने १९५६ में गन्दी बस्तियों के विकास एवं सफाई के लिए एक अधिनियम पास किया ताकि संघीय प्रदेश की गन्दी बस्तियों में सफाई की जा सके।

नगरों राष्ट्रीय जल–वितरण एवं सफाई कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के एवं नगरपालि स्वास्थ्य संगठन की नाभि की स्थापना की गई थी। यह नगर नियोजन योजना के उत्तरार्द्ध में स्थापित किया गया था। राज्य सर- की व्यवस्था भी ...में उनके शहरी कार्यक्रमों के लिए, सहायता देने की Mumford) के शब्द यह राज्य सरकारों पर ही छोड़ दिया गया कि वे इसे होता है। यह समन्व... इस तरीके से भेजते हैं। कर्जे को ३० वर्ष में वापिस आधार पर समय एवं ...रों ने इस कार्यक्रम के शहरी पहलू में भाग लिया। प्रदान करने की दृष्टि ...रण कार्यक्रम एवं ७९ नालियों की योजनायें पेश कीं पुनः स्थानीयकरण लिया जा सके। इनमें से केन्द्र सरकार ने १९६ जल- जलदाय भव... ओं को तथा आठ नालियों के कार्यक्रमों को स्वीकार किया तथा है। समाज ... दिया गया।

से सम्पन्न क... **...स्ती अधिनियम, १९५६** [The Slum Areas Act, 1956]—आई. आई. अंडमान, निकोबार तथा अन्य द्वीपों को छोड़कर सभी संघीय बाते हैं—...था। अधिनियम के अधीन नियम बनाये गये तथा इसे देहली की रोकथाम में क्रियान्वित किया गया। एक उपयुक्त सत्ता को यह शक्ति उद्योगों के वह अधिक भीड़ देखकर तथा सफाई की सुविधाओं का अभाव योगी यदि यह समझे कि एक क्षेत्र के भवन वहाँ के निवासियों के स्वास्थ्य, ...व नैतिकता के लिए अनुपयुक्त हैं तो वह उस क्षेत्र को गन्दी बस्ती 1. कर सके। इसे यह शक्ति दी गई कि मानवीय उपयोग के लिए अनु- भवन की मरम्मत के लिए कह सके। सत्ता को यह भी अधिकार ...गया कि वह गन्दी बस्तियों के खातिर भूमि पर तुरन्त ही कब्जा कर तथा उस क्षेत्र से खतरनाक फैक्ट्रियों को हटा दे।

विस्थापितों का मंत्रालय [Ministry of Rehabilitation]—शहरी विस्थापितों की एक सबसे प्रमुख समस्या पश्चिमी पाकिस्तान से आये हुए लगभग तेईस लाख लोगों को बसाने की समस्या थी। भागे हुए मुसलमानों द्वारा खाली किये गये निवास–स्थान केवल बारह लाख लोगों के लिए ही पर्याप्त थे। अन्य लोगों के लिए नये घर बनाने थे। सरकारी कार्यक्रमों ने

इस प्रकार के लोगों को बसाने की समस्या को प्राथमिकता दी। केन्द्रीय एवं राज्य सरकार द्वारा बिल्कुल नये प्रकार के मकान बनाये गये। विस्थापितों को गृह निर्माण सहकारी समितियां बनाने के लिए प्रोत्साहित किया गया तथा उनको भूमि एवं धन दिया गया। मार्च, १९५५ के अन्तिम दिनों तक इस निर्माण योजना में लगभग ५८ करोड़ रुपये खर्च हो गये। लगभग १५५ अर्द्ध-शहरी नये कस्बे बसाये गये। निलोखेरी, फरीदाबाद, गांधीधाम, राजपुरा, सरदार नगर, उल्हास नगर, गोविन्दपुरी तथा हस्तिनापुर आदि कस्बे उल्लेखनीय हैं। बाद में यह प्रयास किया गया कि इन कस्बों में भी स्वयं की ही स्थानीय संस्थायें हों। इसी प्रकार की गृह निर्माण योजना उन लोगों के लिए भी प्रारम्भ की गई जो कि पूर्वी पाकिस्तान से आये थे। पश्चिमी बंगाल सरकार ने विस्थापितों को बसाने के लिए कई ठोस कदम उठाये।

कार्य, गृह एवं वितरण मंत्रालय [Works, Housing and Supply Ministry]—गृह संभाग मई, १९५२ में अस्तित्व में आया जबकि सरकार ने गृहनिर्माण के लिए अलग से पद खोलने का निर्णय लिया। यह संभाग भारत सरकार की गृहनीति एवं कार्यक्रमों को बनाने के लिए उत्तरदायी है। भारत में घरों की वर्तमान स्थिति को सुधारने के लिए इस संभाग द्वारा समय-समय पर समितियां नियुक्त की जाती हैं तथा विशेषज्ञों की राय जानी जाती है। सरकार की गृह नीति का मुख्य लक्ष्य निर्माण में लगाने वाले व्यय को कम करना है ताकि अधिक से अधिक जनता अपने निवास का उचित प्रबन्ध कर सके। गृह सम्बन्धी सभी पहलुओं के प्रति एक एकीकृत राष्ट्रीय दृष्टिकोण की दिशा में प्रथम प्रयास के रूप में भारत सरकार ने राष्ट्रीय भवन सगठन की रचना की है। बाद में सरकार द्वारा गृह आयुक्त के अधीन एक अलग गृह विभाग की रचना कर दी गई। इसकी सहायता के लिए पर्याप्त स्टाफ होता है—तकनीकी, वित्तीय एवं प्रशासकीय।

देश में घरों की कमी को दूर करने के लिए आज तक जो विभिन्न योजनायें लागू की गई हैं उनमें से मुख्य हैं—

(१) औद्योगिक मजदूरों के लिए गृहनिर्माण योजना
(२) कम आय वाले समूहों की गृह योजना
(३) गन्दी बस्ती की सफाई योजना
(४) ग्राम गृह योजना आदि-आदि।

राज्य स्तर पर शहर विकास आन्दोलन
[The movement at State level]

शहर विकास के लिए भांति-भांति के कार्यक्रम राज्य स्तर पर भी बनाये तथा क्रियान्वित किये गये हैं। बम्बई, पूना, कलकत्ता, देहली आदि राज्यों में इन योजनाओं को विभिन्न निकायो के द्वारा साकार करने का प्रयास किया गया है।

बम्बई राज्य में शहर विकास कार्यक्रम

शहर नियोजन एवं सम्पत्ति के मूल्यांकन के सम्बन्ध में बम्बई राज्य सरकार के पास अलग से विभाग है। यह विभाग सर्वप्रथम १९१४ में स्थापित किया गया था जबकि इसे स्थानीय स्वायत्त सरकार तथा जन स्वास्थ्य

विभाग के आधीन प्रशासित किया गया। यह स्थानीय निकायों को उनकी शहर विकास योजनाओं में उठने वाली समस्याओं पर सुझाव दिया करता था। विभिन्न कस्बों के व्यवस्थित विकास के लिए इस विभाग द्वारा मास्टर प्लान बनाये जाते थे। यह सरकार को गृह निर्माण सम्बन्धी नीतियों पर परामर्श देता था। इस अधिनियम के प्रावधान ऐच्छिक थे अर्थात् इनको स्वीकार करके, इनके अनुसार व्यवहार करने के लिए कोई भी शहर बाध्य नहीं था। सन् १९५४ में सरकार ने एक नया शहर नियोजन अधिनियम पारित किया जिसके अनुसार प्रत्येक शहर के लिए यह जरूरी हो गया कि अपने विकास से सम्बन्धित योजनायें बनाये तथा विस्तृत नियोजन कार्यक्रम तैयार करे। इस अधिनियम के द्वारा उनको एक प्रकार से वैधानिक सहारा मिल जाता है किन्तु जब तक प्रशिक्षित कार्यकर्त्ता न हो तब तक कोई भी योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकती।

बम्बई नगर निगम में अपने स्वयं का शहर नियोजन संगठन है जो कि नगर अभियन्ता के आधीन कार्य करता है। विस्तृत बम्बई (Greater Bombay) क्षेत्र की क्रियायें बम्बई नगरपालिका निगम अधिनियम के प्राव-धानों के अनुसार संचालित की जाती हैं।

बम्बई नगर निगम अधिनियमः—इस अधिनियम के द्वारा एक समिति नियुक्त करने का प्रावधान रखा गया है जिसे विकास समिति (Improvement Committee) कहा जाता है। इसका कार्य नगर का विकास करना है। इस समिति में नगर द्वारा नियुक्त १६ पार्षद होते हैं। समिति का सभापति प्रतिवर्ष स्वयं समिति द्वारा ही नियुक्त किया जाता है। समिति के आधे सदस्य प्रथम अप्रैल को प्रतिवर्ष सेवा निवृत हो जाते हैं। इसकी गणपूर्ति आठ सदस्यों की रखी गई है। समिति का सदस्य किसी भी ऐसे विषय पर न मतदान कर सकता है और न बहस में भाग ले सकता है जिसमें कि वह व्यक्तिगत रूप से रुचि ले रहा है। आयुक्त एवं उप-आयुक्त को भी समिति की बैठकों में आने तथा बहस में भाग लेने का अधिकार है। उनको मत देने अथवा कोई प्रस्ताव करने का अधिकार नहीं होता।

सुधार समिति की सिफारिश के आधार पर आयुक्त द्वारा उन लोगों को कर्जा दिया जा सकता है जो कि मकान बनाना चाहते हैं। इस प्रकार का कर्जा कुछ शर्तों के साथ दिया जायेगा जैसे—यह कर्जा जिस भवन के निर्माण के लिए दिया जा रहा है उसे पूरी तरह या आंशिक रूप से रहने के काम में लाना होगा। दूसरे, कर्जे की मात्रा किसी भी हालत में बीस हजार रुपये से अधिक न होगी। तीसरे, भवन पर अधिकार होने के बीस वर्ष के भीतर-भीतर यह कर्जा चुका दिया जाना चाहिए। चौथे, दिये गये कर्ज की मात्रा कुल खर्चे के ६० प्रतिशत से अधिक न होगी। पांचवें, कर्जदार व्यक्ति को जिसे कि वह कर्जा दिया जा रहा है, अपना भवन तथा वह जमीन जिस पर कि भवन बनाया गया है, निगम के पास गिरवी रखने होंगे।

आयुक्त द्वारा इस प्रकार के कर्जे गरीब लोगों को उनके घरों की मरम्मत के लिए भी दिये जा सकते हैं। आयुक्त गृहसंघों के संगठन को प्रोत्साहन दे सकता है तथा उनके लिये जमीन तथा कर्ज देने की व्यवस्था कर सकता है। ये गृहनिर्माण संस्थायें कई प्रकार की हो सकती हैं।

आयुक्त एक विकास योजना का प्रारूप बना सकता है। वह उसे स्वीकृति के लिए विकास समिति के पास भेजेगा। इस योजना के लक्ष्य होंगे—किसी भी निवास के लिए बनाये गये भवन को मानवीय निवास योग्य बनाना, सफाई से सम्बन्धित दोषों को दूर करना तथा प्रकाश, वायु, रोशन-दान आदि का प्रबन्ध करना, गरीब वर्ग के लोगों के रहने के लिए घर बनवाना, विस्तृत बम्बई के किसी भी भाग में नयी गली बनाना या मरम्मत करना। उस क्षेत्र के लिए कोई भी विकास योजना नहीं बनाई जायेगी जिसके लिए बम्बई गृह निर्माण बोर्ड अधिनियम, १९४८ के आधीन गृह योजना स्वीकृत कर दी गई है। किसी भी क्षेत्र के लिए सुधार योजना बनाते समय यह देखा जाता है कि उसके पड़ौस के क्षेत्रों की स्थिति कैसी है। किसी भी सुधार योजना में आयुक्त, विकास समिति एवं निगम द्वारा संशो-धन किये जा सकते हैं।

बम्बई शहर नियोजन अधिनियम [The Bombay town Planning Act]—यह अधिनियम सन् १९५४ में पास किया गया। इसका क्षेत्र पूरा बम्बई राज्य है। यह शहर नियोजन कार्यक्रमों को बनाने तथा क्रियान्वित करने वाले कानून को एकीकृत एवं संशोधित करने के लिए था। इसके द्वारा यह स्पष्ट किया जाता है कि शहर नियोजन कार्यक्रम ठीक प्रकार से बनाये गये हैं तथा उनकी क्रियान्विति प्रभावशील है। स्थानीय सत्ता, अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले पूरे प्रदेश के लिए विकास योजना बनाती है। इस अधि-नियम के लागू होते ही यह जरूरी हो गया कि चार साल के भीतर-भीतर प्रत्येक स्थानीय सत्ता अपने क्षेत्र का सर्वेक्षण करेगी तथा उसके विकास के लिए एक योजना तैयार करेगी। यह योजना आवश्यक स्वीकृति के लिए राज्य सरकार के सामने रखी जायेगी। यदि कोई स्थानीय सत्ता, राज्य सर-कार के पास इसके लिए प्रार्थना-पत्र भेजे तो उसका समय बढ़ाया जा सकता है। यदि स्थानीय सत्ता ऐसा न कर पाये तो राज्य सरकार उस क्षेत्र के लिए विकास योजना तैयार करेगी। राज्य सरकार ऐसी योजनाओं को छः माह के भीतर ही स्वीकृति प्रदान कर देगी। प्रत्येक स्थानीय सत्ता यह घोषणा करती है कि उसके द्वारा विकास योजना तैयार की जा रही है, इसका पूरा प्रचार किया जाता है तथा सुझावों एवं विचारों को आमन्त्रित किया जाता है।

जब शहर नियोजन कार्यक्रमों का प्रारूप स्वीकार कर लिया जाये तो उसके एक माह के भीतर-भीतर राज्य सरकार द्वारा एक शहर नियो-जन अधिकारी (Town Planning Officer) नियुक्त किया जाता है। वह उन क्षेत्रों को परिभाषित करता है तथा सीमा बांधता है जो कि सरकारी उद्देश्य से आरक्षित किये गये हैं। उसे यह शक्ति प्राप्त होती है कि कार्यक्रम के प्रारूप में, अनुमानों में तथा मूल्य में परिवर्तन कर सके। कुछ विशेष मामलों में उसके निर्णय अन्तिम माने जाते हैं। ज्यों ही अन्तिम योजना स्वीकार कर ली जाती है त्यों ही स्थानीय सत्ता को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि गैर-कानूनी रूप से जमीन पर कब्जा किये हुए व्यक्तियों से वह भू-भाग खाली करा ले। दो या दो से अधिक स्थानीय सभाओं के

अधिकार-क्षेत्र में आने वाले एक जैसे क्षेत्रों के लिए एक सम्मिलित शहर नियोजन बोर्ड बनाया जा सकता है।

एक स्थानीय सत्ता, शहर नियोजन कार्यक्रम के किसी भी विषय पर किसी भी व्यक्ति के साथ किसी भी प्रकार का समझौता कर सकती है। इस प्रकार किया गया समझौता राज्य सरकार द्वारा स्वीकार्य होना चाहिए तथा यह नगर-नियोजन अधिकारी के कर्त्तव्यों पर किसी प्रकार का प्रभाव न डाले। स्थानीय सत्ता को यह अधिकार दिया गया है कि वह शहर विकास कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने के लिए धन उधार ले सके। राज्य सरकार द्वारा विभिन्न नियम बनाये जा सकते हैं।

विस्तृत बम्बई [Greater Bombay]—सन् १८९६ से पूर्व बम्बई द्वीप के दक्षिण में गन्दी बस्तियां थी, बीच में मिलें थीं तथा उत्तर में खुली हुई जमीन थी। गन्दी बस्तियों की हालत बड़ी खराब थी। मकान बनाने के सम्बन्ध में कोई योजना नहीं थी। अच्छी सड़कों का अभाव था। सन् १८९६ में बम्बई नगर में प्लेग फैला; परिणामस्वरूप सरकार ने शहर की घनी बस्तियों में पर्याप्त रोशनदानों की व्यवस्था के लिए योजना बनाई, अस्वास्थ्यकर कूडे के ढेरों को उठाने का प्रबन्ध किया तथा अत्यधिक भीड़ को रोका। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए सन् १८९६ के बम्बई विकास अधिनियम (IV) के तहत नगर विकास न्यास की स्थापना की गई। प्रारम्भ में नगर विकास न्यास ने घर बनवाने के लिए खुली भूमियों पर कब्जा किया तथा सड़क एवं पार्क आदि बनवाने के लिए गन्दी बस्तियों के कुछ भागों को लिया। पहले सभी बड़ी सड़कें उत्तर से दक्षिण की ओर जाती थीं तथा उनके आस-पास ही भवन बने हुए थे। इससे आवागमन का मार्ग प्रतिपादित होता था। इन कठिनाइयों से पार पाने के लिए नगर विकास न्यास द्वारा कई प्रकार की योजनायें बनाई गईं, उदाहरण के लिए गन्दी बस्तियों को साफ करने की योजना, गलियों की योजना एवं गरीब वर्ग के निवास स्थान की योजना आदि।

नगर विकास न्यास वैसे तो नगर निगम से स्वतंत्र था किन्तु सन् १९२३ में निगम ने विकास न्यास के कार्यों में अधिक भाग लेने की तथा उसकी क्रियाओं पर नियंत्रण रखने की मांग की तो सरकार ने १९२५ में विकास न्यास स्थानान्तरण अधिनियम पास किया, जिसके द्वारा निगम के सदस्यों को नगर विकास के लिए न्यास के सदस्यों के साथ रखा गया। उनको नीति से सम्बन्धित सामान्य प्रश्नों को तय करने, बजट पास करने, कुछ अधिकारियों की नियुक्ति करने तथा विकास समिति पर निरीक्षण एवं नियंत्रण की सामान्य शक्तियां सौंपी गईं। अन्त में सन् १९३३ में नगर विकास न्यास को बम्बई निगम के साथ मिला दिया गया और न्यास की सम्पत्ति स्वतः ही निगम के पास चली गई। इस संयोजन के परिणामस्वरूप सम्पत्ति एवं भूमि प्रबन्ध विभाग की रचना की गई।

बम्बई की गन्दी बस्तियां उस समय की उपज हैं जबकि नगर विकास के लिए कोई नियम नहीं थे। औद्योगीकरण के विकास ने जनसंख्या को बढ़ा कर घनी बस्तियों की स्थापना की। एक ही मकान में कई परिवारों को गुजर करने के लिए मजबूर होना पड़ा। जनता की आर्थिक दशा ने स्थिति को

और भी बदतर बना दिया। स्वतंत्रता के बाद बम्बई नगर निगम ने तथा बम्बई गृह निर्माण बोर्ड ने गरीब जनता के लिए तथा श्रमिक वर्ग के लिए एक बड़ी संख्या में घरों का निर्माण किया। बम्बई में सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रत्येक घर के लिए पांच सौ रुपये तक की सहायता का प्रावधान रखा गया ताकि मकान में फ्लश का शौचालय या खुली खिड़कियां आदि कुछ अतिरिक्त सुविधायें प्राप्त की जा सकें।

सन् १६५० तक बम्बई नगर निगम का अधिकार-क्षेत्र २५ वर्ग मील तक था। यही अर्ध-शताब्दी तक चलता रहा। सन् १६५० में बम्बई नगर की सीमायें नगरपालिका प्रशासन की दृष्टि से बढ़ गईं। सन् १६५७ में वे और भी अधिक बढ़ गईं तथा नगर निगम का क्षेत्र १६८ वर्ग मील हो गया जिसमें कि ३५ लाख जनसंख्या आ जाती है। इस क्षेत्र में मूलतः तीन बेल्ट (Belts) बन गये। १६५० के पूर्व जो क्षेत्र अधिक विकसित, सुनियोजित तथा सुप्रशासित था, बम्बई की विशालता (Greatness) प्रायः इस क्षेत्र में केन्द्रित हो गई। १६५७ के बाद बम्बई में जो क्षेत्र शामिल किया गया वह पिछड़ा हुआ क्षेत्र है। इसमें मुख्यतः अविकसित गांव तथा बेकार की भूमि है। निगम ने प्रतिवर्ष चार हजार निवास-स्थान बनाने का लक्ष्य रखा है जबकि आवश्यकता कम से कम दस हजार की है। बम्बई नगर निगम ने द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में जो प्रावधान रखे वे इस प्रकार हैं:—

जल-वितरण—७८५ लाख रुपये; नालियां—५८२ लाख रुपये; अस्पताल, डिस्पेंसरी आदि—३६० लाख रुपये; सड़क आदि—२१८ लाख रुपये; स्कूल भवन—२३७ लाख रुपये; गन्दी बस्तियों की सफाई—६५० लाख रुपये; गृहनिर्माण नगरपालिका कर्मचारी—१६० लाख रुपये; गृह-निर्माण कम आमदनी वालों को—२५० लाख रुपये; शहर नियोजन कार्यक्रम—२८० लाख रुपये; बाजार आदि-१८२ लाख रुपये; पार्क तथा बगीचे—३० लाख रुपये; अग्नि रक्षक स्टेशन—२६ लाख रुपये; विकास कार्यक्रम—२५० लाख रुपये; गैस कम्पनी को पावर—२०० लाख रुपये; अन्य कार्य—१६० लाख रुपये तथा कुल योग लगभग ४५ करोड़ रुपये।

पूना में नगर विकास

[City Improvement in Poona]

पूना में नागरिक निकाय द्वारा गन्दी बस्तियों को दूर करने का प्रथम सक्रिय कदम सन् १६३० में उठाया गया जबकि मुथा नदी के किनारे पर शिवाजी नगर कालोनी बसाई गई। १६४६ में जब यहां बॉरो नगरपालिका को नगर निगम का स्तर प्रदान कर दिया गया तो गन्दी बस्तियां दूर करने का कार्यक्रम और तेजी से चला। वहां अम्बिल ओधा कालोनी बनाई गई जिसमें कि लगभग २५०० से भी अधिक लोगों के निवास का प्रबन्ध किया गया। इसी प्रकार एक मंगलवार कालोनी बनाई गई जिसमें कि लगभग ७३ परिवारों को बसाया गया। सन् १६५४ में गंज पेठ कालोनी बनाई गयी। इस कालोनी में १२६ कमरे हैं तथा रहने वाले नगरपालिका कर्मचारियों की संख्या १२२ है। छोर पाडे पेठ नामक कालोनी में छः दो मंजिल के चॉल हैं। यहां रहने वाले परिवारों की कुल संख्या १४४ है। इस कालोनी का मूल्य कुल मिलाकर लगभग ४७०००० रुपये है।

पश्चिमी बंगाल में शहर विकास
[Urban Development in West Bengal]

बंगाल की शहर विकास योजनायें बंगाल नगरपालिका अधिनियम, १९३२ तथा कलकत्ता नगरपालिका अधिनियम, १९५१ के अनुसार चलाई जा रही हैं। राज्य में शहर नियोजन के सम्बन्ध में कोई व्यवस्थापन नहीं किया गया। कलकत्ता में विकास न्यास की स्थापना १८९६ में ही कर दी गयी। सन् १९५८ में कलकत्ता गन्दी बस्तियों की समाप्ति एवं इन बस्तियों के विस्थापितों के बारे में एक अन्य अधिनियम पास किया गया। इस नियम के आधार पर गन्दी बस्तियों को समाप्त करने तथा शहर में गृह-निर्माण एवं अन्य योजनाओं को चलाने की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया।

यह अधिनियम पश्चिम बंगाल की व्यवस्थापिका द्वारा ११ मार्च, १९५८ को पास किया गया। इसे मूल रूप से कलकत्ता गन्दी बस्ती समाप्ति विधेयक (Calcutta Slum Clearance Bill) कहा गया था; किन्तु दोनों सदनों की संयुक्त समिति ने इसका नाम बदल दिया। इसने गन्दी बस्ती की परिभाषा भी बदल दी जिसमें न केवल कच्ची झौंपड़ियों को ही लिया गया वरन् पक्के मकानों को भी शामिल कर लिया गया।

इस अधिनियम के प्रमुख लक्ष्य यह बताये गये कि गन्दी बस्तियों में सफाई का अभाव होने से स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मूल बातों का अभाव है। इन बस्तियों को समाप्त करना तथा यहां रहने को उपयुक्त परिस्थितियां पैदा करना न केवल यहां के निवासियों की दृष्टि से ही वरन् सामान्य जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम के तहत सबसे पहले तो मुआवजा देने के बाद इन बस्तियों की जमीन पर अधिकार किया जायेगा ताकि इनको समाप्त किया जा सके अथवा बदला जा सके। अधिनियम में यह भी कहा गया कि झौंपड़ी में या इन बस्तियों में रहने वाला कोई भी व्यक्ति उस समय तक उसे खाली न करेगा जब तक कि उसे उचित किराये पर वैकल्पिक निवास स्थान न दिया जा सके।

यह अधिनियम कलकत्ता तथा उसके उन क्षेत्रों पर लागू होगा जो कि राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा घोषित किये जायें। राज्य सरकार इस अधिनियम को पश्चिमी बंगाल के किसी भी कस्बे या स्थानीय क्षेत्र पर लागू कर सकती है।

कलकत्ता नगर विकास न्यास की स्थापना सन् १८९६ में की गई स्वास्थ्य सम्बन्धी मेडिकल पूछताछ के बाद हुई। यह पूछताछ प्लेग फैलने के बाद की गई थी। प्रारम्भिक पूछताछ बहुत समय तक चलती रही तथा जनवरी १९१२ में अन्तिम रूप से न्यास की स्थापना कर दी गई ताकि यह कलकत्ता तथा उसके आसपास के क्षेत्रों के विकास के लिये प्रयास कर सके। अधिनियम ने विकास योजनाओं पर पर्याप्त धन खर्च करने की अनुमति दी तथा ऐसा करने के लिए कर अधिक लगाने एवं कर्ज लेने का प्रावधान रखा। इसमें न्यास के एक बोर्ड की स्थापना की व्यवस्था थी जिसमें कि ग्यारह सदस्य होते थे तथा उसका एक सभापति होता था।

और भी बदतर बना दिया। स्वतंत्रता के बाद बम्बई नगर निगम ने तथा बम्बई गृह निर्माण बोर्ड ने गरीब जनता के लिए तथा श्रमिक वर्ग के लिए एक बड़ी संख्या में घरों का निर्माण किया। बम्बई में सुधार कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रत्येक घर के लिए पांच सौ रुपये तक की सहायता का प्रावधान रखा गया ताकि मकान में फ्लश का शौचालय या खुली खिड़कियां आदि कुछ अतिरिक्त सुविधायें प्राप्त की जा सकें।

सन् १९५० तक बम्बई नगर निगम का अधिकार-क्षेत्र २५ वर्ग मील तक था। यही अर्ध-शताब्दी तक चलता रहा। सन् १९५० में बम्बई नगर की सीमायें नगरपालिका प्रशासन की दृष्टि से बढ़ गईं। सन् १९५७ में वे और भी अधिक बढ़ गईं तथा नगर निगम का क्षेत्र १६८ वर्ग मील हो गया जिसमें कि ३५ लाख जनसंख्या आ जाती है। इस क्षेत्र में मूलतः तीन बेल्ट (Belts) बन गये। १९५० के पूर्व जो क्षेत्र अधिक विकसित, सुनियोजित तथा सुप्रशासित था, बम्बई की विशालता (Greatness) प्रायः इस क्षेत्र में केन्द्रित हो गई। १९५७ के बाद बम्बई में जो क्षेत्र शामिल किया गया वह पिछड़ा हुआ क्षेत्र है। इसमें मुख्यतः अविकसित गांव तथा बेकार की भूमि है। निगम ने प्रतिवर्ष चार हजार निवास-स्थान बनाने का लक्ष्य रखा है जबकि आवश्यकता कम से कम दस हजार की है। बम्बई नगर निगम ने द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में जो प्रावधान रखे वे इस प्रकार हैं:—

जल-वितरण–७८५ लाख रुपये; नालियां–५८२ लाख रुपये; अस्पताल, डिस्पेंसरी आदि–३६० लाख रुपये; सड़क आदि–२१८ लाख रुपये; स्कूल भवन–२३७ लाख रुपये; गन्दी बस्तियों की सफाई–६५० लाख रुपये; गृहनिर्माण नगरपालिका कर्मचारी–१९० लाख रुपये; गृह-निर्माण कम आमदनी वालों को–२५० लाख रुपये; शहर नियोजन कार्यक्रम–२८० लाख रुपये; बाजार आदि–१८२ लाख रुपये; पार्क तथा बगीचे–३० लाख रुपये; अग्नि रक्षक स्टेशन–२९ लाख रुपये; विकास कार्यक्रम–२५० लाख रुपये; गैस कम्पनी को पावर–२०० लाख रुपये; अन्य कार्य–१९० लाख रुपये तथा कुल योग लगभग ४५ करोड़ रुपये।

पूना में नगर विकास
[City Improvement in Poona]

पूना में नागरिक निकाय द्वारा गन्दी बस्तियों को दूर करने का प्रथम सक्रिय कदम सन् १९३० में उठाया गया जबकि मुथा नदी के किनारे पर शिवाजी नगर कालोनी बसाई गई। १९४९ में जब यहां बॉरो नगरपालिका को नगर निगम का स्तर प्रदान कर दिया गया तो गन्दी बस्तियां दूर करने का कार्यक्रम और तेजी से चला। वहां अम्बिल ओघा कालोनी बनाई गई जिसमें कि लगभग २५०० से भी अधिक लोगों के निवास का प्रबन्ध किया गया। इसी प्रकार एक मंगलवार कालोनी बनाई गई जिसमें कि लगभग ७३ परिवारों को बसाया गया। सन् १९५४ में गंज पेठ कालोनी बसाई गयी। इस कालोनी में १२६ कमरे हैं तथा रहने वाले नगरपालिका कर्मचारियों की संख्या १२२ है। छोर पाडे पेठ नामक कालोनी में छः दो मंजिल के चॉल हैं। यहां रहने वाले परिवारों की कुल संख्या १४४ है। इस कालोनी का मूल्य कुल मिलाकर लगभग ४७०००० रुपये है।

पश्चिमी बंगाल में शहर विकास
[Urban Development in West Bengal]

बंगाल की शहर विकास योजनायें बंगाल नगरपालिका अधिनियम, १९३२ तथा कलकत्ता नगरपालिका अधिनियम, १९५१ के अनुसार चलाई जा रही हैं। राज्य में शहर नियोजन के सम्बन्ध में कोई व्यवस्थापन नहीं किया गया। कलकत्ता में विकास न्यास की स्थापना १८९६ में ही कर दी गयी। सन् १९५८ में कलकत्ता गन्दी बस्तियों की समाप्ति एवं इन बस्तियों के विस्थापितों के बारे में एक अन्य अधिनियम पास किया गया। इस नियम के आधार पर गन्दी बस्तियों को समाप्त करने तथा शहर में गृह-निर्माण एवं अन्य योजनाओं को चलाने की समस्या का समाधान करने का प्रयास किया गया।

यह अधिनियम पश्चिम बंगाल की व्यवस्थापिका द्वारा ११ मार्च, १९५८ को पास किया गया। इसे मूल रूप से कलकत्ता गन्दी बस्ती समाप्ति विधेयक (Calcutta Slum Clearance Bill) कहा गया था; किन्तु दोनों सदनों की संयुक्त समिति ने इसका नाम बदल दिया। इसने गन्दी बस्ती की परिभाषा भी बदल दी जिसमें न केवल कच्ची झोंपड़ियों को ही लिया गया वरन् पक्के मकानों को भी शामिल कर लिया गया।

इस अधिनियम के प्रमुख लक्ष्य यह बताये गये कि गन्दी बस्तियों में सफाई का अभाव होने से स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मूल बातों का अभाव है। इन बस्तियों को समाप्त करना तथा यहां रहने को उपयुक्त परिस्थितियां पैदा करना न केवल यहां के निवासियों की दृष्टि से ही वरन् सामान्य जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इस अधिनियम के तहत सबसे पहले तो मुआवजा देने के बाद इन बस्तियों की जमीन पर अधिकार किया जायेगा ताकि इनको समाप्त किया जा सके अथवा बदला जा सके। अधिनियम में यह भी कहा गया कि झोंपड़ी में या इन बस्तियों में रहने वाला कोई भी व्यक्ति उस समय तक उसे खाली न करेगा जब तक कि उसे उचित किराये पर वैकल्पिक निवास स्थान न दिया जा सके।

यह अधिनियम कलकत्ता तथा उसके उन क्षेत्रों पर लागू होगा जो कि राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा घोपित किये जायें। राज्य सरकार इस अधिनियम को पश्चिमी बंगाल के किसी भी कस्बे या स्थानीय क्षेत्र पर लागू कर सकती है।

कलकत्ता नगर विकास न्यास की स्थापना सन् १८९६ में की गई स्वास्थ्य सम्बन्धी मेडिकल पूछताछ के बाद हुई। यह पूछताछ प्लेग फैलने के बाद की गई थी। प्रारम्भिक पूछताछ बहुत समय तक चलती रही तथा जनवरी १९१२ में अन्तिम रूप से न्यास की स्थापना कर दी गई ताकि यह कलकत्ता तथा उसके आसपास के क्षेत्रों के विकास के लिये प्रयास कर सके। अधिनियम ने विकास योजनाओं पर पर्याप्त धन खर्च करने की अनुमति दी तथा ऐसा करने के लिए कर अधिक लगाने एवं कर्ज लेने का प्रावधान रखा। इसमें न्यास के एक बोर्ड की स्थापना की व्यवस्था थी जिसमें कि ग्यारह सदस्य होते थे तथा उनका एक सभापति होता था।

अब तक के अपने कार्य में नगर विकास न्यास ने पर्याप्त विकासपूर्ण कार्य किये हैं तथा कुल मिला कर इसने मूल शहर तथा उसके उपभागों का रूप ही बदल दिया है। केन्द्रीय कलकत्ता में अनेक उच्च रूप से स्वास्थ्यकारी उपाय किये गये हैं; साथ ही अनेक विकसित सड़कें बनायी गई हैं; उदाहरण के लिये १०० फुट चौड़ी चित्तरंजन एवेन्यू।

नगर के पश्चिम में भी नई सड़कें बनाने तथा पुरानी सड़कों को चौड़ाने से क्षेत्र पर्याप्त उच्च बन गया है। दक्षिण एवं दक्षिण पूर्व कलकत्ता के उपशहरी क्षेत्रों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया जाना जरूरी है। इसके लिये अनेक विकास योजनायें प्रारम्भ की गई हैं। अनेक गन्दे तालाबों को भर दिया गया है।

मुक्त क्षेत्रों एवं मनोरंजन के मैदानों के सम्बन्ध में न्यास द्वारा उदार नीति बरती गई है। कलकत्ता नगर निगम में ३८·२३ वर्ग मील का क्षेत्र आता है। इसमें १० लाख शरणार्थियों सहित ४० लाख से भी अधिक लोग रहते हैं। करीब ११६४ क्वार्टरों में १० लाख के लगभग लोग रहते हैं। जनसंख्या का प्रसार लगभग १११००० प्रति वर्गमील है। कलकत्ता में कुछ योजनायें तो कलकत्ता नगर निगम द्वारा ही सम्पन्न की गई हैं तथा कुछ को कलकत्ता बन्दरगाह आयुक्त द्वारा संचालित किया गया है। किन्तु सन्तोषजनक प्रगति इसलिए नहीं हो सकी क्योंकि यहां समन्वयकर्त्ता सत्ता का अभाव है। कलकत्ता निगम ने गन्दी बस्ती समाप्ति एवं पुनः गृह निर्माण के लिए पंच-वर्षीय योजना बनायी जिसमें कि लगभग आठ करोड़ रुपया व्यय होना था। राज्य सरकार ने इस योजना को स्वीकार कर लिया।

देहली में नगर विकास
(Urban Improvement in Delhi)

देहली में आधुनिक शहर विकास की योजनायें सन् १९१२ में प्रारम्भ की गईं जबकि नयी राजधानी नई दिल्ली को बसाने के लिये स्थान देखा गया। इसको एक प्रकार से वैज्ञानिक विश्वास का प्रथम प्रतीक मानागया जिसमें कि नई राजधानी के भावी विकास को देखा गया किन्तु भावनाओं से प्रभावित नहीं हुआ गया। दिल्ली नगर विकास न्यास की स्थापना सन् १९३७ में की गई ताकि प्रदेश के केन्द्रीय क्षेत्रों की गृह एवं गन्दी बस्ती समाप्ति की समस्याओं को निपटाया जा सके। न्यास का अधिकार क्षेत्र लगभग १५० वर्ग मील तक रखा गया। भारत सरकार ने अपनी समस्त नजूल की भूमि इसी के हाथों में रख दी। न्यास का कर्त्तव्य था कि वह इन भूमियों के विकास का कार्य करे। एक शहर योजना संगठन की स्थापना की गई जिसे कि मास्टर प्लान बनाने का कार्य सौंपा गया, जिसके अनुसार नगर का भावी विकास किया जा सके। सन् १९५७ में देहली विकास अधिनियम तथा देहली नगर निगम अधिनियम पास किये गये ताकि शहर विकास की योजनाओं पर ठोस कदम उठाये जा सकें।

देहली विकास अधिनियम—यह अधिनियम सन् १९५७ में पास किया गया तथा इसका क्षेत्र देहली का सम्पूर्ण संघीय प्रदेश था। देहली विकास सत्ता की क्रियायें केवल उन क्षेत्रों तक ही मर्यादित हैं जो कि नगर निगम से

विचार-विमर्श करने के बाद केन्द्र सरकार द्वारा विकास क्षेत्र (Development area) घोषित किया गया हो। स्थानीय सत्ता को एक परामर्शदाता परिषद द्वारा परामर्श दिया जाता है। इस परिषद में संसद द्वारा निर्वाचित तीन सदस्य होते हैं, दिल्ली नगर निगम के सदस्य होते हैं तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न हितों का प्रनिनिधित्व करने वाले व्यक्ति होते हैं; जैसे व्यापार, उद्योग, श्रम, शहर नियोजन के जानकार, जनस्वास्थ्य एवं तकनीकी मामले आदि।

सत्ता (authority) के सदस्य इस प्रकार हैं—देहली प्रदेश का प्रशासक जो कि पदेन सभापति होता है, केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त उपसभापति, केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त वित्त एवं लेखा सदस्य, केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त इन्जीनियर सदस्य, पार्षदों एवं एल्डरमेनों द्वारा निर्वाचित देहली नगर निगम के दो प्रतिनिधि जो कि निगम से ही चुने जाते हैं, केन्द्र सरकार द्वारा मनोनीत दो अन्य सदस्य, देहली नगर निगम का आयुक्त भी इसका पदेन सदस्य होता है। केन्द्र सरकार द्वारा ऐसे दो व्यक्तियों को भी नियुक्त किया जा सकता है जो कि सचिव तथा मुख्य लेखा अधिकारी के रूप में कार्य करेंगे तथा उन शक्तियों का प्रयोग करेंगे जो कि नियम द्वारा निर्धारित की जायें या सत्ता द्वारा हस्तांतरित की जायें अथवा सभापति उनको प्रदान करे।

परामर्शदाता परिषद को सत्ता (authority) द्वारा नियुक्त किया जाता है। यह सत्ता को मास्टर प्लान बनाने में सहायता देती है। अन्य क्षेत्रीय योजनाओं, देहली के विकास के कार्यक्रमों तथा अधिनियम के प्रशासन में उत्पन्न विषयों पर भी यह सत्ता को परामर्श देती है। परामर्शदाता समिति में जो सदस्य होते हैं, वे हैं—सत्ता का सभापति इसका पदेन अध्यक्ष होता है, केन्द्र सरकार द्वारा दो व्यक्ति ऐसे नियुक्त किये जाते हैं जिनको शहर नियोजन अथवा भवन निर्माण का अनुभव हो, देहली प्रशासन की स्वास्थ्य सेवाओं का एक प्रतिनिधि केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है, दिल्ली नगर निगम पार्षद तथा एल्डरमेन अपने में से चार प्रतिनिधि चुनते हैं, तीन व्यक्ति देहली की विद्युत वितरण समिति का एवं दिल्ली जल वितरण तथा नाला समिति का प्रतिनिधित्व करते हैं, दो अन्य ऐसे व्यक्ति केन्द्र सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं जिनमें से एक तो व्यापार तथा उद्योगों का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा दिल्ली के श्रमिकों का, चार व्यक्ति केन्द्र सरकार द्वारा ऐसे नियुक्त होते हैं जो कि केन्द्र सरकार के तकनीकी विभागों के होते हैं, इसमें दो सदस्य लोकसभा से तथा एक सदस्य राज्य सभा से लिया जाता है।

परिषद का निर्वाचित सदस्य अपने निर्वाचन के दिन से चार साल तक पदारूढ़ रहता है तथा इसे दुबारा भी चुना जा सकता है।

सत्ता से यह आशा की जाती है कि देहली के लिए मास्टर प्लान तैयार करे तथा पर्याप्त नागरिक सर्वेक्षण कराये। मास्टर प्लान तथा वे विभिन्न जोन बनाये जाते हैं जिनमें दिल्ली को विकास की दृष्टि से विभाजित किया जा सकता है। यह उस तरीके को बताता है जिसके अनुसार भूमि का उपयोग किया जायेगा तथा उन सीढ़ियों को बताता है जिनमें होकर यह पूरा किया जायेगा। विभिन्न जोनों की जोनल योजनाओं को तैयार करने में

यह मूल आधार के रूप में कार्य करता है। मास्टर प्लान के अतिरिक्त सत्ता द्वारा विभिन्न क्षेत्रों के लिए भी अलग-अलग योजनायें तैयार की जाती हैं।

दिल्ली नगर निगम अधिनियम—यह अधिनियम सन् १६५७ में पास किया गया था ताकि विकास योजनाओं को तैयार किया जा सके तथा विकास से सम्बन्धित कुछ कार्यों को विशेषीकृत किया जा सके। मकानों एवं गलियों की बनावट में अन्तर्निहित दोषों को दूर करने के लिए नगर निगम जैसी संस्था द्वारा महत्वपूर्ण कार्य किया जा सकता था। शहर के विकास से सम्बन्धित कोई भी योजना आयुक्त द्वारा निगम के सम्मुख प्रस्तुत की जाती और उसकी स्वीकृति के बाद केन्द्र सरकार की उस पर मान्यता प्राप्त की जाती। विकास कार्यक्रम एवं गृहनिर्माण योजना को मास्टर प्लान तथा क्षेत्रीय विकास योजना का अनुपूरक होना चाहिए। सुधार, विकास एवं पुनर्विकास से सम्बन्धित निगम के कुछ कार्य निम्न प्रकार हैं— नालियों, सार्वजनिक शौचालयों आदि की रचना, स्थापना एवं सफाई; अस्वास्थ्यकर बस्तियों को समाप्त करना तथा हर प्रकार के हानिकारक व्यवहार पर रोक लगाना; खतरनाक भवनों एवं स्थानों की सुरक्षा अथवा उनको नष्ट करना, सार्वजनिक गलियों, पुलों आदि की रचना, मरम्मत एवं सुधार; गलियों, पुलों एवं अन्य सार्वजनिक स्थानों पर से बेकार की चीजों को साफ करना, भवनों एवं भूमियों का सर्वेक्षण; निगम द्वारा स्वीकृत विकास-योजनाओं के अनुसार देहली का विकास करना तथा किसी भी क्षेत्र के निवासियों या किसी भी वर्ग के निवासियों के लिए गृह स्थान सम्बन्धी प्रावधान।

गन्दी बस्ती समाप्ति कार्यक्रम—देहली में यह कार्यक्रम सन् १६३७ में ही प्रारम्भ कर लिया गया था जबकि नगर विकास न्यास की स्थापना हुई। तब से आठ कार्यक्रमों में से पांच को स्वीकृति प्राप्त हो चुकी है। इनमें सबसे बड़ी योजना देहली अजमेरी दरबाजा गन्दी बस्ती समाप्ति योजना है जिसमें कि पांच हजार परिवारों को हटा कर दूसरी जगह बसाना था। पांच अन्य क्षेत्र भी साफ कर दिये गये हैं तथा लगभग १३०० परिवारों को दूसरी जगह घर प्रदान कर दिये गये है। नये बने घरों का किराया २४ रु० प्रति माह है किन्तु सहायता के बाद जो किराया लिया जाता है वह केवल १२ रु० प्रति माह ही रह जाता है। देहली में देहली नगर निगम, देहली-नगरपालिका समिति एवं भारत सेवक समाज को यह कार्य सौंपा गया। इन निकायों ने अपने दायित्व को अब तक उत्साहपूर्वक निभाया है।

देहाती स्थानीय निकायों के कार्य

[Functions of the Rural Local bodies]

देहाती क्षेत्र में कार्य करने वाले स्थानीय निकायों का सम्बन्ध मुख्य रूप से विकास योजनाओं को सम्पन्न करने से है। वे नागरिक सुविधा से सम्बन्धित कार्यों को भी सम्पन्न करती हैं, यद्यपि इन कार्यों का महत्व विकास कार्यों से कम होता है। इसका कारण यह है कि देहाती क्षेत्रों के विकास की ओर ब्रिटिश शासन काल से ही कोई ध्यान नहीं दिया गया है। शहरों में ही कल-कारखाने एवं उद्योग धन्धे स्थापित किये जाते थे। सरकार द्वारा आर्थिक क्षेत्र में तथा कृषि के क्षेत्र में अपनायी गई नीतियां कुछ इस

प्रकार की होती थीं कि वे देहाती क्षेत्रों के हितों के विपरीत पड़ती थी। ग्रामीण भाइयों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। स्वतंत्रता प्राप्त होते ही इन ग्रामीणों की आकांक्षायें बहुत बढ़ गई क्योंकि अब उनकी अपनी सरकार है। स्वतंत्र भारत की सरकार का मुख्य लक्ष्य पूरे देश का संतुलित विकास करना है, उसके किसी भाग मात्र का नहीं। अत: गाँवों के विकास की ओर अधिक ध्यान दिया गया ताकि वे शहरी जीवन की ओर ही लगातार खिचते हुए न चले जायें, साथ ही उनकी अपनी जीवन की दशाओं के प्रति कोई शिकायत भी न रहे। सामुदायिक विकास योजनाओं तथा प्रसार कार्यक्रमों (Extention Programmes) के रूप में देहातों में चहुंमुखी विकास के लिए ठोस कदम उठाये गये।

देहाती क्षेत्र की त्रिसूत्री रचना की इकाइयों के कार्यों को देखने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि यहां स्थानीय सरकारें कितनी सजगता एवं रुचि के साथ सार्वजनिक विषयों के प्रशासन में संलग्न हैं तथा लोगों के जन-जीवन की दैनिक आवश्यकताओं के साथ संयुक्त है। नीचे इन तीनों ही निकायों के कार्यों का अध्ययन किया जायेगा।

ग्राम पंचायतों के कार्य [Functions of the Village Panchayats]–ग्राम पंचायत देहाती स्थानीय प्रशासन की मूल इकाई है। जनता के सर्वाधिक निकट की इकाई होने के कारण यह उनके ध्यान को अधिक आकृष्ट करती है। ग्राम पंचायतों के कार्यों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। इसके प्रथम भाग में वाध्यकारी कार्य आते हैं अर्थात् वे कार्य जिनको सम्पन्न करना प्रत्येक पंचायत के लिए जरूरी होता है और दूसरी श्रेणी में ऐच्छिक कार्य आते हैं जो कि सम्पन्न होने के लिए पंचायत अधिकारियों की स्वेच्छा पर निर्भर करते हैं।

(A) **वाध्यकारी कार्य [Obligatory Functions]**—प्रत्येक गांव पंचायत का यह कर्त्तव्य है कि जहां तक उसके फन्ड अनुमति प्रदान करें वह अपने अधिकार क्षेत्र में निम्न के लिए प्रावधान तैयार करे—

१. सार्वजनिक गलियों की रचना, मरम्मत, सुरक्षा, सफाई एवं प्रकाश,
२. मैडीकल राहत;
३. किसी महामारी को फैलने से रोकने के लिए प्रतिरोधात्मक एवं उपचारात्मक कदम उठाना;
४. ग्राम सभा की किसी भी इमारत की रक्षा एवं पर्यवेक्षण;
५. जीवन, मृत्यु एवं शादियों का अभिलेख रखना;
६. सार्वजनिक स्थानों, गलियों एवं ग्राम सभा को प्राप्त स्थानों पर होने वाले गलत व्यवहार पर रोक लगाना;
७. श्मशान भूमियों एवं अन्य उद्देश्य वाले स्थानों को नियमित करना;
८. अपने क्षेत्र में मेले, वाजार एवं हाटों को नियमित करना;
९. लड़की तथा लड़कों के लिए प्राथमिक शालायें खोलना एवं उनको चलाना;
१०. सामान्य चारागाहों एवं भूमियों का स्थापन, प्रवन्ध एवं सुरक्षा ताकि उसके क्षेत्र में रहने वाले व्यक्तियों का सामान्य लाभ हो सके;

११. पीने, धोने तथा नहाने के लिए पानी का वितरण करने हेतु सार्वजनिक कुओं, तालाबों एवं पोखरों की रचना, मरम्मत एवं सुरक्षा;
१२. किसी भी नये भवन की रचना को अथवा स्थित भवन के प्रसार एवं मरम्मत को नियमित करना;
१३. कृषि, व्यापार एवं उद्योगों के विकास में सहायता करना;
१४. आग से सुरक्षा के लिए सहायता देना और आग लग जाने पर जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना;
१५. दीवानी एवं फौजदारी न्याय का प्रशासन;
१६. पशु-गणना, जनगणना आदि से सम्बन्धित अभिलेखों को रखना;
१७. गर्भवती स्त्री एव बच्चों का कल्याण;
१८. खाद को इकट्ठा करने के लिए स्थान देना;
१९. गांव सभा पर अन्य किसी कानून द्वारा स्थापित कार्य को पूरा करना।

(B) स्वेच्छापूर्ण कार्य [Discretionary Functions]—एक गांव पंचायत अपने क्षेत्र के अन्तर्गत निम्न विषयों पर भी प्रावधान बना सकती है–

१. सार्वजनिक गलियों एव अन्य सार्वजनिक स्थानों की बगलों में पेड़ लगाना तथा उनकी रक्षा करना;
२. पशुओं में सुधरी हुई नस्ल तथा उनका मैडीकल इलाज तथा उनकी बीमारियों का इलाज करना;
३. नियमों के अनुसार गांव में स्वयं सेवक दल का संगठन करना जो कि गांव पंचायत तथा न्याय पंचायत की उनके कार्यों में सहायता कर सके;
४. कृषकों को सरकारी कर्जा लेने तथा उनमें वितरित करने के कार्य में सहायता एवं परामर्श देना;
५. सहकारिता का विकास, विकसित बीज एवं स्टोरों की स्थापना;
६. दुर्भिक्ष अथवा अन्य प्रकार के संकट के विरुद्ध राहत;
७. क्षेत्र के उन कार्यों के सम्बन्ध में सत्ता तक प्रतिनिधि भेजना जो कि गांव सभा के अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं;
८. आबादी भूमि का प्रसार तथा जनता के कमजोर वर्ग के लिए घरों का प्रबन्ध;
९. पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना एवं संचालन;
१०. मनोरंजन तथा खेल के लिए अखाड़ा, क्लब या अन्य कोई स्थान बनाना तथा सुरक्षा करना;
११. खाद एवं अन्य बेकार के पदार्थों का संग्रह, उनको हटाना तथा काम में लाना;
१२. विभिन्न समाजों के बीच एकता, सहयोग एवं सद्भावना पैदा करने तथा बढ़ाने के लिए संगठनों की रचना करना;
१३. सार्वजनिक रेडियो सेट तथा ग्रामोफोन;
१४. गांव वालों की नैतिक एवं वस्तुगत सुख-सुविधा को बढ़ाने के लिए उपयोगी अन्य कोई भी प्रयास;
१५. गांव सभा के क्षेत्र में रहने वाले लोगों के हित के लिए उच्च सत्ता की स्वीकृति से वह कार्य करना जो कि उच्च सत्ता के अधिकार क्षेत्र में ही आता है;

(६) सामाजिक शिक्षा एवं महिला कल्याण कार्यक्रमों को चलाना,
(७) परिवार नियोजन कार्यक्रमों का प्रचार करना,
(८) अपाहिजों एवं बीमारों को राहत पहुंचाना, आदि ।

इस श्रेणी के स्वेच्छापूर्ण कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) गर्भवती महिलाओं एवं बालकों का कल्याण,
(२) मेडीकल राहत देना,
(३) धर्मशालाएं बनवाना तथा उनको संचालित करना,
(४) शिक्षा का प्रसार, अखाड़ों की स्थापना, तथा मनोरंजन एवं खेलों के लिए क्लब एवं अन्य स्कूलों की स्थापना करना,
(५) कला एवं संस्कृति के विकास के लिए रंगमंचों की स्थापना एवं संचालन,
(६) पुस्तकालयों एवं वाचनालयों की स्थापना एवं संचालन,
(७) सार्वजनिक रेडियोसेट तथा ग्रामफोन लगाना,
(८) पंचायत क्षेत्र में सामाजिक एवं नैतिक कल्याण को प्रोत्साहन देना, शराब-बन्दी को प्रोत्साहन देना, छूआछूत को मिटाना, पिछड़ी हुई जातियों की दशा को सुधारना, भ्रष्टाचार को रोकना तथा जुआ बाजी एवं अनावश्यक मुकदमेबाजी को निरुत्साहित करना,
(९) स्कूल के भवनों तथा अन्य भवनों की रचना एवं मरम्मत करवाना,
(१०) प्राथमिक स्कूल के अध्यापकों के लिए क्वार्टर बनाना,
(११) डाक विभाग की ओर से डाक सेवाएं संचालित करना ।

(३) **स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में (In the Field of Local Administration)**—इस श्रेणी में आने वाले बाध्यकारी कार्य निम्न हैं—

(१) नए भवनों का नियमन एवं रचना या वर्तमान भवनों की मरम्मत
(२) सार्वजनिक भवनों, चरागाह भूमियों तथा जंगलों का संचालन एवं नियमन,
(३) शराब की दुकानों का नियमन एवं नियन्त्रण,
(४) उन स्नान के या कपड़े धोने के घाटों पर नियन्त्रण जिनका प्रबन्ध राज्य सरकार अथवा अन्य किसी सत्ता द्वारा नहीं किया जाता,
(५) आबाद भूमि का प्रसार तथा निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर भवनों का नियमन करना,
(६) खतरनाक या घातक व्यापार या व्यवहार को नियमित करना एवं रोकना,
(७) पशुओं के लिए पोखरों की स्थापना, नियन्त्रण एवं प्रबन्ध,
(८) पंचायत क्षेत्र तथा उसकी फसल की देखभाल करना, गांवों के स्वयं सेवकों का संगठन करना,
(९) जन गणना कराना,

ities)—इस शीर्षक के अन्तर्गत अनेक बाध्यकारी एवं स्वेच्छाजनक कार्यों को रखा जा सकता है। बाध्यकारी कार्यों में मुख्य हैं—

(१) पशुओं एवं घरों के उपयोग के लिए जल का वितरण,
(२) सार्वजनिक गलियों, नालियों, बन्धों, तालावों और कुओं की सफाई, रचना एवं मरम्मत तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों की देखभाल,
(३) गन्दगी को साफ करने तथा रोकने के प्रयास और मरे हुए पशुओं के अवशेषों को उचित स्थान पर भेजना,
(४) चाय, काफी और दूध की दुकानों का लाईसेन्स अथवा अन्य किसी प्रकार से नियमन करना,
(५) मुर्दा घाटों एवं श्मशान भूमियों की रचना, रक्षा एवं नियमन करना,
(६) दावाहीन फसलों एवं पशुओं का प्रवन्ध करना,
(७) सार्वजनिक शौचालयों की रचना एवं व्यवस्था तथा व्यक्तिगत शौचालयों का नियमन,
(८) छूत की बीमारियों को उत्पन्न होने तथा फैलने से रोकने के लिए कदम उठाना,
(९) कूड़े करकट को हटाना, जंगल के विकास को रोकना, काम में न आने वाले कुओं को बन्द करना, अस्वास्थ्यकारक तालावों, पोखरों तथा गड्ढों को बन्द करके सिंचाई के पानी से उत्पन्न गन्दगी को रोकना तथा सफाई की दशाओं का सुधार,
(१०) पंचायत क्षेत्र में प्रकाश करना,
(११) पागल तथा आवारा कुत्तों को खतम करना,
(१२) जानवरों को पानी वितरित करने के लिए तालाब खुदवाना, उनकी सफाई करवाना तथा उन्हें बनाए रखना आदि।

इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले स्वेच्छाजनक कार्यों में निम्न को लिया जा सकता है—

(१) खेल के मैदानों एवं सार्वजनिक बगीचों की स्थापना तथा बनाए रखना
(२) अस्वास्थ्यकारक बस्तियों में सुधार करना,
(३) पंचायत के स्टाफ के लिए घर बनाना, आदि।

(२) समाज कल्याण एवं समाज सेवाओं के क्षेत्र में [In the Field of Social Welfare and Social Services]—इस शीर्षक के अन्तर्गत आने वाले बाध्यकारी कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) जन स्वास्थ्य की रक्षा एवं विकास,
(२) मनुष्यों एवं पशुओं पर टीके लगवाने को प्रोत्साहन देना,
(३) कार्यों का स्थापन एवं संरक्षण, तथा अकाल या अभाव की स्थिति में रोजगार का प्रावधान,
(४) शिक्षा का प्रसार,
(५) प्रौढ़ शिक्षा की कक्षायें चलाना,

(८) बीमारियों को पशुओं में बढ़ने से रोकना, उनका मेडीकल इलाज करना और उनकी नस्ल को सुधारना,
(९) गांवों के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों को बढ़ाना, सुधारना, एवं प्रोत्साहन देना,
(१०) जीवन की सुरक्षा करना,
(११) एजेन्ट के रूप में अथवा अन्य प्रकार से राष्ट्रीय बचत-पत्र बेचना,
(१२) पंचायत समिति द्वारा निर्धारित कार्यों को संचालित करना।

इस श्रेणी के स्वेच्छाजनक कार्य निम्न हैं—

(१) गोदामों की स्थापना एवं संचालन,
(२) अन्न भण्डारों की स्थापना,
(३) बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना,
(४) सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना,
(५) फसल पर प्रयोग करना तथा उसकी रक्षा करना,
(६) दुग्धशालाओं को प्रोत्साहन देना।

पंचायत समितियों के कार्य

[The Functions of Panchayat Samities]

पंचायत समितियां अपने क्षेत्र के सभी विकास कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं। ये कृषि, पशुपालन, सहकारिता, लघु सिंचाई, ग्राम उद्योग, प्राथमिक शिक्षा, संचार, सफाई, स्वास्थ्य एवं अन्य सुविधाओं के क्षेत्र में अनेक कार्य करती हैं। पंचायत समितियां अपने कार्यों को पंचायतों के माध्यम से क्रियान्वित कराती हैं। राजस्थान में पंचायती-राज पर प्रोजेक्ट टीम ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में अनेक विशेष योजनाएं एवं प्रोजेक्ट जो कि पहले सम्बन्धित सरकारी विभागों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रशासित किए जाते थे, अब पंचायत समितियों को हस्तांतरित कर दिए गए हैं।[1] इन क्षेत्रों में पंचायत समितियां अपनी स्वयं की योजनाएं भी प्रारम्भ कर सकती हैं। सम्पूर्ण सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी पंचायत समिति के अधिकार क्षेत्र में रख दिया गया है।

राजस्थान में पंचायत अधिनियम, १९५३ की तृतीय सूची में पंचायत समितियों के विभिन्न कार्यों का उल्लेख किया गया है। ये कार्य विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्न भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(१) **सामुदायिक विकास [Community Development]**— पंचायत समितियां अधिक उत्पादन और रोजगार एवं सुविधाएं बढ़ाने के लिए ग्रामीण संस्थाओं का संगठन करती हैं। पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्तों

---

1. "In each of these spheres a number of specific schemes and projects, which were previously administered directly by the concerned Govt. Departments, have been transferred to Panchayat Samities."

—Ibid, page 19.

(१०) पंचायत क्षेत्र में कृषि एवं गैर–कृषि उत्पादन की वृद्धि के कार्यक्रमों को बनाना,
(११) जानवरों के विश्राम गृह, चरागाह भूमि एवं सामुदायिक भूमि पर नियन्त्रण करना,
(१२) पंचायत समिति अथवा राज्य सरकार द्वारा जिन मेलों, तीर्थ-स्थानों एवं उत्सवों का प्रबन्ध न किया जाए उनका प्रबन्ध करना,
(१३) पंचायत के अभिलेख तैयार करना, उन्हें बनाए रखना तथा समय पर खोलना,
(१४) जन्म, मृत्यु एवं शादियों का इस रूप में और इस प्रकार पंजीकरण करना जैसे कि राज्य सरकार द्वारा सुझाया जाए,
(१५) पंचायत क्षेत्र में आने वाले गांवों के विकास के लिए योजना तैयार करना,
(१६) जब कोई प्राकृतिक प्रकोप आए तो निवासियों की सहायता करना,
(१७) भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में सहायता देना,
(१८) जनगणना कार्यों में सहायता देना।

इस श्रेणी के स्वेच्छाजनक कार्यों में निम्नलिखित को लिया जा सकता है—

(१) सार्वजनिक गलियों या अन्य ऐसे स्थानों पर से जो कि व्यक्तिगत सम्पत्ति नहीं हैं तथा जनता के लिए खुले हुए हैं, बेकार की चीजों को हटाना,
(२) बाजारों की स्थापना एवं संचालन,
(३) सार्वजनिक गलियों और बाजारों तथा अन्य सार्वजनिक स्थानों के अगल–बगल में पेड़ लगाना, उन्हें बनाए रखना तथा उनकी रक्षा करना,
(४) सर्वेक्षण कराना,
(५) उचित दामों की दुकानें खोलना,
(६) भूमि सुधार कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने में सहायता देना।

(४) विकास के क्षेत्र में [In the Field of Development]—

इस श्रेणी में आने वाले बाध्यकारी कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) पंचायत क्षेत्र में कृषि एवं गैर कृषि उपज को बढ़ाने के लिए कार्यक्रम बनाना,
(२) कृषि का सुधार एवं आदर्श कृषि फार्म स्थापित करना,
(३) बेकार तथा बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना,
(४) खाद के स्रोतों का कम से कम स्तर तय कर देना,
(५) उन्नत बीज का उत्पादन एवं प्रयोग,
(६) उत्पादन के लिए सर्वेक्षण कराना,
(७) गांवों के जंगलों को बढ़ाना, उनकी रक्षा करना एवं उनमें सुधार करना,

(८) बीमारियों को पशुओं में बढ़ने से रोकना, उनका मेडीकल इलाज करना और उनकी नस्ल को सुधारना,
(९) गांवों के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों को बढ़ाना, सुधारना, एवं प्रोत्साहन देना,
(१०) जीवन की सुरक्षा करना,
(११) एजेन्ट के रूप में अथवा अन्य प्रकार से राष्ट्रीय बचत-पत्र बेचना,
(१२) पंचायत समिति द्वारा निर्धारित कार्यों को संचालित करना।

इस श्रेणी के स्वेच्छाजनक कार्य निम्न हैं—
(१) गोदामों की स्थापना एवं संचालन,
(२) अन्न भण्डारों की स्थापना,
(३) बंजर भूमि को खेती के योग्य बनाना,
(४) सहकारी खेती को प्रोत्साहन देना,
(५) फसल पर प्रयोग करना तथा उसकी रक्षा करना,
(६) दुग्धशालाओं को प्रोत्साहन देना।

पंचायत समितियों के कार्य

[The Functions of Panchayat Samities]

पंचायत समितियां अपने क्षेत्र के सभी विकास कार्यों के लिए उत्तरदायी हैं। ये कृषि, पशुपालन, सहकारिता, लघु सिंचाई, ग्राम उद्योग, प्राथमिक शिक्षा, संचार, सफाई, स्वास्थ्य एवं अन्य सुविधाओं के क्षेत्र में अनेक कार्य करती हैं। पंचायत समितियां अपने कार्यों को पंचायतों के माध्यम से क्रियान्वित कराती हैं। राजस्थान में पंचायती-राज पर प्रोजेक्ट टीम ने अपने प्रतिवेदन में लिखा है कि इनमें से प्रत्येक क्षेत्र में अनेक विशेष योजनाएं एवं प्रोजेक्ट जो कि पहले सम्बन्धित सरकारी विभागों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से प्रशासित किए जाते थे, अब पंचायत समितियों को हस्तांतरित कर दिए गए हैं।[1] इन क्षेत्रों में पंचायत समितियां अपनी स्वयं की योजनाएं भी प्रारम्भ कर सकती हैं। सम्पूर्ण सामुदायिक विकास कार्यक्रम भी पंचायत समिति के अधिकार क्षेत्र में रख दिया गया है।

राजस्थान में पंचायत अधिनियम, १९५३ की तृतीय सूची में पंचायत समितियों के विभिन्न कार्यों का उल्लेख किया गया है। ये कार्य विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्न भागों में विभाजित किए जा सकते हैं—

(१) सामुदायिक विकास [Community Development]—पंचायत समितियां अधिक उत्पादन और रोजगार एवं सुविधाएं बढ़ाने के लिए ग्रामीण संस्थाओं का संगठन करती हैं। पारस्परिक सहयोग के सिद्धान्तों

---

1. "In each of these spheres a number of specific schemes and projects, which were previously administered directly by the concerned Govt. Departments, have been transferred to Panchayat Samities."

—Ibid, page 19.

पर आधारित ग्राम्य समाज में आत्म विश्वास एवं आत्म सहायता की भावना पैदा करने के लिए पंचायत समितियां प्रयत्नशील रहती हैं। इसके अतिरिक्त वे लोगों के फालतू समय को समाज के हित में लगाने के लिए भी उपाय सुझाती हैं।

(२) **कृषि [Agriculture]**—पंचायत समितियां परिवार, गांव एवं खण्ड के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाने की योजनाएं बनाती हैं और उनको क्रियान्वित करती हैं। वे भूमि तथा जल की दृष्टि से स्रोतों का पूरा उपयोग करती हैं और शोधों के आधार पर प्राप्त कृषि सम्बन्धी नई तकनीकों का प्रसार करती हैं। ये अधिक से अधिक २५००० रुपये तक की सिंचाई कार्य की किसी भी योजना को क्रियान्वित कर सकती हैं। साथ ही सिंचाई के कुवों, बन्धों, तथा मेड़बन्धी आदि की रचना में सहायता करती हैं। बीज वृद्धि के कार्यक्रमों को संचालित करने में पंजीकृत बीज उत्पादकों एवं बीज वितरकों को सहायता देती हैं। पंचायत समितियों द्वारा फलों और सब्जी के विकास के लिए भी कार्य किए जाते हैं तथा हरी एवं रासायनिक खाद को लोकप्रिय बनाकर उनका वितरण किया जाता है। ये खाद के स्थानीय स्रोतों को विकसित करने के लिए कदम उठाती हैं। साथ ही विकसित कृषि प्रसाधनों के प्रयोग, खरीद और निर्माण को प्रोत्साहन देकर उनके वितरण में सहायता करती हैं तथा पौधों का रक्षण करती हैं। पंचायत समितियां सिंचाई एवं कृषि के विकास के लिए कर्जा तथा अन्य सुविधाएं प्रदान करती हैं।

(३) **पशुपालन [Animal Husbandry]**—पंचायत समितियों द्वारा घटिया बैलों को बधिया बनाकर, अच्छे बैलों की देखभाल करके तथा कृत्रिम गर्भादान केन्द्र खोलकर पशुओं की नस्ल को सुधारा जाता है। चौपायों, भेड़ों, सूअरों, मुर्गियों एवं ऊंटों की सुधरी हुई नस्ल का परिचय देने के लिए छोटी-छोटी संस्थाओं के संचालन को ये सहायता देती हैं। पंचायत समितियों द्वारा पशुओं की बीमारी पर नियन्त्रण रखा जाता है तथा उनको अच्छा खाना आदि देने की व्यवस्था करती हैं। इन समितियों द्वारा प्राथमिक चिकित्सा केन्द्रों एवं छोटे पशु चिकित्सालयों की स्थापना की जाती हैं जहां पर कि पशुओं के रोग को आगे बढ़ने से रोका जा सके। ये दुग्धशाला खोलकर दूध के वितरण का उचित प्रबन्ध करती हैं। साथ ही ऊन के संग्रह की व्यवस्था भी करती हैं। पंचायत समितियां पंचायतों के नियन्त्रण में आने वाले तालावों में मछली उद्योग के विकास के लिए कदम उठाती हैं।

(४) **स्वास्थ्य एवं देहाती सफाई [Health and Rural Sanitation]**—पंचायत समिति द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार किया जाता है। टीके लगवाये जाते हैं तथा महामारियों को रोकने के लिए कदम उठाये जाते हैं। पीने के सुरक्षित पानी की सुविधायें प्रदान की जाती हैं। परिवार नियोजन कार्यक्रम को बढ़ावा दिया जाता है। ये पंचायत समितियां समय-समय पर औषधालयों, दवाखानों, डिस्पेन्सरियों, जच्चाखानों तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों आदि का निरीक्षण करती रहती हैं। वातावरण के दोषों को दूर करके स्वास्थ्य का प्रचार करती हुई जनता को शिक्षित करती हैं। जनता को पाचन क्रिया, बाल-कल्याण, गर्भ सम्बन्धी प्रश्न, फैलने वाली बीमारियों आदि के बारे में शिक्षा देती हैं।

(५) शिक्षा [Education]—पंचायत समितियां प्राथमिक स्कूलों का संचालन कराती हैं। वे ऐसे स्कूलों का भी प्रबन्ध करती हैं जो कि अनुसूचित जाति एवं आदिम जाति के छात्रों के लिए चलाये जा रहे हैं। प्राथमिक शालाओं को ये बेसिकशाला का रूप दे देती हैं। मिडिल कक्षाओं तक के छात्रों को वजीफा एवं अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करती हैं। लड़कियों की शिक्षा का प्रसार करती हैं तथा स्कूल में संरक्षिकाओं की नियुक्ति करती हैं। अध्यापकों के लिए क्वार्टर्स बनवाती हैं।

(६) सामाजिक शिक्षा [Social Education]—पंचायत समितियां सूचना, वार्ता एवं मनोरंजन के केन्द्रों की स्थापना करती हैं। युवक संगठनों को स्थापित करती हैं। पुस्तकालय खोलती हैं। स्त्रियों में सुधार के लिए कार्य करती हैं तथा उनको ग्राम काकियों एवं ग्राम साथिनों का उपयोग कराना सिखाती हैं। प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन देती हैं।

(७) संचार [Communication]—पंचायत समितियों द्वारा अपने क्षेत्र की पंचायतों के बीच संचार की उचित व्यवस्था की जाती है। इसके लिए विभिन्न पंचायतों के बीच सड़कें बनायी जाती हैं।

[८] सहकारिता (Co-operation)—पंचायत समितियां औद्योगिक, सिंचाई, फार्मिंग तथा अन्य क्षेत्रों में सहकारी समितियों का गठन करती हैं तथा उनको सहयोग एवं सहायता प्रदान करके सहकारिता के विचार को प्रोत्साहन देती हैं। सेवा सहकारिताओं (Service Co-operatives) को सहयोग देती हैं तथा उनमें भाग लेती हैं।

[९] कुटीर उद्योग (Cottage industries)—पंचायत समिति कुटीर उद्योगों तथा अन्य छोटे स्तर के उद्योगों का विकास करती है ताकि गांवों को आत्मनिर्भर बनाया जा सके और रोजगार के अधिक से अधिक अवसर दिये जा सकें। औद्योगिक रोजगार के अवसरों तथा सम्भावनाओं का सर्वेक्षण कराया जाता है। उत्पादन एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जाती है। कलाकारों एवं कारीगरों की कुशलता का विकास किया जाता है। विकसित औजारों को लोकप्रिय बनाया जाता है।

[१०] पिछड़ी जातियों में कार्य (Work amongst Backward Classes)—सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों एवं पिछड़ी जातियों के छात्रों के लिये बनाये गये होस्टलों का प्रबन्ध, पंचायत समिति द्वारा किया जाता है। ये स्वेच्छापूर्ण समाज कल्याण संगठनों को सशक्त बनाती हैं तथा उनकी क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती हैं। ये सामाजिक सुधारों, शराब-बन्दी आदि का पर्याप्त प्रचार करती हैं।

[११] संकटकालीन राहत (Emergency relief)—अग्नि, बाढ़, महामारी तथा अन्य सामान्य प्रकोप की हालत में पंचायत समिति द्वारा संकटकालीन राहत देने की व्यवस्था की जाती है।

[१२] सांख्यिकी का संचय (Collection of Statistics)—पंचायत समिति इस प्रकार की सांख्यिकी का संग्रह एवं समापन कराती है जिसे कि वह स्वयं या जिला परिषद या राज्य सरकार आवश्यक समझे।

[१३] न्यास (Trusts)—किसी भी ऐसे लक्ष्य की साधना के लिए

पर आधारित ग्राम्य समाज में आत्म विश्वास एवं आत्म सहायता की भावना पैदा करने के लिए पंचायत समितियां प्रयत्नशील रहती हैं। इसके अतिरिक्त वे लोगों के फालतू समय को समाज के हित में लगाने के लिए भी उपाय सुझाती हैं।

(२) कृषि [Agriculture]—पंचायत समितियां परिवार, गांव एवं खण्ड के लिए कृषि उत्पादन को बढ़ाने की योजनाएं बनाती हैं और उनको क्रियान्वित करती हैं। वे भूमि तथा जल की दृष्टि से स्रोतों का पूरा उपयोग करती हैं और शोधों के आधार पर प्राप्त कृषि सम्बन्धी नई तकनीकों का प्रसार करती हैं। ये अधिक से अधिक २५००० रुपये तक की सिंचाई कार्य की किसी भी योजना को क्रियान्वित कर सकती हैं। साथ ही सिंचाई के कुवों, बन्धों, तथा मेड़बन्धी आदि की रचना में सहायता करती हैं। बीज वृद्धि के कार्यक्रमों को संचालित करने में पंजीकृत बीज उत्पादकों एवं बीज वितरकों को सहायता देती हैं। पंचायत समितियों द्वारा फलों और सब्जी के विकास के लिए भी कार्य किए जाते हैं तथा हरी एवं रासायनिक खाद को लोकप्रिय बनाकर उनका वितरण किया जाता है। ये खाद के स्थानीय स्रोतों को विकसित करने के लिए कदम उठाती हैं। साथ ही विकसित कृषि प्रसाधनों के प्रयोग, खरीद और निर्माण को प्रोत्साहन देकर उनके वितरण में सहायता करती हैं तथा पौधों का रक्षण करती हैं। पंचायत समितियां सिंचाई एवं कृषि के विकास के लिए कर्जा तथा अन्य सुविधाएं प्रदान करती हैं।

(३) पशुपालन [Animal Husbandry]—पंचायत समितियों द्वारा घटिया बैलों को वधिया बनाकर, अच्छे बैलों की देखभाल करके तथा कृत्रिम गर्भदान केन्द्र खोलकर पशुओं की नस्ल को सुधारा जाता है। चौपायों, भेड़ों, सूअरों, मुर्गियों एवं ऊंटों की सुधरी हुई नस्ल का परिचय देने के लिए छोटी-छोटी संस्थाओं के संचालन को ये सहायता देती हैं। पंचायत समितियों द्वारा पशुओं की बीमारी पर नियन्त्रण रखा जाता है तथा उनको अच्छा खाना आदि देने की व्यवस्था करती हैं। इन समितियों द्वारा प्राथमिक चिकित्सा केन्द्रों एवं छोटे पशु चिकित्सालयों की स्थापना की जाती है जहां पर कि पशुओं के रोग को आगे बढ़ने से रोका जा सके। ये दुग्धशाला खोलकर दूध के वितरण का उचित प्रवन्ध करती हैं। साथ ही ऊन के संग्रह की व्यवस्था भी करती हैं। पंचायत समितियां पंचायतों के नियन्त्रण में आने वाले तालाबों में मछली उद्योग के विकास के लिए कदम उठाती हैं।

(४) स्वास्थ्य एवं देहाती सफाई [Health and Rural Sanitation]—पंचायत समिति द्वारा स्वास्थ्य सेवाओं का विस्तार किया जाता है। टीके लगवाये जाते हैं तथा महामारियों को रोकने के लिए कदम उठाये जाते हैं। पीने के सुरक्षित पानी की सुविधायें प्रदान की जाती हैं। परिवार नियोजन कार्यक्रम को बढ़ावा दिया जाता है। ये पंचायत समितियां समय-समय पर औषधालयों, दवाखानों, डिस्पेन्सरियों, जच्चाखानों तथा प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों आदि का निरीक्षण करती रहती हैं। वातावरण के दोषों को दूर करके स्वास्थ्य का प्रचार करती हुई जनता को शिक्षित करती हैं। जनता को पाचन क्रिया, बाल-कल्याण, गर्भ सम्बन्धी प्रश्न, फैलने वाली बीमारियों आदि के बारे में शिक्षा देती हैं।

(५) शिक्षा [Education]—पंचायत समितियां प्राथमिक स्कूलों का संचालन कराती हैं। वे ऐसे स्कूलों का भी प्रवन्ध करती हैं जो कि अनुसूचित जाति एवं आदिम जाति के छात्रों के लिए चलाये जा रहे हैं। प्राथमिक शालाओं को ये बेसिकशाला का रूप दे देती हैं। मिडिल कक्षाओं तक के छात्रों को वजीफा एवं अन्य प्रकार की सहायता प्रदान करती हैं। लड़कियों की शिक्षा का प्रसार करती हैं तथा स्कूल में संरक्षिकाओं की नियुक्ति करती हैं। अध्यापकों के लिए क्वार्टर्स बनवाती हैं।

(६) सामाजिक शिक्षा [Social Education]—पंचायत समितियां सूचना, वार्ता एवं मनोरंजन के केन्द्रों की स्थापना करती हैं। युवक संगठनों को स्थापित करती हैं। पुस्तकालय खोलती हैं। स्त्रियों में सुधार के लिए कार्य करती हैं तथा उनको ग्राम काकियों एवं ग्राम साथिनों का उपयोग कराना सिखाती हैं। प्रौढ़ शिक्षा को प्रोत्साहन देती हैं।

(७) संचार [Communication]—पंचायत समितियों द्वारा अपने क्षेत्र की पंचायतों के बीच संचार की उचित व्यवस्था की जाती है। इसके लिए विभिन्न पंचायतों के बीच सड़कें बनायी जाती हैं।

[८] सहकारिता (Co-operation)—पंचायत समितियां औद्योगिक, सिचाई, फार्मिंग तथा अन्य क्षेत्रों में सहकारी समितियों का गठन करती हैं तथा उनको सहयोग एवं सहायता प्रदान करके सहकारिता के विचार को प्रोत्साहन देती हैं। सेवा सहकारिताओं (Service Co-operatives) को सहयोग देती हैं तथा उनमें भाग लेती हैं।

[९] कुटीर उद्योग (Cottage industries)—पंचायत समिति कुटीर उद्योगों तथा अन्य छोटे स्तर के उद्योगों का विकास करती है ताकि गांवों को आत्मनिर्भर बनाया जा सके और रोजगार के अधिक से अधिक अवसर दिये जा सकें। औद्योगिक रोजगार के अवसरों तथा सम्भावनाओं का सर्वेक्षण कराया जाता है। उत्पादन एवं प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जाती है। कलाकारों एवं कारीगरों की कुशलता का विकास किया जाता है। विकसित औजारों को लोकप्रिय बनाया जाता है।

[१०] पिछड़ी जातियों में कार्य (Work amongst Backward Classes)—सरकार द्वारा अनुसूचित जातियों, आदिम जातियों एवं पिछड़ी जातियों के छात्रों के लिये बनाये गये होस्टलों का प्रबन्ध, पंचायत समिति द्वारा किया जाता है। ये स्वेच्छापूर्ण समाज कल्याण संगठनों को सशक्त बनाती हैं तथा उनकी क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करती हैं। ये सामाजिक सुधारों, शराब-बन्दी आदि का पर्याप्त प्रचार करती हैं।

[११] संकटकालीन राहत (Emergency relief)—अग्नि, बाढ़, महामारी तथा अन्य सामान्य प्रकोप की हालत में पंचायत समिति द्वारा संकटकालीन राहत देने की व्यवस्था की जाती है।

[१२] साख्यिकी का संचय (Collection of Statistics)—पंचायत समिति इस प्रकार की सांख्यिकी का संग्रह एवं समापन कराती है जिसे कि वह स्वयं या जिला परिषद या राज्य सरकार आवश्यक समझे।

[१३] न्यास (Trusts)—किसी भी ऐसे लक्ष्य की साधना के लिए

यह न्यास का प्रबन्ध करती है जिसके लिए कि इसके फन्ड में प्रावधान होता है।

[१४] **जंगलात (Forests)**—यह गांव के जंगलों का प्रबन्ध करती है तथा क्रम से उनकी कटाई छटाई का कार्य करती रहती है।

[१५] **देहाती गृह निर्माण (Rural Housing)**—देहाती क्षेत्रों में वहां के नागरिकों को निवास की सुविधा के लिये हर-सम्भव प्रयास करती है।

[१६] **प्रचार (Publicity)**—प्रचार एव प्रसार की दृष्टि से सामुदायिक रेडियो लगाये जाते हैं। गांव के जन जीवन को विकसित करने एवं उसकी समस्याओं को सुलझाने के प्रयासों की जानकारी के लिए प्रकाशन किये जाते हैं साथ ही प्रदर्शनियां लगाई जाती हैं।

[१७] **अन्य कार्य (Miscellaneous)**—उक्त कार्यों के अतिरिक्त भी पंचायत समितियां कुछ कार्य सम्पन्न करती हैं। पंचायतों के हर कार्य में उनके द्वारा पर्यवेक्षण किया जाता है तथा निर्देशन दिया जाता है। ये गांव की तथा पंचायत की योजनाओं को बनाने में भी अपना निर्देशन देती हैं। घातक, खतरनाक तथा भद्दे व्यापारों एवं व्यवहारों का नियमन करती हैं। स्वास्थ्य विरोधी बस्तियों का बहिष्कार करती हैं। बाजारों तथा अन्य संस्थाओं जैसे सार्वजनिक पार्कों, बगीचों एवं फार्मों का स्थापन, प्रबन्ध, संचालन एवं निरीक्षण करती हैं। खण्ड में स्थित निर्धन गृह, शरणालय, अनाथालय, पशु चिकित्सालय तथा अन्य संस्थाओं का निरीक्षण करती हैं। अल्प बचतों एवं बीमाओं द्वारा जमा करने को प्रोत्साहन देती हैं। सामूहिक कला एवं संस्कृति को बढ़ावा देती हैं। पंचायत समितियां अपने क्षेत्र में अनेक प्रकार के मेले लगाती हैं ताकि उस क्षेत्र के निवासी एक दूसरे को जान सकें, अपने सुख-दुख में परस्पर भागीदार बन सकें। इन मेलों का संगठन एवं प्रबन्ध पंचायत समिति द्वारा ही किया जाता है। पंचायत समितियां रंगमंचों का स्थापन एवं प्रबन्ध करती हैं।

जिला परिषदों के कार्य
(Functions of the Zila Parishads)

देहाती स्थानीय प्रशासन की सर्वोच्च इकाई, जिला परिषद मुख्य रूप से एक समन्वयकर्त्ता एवं परामर्शदाता निकाय के रूप में कार्य करती है। यह जिले की समस्त पंचायतों एवं पंचायत समितियों की क्रियाओं में एक सूत्र बैठा कर राज्य सरकार के साथ उनका समायोजन करती है। यह योजनाओं एवं कार्यक्रमों पर भी सामान्य निरीक्षण रखती है तथा अपने क्षेत्र में आने वाली पंचायत समितियों के कार्यों में समन्वय लाने की दृष्टि से कदम उठा सकती हैं। ये पंचायत समिति के बजट की छानबीन करने का अधिकार भी रखती हैं किन्तु इस सम्बन्ध में इसका परामर्श बाध्यकारी नहीं होता।

जिला परिषद के कार्यों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पहलुओं से अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि यह निकाय मुख्य रूप से एक पर्यवेक्षणकर्त्ता, समन्वयकर्त्ता एवं परामर्शदाता निकाय है। इसके

कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य या तो होते ही नहीं हैं और यदि होते भी हैं तो बहुत कम होते हैं। अधिनियम द्वारा जिला परिषदों को जो शक्तियां प्राप्त हैं उनसे भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। अधिनियम में कहा गया है कि प्रत्येक जिला परिषद निम्नलिखित कार्य कर सकती है—

१. यह जिले की पंचायत समितियों के बजट का इस कार्य के लिये बनाये गये नियमों के अनुसार निरीक्षण कर सकती है।

२. राज्य सरकार द्वारा जिलों को दिये गये तत्कालीन अनुदान को पंचायत समितियों में वितरित करती है।

३. पंचायत समितियों द्वारा तैयार की गई योजनाओं को समन्वित एवं एकीकृत करती है।

४. पंचायतों एवं पंचायत समितियों के कार्यों को समन्वित करती है।

५. किसी भी विकास कार्यक्रम के सम्बन्ध में उन कार्यों एवं शक्तियों को सम्पन्न करती है जो कि राज्य सरकार की अधिसूचना द्वारा इसको दिये या सौंपे जायें।

६. यह उन कार्यों को सम्पन्न करती है तथा उन शक्तियों को काम में लाती है जो अधिनियम द्वारा या उसके अन्तर्गत इसको सौंपे गये हैं अथवा हस्तांतरित किये गये हैं।

७. राज्य सरकार द्वारा प्रबन्धित मेलों के अतिरिक्त उन मेलों तथा उत्सवों का वर्गीकरण करती है जो कि पंचायत या पंचायत समिति के मेले या उत्सव हैं। यदि इस वर्गीकरण के सम्बन्ध में पंचायत अथवा पंचायत समिति द्वारा प्रतिनिधित्व भेजा जाये तो यह उसकी पुनरीक्षा करती है।

८. राष्ट्रीय, राज्य की एवं जिले की मुख्य सड़कों के अतिरिक्त सड़कों का, पंचायत समिति की सड़क तथा ग्राम पंचायत की सड़क के रूप में वर्गीकरण करती है।

९. जिले की सभी पंचायत समितियों के कार्यों का सामान्य पर्यवेक्षण करती है।

१०. जिले में सरपंचों, प्रधानों एवं अन्य पंचों तथा पंचायतों एवं पंचायत समितियों के सदस्यों का सम्मेलन, कैम्प एवं सैमीनार आयोजित करती है।

११. पंचायतों एवं पंचायत समितियों से सम्बन्धित सभी मामलों पर राज्य सरकार को परामर्श देती है।

१२. राज्य सरकार द्वारा विशेष रूप से जिला परिषद को भेजे गये कानूनी या कार्यपालिका सम्बन्धी आदेशों से सम्बन्धित सभी विषयों पर राज्य सरकार को परामर्श देती है।

१३. पंचवर्षीय योजनाओं के अधीन जिले में विभिन्न कार्यक्रमों को क्रियान्वित करने से सम्बन्धित सभी विषयों में राज्य सरकार को परामर्श देती है।

१४. जिले के लिये निर्धारित सभी कृषि सम्बन्धी एवं उत्पादन कार्यक्रमों, रचना कार्यक्रमों तथा रोजगार लक्ष्यों की चौकस रखती है तथा यह देखती है कि उनको सही रूप से संचालित किया जाये, पूरा किया जाये तथा क्रियान्वित किया जाये। इस प्रकार के कार्यक्रमों एवं लक्ष्यों की वर्ष में कम से कम दो बार पुनरीक्षा करती है।
१५. वे आंकड़े इकट्ठे करना जिन्हें कि यह आवश्यक समझे।
१६. सांख्यिकी अथवा जिले की स्थानीय सत्ताओं के कार्यों से सम्बन्धित अन्य सूचनाओं को प्रकाशित करना।
१७. किसी भी स्थानीय सत्ता से उसके कार्यों के सम्बन्ध में सूचना मांग लेना।

उक्त सभी कार्यों को राजस्थान में पंचायती राज्य पर प्रोजेक्ट टीम ने तीन भागों में विभाजित किया है; ये हैं—पर्यवेक्षण, समन्वय एवं परामर्श।

पंचायती राज में ग्राम सभा
[Gram Sabha in Panchayati Raj]

ग्राम सभा पंचायती राज की बनावट का एक लोकप्रिय आधार है। पंचायतें अपनी सत्ता ग्राम से ही प्राप्त करती हैं तथा उसी के प्रति उत्तरदायी होती हैं। ग्राम सभा में गांव के सभी वयस्क लोग होते हैं। महासभा का विचार भारत के गांवों के लिए कोई नया नहीं है। प्राचीन भारत की परम्पराओं के अनुसार यह व्यवहार पर्याप्त लोकप्रिय था जिसने कि समय के साथ ही अपना महत्व खो दिया है। गांवों की जनता में उत्साह जागृत करने के लिए एक व्यवस्थित एवं नियमित रूप से लोगों की भीड़ को इकट्ठा करने का अभ्यास अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होता है। एक सक्रिय ग्राम सभा को प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र का साधन माना जा सकता है। अब यह माना जाने लगा है कि पंचायती राज में ग्राम सभा का महत्वपूर्ण स्थान है। इसको एक आधार-भूत निकाय के रूप में कार्य करना चाहिए तथा गांवों के जीवन को विकसित करने के साधन के रूप में आगे आना चाहिए; साथ ही प्रजातन्त्र की जड़ों को भी मजबूत करना चाहिए। सादिकअली समिति के शब्दों में ग्राम सभा को एक फोरम के रूप में कार्य करना चाहिए जहाँ के लोग मिल सकें और अपनी प्रतिदिन की समस्याओं पर विचार कर सकें।[1] ग्राम सभाओं में लोगों के जीवन को प्रभावित करने वाले सभी विषयों पर लोकमत अभिव्यक्त किया जाता है तथा ग्राम पंचायतों के संचालन के लिए एक निर्देशन का मार्ग बनाया जाता है। यह पंचायत को लोगों तक सूचना पहुंचाने के लिए सहायता प्रदान करती है।

राजस्थान में पंचायत अधिनियम, १९५३ के अनुसार प्रत्येक ग्राम पंचायत निर्धारित तरीके एवं समय पर पंचायत क्षेत्र के सभी वयस्क

---

1. "Gram Sabha should function as a Forum where people meet and discuss their day-to-day problems."
—Sadiq Ali Report, Op. Cit., page 52.

निवासियों की बैठक बुलाएगी। राजस्थान में पंचायत एवं न्याय पंचायतों से सम्बन्धित नियम, १९६१ के अनुसार यह ग्राम बैठक वर्ष में कम से कम दो बार बुलाई जाएगी। यह मई तथा अक्टूबर के महीनों में सरपंच अथवा उप-सरपंच द्वारा बुलाई जाएगी। ग्रामसभा शब्द का, अधिनियम तथा नियमों में प्रयोग नहीं किया गया है। वर्तमान प्रावधानों में वयस्क निवासियों की महा-सभा के लिए कोई स्थान नहीं है। इस प्रकार राजस्थान पचायती राज व्यवस्था में ग्राम सभा का प्रारम्भ सन् १९६१ से हुआ है। इसके प्रथम वर्ष में जनता इसके प्रावधानों को भली भांति नहीं समझ पाई और ग्राम सभा की नियमित बैठकें नहीं हो सकीं। इसके बाद सरकार ने शिक्षा एवं प्रसार द्वारा इस संस्था को लोकप्रिय बनाने के लिए सक्रिय कदम उठाए। इसके बाद धीरे-धीरे ग्रामसभाओं की बैठकें बुलाई जाने लगी किन्तु अभी तक यह सस्था इतनी प्रभावशाली नहीं बन पाई। प्राय: ग्रामसभा की बैठकों में बहुत कम उपस्थिति रहती है। उपस्थित रहने वाले लोग भी उसकी कार्यवाहियों में कोई उत्साह तथा रूचि नहीं दिखाते। ग्राम सभा के कार्यों में जनता की उदासीनता एवं उत्साहहीनता के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं जैसे इसकी बैठकों की सूचना अधिकांश लोगों को समय पर नहीं मिल पाती। दूसरे, इसकी बैठकें कभी-कभी ऐसे समय पर होती हैं जबकि ग्रामीण भाई अपने खेतों पर व्यस्त रहते हैं। तीसरे, ग्रामसभा की बैठक बुलाने में सरपंच भी रूचि नहीं लेता। कई बार उसको ग्राम सभा में जनता द्वारा की जाने वाली आलोचनाओं का भय रहता है। चौथे, ग्रामसभाओं को सौंपे गए कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त सीमित है। केवल कुछ आंकड़ों को पढ़ कर सुना देने से जनता में उत्साह पैदा नहीं किया जा सकता। पांचवे, गांवों की अधिकांश जनता अशिक्षित होती है। ग्रामसभा को किसी सचिवालय स्टाफ का सहयोग प्राप्त नहीं होता।

सादिक अली समिति ने यह सुझाया है कि ग्राम सभा को कानूनी मान्यता प्रदान करनी चाहिए ताकि इसे प्रभावशाली बनाया जा सके। ग्राम सभा को ग्राम्य स्तर पर एक जन-निकाय मानना चाहिए तथा ग्राम पंचायत को इसकी कार्यपालिका इकाई। इस सिफारिश के विरुद्ध कई बार यह कहा गया है कि यदि ग्राम सभा एवं ग्राम पंचायत दोनों ही निकायों को ग्राम्य स्तर पर मान्यता दे दी गई तो दोनों निकायों के बीच लगातार संघर्ष रहेगा और उनके सम्बन्ध-विषयक अनेक समस्याएं उठ खड़ी होंगी। किन्तु ये आलोचनाएं एवं शंकाएं इस गलत धारणा पर आधारित हैं कि कानूनी मान्यता प्राप्त हो जाने के बाद ग्राम सभा एक कार्यपालिका निकाय के रूप में कार्य करेगी। इस धारणा को इसलिए गलत माना जाएगा क्योंकि ग्राम सभा एक परामर्शदाता एवं पुनरीक्षाकर्ता निकाय के रूप में कार्य करेगी तथा पंचायत को सौंपे गए कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में इसका कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। इस प्रकार इन दोनों निकायों के कार्यों में संघर्ष होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

ग्राम सभा के कार्यों का आधार आम धारणा होनी चाहिए। ग्रामीण समाज के सामान्य हित के मामलों में कोई भी ग्रामीण निकाय आसानी से आम धारणा मालूम कर सकता है। ग्राम सभा की बैठकों में औपचारिक रूप से मत नहीं लिए जाने चाहिए तथा इसकी बैठकों में आम धारणा प्राय: स्पष्ट

रहनी चाहिए। यदि इस सम्बन्ध में कोई सन्देह है तो सभा के अध्यक्ष द्वारा घोषित निर्णय अन्तिम समझा जाना चाहिए। ग्राम सभा की बैठकों में जब ग्राम धारणा व्यक्त की जाय उसको ग्राम पंचायतों के कार्यों का प्रेरक मानना चाहिए। इस प्रकार ग्राम सभाओं के माध्यम से मतदाता नीति निर्माण एवं क्रियान्वयन को प्रभावित करने का अवसर प्राप्त करता है। ग्राम सभा एवं ग्राम पंचायत के बीच आवश्यक समन्वय की स्थापना सरपंच द्वारा की जा सकती है जो कि जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। पंचायत के सचिव को ग्राम सभा के सचिव के रूप में कार्य करना चाहिए ताकि वह ग्राम सभा की कार्यवाहियों का अभिलेख रख सके।

ग्राम सभाओं को कुछ शक्तियां एवं कार्य सौंपे गए हैं किन्तु इन कार्यों को एवं शक्तियों को संक्षिप्त रूप में परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। ग्राम सभा धीरे-धीरे क्रम प्रक्रिया द्वारा परम्पराएं विकसित करेंगी तथा इतने महत्व का पद प्राप्त कर लेंगी जिससे कि पंचायती राज्य के उच्च सूत्र शक्ति प्राप्त कर सकें। सादिक अली समिति का विचार था कि ग्राम्य जीवन को प्रभावित करने वाले सभी महत्वपूर्ण विषयों पर ग्राम सभा में विचार किया जाना चाहिए। ग्रामीण जनता को यह अनुभव होना चाहिए कि ग्राम सभा के माध्यम से वे स्थानीय विकास में अपनी आवाज रख सकते हैं और इसके द्वारा अपने दुखों को दूर कर सकते हैं। ग्राम सभा की बैठक के कार्यक्रम में जिन विषयों को विचार-विमर्श के लिए रखा जा सकता है, वे हैं : पंचायत का बजट, पंचायत की आडिट रिपोर्ट, पंचायत की योजना, विकास क्रियाओं एवं योजनाओं की प्रगति का प्रतिवेदन, पंचायत के कार्यों की पुनरीक्षा, ग्राम सभा के निर्णयों की क्रियान्विति की पुनरीक्षा, पंचायत द्वारा प्राप्त अनुदान के धन के प्रयोग पर विचार, सहकारी आँदोलन के कार्यों पर विचार, उन विषयों पर विचार जिनमें कि गांव वालों की सामान्य रूचि है जैसे कि सामान्य कुएं, तालाब, चारागाह आदि, गांवों के स्कूलों का कार्य तथा महत्वपूर्ण निर्णयों तथा सूचनाओं की संचार व्यवस्था आदि।

ग्राम सभा में विचार विमर्श केवल उन्हीं विषयों पर सीमित नहीं रहना चाहिए जो कि कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं किए गए हैं। जनता की शिकायतों के बारे में एक सामान्य शीर्षक अवश्य ही कार्यक्रम में रहना चाहिए। इन शीर्षकों के अन्तर्गत केवल विशेष शिकायतों एवं समस्याओं पर ही विचार किया जाना चाहिए, सामान्य कथनों को विचार का आधार नहीं बनाना चाहिए। यदि की गई शिकायतों पर कार्यवाही करना पंचायत की शक्ति के बाहर की बात है तो पंचायत द्वारा उसे उचित सत्ता के पास भेजा जा सकता है। ग्राम सभा की बैठकों के प्रारम्भ में एक घन्टे का समय ऐसा होना चाहिए जिसमें कि केवल प्रश्न ही पूछे जाएं।

ग्राम सभा की बैठकों के बारे में सादिक अली समिति ने अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। उसके मतानुसार ग्राम सभा की बैठकें प्रतिवर्ष मई-जून एवं सितम्बर-अक्टूबर के महीनों में दो बार बुलाई जानी चाहिए। ये बैठकें गण-तन्त्र दिवस, स्वतन्त्रता दिवस तथा स्थानीय महत्व के किसी त्योहार के दिन बुलाई जानी चाहिए। यदि गांवों के मतदाताओं में से दस प्रतिशत लोग ऐसा चाहें तो सरपंच को आवश्यक रूप से ग्राम सभा की बैठक बुलानी चाहिए।

सादिक अली समिति ने यह भी सुझाव दिया कि ग्राम सभा की बैठकों के अलावा वार्ड पंचों द्वारा कम से कम तीन महीने में एक बार वार्ड मीटिंग बुलाई जानी चाहिए। किसी एक गांव अथवा मोहल्ले को पूरा करने के लिए मिलीजुली वार्ड मीटिंग भी बुलाई जा सकती हैं। सरपंच को इस प्रकार की वार्ड मीटिंगों में से वर्ष में कम से कम एक में उपस्थित होने का प्रयास करना चाहिए। ग्राम सभा की गणपूर्ति के बारे में सादिक अली समिति ने बताया कि इसकी कोई आवश्यकता नहीं है और ग्राम सभा को अभी समयों के द्वारा कार्य करना चाहिए।

स्थानीय निकायों द्वारा न्याय व्यवस्था
(Justice by the Local Bodies)

ग्राम्य स्तर पर स्थानीय जनता को न्यायपूर्ण समाज में रहने की सुविधा देने के लिए न्याय पंचायतों का गठन किया गया है। न्याय पचायतों का भारतीय गांवों में एक पुराना इतिहास था तथा देहाती क्षेत्र में इनकी आवश्यकता एवं महत्व के बारे में विचारकों में एकमत पाया जाता है। न्याय पंचायतों को महत्वपूर्ण मानने के कई आधार हैं। प्रथम, विना यात्रा में तथा विचार विमर्श में अधिक धन खर्च किये ही जनता को न्याय प्राप्त हो जाता है। दूसरे, यह व्यवस्था न्याय प्रदान करने की कम खर्चीली एवं कम समय वाली विधि है। नियमित न्यायालयों में की जानेवाली मुकदमेंबाजी बहुत दिनों तक चलती रहती हैं तथा यह इतनी खर्चीली होती है कि इसके द्वारा दोनों ही पक्षों का आर्थिक दृष्टि से पतन हो जाता है। यह विशेष रूप से उस समय होता है जबकि दोनों ही पक्ष गरीब साधारण गांव वाले होते हैं तथा मुकदमें की हार और जीत दोनों ही खर्च किये हुये रुपयों को उन्हें वापिस नहीं दिला पाती। तीसरे, न्याय पंचायत के सदस्य उसी क्षेत्र एवं उसी सामाजिक स्तर से आते हैं। मुकदमा करने वाले पक्षों तथा झगड़े के अन्य विस्तारों के बारे में उनको पूरी जानकारी रहती है। इसलिए ऐसी स्थिति में न्याय भी आसानी से और तुरन्त हो सकता है। सादिक अली समिति के अनुसार इसमें कोई सन्देह नहीं कि न्याय पंचायतें कम खर्चीला तथा सुगम न्याय प्रदान करके गांवों वाली जनता द्वारा अनुभव आवश्यकता को पूरा करती है।[1]

राजस्थान में न्याय पंचायत—राजस्थान पंचायत अधिनियम १९५३ के अध्याय चार में न्याय पंचायतों के संगठन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। अधिनियम के अनुसार राज्य सरकार को यह शक्ति दी गई है कि वह मिले जुले पंचायत क्षेत्रों में राजस्थान राजपत्र की एक सूचना द्वारा न्याय पंचायत की रचना कर दे। प्राय: ऐसे क्षेत्रों की संख्या पांच से सात के बीच में होनी चाहिए। अधिनियम के अनुसार न्याय पंचायत का चुनाव अप्रत्यक्ष रूप से किया जायेगा। प्रत्येक पंचायत क्षेत्र एक सदस्य चुन कर भेजेगा।

---

1. 'There is, therefore, no doubt that Nyaya Panchayats are destined to serve the real felt need of the villages people by administrating expeditions and explusive pistic".
— *Sadiq Ali Report*, op. cit., P. 106

चुनाव का वास्तविक तरीका क्या होगा यह अधिनियम में नहीं बताया गया है। यह राज्य सरकार की इच्छा पर छोड़ दिया गया है। वह चुनाव के तरीके को किसी भी समय इच्छानुसार बदल सकती है। न्यायपंच बनने के लिए एक व्यक्ति को अपने पंचायत क्षेत्र का मतदाता होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी आयु कम से कम तीस वर्ष की हो, हिन्दी पढ़ और लिख सकता हो, सरपच, पंच, पंचायत समिति का सदस्य, प्रधान, जिला परिषद का प्रमुख या उसका सदस्य, पंचायत समिति की किसी स्थायी समिति का सदस्य, ससद या विधान सभा का सदस्य आदि लोग न्याय पंचायत के सदस्य नहीं बन सकते। यदि इनमें से कोई व्यक्ति न्यायपंच बनना चाहे तो उसे अपने पद से त्याग पत्र देना होगा। इस प्रावधान को इसलिए रखा गया है ताकि ग्राम पंचायतों के व्यवहार को स्वतन्त्रता प्रदान की जा सके।

न्याय पंचायत का चुनाव छः वर्ष के लिए होता है इसके लगभग एक तिहाई सदस्य हर दूसरे वर्ष बदलते रहते हैं। राज्य सरकार न्याय पंचायत की प्रक्रिया बैठकों की सख्या आदि के बाद में नियम बना सकती है। यदि किसी मामले में न्याय पंचायत के सदस्य को व्यक्तिगत रुचि है तो वह पंच के रूप में कार्य नहीं करेगा। झगड़े का कोई भी पक्ष किसी व्यक्ति विशेष को न्याय की कार्यवाही में भाग लेने का विरोध कर सकता है। इस विरोध के परिणामस्वरूप वह विशेष सदस्य उस मामले पर विचार करते समय अलग रखा जाएगा।

न्याय पंचायत को दीवानी एवं फौजदारी दोनों क्षेत्रों में अधिकार प्राप्त हैं। यह पच्चास रुपये तक जुर्माना कर सकती है। यदि किया गया जुर्माना १५ दिन के भीतर न चुकाया गया तो यह मामला क्षेत्र के एस० डी० एम० के सम्मुख रखा जा सकता है जो कि इसे इस रूप में उगायेगा मानों वह उसी ने किया हो। दीवानी क्षेत्र में न्याय पंचायतें दो सौ–पच्चास रुपये तक के मामलों को सुन सकती हैं।

न्याय पंचायतों के कार्य का तरीका बड़ा सरल है। यदि कोई व्यक्ति मुकदमा पेश करना चाहे तो वह या तो मौखिक रूप से कह सकता है अथवा सभापति को सम्बोधित करके आवश्यक फीस लगाकर लिखित रूप में दे सकता है। सभापति के अभाव में ये प्रार्थना पत्र किसी भी अन्य सदस्य को सम्बोधित किये जा सकते हैं। यदि प्रार्थना मौखिक रूप से ली गई है तो उसके तथ्यों का एक लिखित अभिलेख रखा जाएगा तथा उस पर प्रार्थी के हस्ताक्षर अथवा उसके अंगूठे का निशान करवाया जायेगा। इसको न्याय पंचायत के सभापति अथवा उसके अभाव में किसी अन्य सदस्य द्वारा प्रमाणित कराया जायेगा। दोनों ही पक्षों को वह तिथि एव समय बता दिया जाता है जब कि उनके मामले की सुनवाई की जाएगी। पर्याप्त पूछताछ के बाद न्याय पंचायत अपना निर्णय देती है जिसे कि लिखित अभिलेख के रूप में रखा जाता है। यह किसी भी प्रार्थना पत्र को रद्द कर सकती है तथा अधिक गवाहियां प्रस्तुत करने के लिए कह सकती है।

न्याय पंचायतों की दृष्टि से पंचायत समिति क्षेत्र को न्याय पंचायत क्षेत्र में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक न्याय पंचायत का अपना क्षेत्र होना

है। ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि पंचायत समिति का क्षेत्र वड़ा होता है और वहां यातायात एवं संचार के साधन विकसित नहीं होते। ऐसी स्थिति में जनता की पहुंच की दृष्टि से कई भागों में विभाजित कर देना अनिवार्य है। एक न्याय पंचायत द्वारा औसतन करीव चौदह-पन्द्रह हजार जनसंख्या की सेवा की जाती है। यह कहा जाता है कि जनसंख्या की यह मात्रा अधिक से अधिक है जिसे कि न्याय पंचायतें सम्भाल सकती है। कभी-कभी न्याय पंचायत के स्रोत इतने हो जाते हैं कि उनका उपयोग करने के लिए वड़े क्षेत्र की सिफारिश की जाती है। किन्तु यह तरीका कई तक विचारकों द्वारा उचित नहीं माना गया है। राजस्थान में पंचायती राज पर प्रोजेक्ट टीम का विचार था कि न्याय पंचायत का क्षेत्र इतना छोटा होना चाहिए कि वह अपने अधिकार क्षेत्र की ठोस प्रकृति को बनाये रख सके और एक ग्रामवासी उन लोगों की उपस्थिति में झूठ बोलने से डर खाए जो कि उससे परिचित हैं।[1] यदि न्याय पंचायतों के क्षेत्र को वहुत वढ़ाया जाए तो उससे वही दोष पैदा हो जाते हैं जो कि नियमित अदालतों की कार्यवाही में होते हैं अर्थात् ग्रामवासी के लिए वहां एक ऐसा अजनबी वातावरण मिलेगा कि वह न्याय प्राप्त करने में अत्यन्त कठिनाई महसूस करेगा।

जब एक न्याय पंचायत के मुख्य कार्यालय का स्थान निश्चित किया जाये तो उस समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह स्थान बसावट की दृष्टि से केन्द्रीय हो तथा वहां तक लोगों की आसानी से पहुंचे हो सके। कभी-कभी मुख्य कार्यालय एवं पंचायत क्षेत्र के अन्य भागों में दूरी रखना अनिवार्य हो जाता है और बारह मील तक की दूरी को पार करने के लिए भी ऊंटों के अलावा और कोई साधन नहीं मिलता।

न्याय पंचायतों के व्यवहार का निरीक्षण करने के बाद यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इनकी प्राप्तियां सन्तोषजनक नहीं रहीं किन्तु फिर भी इनसे गांव की जनता को न्याय के क्षेत्र में पर्याप्त सुविधाएं प्राप्त हुई और मुकदमे बाजी की अनेक परेशानियों से उनको राहत मिली। न्याय पंचायतों की स्थापना के बाद न्यायदाता और जनता के बीच की दूरी कम हो गई है। अब गांव के लोगों को उन न्यायधीशों द्वारा एक अजनबी से वातावरण में न्याय प्रदान नहीं किया जाता जो कि अभियुक्तों की समस्याओं को, विचारने के तरीकों को तथा उनके मूल्यों को नहीं समझते। असल में अब न्याय का प्रशासन ऐसे लोगों द्वारा किया जाता है जो कि उन्हीं के भाईबन्द तथा उन्हीं के समाज के लोग हैं। यद्यपि इस व्यवस्था में पक्षपात की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं किन्तु ये सम्भावनाएं तो किसी भी स्तर पर, किसी भी प्रणाली में रह सकती हैं। न्याय पंचायतों की कार्यवाहियों में पक्षपात का भय अपेक्षाकृत कम इसलिए होता है क्योंकि दोनों ही पक्ष समान रूप से निर्णय को अपने

---

1. "The area of the Nyaya Panchayat should be small enough to maintain the compact character of its jurisdiction so that the villager may be afraid to tell a lie in the presence of those with whom he happens to be acquainted." —Panchayati Raj in Rajasthan, Project Team Report, op. cit., P. 180.

हित में कराने का दावा करते हैं। दूसरे, अपने भाईबन्दों एवं परिचित न्याय-पचों के सामने ग्रामवासी गलत तथ्य प्रस्तुत करने में सकुचाएगा और यदि वह ऐसा न भी करे तो उसकी भूठ आसानी से पकड़ी जा सकेगी। तीसरे, न्याय पंचायतों ने न्याय को कम खर्चीला बना दिया है। इनमें वकीलों को बहस करने की अनुमति नहीं दी जाती इसलिए मुकदमेबाजी पर होने वाला व्यय बच जाता है। अब अभियुक्तों को यात्रा करने तथा घर से बाहर रहने में खर्चे नहीं करने पड़ते। चौथे, ग्रामीण जनता द्वारा न्याय पंचायतों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। तथ्यपूर्ण अध्ययन के आधार पर यह कहा जाता है कि न्याय पंचायत के बहुत कम निर्णयों के विरुद्ध ही कोई अपील की जाती है। पांचवें, नियमित न्यायालयों में उठाए जाने वाले ग्रामवासियों के मुकदमों की संख्या अब कम हो गई है। यह भी इस बात को प्रमाणित करता है कि न्याय पंचायतें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

सादिकअली समिति के मतानुसार यद्यपि न्याय पंचायतों ने तुरन्त न्याय प्रदान करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है किन्तु फिर भी यह इतने कम समय में प्रदान नहीं किया जाता जितनी कि आशा की गई थी। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। इसके पंच बैठकों में नियमित रूप से भाग नहीं लेते और इसलिए बैंच नहीं बनाई जा सकती। न्याय के क्षेत्र में देरी के कुछ अन्य कारण और भी हैं जसे—पंचों द्वारा प्रक्रिया की अपर्याप्त जानकारी, अपर्याप्त सचिवालयी सहायता, सम्मन् तथा नोटिस आदि भेजने में देरी, पंचों पर डाले गये स्थानयी प्रभाव, आदि आदि। न्याय पंचायतें एक अन्य कमी से भी प्रभावित रहती हैं और वह है वित्तीय साधनों की कमी। वर्तमान व्यवहार के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि ग्राम पंचायतें, न्याय पंचायतों को अनुदान दें तथा उनके खर्चे की व्यवस्था करें। किन्तु व्यवहार में अधिकांश ग्राम पंचायतें, न्याय पंचायतों को वांछित योगदान नहीं दे पाती इसलिए वे अपने कार्यालय को कुशलतापूर्वक नहीं चला पातीं।

सादिकअली समिति ने न्याय पंचायतों के कार्य संचालन में सुधार करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं। अपने अध्ययन-काल में समिति ने यह पाया कि न्याय पंचायतें नियमित रूप से बैठक नहीं करती और करती भी हैं तो न्यायपंचों की अनुपस्थिति के कारण बैंच नहीं बन पाती। समिति के मतानुसार उपस्थिति में इस अनियमितता का एक कारण यह है कि पंचों को यात्रा व्यय एवं दैनिक भत्ता नहीं दिया जाता। यद्यपि कोई सभापति अथवा न्याय पंच यह मांग नहीं करता कि उनको वेतन दिया जाए क्योंकि उनका पद ही अपने आपमें एक इनाम है। किन्तु फिर भी यह इनाम इतना बड़ा नहीं होता कि मुख्य कार्यालय तक आने और वहां रहने के खर्चे को वे ही सहन करें इसीलिए समिति ने यह सिफारिश की कि न्याय पंचायत के सदस्यों एवं सभापति को यात्रा व्यय दिया जाना चाहिए। यदि उनका निवास स्थान मुख्य कार्यालय से पांच मील से अधिक दूर है तो उनको बैठक के लिए दैनिक भत्ता भी दिया जाना चाहिए। यात्रा व्यय एवं दैनिक भत्ते की दर उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि पंचायत समिति के सदस्यों की होनी है। दूसरे, न्याय पंचायत की बैठकें प्रत्येक महीने की १ तारीख को निश्चित होनी चाहिए

यदि कार्य अधिक हो तो यह बैठक २ या ३ दिन तक लगातार चल सकती है। तीसरे, प्रत्येक न्याय पंचायत के पास अपनी बैठकें करने तथा अभिलेख रखने के लिए उचित स्थान होना चाहिए। साधारणतः न्याय पंचायतों की बैठकों के लिए पंचायत घरों में प्रबन्ध किया जाता है। पंचायत घर में न्याय पंचायत के उपयोग के लिए एक छोटा सा कमरा या अलग से अलमारी का प्रबन्ध होना चाहिए। जब कभी नया पंचायत घर बनवाया जाए तो न्याय पंचायत की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि पुराने पंचायत घरों में न्याय पंचायतों के लिए अलग से कोई कमरा नहीं है तो एक छोटा सा अतिरिक्त कमरा और बनवाया जा सकता है। चौथे, राजस्व अभिकरण, ग्राम पंचायतों एवं पुलिस द्वारा न्याय पंचायतों को पूरा-पूरा सहयोग दिया जाना चाहिए। न्याय पंचायत के सभापति और पंचों को एक न्यायिक निकाय के सदस्य के रूप में सम्मान दिया जाना चाहिए। कई बार ऐसा होता है कि न्याय पंचायत के निर्णय के विरुद्ध अपील के समय न्याय पंचायत के सभापति को मुन्सिफ मैजिस्ट्रेट के सामने बुलवाया जाता है किन्तु यह एक गलत तरीका है। अपने अध्ययन काल में समिति को यह भी बताया गया कि जब न्याय पंचायत के पंच तथा सभापति किसी मामले की सुनवाई कर रहे होते हैं तो भी उनको पर्याप्त आदर से नहीं देखा जाता। उनको न्यायालयों में तथा कार्यालयों में भी कई बार दिन भर प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है। समिति का यह निश्चित विचार है कि ग्रामीण न्यायालयों और उनके सदस्यों को स्तर एवं स्थिति का अच्छा सम्मान मिलना चाहिए। समिति के विचारानुसार यद्यपि अच्छे व्यवहार एवं आचरण के लिए कोई निश्चित सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए जा सकते किन्तु फिर भी यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता कि न्याय पंचायत के सभापति एवं सदस्यों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि इन निकायों के सदस्यों को उचित सम्मान दिया जाए। पांचवें, न्याय पंचायतें प्रायः उन कठिनाइयों के बारे में शिकायतें किया करती हैं जो कि उन्हें सम्मन तथा नोटिस भेजने की सेवा में होती हैं। समिति को यह बताया गया कि मैजिस्ट्रेट हमेशा वारन्ट प्रसारित करने की उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं देता और यदि वारन्ट प्रसारित भी कर दिया जाए तो सामान्यतः पुलिस उसे क्रियान्वित नहीं करती। इस स्थिति में सुधार की जरूरत है। ऐसे मामलों में न्याय पंचायतों को पर्याप्त लम्बी तारीख दी जानी चाहिए और मैजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह दी गई तारीख से पूर्व ही आवश्यक प्रक्रिया द्वारा कार्य को सम्पन्न करे। न भेजे गए वारन्टों के बारे में एक त्रैमासिक सूचना न्याय पंचायतों द्वारा जिलाधीश को भेजी जानी चाहिए। छठे, न्याय पचायतों को लगाए गए जुर्माने वसूल करने में कठिनाई होती है। एस० डी० एम० द्वारा जुर्माना वसूल करने की न्याय पंचायतों की प्रार्थना पर तुरन्त कार्यवाही नहीं की गई। इस सबसे न्याय पचायतों के सम्मान पर भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि सामान्य जनता में यह मत बन जाता हैं कि न्याय पंचायत द्वारा किए गए जुर्माने को आसानी से पचाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में न्याय पंचायत एव एस० डी० एम० दोनों को ही तुरन्त कार्यवाही करने की आवश्यकता है। ज्योंही जुर्माने के भुगतान का समय समाप्त हो,

हित में करने का दावा करते हैं। दूसरे, अपने भाईबन्दों एवं परिचित न्याय-पचों के सामने ग्रामवासी गलत तथ्य प्रस्तुत करने में सकुचाएगा और यदि वह ऐसा न भी करे तो उसकी भूठ आसानी से पकड़ी जा सकेगी। तीसरे, न्याय पंचायतों ने न्याय को कम खर्चीला बना दिया है। इनमें वकीलों को बहस करने की अनुमति नहीं दी जाती इसलिए मुकदमेबाजी पर होने वाला व्यय बच जाता है। अब अभियुक्तों को यात्रा करने तथा घर से बाहर रहने में खर्चे नहीं करने पड़ते। चौथे, ग्रामीण जनता द्वारा न्याय पंचायतों का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। तथ्यपूर्ण अध्ययन के आधार पर यह कहा जाता है कि न्याय पंचायत के बहुत कम निर्णयों के विरुद्ध ही कोई अपील की जाती है। पांचवें, नियमित न्यायालयों में उठाए जाने वाले ग्रामवासियों के मुकदमों की संख्या अब कम हो गई है। यह भी इस बात को प्रमाणित करता है कि न्याय पंचायतें सफलतापूर्वक कार्य कर रही हैं।

सादिकअली समिति के मतानुसार यद्यपि न्याय पंचायतों ने तुरन्त न्याय प्रदान करने के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है किन्तु फिर भी यह इतने कम समय में प्रदान नहीं किया जाता जितनी कि आशा की गई थी। इसके लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। इसके पंच बैठकों में नियमित रूप से भाग नहीं लेते और इसलिए बैंच नहीं बनाई जा सकती। न्याय के क्षेत्र में देरी के कुछ अन्य कारण और भी हैं जसे-पंचों द्वारा प्रक्रिया की अपर्याप्त जानकारी, अपर्याप्त सचिवालयी सहायता, सम्मन् तथा नोटिस आदि भेजने में देरी, पंचों पर डाले गये स्थानथी प्रभाव, आदि आदि। न्याय पंचायतें एक अन्य कमी से भी प्रभावित रहतीं हैं और वह है वित्तीय साधनों की कमी। वर्तमान व्यवहार के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि ग्राम पंचायतें, न्याय पंचायतों को अनुदान दें तथा उनके खर्चे की व्यवस्था करें। किन्तु व्यवहार में अधिकांश ग्राम पंचायतें, न्याय पंचायतों को वांछित योगदान नहीं दे पाती इसलिए वे अपने कार्यालय को कुशलतापूर्वक नहीं चला पातीं।

सादिकअली समिति ने न्याय पंचायतों के कार्य संचालन में सुधार करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं। अपने अध्ययन-काल में समिति ने यह पाया कि न्याय पंचायतें नियमित रूप से बैठक नहीं करती और करती भी हैं तो न्यायपंचों की अनुपस्थिति के कारण बैंच नहीं बन पाती। समिति के मतानुसार उपस्थिति में इस अनियमितता का एक कारण यह है कि पंचों को यात्रा व्यय एवं दैनिक भत्ता नहीं दिया जाता। यद्यपि कोई सभापति अथवा न्याय पंच यह मांग नहीं करता कि उनको वेतन दिया जाए क्योंकि उनका पद ही अपने आपमें एक इनाम है। किन्तु फिर भी यह इनाम इतना बड़ा नहीं होता कि मुख्य कार्यालय तक आने और वहां रहने के खर्चे को वे ही सहन करें इसीलिए समिति ने यह सिफरिश की कि न्याय पंचायत के सदस्यों एवं सभापति को यात्रा व्यय दिया जाना चाहिए। यदि उनका निवास स्थान मुख्य कार्यालय से पांच मील से अधिक दूर है तो उनको बैठक के लिए दैनिक भत्ता भी दिया जाना चाहिए। यात्रा व्यय एवं दैनिक भत्ते की दर उतनी ही होनी चाहिए जितनी कि पंचायत समिति के सदस्यों की होती है। दूसरे, न्याय पंचायत की बैठकें प्रत्येक महीने की १ तारीख को निश्चित होनी चाहिए

यदि कार्य अधिक हो तो यह बैठक २ या ३ दिन तक लगातार चल सकती है। तीसरे, प्रत्येक न्याय पंचायत के पास अपनी बैठकें करने तथा अभिलेख रखने के लिए उचित स्थान होना चाहिए। साधारणत: न्याय पंचायतों की बैठकों के लिए पंचायत घरों में प्रबन्ध किया जाता है। पंचायत घर में न्याय पंचायत के उपयोग के लिए एक छोटा सा कमरा या अलग से अलमारी का प्रबन्ध होना चाहिए। जब कभी नया पंचायत घर बनवाया जाए तो न्याय पंचायत की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाना चाहिए। यदि पुराने पंचायत घरों में न्याय पंचायतों के लिए अलग से कोई कमरा नहीं है तो एक छोटा सा अतिरिक्त कमरा और बनवाया जा सकता है। चौथे, राजस्व अभिकरण, ग्राम पंचायतों एवं पुलिस द्वारा न्याय पंचायतों को पूरा-पूरा सहयोग दिया जाना चाहिए। न्याय पंचायत के सभापति और पंचों को एक न्यायिक निकाय के सदस्य के रूप में सम्मान दिया जाना चाहिए। कई बार ऐसा होता है कि न्याय पंचायत के निर्णय के विरुद्ध अपील के समय न्याय पंचायत के सभापति को मुन्सिफ मैजिस्ट्रेट के सामने बुलवाया जाता है किन्तु यह एक गलत तरीका है। अपने अध्ययन काल में समिति को यह भी बताया गया कि जब न्याय पंचायत के पंच तथा सभापति किसी मामले की सुनवाई कर रहे होते हैं तो भी उनको पर्याप्त आदर से नहीं देखा जाता। उनको न्यायालयों में तथा कार्यालयों में भी कई बार दिन भर प्रतीक्षा करनी पड़ जाती है। समिति का यह निश्चित विचार है कि ग्रामीण न्यायालयों और उनके सदस्यों को स्तर एवं स्थिति का अच्छा सम्मान मिलना चाहिए। समिति के विचारानुसार यद्यपि अच्छे व्यवहार एवं आचरण के लिए कोई निश्चित सिद्धान्त निर्धारित नहीं किए जा सकते किन्तु फिर भी यह स्पष्ट रूप से नहीं बताया जा सकता कि न्याय पंचायत के सभापति एवं सदस्यों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाना चाहिए। किन्तु फिर भी सामान्य रूप से यह कह सकते हैं कि इन निकायों के सदस्यों को उचित सम्मान दिया जाए। पांचवें, न्याय पंचायतें प्राय: उन कठिनाइयों के बारे में शिकायतें किया करती हैं जो कि उन्हें सम्मन तथा नोटिस भेजने की सेवा में होती हैं। समिति को यह बताया गया कि मैजिस्ट्रेट हमेशा वारन्ट प्रसारित करने की उनकी प्रार्थना पर ध्यान नहीं देता और यदि वारन्ट प्रसारित भी कर दिया जाए तो सामान्यत: पुलिस उसे क्रियान्वित नहीं करती। इस स्थिति में सुधार की जरूरत है। ऐसे मामलों में न्याय पंचायतों को पर्याप्त लम्बी तारीख दी जानी चाहिए और मैजिस्ट्रेट को चाहिए कि वह दी गई तारीख से पूर्व ही आवश्यक प्रक्रिया द्वारा कार्य को सम्पन्न करे। न भेजे गए वारन्टों के बारे में एक त्रैमासिक सूचना न्याय पंचायतों द्वारा जिलाधीश को भेजी जानी चाहिए। छठे, न्याय पचायतों को लगाए गए जुर्माने वसूल करने में कठिनाई होती है। एस० डी० एम० द्वारा जुर्माना वसूल करने की न्याय पंचायतों की प्रार्थना पर तुरन्त कार्यवाही नहीं की गई। इस सबसे न्याय पचायतों के सम्मान पर भी प्रभाव पड़ता है क्योंकि सामान्य जनता में यह मत बन जाता है कि न्याय पंचायत द्वारा किए गए जुर्माने को आसानी से पचाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में न्याय पंचायत एव एस० डी० एम० दोनों को ही तुरन्त कार्यवाही करने की आवश्यकता है। ज्योंही जुर्माने के भुगतान का समय समाप्त हो.

न्याय पंचायत को उसकी सूचना एस० डी० एम० को देनी चाहिए और सूचना प्राप्त होते ही एस० डी० एम० को भी जुर्माना वसूल करने के लिए तुरन्त कार्यवाही करनी चाहिए। समिति के विचारों के अनुसार यदि एक बार लोगों को यह मालूम हो जाए कि कानूनी प्रावधान प्रभावशील हैं तो अधिक ज्यादतीपूर्ण कार्यवाही करने की आवश्यकता बहुत कम रह जाएगी।

७

स्थानीय सरकार के अधिकारी

(THE AUTHORITIES OF LOCAL GOVERNMENT)

स्थानीय सरकार का कार्य संचालन करने की शक्तियां विभिन्न स्तरों पर विभिन्न अधिकारियों के हाथ में रहती है। इन अधिकारियों द्वारा उनकी सत्ता का रुचिपूर्वक प्रयोग किया जा सकता है और नहीं भी। यह बात उस विशेष उच्च अधिकारी की योग्यता, सामर्थ्य एवं आन्तरिक इच्छा पर निर्भर करती है। स्थानीय सरकार की सफलता एवं असफलता का निश्चय बहुत कुछ इस बात के आधार पर किया जायेगा कि उसकी सत्ताओं ने अपने अधिकारों का उपयोग कितना और किस रूप में किया था।

भारत में स्थानीय सरकार के शीर्ष पर जो सत्ता रहती है उसे सभापति अथवा अध्यक्ष के नाम से पुकारा जाता है। असल में यह सत्ता वास्तविक शक्तियों का प्रयोग नहीं करती। इसका कारण सम्भवत: यह है कि यहां एकीकृत सत्ता का अभाव है। समस्त शक्तियों को परिषद्, विभिन्न समितियों, सभापति, कार्यपालिका अधिकारी एवं सचिव आदि के बीच बांट दिया जाता है। उच्च सत्ता के अधिकारों में हल्केपन का एक अन्य कारण यह है कि उसका पद अस्थिर रहता है। परिषद् या बोर्ड के सदस्य यदि बहुमत से अविश्वास का प्रस्ताव पास करदें तो उच्च सत्ता को हटना पड़ेगा। अविश्वास प्रस्ताव की इस शक्ति का चाहे जब प्रयोग होने के कारण उच्च सत्ता का पद इतना अस्थिर बन गया है कि उसे प्राप्त शक्तियों का प्रयोग करने में भी कोई रुचि नहीं रहती। परिषदों एवं बोर्डों में कोई सशक्त राजनैतिक दल नहीं होता। स्थानीय स्तर पर राजनैतिक दलों को अलग रखने की व्यवस्था की गई है। इस व्यवस्था का चाहे कुछ भी उपयोग एवं लाभ क्यों न हो एक सबसे बड़ी हानि तो यह है कि उच्च सत्ता को अपने पद का भरोसा नहीं रहता क्योंकि उसका समर्थन करने के लिए कोई संगठित राजनैतिक समूह नहीं होता। अन्य आधारों पर बनाये गये समर्थक कभी भी अपना मत बदल सकते हैं। उच्च सत्ता जब अपने अधिकारों का प्रयोग करती है या नियुक्तियां करती है तो कुछ लोग तो खुश होते हैं किन्तु दूसरे कई लोग नाराज भी हो जाते हैं। स्थानीय स्तर पर उच्च सत्ता की तुलना प्राय: तृतीय गणतन्त्र के आधीन फ्रांसीसी मन्त्रिमण्डल से की जाती है।

भारत में उच्च सत्ता के पद की एक अन्य विशेषता और भी है। वह यह है कि उस पद पर आसीन व्यक्ति प्रशासन में विशेषज्ञ नहीं होता।

सौभाग्य से यदि कोई योग्य एवं कुशल व्यक्ति इस पद पर चुन लिया जाये तब तो वह प्रशासन को संतोषजनक रूप में संचालित कर लेता है किन्तु कभी-कभी अशिक्षित एवं अयोग्य व्यक्ति भी इस पद पर आ जाते हैं जो कि अपने दायित्वों एवं कर्त्तव्यों को नहीं समझ पाते। ये अयोग्य व्यक्ति प्रशासन के संचालन में स्वेच्छा से संचालित न होकर वही कुछ करते हैं जो कि इनका सचिव अथवा कार्यपालिका अधिकारी इनको कहे। स्थिति वहां और भी बदतर हो जाती है जहां पर कि उच्च सत्ता अज्ञानी होने के साथ-साथ स्वेच्छाचारी भी हो। ऐसी स्थिति में स्थानीय निकाय का प्रशासन ठीक प्रकार से नहीं चल सकता तथा भ्रष्टाचार, अनियमिततायें, अकुशलता आदि दोष उसमें आजायेंगे। स्थानीय परिषदों अथवा बोर्डों की स्वायत्त समितियों एवं अन्य निकायों द्वारा स्थापित दोहरी व्यवस्था के अन्तर्गत भेदभाव, समन्वय का अभाव, पितृ निकाय की रुचि का अभाव आदि अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं।

स्थानीय सरकार की उच्च सत्ता में सुधार करने के लिए अनेक उपाय समय-समय पर सुझाये जाते रहे हैं। ये सुझाव मुख्य रूप से तीन प्रश्नों से सम्बन्धित हैं। प्रथम, सत्ता का वर्तमान बटवारा समाप्त करके क्या सारी शक्तियां उच्च सत्ता के हाथों में केन्द्रित कर दी जाएं ? दूसरे, उच्च सत्ता को कार्यपालिका के क्षेत्र में बोर्ड या परिषद् के प्रति उत्तरदायी रखा जाए अथवा स्वतन्त्र रखा जाये ? तीसरे, उच्च सत्ता को वर्तमान की भांति राजनैतिक एवं गैर व्यावसायिक रखा जाये अथवा गैर-राजनैतिक एवं व्यावसायिक बनाया जाये ? अमरीकी नगरपालिकाओं के नगर प्रबन्धक तथा जर्मन नगरों के बर्गो मास्टर गैर-राजनैतिक एवं व्यावसायिक पदाधिकारी होते हैं। बंबई नगर निगम का आयुक्त भी कुछ ऐसा ही होता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रशासकीय एवं मितव्ययता आती है किन्तु प्राय: वह लोकप्रिय नेतृत्व नहीं मिल पाता जो कि नई सेवाओं को आरम्भ करने में पहले रुचि एवं उत्साह प्रदर्शित कर सके।

इन प्रश्नों पर विचार करने के बाद विचारकों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उच्च सत्ता के स्वरूप का एक आदर्श तरीका नहीं सुझाया जा सकता। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वायत्त-सरकार पर समिति ने, मध्यप्रदेश की जनपद व्यवस्था ने तथा बलवन्तराय मेहता समिति ने अपनी-अपनी दृष्टि से सुझाव प्रस्तुत किये किन्तु इनमें से कोई भी दोष मुक्त नहीं था तथा प्रत्येक का भविष्य अनिश्चित था। इन सुझावों में से ही एक का उदाहरण बम्बई नगर निगम में प्राप्त होता है जहां पर कि समस्त कार्यपालिका शक्तियां एक अधिकारी अर्थात् आयुक्त को सौंप दी जाती हैं। पहले आयुक्त को हटाया नहीं जा सकता था किन्तु अब यह परिषद के प्रति उत्तरदायी है। यह व्यवस्था अमरीका की नगर प्रबन्धक योजना के सदृश्य है। इसका सफल संचालन इस बात की मांग करता है कि स्थानीय निकायों के सदस्य उनके लिए सौंपी शक्तियों का संतोषजनक रूप से पालन करें ताकि आयुक्त के कार्य-संचालन का मार्ग भी सरल हो जाये। ऐसा न होने पर आयुक्त का पद अल्पकालीन, अस्थिर एवं अनिश्चिततापूर्ण बन जायेगा। इस दोष को दूर करने के लिए यदि बाहरी सुरक्षायें प्रदान की गईं तो उसकी उत्तरदायी प्रवृति समाप्त हो

जायेगी। साथ ही प्रभावशाली राजनैतिक नेतृत्व स्थानीय प्रशासन में नहीं आयेगा।

एक अन्य व्यवस्था ग्रेट ब्रिटेन में प्राप्त समिति व्यवस्था है। इस व्यवस्था में कार्यपालिका शक्ति स्थानीय निकायों की स्वायत्त समितियों में बंट जाती है जो कि स्थानीय अधिकारियों के साथ पूर्णतः सहयोगपूर्वक कार्य करती हैं। इस व्यवस्था में जनता के प्रतिनिधि स्थानीय प्रबन्ध में अधिक से भाग लेने का अवसर पाते हैं। इसे राजनैतिक प्रशिक्षण की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ तरीका कहा जा सकता है। यह व्यवस्था तभी सफल हो सकती है जबकि पर्याप्त आत्मसंयम से काम लिया जाये एवं विशेषज्ञ अधिकारियों की राय को स्वीकार करने की इच्छा हो। भारत में स्थानीय स्तर पर उच्च सत्ताओं को राजनैतिक दृष्टि से उत्तरदायी बनाया गया है। इसे स्थिरता केवल तभी प्रदान की जा सकती है जबकि अविश्वास प्रस्ताव लाने पर कुछ रोक लगाई जाये तथा गतिरोध की दशा में बजट को राज्य सरकार द्वारा पास करने की व्यवस्था की जाये।

स्थानीय स्वायत्त सरकार पर उत्तर प्रदेश की समिति ने एक अन्य सुझाव दिया था जिसके अनुसार उच्च सत्ता का प्रत्यक्ष चुनाव करने की बात कही गई थी। इस व्यवस्था में कुछ ऐसे कदम भी उठाये जाने चाहिए ताकि उच्च सत्ता पर राज्य का हस्तक्षेप कम से कम रहे तथा पद पर केवल उपयुक्त व्यक्ति ही आ सकें।

भारतीय में स्थानीय सरकार की सत्ताएं शहरी एवं देहाती क्षेत्रों में अलग-अलग प्रकृति की हैं। क्षेत्रों में भी नगर–निगमों एवं नगरपालिकाओं में उनकी स्थिति भिन्न होती है।

नगर निगम में उच्च सत्ता–मेयर

[Mayor : The Higher Authority in Municipal Corporation]

बड़े–बड़े नगरों एवं राजधानी प्रदेशों के प्रशासन के लिए नगर निगम व्यवस्था को अपनाया गया है। भारत के अनेक राज्यों में यह व्यवस्था सफलता पूर्वक कार्य कर रही है। नगर निगम में कार्यपालिका शक्तियां जिस सत्ता को सौंपी जाती हैं वह मेयर होता है। मेयर के पद एवं शक्तियों के बारे में हम यथा स्थान पहले भी अध्ययन कर चुके हैं। बम्बई, दिल्ली, अहमदाबाद, मद्रास, कलकत्ता, पटना आदि नगर निगमों में मेयर की स्थिति पूर्णतः एक जैसी नहीं है किन्तु तो भी उनकी प्रकृति में आधारभूत एकरूपता पाई जाती है।

पटना में नगर निगम के मेयर का चुनाव परिषद् द्वारा प्रतिवर्ष उसकी प्रथम बैठक में किया जाता है। परिषद अपने में से ही एक सदस्य को मेयर चुनती है। उनको पुनर्निर्वाचित भी किया जा सकता है। पटना नगर निगम में मेयर का कार्यालय बम्बई की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। मेयर स्थायी समिति का पदेन सभापति होता है। जब सरकार मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति करती है तो वह मेयर से विचार-विमर्श कर लेती है। इससे मेयर का पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बन जाता है। स्थायी समिति का सभापति होने

के कारण वह राजनैतिक कार्यपालिका का अध्यक्ष होता है। इस रूप में वह वित्तीय मामलों में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के कार्यों का निरीक्षण करता है। बम्बई तथा कलकत्ता के मेयरों को नगरपालिका प्रशासन में इतनी शक्ति प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त वह कुछ अन्य कार्य भी करता है जैसे नगर निगम की बैठकों की अध्यक्षता करना, उसकी बैठकें बुलाना तथा बैठकों के लिए कार्यक्रम निश्चित करना आदि। मेयर के अतिरिक्त एक उपमेयर भी होता है जो कि मेयर की अनुपस्थिति में उसके कार्यों को सम्पन्न करता है।

नगरपालिकाओं की उच्च सत्ता-कार्यपालिका अधिकारी और अध्यक्ष

[The Executive Officer and President: The Higher Authority in Municipalities]

जिन शहरों में नगर परिषद या नगरपालिका समिति होती है, वह उच्च सत्ता कार्यपालिका अधिकारी अथवा अध्यक्ष के हाथों में रहती है। ये दोनों ही मुख्य कार्यपालिका के रूप हैं। इन दोनों का अलग-अलग अध्ययन करना उपयोगी रहेगा।

१. **कार्यपालिका अधिकारी [The Executive Officer]**—नगरपालिकाओं में एक अलग से कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति की आवश्यकता का ब्रिटिश शासन काल में ही अनुभव कर लिया गया था। सर फीरोजशाह मेहता ने जो कार्यक्रम प्रस्तुत किया उसके अनुसार कार्यपालिका अधिकारी को बम्बई नगर निगम की मुख्य कार्यपालिका बनाना था। इस कार्यक्रम का आधार यह था कि नगर परिषद को अनेक काम करने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में एक पृथक कार्यपालिका का होना परम आवश्यक था। मि० मेहता का कहना था कि नगर परिषद को प्रशासन नहीं करना चाहिए। इसके लिए यह पूरी तरह से अनुपयुक्त है। इसे तो कार्यपालिका सरकार पर पूरी देख-रेख रखनी चाहिए, इसके कार्यों का पूरा प्रचार करना चाहिए। यदि इसके कार्यों के बारे में किसी को संदेह हो तो यह उसे दूर करके कार्य को उचित व न्यायपूर्ण सिद्ध करे, यदि कार्य वास्तव में निन्दनीय है तो उसे रोक दे, यदि कार्यपालिका के पदाधिकारी अपने पद का दुरुपयोग करे अथवा जनहित विरोधी कार्य करे तो यह उनको कार्यालय से बाहर कर दे।[1] कहने का अर्थ यह है कि परिषद को स्वयं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य नहीं करने चाहिए। उसे तो इन कार्यों को करने वाले निकाय पर पर्यवेक्षण, नियंत्रण एवं निदेशन रखना चाहिए।

---

1. "The municipal council is not to administer and govern for which it is radically unfit, but has to fulfill its proper function to watch and control the executive Government to throw the light of publicity on all its acts, to compel a full exposition and justification of all of them which anyone considers questionable, to censure them if found condemnable, and if the men, who compose the executive, abuse

बम्बई नगरपालिका अधिनियम, १९०१ में प्रथम बार यह प्रावधान रखा गया कि बड़ी नगरपालिकाओं में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी का कार्यालय होना चाहिए क्योंकि इन नगरपालिकाओं का कार्य अत्यन्त जटिल एवं व्यापक होता जा रहा था। निर्वाचित अध्यक्ष इस कार्य को सम्पन्न करने में असमर्थ था। उसके कार्य को हल्का करने के लिए तथा कार्य-संचालन में कुशलता लाने के लिए यह उपयोगी समझा गया कि मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को ये कार्य सौंप दिये जायें। उत्तर प्रदेश में कार्यपालिका अधिकारी का पद १९१६ के अधिनियम के अनुसार स्थापित कर दिया गया। पंजाब में सन् १९२२ में यह व्यवस्था प्रारम्भ करने का प्रयास किया गया किन्तु विषय को सन् १९३१ तक दबाये रखा गया। इस बीच वहां के नगरपालिका प्रशासन में भारी भ्रष्टाचार फैल गया। सन् १९३१ में वहाँ कार्यपालिका अधिनियम पेश किया गया। मद्रास में वहां के जिला नगरपालिका अधिनियम, १९३० ने अध्यक्ष को ही मुख्य कार्यपालिका बना दिया। किन्तु इस पद पर जो व्यक्ति निर्वाचित हुए वे अत्यन्त अयोग्य एवं भ्रष्ट साबित हुए तथा उन्होंने अपने स्वार्थ के लिए पद का प्रयोग किया। अनेक विकासों के बाद वहां १९३३ में जिला नगरपालिका अधिनियम में संशोधन करके मुख्य अधिकारी की नियुक्ति का प्रावधान रखा गया। इस कार्यपालिका सत्ता को परिषद एवं सभापति की समस्त कार्यपालिका शक्तियां सौंप दी गईं। कार्यपालिका अधिकारी को बम्बई में मुख्य अधिकारी तथा मद्रास में नगरपालिका आयुक्त कहा जाता है। शनैः-शनैः भारत के अधिकांश राज्यों ने परिषद के कार्यपालिका सम्बन्धी कृत्य एक कार्यपालिका अधिकारी के हाथों में सौंप दिये।

कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति—मद्रास तथा आन्ध्र में सभी महत्त्वपूर्ण नगरपालिकाओं के आयुक्त राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। राज्य सरकार चाहे तो किसी अन्य नगरपालिका में आयुक्त नियुक्त कर सकती है। आयुक्त का कार्यकाल तीन वर्ष है किन्तु वह अपने पद पर पुनः नियुक्त किया जा सकता है। आयुक्तों को प्रायः उन लोगों में से नियुक्त किया जाता है जो कि नगरपालिका या स्थानीय सरकार फन्ड में सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। इस पद पर नियुक्त व्यक्ति के पास विश्वविद्यालय की डिग्री होनी चाहिए तथा कुछ अतिरिक्त योग्यतायें भी होनी चाहिए, जैसे राजनीति एवं लोक प्रशासन में डिप्लोमा आदि। प्रारम्भ में मद्रास में यह परम्परा थी कि प्रशासनिक अनुभव वाले व्यक्तियों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता था। उपजिलाधीशों को बड़ी नगरपालिकाओं में तथा तहसीलदारों को छोटी नगरपालिकाओं में नियुक्त किया जाता था। सन् १९५६ में मद्रास ने आयुक्तों की सेवा का प्रान्तीयकरण कर दिया। परिषद यदि कुल संख्या के दो तिहाई बहुमत से आयुक्त को हटाने की प्रार्थना करे तो राज्य सरकार उस पदाधिकारी को हटा सकती है आयुक्त को नगरपालिका के फन्ड में से वेतन दिया जाता है।

---

their trust or fulfil it in a manner, which conflicts with the deliberate sense of the people. to expel them from office."
—*Sir Firozeshah Mehta*, Quoted by Mr. Pim while introducing U. P. Municipal Bill 1916, U. P. Government Gazette, Part IV, PP. 307-308, 1915.

बम्बई में प्रत्येक नगरपालिका बॉरो के मुख्य अधिकारी को परिषद द्वारा नियुक्त किया जाता है। जहां तक जिला नगरपालिकाओं का सम्बन्ध है उनमें से एक लाख से अधिक की जनसंख्या वाली किसी भी नगरपालिका को राज्य सरकार द्वारा मुख्य अधिकारी नियुक्त करने को कहा जा सकता है। किसी भी मुख्य अधिकारी को परिषद के दो तिहाई बहुमत से कम मतों से न हटाया जा सकता है, न उसके कार्यकाल को कम किया जा सकता है। अधिकारी को किसी प्रकार का दण्ड भी नहीं दिया जा सकता।

उत्तर प्रदेश की प्रत्येक परिषद को एक कार्यपालिका अधिकारी नियुक्त करना होता है। यदि सरकार द्वारा किसी मोशन (Motion) अथवा प्रतिनिधित्व के आधार पर कोई अन्य निर्देश दे दिया जाये तो दूसरी बात है। कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति, वेतन, एवं सेवा की शर्तें आदि राज्य सरकार द्वारा स्वीकृति प्राप्त करने के विषय होते हैं। परिषद को यह अधिकार है कि वह अपनी कुल संख्या के दो तिहाई बहुमत से एक विशेष प्रस्ताव पास करके कार्यपालिका अधिकारी को सजा दे सकती है या हटा सकती है। प्रभावित अधिकारी को यह अधिकार है कि वह ऐसी आज्ञा मिलने के तीस दिन के अन्दर-अन्दर सरकार के सम्मुख अपील करे।

हैदराबाद राज्य में स्थानीय सरकार विभाग के अधीन स्थानीय सरकार की सेवाएं अलग से हैं। आन्ध्र-प्रदेश के इस क्षेत्र में प्रत्येक नगर या कस्बे की नगरपालिका के कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति इस सेवा में से ही की जाती है। इन अधिकारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही केवल सरकार द्वारा ही की जा सकती है।

पंजाब में कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति पंजाब नगरपालिका अधिनियम १९३१ के अनुसार की जाती है। राज्य सरकार द्वारा अधिकारी की नियुक्ति के लिए एक अधिसूचना भेजी जाती है जिसके तीन महीने के अन्दर-अन्दर परिषद को इस अधिकारी की नियुक्ति करनी होती है। यह नियुक्ति परिषद के कम से कम ५/८ सदस्यों के मत से की जाती है। यदि इस काल में परिषद द्वारा नियुक्ति न की जा सके तो राज्य सरकार स्वयं किसी व्यक्ति को इस पद पर नियुक्त कर देती है। ये नियुक्तियां पांच वर्ष के लिए की जाती हैं तथा इन पर राज्य सरकार की स्वीकृति अनिवार्य है। अधिकारी का वेतन परिषद द्वारा तय किया जाता है। कार्यपालिका अधिकारी को राज्य सरकार द्वारा सेवा में रखा या हटाया जा सकता है। स्वयं परिषद भी ५/८ के बहुमत से उसे हटा सकती है।

मैसूर में नगरपालिका आयुक्त अध्यक्ष के सीधे मातहत होते हैं। उनको स्वतन्त्र रूप से कोई कानूनी अधिकार प्राप्त नहीं होता।

कार्यपालिका अधिकारी की शक्तियां एवं कार्य—कार्यपालिका अधिकारियों के कार्य एवं शक्तियां प्रायः प्रत्येक जगह एक जैसे हैं। वह मुख्य कार्यपालिका है और अध्यक्ष के नियन्त्रण में रह कर परिषद के वित्तीय एवं कार्यपालिका सम्बन्धी प्रशासन को संचालित करता है। परिषद की स्थायी समितियों का अध्यक्ष होने के नाते वह नगरपालिका के सभी अधिकारियों एवं कर्मचारियों की सेवाओं तथा प्रक्रियाओं पर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण रखता है। बम्बई में मुख्य अधिकारी को यह अधिकार है कि वह पच्चास रुपये मासिक तक को

किसी भी व्यक्ति की नियुक्ति कर सकता है। वह नगरपालिका के व नगरपालिका के किसी भी सेवक को, जिसका वेतन तीस रुपये मासिक से अधिक न हो, सजा दे सकता है, हटा सकता है तथा उसके कार्यकाल को कम कर सकता है। मुख्य अधिकारी को शिक्षण संस्थाओं के स्टाफ के किसी कर्मचारी को नियुक्त करने अथवा उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार नहीं होता है।

उत्तर प्रदेश में कार्यपालिका अधिकारी अधिक से अधिक चालीस रुपये मासिक वेतन वाले पद पर नियुक्ति कर सकता है। अध्यक्ष की स्वीकृति के बाद वह पचास रुपये मासिक तक वेतन वाले पदों पर नियुक्तियां कर सकता है। इन सभी सेवकों को कार्यपालिका अधिकारी द्वारा दण्डित भी किया जा सकता है। किन्तु जिन पदों पर नियुक्ति करते समय अध्यक्ष की स्वीकृति ली जाती है, वे दी गई सजा के विरुद्ध अध्यक्ष को अपील कर सकते हैं।

मद्रास में पचास रुपये प्रति माह वेतन पाने वाले पदों पर नियुक्तियां एक समिति द्वारा की जाती हैं जिसमें अध्यक्ष, कार्यपालिका अधिकारी, और परिषद द्वारा मनोनीत एक सदस्य होता है। पचास रुपये मासिक से कम वेतन वाले सभी पदों पर नियुक्तियां कार्यपालिका अधिकारी द्वारा की जा सकती हैं। वह स्वास्थ्य अधिकारी एवं अन्य तकनीकी अधिकारियों को छोड़ कर नगरपालिका के सभी कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकता है।

कार्यपालिका अधिकारी को यह अधिकार है कि किसी भी कर्मचारी का किसी भी विभाग में स्थानान्तरण कर सके। किन्तु पंजाब में यदि अन्तर्विभागीय अथवा सौ रुपये मासिक से अधिक वेतन पाने वालों का स्थानान्तरण किया जाए तो परिषद की स्वीकृति जरूरी होती है। परिषद द्वारा राज्य सरकार या उसके अधिकारियों के साथ किया जाने वाला समस्त पत्र व्यवहार अध्यक्ष के माध्यम से कार्यपालिका अधिकारी द्वारा ही किया जाता है। अध्यक्ष की स्वीकृति के बाद कार्यपालिका अधिकारी, जिला अधिकारी को परिषद द्वारा पास किए गए किसी भी प्रस्ताव को भेज सकता है। उसे प्रत्येक महत्वपूर्ण मामले की सूचना परिषद को देनी होती है। कार्यपालिका अधिकारी वार्षिक बजट तैयार करता है तथा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत करता है। वह नगरपालिका की सम्पूर्ण सम्पत्ति का रखवाला (Custodian) है। वह किए जाने वाले व्यय पर निगाह रखता है तथा यह देखता है कि प्रत्येक प्रस्तावित भुगतान स्वीकृत एवं उचित है। वह दबे हुए धन को वापस लेने के लिए कदम उठाता है तथा गड़बड़ी करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करता है।

इन सभी शक्तियों के अतिरिक्त उसे कुछ प्रशासकीय अधिकार भी प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए वह सूचना देता और प्राप्त करता है, नगरपालिका के बकाया धन के लिए बिल प्रस्तुत करता है और वसूल करने के लिए कड़ी कार्यवाही करता है। प्रार्थना-पत्र एवं एतराज आदि को ग्रहण करता है। यदि अध्यक्ष अथवा परिषद चाहे तो कार्यपालिका अधिकारी को अधिक शक्तियां हस्तांतरित कर सकती है। यदि कार्यपालिका अधिकारी यह अनुभव करे कि उस पर कार्य भार बढ़ गया है तो वह अपनी शक्तियों को

स्थायी समिति अथवा परिषद की स्वीकृति के बाद अपने किसी भी अधीनस्थ को सौंप सकता है। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में इस अधिकारी का अधिकांश समय नगरपालिका के कार्यों का निरीक्षण करने में ही व्यतीत होता है।

मद्रास में कार्यपालिका अधिकारी राज्य सरकार के एजेन्ट के रूप में कार्य करता है। वह राज्य सरकार के किसी भी कार्य को सम्पन्न करने का उत्तरदायित्व सम्भाल सकता है। वह नगरपालिका परिषदों का चुनाव कराता है, वह नगरपालिका क्षेत्र का मनोरंजन कर अधिकारी है, वह राज्य सरकार के बकाया करों का मूल्यांकन, संग्रह, एवं वसूली करने के लिए उत्तरदायी है। सर्वेक्षण अधिकारी के रूप में वह राजस्व सम्बन्धी अभिलेख रखता है।

(२) **अध्यक्ष (President)**—अध्यक्ष को नगरपालिका की कार्यपालिका का शीर्ष माना जाता है। अध्यक्ष को प्रायः वे सभी कार्य करने का अधिकार है जो परिषद द्वारा सम्पन्न किए जाते हैं। उसके कार्यों पर सीमा यह है कि वह कोई ऐसा व्यवहार नहीं कर सकता जो कि परिषद के प्रस्ताव के विपरीत जाए। साथ ही वह उन कार्यों को भी नहीं कर सकता है जो कि अधिनियम के आधार पर परिषद को अथवा अन्य किसी कार्यपालिका सत्ता को सम्पन्न करने चाहिए। अध्यक्ष द्वारा अपने किसी भी कार्य को अधीनस्थ अधिकारियों को हस्तांतरित किया जा सकता है। वह उन कार्यों को किसी को हस्तांतरित नहीं कर सकता जिनके लिए परिषद द्वारा मना किया गया है। मद्रास और उत्तर प्रदेश में अध्यक्ष को यह अधिकार है कि वह उपाध्यक्ष की शक्ति एवं कार्यों के क्षेत्र को समय-समय पर बदलता रहे। बिहार एवं उड़ीसा में अध्यक्ष अपनी शक्ति को उपाध्यक्ष अथवा अन्य किसी भी पार्षद को सौंप सकता है। शक्ति का हस्तांतरण अथवा उसमें किसी प्रकार के परिवर्तन पर परिषद की स्वीकृति ली जानी चाहिए। शक्ति के हस्तांतरण का विषय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसकी प्रक्रिया में ऐसे विवाद उत्पन्न हो सकते हैं जो कि स्थानीय स्तर पर अनेक मतभेदों के कारण बन जाएं। मि० सहाय के कथनानुसार यदि अध्यक्ष उन लोगों के कार्य से सन्तुष्ट नहीं है जिनको कि शक्ति सौंपी गई है तो उसे उस शक्ति को वापस लेने के लिए एक गुट बनाना पड़ेगा।[1]

अमरीकी पद्धति के आधार पर अध्यक्ष के पद को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। ये हैं—शक्तिहीन अध्यक्ष और शक्तिशाली अध्यक्ष।

शक्तिहीन अध्यक्ष [Weak President]—शक्तिहीन अध्यक्ष का कानूनी प्रावधान उन राज्यों में रखा जाता है जहां कि कार्यपालिका शक्ति स्थायी समिति में अथवा कार्यपालिका अधिकारी में निहित की जाती है। कानूनी रूप से शक्तिहीन अध्यक्ष की इस व्यवस्था में अध्यक्ष से केवल एक सीमित कार्य लेने की आशा की जाती है। उसे केवल मुख्य कार्यपालिका

---

1. "If the President is not satisfied with the work of the persons to whom the power has been delegated, he will have to create a party in order to take away the power."
—Sahay's note under section 24 of the B. & O. M. A., 1922

अधिकारी के कार्यों पर सामान्य पर्यवेक्षण रखना होता है। बम्बई में जहां पर कि कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य स्थायी समिति एवं कार्यपालिका अधिकारी को सौंपे गये हैं, अध्यक्ष के पास कुछ संकटकालीन शक्तियां होती हैं जिनके आधार पर वह किसी भी कार्य को रोकने अथवा निर्देशित करने का कार्य कर सकता है। लोकहित के लिए किए गए इस प्रकार के सभी कार्यों एवं कारणों की रिपोर्ट स्थायी समिति के सम्मुख प्रस्तुत की जानी चाहिये। वह परिषद के सभी प्रस्तावों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी है। परिषद की बैठकों में सदस्यों द्वारा यदि उससे कोई प्रश्न पूछा जाये तो उसे जवाब देना होता है। उसे परिषद की मांग पर नगरपालिका प्रशासन से सम्बन्धित सभी अनुमान, तथ्य एवं अन्य पत्रों की प्रतिलिपियां परिषद में प्रस्तुत करनी होती हैं। यदि राज्य सरकार अथवा उसका कोई अधिकारी नगरपालिका सरकार के बारे में कुछ पूछताछ करता है तो अध्यक्ष का यह कर्त्तव्य है कि वह उसका संतोषजनक जवाब दे। वह जिलाधीश एवं आयुक्त के सम्मुख सभी आवश्यक निर्णयों एव परिपत्रों को प्रस्तुत करता है। इन सभी कार्यों एव उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते समय वास्तविक कार्यपालिका अधिकारीद्वारा उसकी सहायता की जायेगी।

जिन नगरपालिकाओं में पृथक कार्यपालिका अंग के लिए कोई प्रावधान नहीं होता वहां अध्यक्ष मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में कार्य करता है तथा उन सभी कार्यों को सम्पन्न करता हैं जिन्हें करने के लिए परिषद उसे निर्देशित करे। अध्यक्ष के कार्यों पर सीमा रहती है और वह स्वेच्छा एवं वास्तविक स्वतन्त्रता का बहुत कम प्रयोग कर पाता है। उसका निर्वाचन एवं पुर्ननिर्वाचन परिषद द्वारा किया जाता है। साथ ही अविश्वास प्रस्ताव के रूप में डेमोक्लीज की तलवार उसके सर पर सदा लटकती रहती है। ऐसी स्थिति में अध्यक्ष का पद वास्तविक शक्तियों का अधिष्ठता नहीं हो सकता। यही कारण है कि इस प्रकार की कार्यपालिका को शक्तिहीन अध्यक्ष की व्यवस्था कहा जाता है। सन् १६१८ से लेकर १६३० तक के काल में सामान्य रूप से इसी प्रकार की कार्यपालिका का प्रचलन था। सम्भवत: नगरपालिका सरकार की असफलताओं के लिए मुख्य रूप से यही उत्तरदायी रहा है। छोटी नगरपालिकाओं में जहां पर कि अलग से कार्यपालिका नियुक्त नहीं की जा सकती अथवा उन राज्यों में जहां पर कि कार्यपालिका अधिकारी के लिए प्रावधान ही नहीं है इस प्रकार की कार्यपालिका अब भी कार्य कर रही है।

शक्तिशाली अध्यक्ष [Strong President]—जहां पर अध्यक्ष के पद पर गैर अधिकारी एवं राजनीतिक व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है वहां उसकी शक्तियों का प्रश्न बड़ा जटिल बन जाता है। ऐसी स्थिति में शक्तिहीन अध्यक्ष अत्यन्त निकम्मा सिद्ध होता है। मध्य प्रदेश के अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि ऐसे प्रशासन में कार्यकुशलता का अभाव रहता है और स्थानीय सरकार उस समय तक महत्वहीन सी प्रतीत होती है जब तक कि उसमें वांछनीय सुधार न कर दिए जाए। मध्यप्रदेश में ज्यों ही इस प्रकार के सुधारों की आवश्यकता प्रतीत हुई वहां १६३६ के अधिनियम द्वारा अध्यक्ष के रूप में शक्तिशाली कार्यपालिका बनादी गई। अब मध्यप्रदेश की नगरपालिकाओं का अध्यक्ष इंगलैण्ड के मेयर की भांति परिषद का एक सम्माननीय

अध्यक्ष मात्र नहीं है और न ही उसकी स्थिति मेयर परिषद के अधीन अमरीकी नगरों के मेयर जैसी है। वास्तव में उसकी स्थिति इन दोनों के बीच की ही है। वह प्रत्यक्ष मत द्वारा चुना जाता है, परिषद का एक सदस्य है एवं उसका नेता है तथा एक मुख्य कार्यपालिका अधिकारी है।

शहर का एक निर्वाचित प्रतिनिधि होने के कारण उसे पर्याप्त शक्ति एवं सम्मान प्राप्त होता है। वह प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित होने के कारण पार्षदों की कृपा पर निर्भर नहीं रहता। उसे दो उपाध्यक्षों की नियुक्ति का अधिकार होता है और इस प्रकार उसकी स्थिति अधिक सुरक्षित हो जाती है। यदि चुनाव के बाद परिषद में उसका स्पष्ट बहुमत नहीं आता तो वह परिषद को भंग करने की अपनी शक्ति के द्वारा उसे अपने पक्ष में कर सकता है। अपनी शक्ति एवं सम्मान के आधार पर अध्यक्ष एक मुख्य नीति-निर्माता एवं मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बन गया है। सन् १९४७ के अधिनियम ने उसे अनेक स्वतन्त्र शक्तियां प्रदान की हैं जिनका प्रयोग वह परिषद के हस्तक्षेप के बिना कर सकता है। कुछ मामलों में परिषद के सम्मुख अपील करने का प्रावधान भी रखा गया है। संकटकाल के समय अध्यक्ष परिषद की कुछ शक्तियों का प्रयोग स्वयं कर सकता है। यदि परिषद किसी मामले को छः महीने के अन्दर–अन्दर उसके सम्मुख न रख सके तो वह उन विषयों पर अधिनियम के अधीन बनाए गए नियमों के अनुसार कार्य कर सकता है। वह चालीस रुपये प्रतिमाह तक वेतन पाने वाले सभी पदों पर नियुक्तियां कर सकता है।

वित्तीय क्षेत्र में वह एक मुख्य परामर्शदाता होता है। यद्यपि बजट वित्त समिति द्वारा तैयार किया जाता है, किन्तु इस पर इसका पर्याप्त प्रभाव रहता ही है। वह मुख्य कार्यपालिका अधिकारी है इसलिए नियुक्ति, पदविमुक्ति आदि से सम्बन्धित परिषद की शक्तियां उसी के द्वारा काम में लाई जाती हैं। वह अपने शहर का प्रथम नागरिक होता है और इस रूप में उसे पर्याप्त सामाजिक सम्मान प्राप्त रहता है। उसकी स्थिति एक ईर्ष्याजनक स्थिति है और प्रत्येक महत्वपूर्ण मामले में वह नगर परिषद का वैयक्तिकरण करता है। इस प्रकार मध्य प्रदेश में एक ही व्यक्ति में शक्तियों एवं उत्तरदायित्वों का संयोग कर दिया गया है जो कि निर्वाचकों के प्रति उत्तरदायी होता है। इस व्यवस्था में राजनैतिक व्यक्तित्व पनपता है और शक्ति उन अनेक पार्षदों के हाथ में नहीं रह पाती जो उसे जब चाहें तब हटा दें।

इस व्यवस्था के अपने कुछ नुकसान भी हैं। प्रत्यक्ष चुनाव द्वारा यद्यपि अध्यक्ष परिषद के सदस्यों से स्वतन्त्र हो जाता है, किन्तु फिर भी समस्या यह रहती है कि विधायी एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों को अलग–अलग नहीं किया जा सकता और जब तक परिषद में अध्यक्ष का बहुमत न होगा तब तक वह अपने कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न कर सकेगा?

उत्तर प्रदेश में एक ऐसी व्यवस्था को अपनाया गया है जो कि मध्य प्रदेश और मद्रास की व्यवस्थाओं के बीच एक समझौता है। सन् १९५५ के अधिनियम के बाद वहां अध्यक्ष को जनता द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाता है। उसे उपाध्यक्षों को नियुक्त करने की शक्ति नहीं है। यदि परिषद द्वारा अध्यक्ष के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जाए तो यह निर्णय

करना राज्य सरकार पर छोड़ दिया गया है कि अध्यक्ष को त्यागपत्र देना चाहिए अथवा परिषद को भंग करने की उसकी सिफारिश मान लेनी चाहिए। वास्तव में उसकी स्थिति मध्य प्रदेश के अध्यक्ष की स्थिति से कमजोर है। उत्तर प्रदेश में यद्यपि मद्रास की तरह ही कार्यपालिका अधिकारी रहता है किन्तु फिर भी अध्यक्ष के पास कुछ कार्यपालिका शक्तियां होती हैं। संकटकाल में आवश्यक अस्थायी सेवक उसके द्वारा नियुक्त किए जा सकते हैं। जहां कहीं कार्यपालिका अधिकारी नहीं होता वहां कनिष्ठ अधिकारी भी इसके द्वारा नियुक्त किए जाते हैं। कार्यपालिका अधिकारी द्वारा स्थायी निम्न श्रेणी स्टाफ के सम्बन्ध में जो संकटकालीन कार्यवाही की जाती है उसके विरुद्ध अध्यक्ष द्वारा अपीलों की सुनवाई की जाती है। संक्षेप में उसके पास में वे सारी शक्तियां होती हैं जो स्पष्ट रूप से किसी अन्य व्यक्ति को नहीं दी गई हैं।

अध्यक्ष की इस व्यवस्था के सफल कार्य-संचालन के बारे में अनेक सन्देहात्मक प्रश्न उठाए जाते हैं। उदाहरण के लिए, क्या एक निर्वाचित कार्यपालिका नागरिक प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा कर सकती है?' क्या इस व्यवस्था को बड़े और छोटे शहरों में प्रशासन की सरल एवं सुगम समस्याओं के साथ एकरूप में अपनाया जा सकता है? क्या अध्यक्ष उन व्यक्तियों, हितों एवं दलों को सन्तुष्ट करने का प्रयास नहीं करेगा जिन्होंने उसे इस पद पर पहुंचाया है?—इन सभी प्रश्नों का सन्तोषजनक जवाब ही अध्यक्ष के पद को न्यायोचित सम्मान प्रदान करा पाएगा।

देहाती स्थानीय सरकार की सत्ताएं

[The Authorities of Rural Local Govt.]

देहाती स्थानीय सरकार के विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के लिए अधिकारी एवं गैर-अधिकारी दोनों ही प्रकार के कार्यकर्त्ताओं का योगदान स्वीकार किया जाता है। पंचायत समिति एवं जिला परिषद स्तरों पर विभिन्न सत्ताएं अपने दायित्वों को पूरा करती हैं।

सरपंच की स्थिति एवं कार्य (Position and Functions of Sarpanch)—प्रत्येक ग्राम पंचायत का एक सभापति होता है जिसे सरपंच कहते हैं। इसका निर्वाचन पंचायत क्षेत्र के सभी मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है। वह पंचायत की मुख्य कार्यपालिका सत्ता के रूप में कार्य करता है। वह पंचायत के फण्ड की रक्षा के लिए उत्तरदायी है। साथ ही वह उचित लेख एवं अभिलेख भी रखता है। वह पचायत की बैठकें बुलाता है और उनकी अध्यक्षता करता है। वह पंचायत के नाम पर धन प्राप्त करता है तथा भुगतान करता है। वह पंचायत का बजट तैयार करता है तथा पंचायत समिति द्वारा उसे स्वीकृत कराता है। वह पंचायत क्षेत्र में किए जाने वाले कार्यों पर पर्यवेक्षण रखता है तथा राजस्व के संकलन की देख-रेख करता है।

पंचों एवं सरपंच को जो विभिन्न कार्य मिले हुए हैं उनका व्यावहारिक अध्ययन करने के बाद सादिक अली समिति ने यह बताया कि सरपंच पंचायत के मामलों में अधिक रुचि नहीं लेते; केवल शिक्षित पंचों ने ही पंचायत के कार्यों में थोड़ी रुचि दिखाई किन्तु ऐसे पंचों की संख्या बहुत कम थी। यह

प्रधान चुन लिया जाये तो वह उप-सरपंच नहीं रह पाता । यदि किसी पंचायत के सरपंच को प्रधान के पद पर चुन लिया जाए तो वह उसी दिन से सरपंच नहीं रह जाता । उसके स्थान पर दूसरा सरपंच चुना जायेगा और उस समय तक वह केवल नाममात्र के लिए सरपंच बना रहेगा । इस काल में वह पंचायत के विषयों के प्रशासन में कोई कार्य नहीं करेगा तथा पंचायत की बैठकों में भाग नहीं लेगा । वह सरपंच के रूप में अपने समस्त उत्तरदायित्वों को उप-सरपंच को सौंप देगा जो कि पंचायत समिति में जाकर उसके सदस्य के रूप में बैठेगा और अपनी पंचायत का प्रतिनिधित्व करेगा । जब तक नए सरपंच का चुनाव नहीं होता उस बीच यदि प्रधान को उसके पद से हटा दिया जाएगा तो वही पुनः सरपंच बन जायेगा । प्रधान अथवा उप-प्रधान के पद का कार्यकाल, सम्बन्धित पंचायत समिति के साथ सह-विस्तारी (Co-extensive) होगा । प्रधान या उप-प्रधान का पद समय से पूर्व रिक्त हो जाने की स्थिति में जो नया व्यक्ति आएगा वह शेष काल के लिए ही उस पद पर रहेगा ।

प्रधान के निर्वाचन के लिए जिलाधीश अथवा अतिरिक्त जिलाधीश के सभापतित्व में समिति की बैठक बुलाई जाती है । राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद (तृतीय संशोधन) अध्यादेश १६६० की धारा २ (क) के अनुसार अब जिले के एस० डी० एम० तथा सिटी मैजिस्ट्रेट आदि को भी सभापति बनाया जा सकता है । एक नवीन उपबन्ध के अनुसार जब सरपंच को प्रधान चुन लिया जाता है तो उसकी जगह पर नए सरपंच का चुनाव नहीं किया जाएगा वरन् उप-सरपंच ही उसके पद का कार्य भार सम्भाल लेगा । प्रधान एवं उप-प्रधान को यह अधिकार है कि वह पंचायत समिति को लिखित में अपना त्याग पत्र दे सकता है । यह त्याग पत्र उसी तिथि से प्रभावशील माना जाएगा जबकि वह विकास अधिकारी को प्राप्त हुआ था ।

पंचायत समिति के प्रधान को अनेक शक्तियां प्राप्त हैं । प्रथम, वह पंचायत समिति की बैठक बुलाता है, उसका सभापतित्व करता है तथा सदस्यों में काम बांटता है । दूसरे, वह पंचायत समिति के समस्त अभिलेखों को देख सकता है । तीसरे, पंचायत के कार्यों में पहल की भावना एवं उत्साह उत्पन्न करने के लिए उसके द्वारा प्रोत्साहन दिया जाएगा । पंचायतों द्वारा उत्पादन के कार्यक्रमों एवं योजनाओं के क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयासों में यह पथ-प्रदर्शन करेगा तथा उनमें सहयोग एवं स्वेच्छापूर्ण संगठन पैदा करने में सहायता करता है । चौथे, पंचायत समिति एवं उसकी स्थायी समितियों द्वारा जो निर्णय एवं संकल्प किए जायें उनको क्रियान्वित करने के लिए वह खण्ड के कर्मचारियों एवं विकास आदि के अधिकारियों पर नियन्त्रण रखेगा । पांचवे, अधिनियम द्वारा उसे सौंपी गई समस्त शक्तियों का उपयोग एवं कार्यों का संचालन करेगा । इन सभी कार्यों को प्रधान अपनी स्वेच्छा से सम्पन्न करता है । उसके कार्यों में कुछ ऐसी शक्तियां भी आती हैं जिनका प्रयोग वह संकट काल में विकास अधिकारी के परामर्श से करता है । इस दृष्टि से उसकी प्रथम शक्ति यह है कि वह ऐसे किसी भी सार्वजनिक निर्माण कार्य के निस्पादन के लिए निर्देश दे सकता है जिसके लिए उक्त पंचायत समिति या उसकी

भी कहा जाता है कि पंचायत की कम शक्ति एवं स्तर के कारण इसके सदस्यों ने कार्यवाहियों में कम रुचि दिखाई। किसी-किसी पंचायत में जब सरपंच पद पर कोई प्रभावशाली व्यक्ति आ जाता है तो पंचों का उत्साहपूर्ण योगदान नहीं उभर पाता। सरपंच का पंचायतों की कार्यवाही में योगदान अत्यन्त प्रभावशील रहा है। सरपंच द्वारा जो भी कार्य किए जाते हैं उनमें ऐसे कार्यों की संख्या कम होती है जिन्हें वह पंचायत के अध्यक्ष के रूप में करता है। किन्तु ऐसे कार्यों की संख्या अधिक होती है जिन्हें वह पंचायत समिति के सदस्य के रूप में करता है। कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं जबकि एक मजबूत स्थितिवाला सरपंच जिसके सामने जनमत का अवरोध नहीं होता और जो अपने साथियों से नहीं डरता, अपनी स्थिति का दुरुपयोग करता है। सरपंच यदि कोई विशेष राजनैतिक भावना रखता है तो वह पंचायत के लिए उपयोगी काम नहीं कर पाता। सरपंच के पद को कानूनी रूप एवं औचित्य प्रदान करने के लिए सादिक अली समिति ने सुझाया कि पंचों को अधिक सक्रिय बनाया जाए, उनमें यह विश्वास पैदा किया जाए कि उनके द्वारा की गई पहल को दबाया नहीं जाएगा। पंचों एवं सरपंच के कार्यों में सुधार लाने के लिए सादिक अली समिति ने कई सुझाव प्रस्तुत किए। उसका कहना था कि गलती करने वाले सरपंच के विरुद्ध कार्यवाही करने का यन्त्र बहुत दूर रहता है अर्थात् राज्य स्तर पर है। इन कार्यकर्त्ताओं के विरुद्ध कार्यवाही करने वाला यन्त्र जिला स्तर पर होना चाहिए। दूसरे, पंचों के प्रशिक्षण पर पर्याप्त जोर दिया जाना चाहिए। तीसरे, कानून के अनुसार यह निर्धारित करना चाहिए कि निर्वाचित प्रत्येक पंच कम से कम साक्षर हो अर्थात् वह लिख और पढ़ सके। यह कार्य वह पंच के रूप में अपने चुनाव के एक साल के अन्दर-अन्दर कर सकता है। इस प्रावधान के द्वारा उनमें ज्ञान-प्राप्ति की अनिवार्यता होगी। चौथे, एक सचिव की नियुक्ति करके सरपंच को रुपये पैसे के उत्तरदायित्व से तथा लेखे आदि रखने के दायित्वों से मुक्ति प्रदान करनी चाहिए।

खण्ड स्तर की सत्तायें

प्रधान चुन लिया जाये तो वह उप-सरपंच नहीं रह पाता। यदि किसी पंचायत के सरपंच को प्रधान के पद पर चुन लिया जाए तो वह उसी दिन से सरपंच नहीं रह जाता। उसके स्थान पर दूसरा सरपंच चुना जायेगा और उस समय तक वह केवल नाममात्र के लिए सरपंच बना रहेगा। इस काल में वह पंचायत के विषयों के प्रशासन में कोई कार्य नहीं करेगा तथा पंचायत की बैठकों में भाग नहीं लेगा। वह सरपंच के रूप में अपने समस्त उत्तरदायित्वों को उप-सरपंच को सौंप देगा जो कि पंचायत समिति में जाकर उसके सदस्य के रूप में बैठेगा और अपनी पंचायत का प्रतिनिधित्व करेगा। जब तक नए सरपंच का चुनाव नहीं होता उस बीच यदि प्रधान को उसके पद से हटा दिया जाएगा तो वही पुनः सरपंच बन जायेगा। प्रधान अथवा उप-प्रधान के पद का कार्यकाल, सम्बन्धित पंचायत समिति के साथ सह-विस्तारी (Co-extensive) होगा। प्रधान या उप-प्रधान का पद समय से पूर्व रिक्त हो जाने की स्थिति में जो नया व्यक्ति आएगा वह शेष काल के लिए ही उस पद पर रहेगा।

प्रधान के निर्वाचन के लिए जिलाधीश अथवा अतिरिक्त जिलाधीश के सभापतित्व में समिति की बैठक बुलाई जाती है। राजस्थान पंचायत समिति तथा जिला परिषद (तृतीय संशोधन) अध्यादेश १९६० की धारा २ (क) के अनुसार अब जिले के एस० डी० एम० तथा सिटी मैजिस्ट्रेट आदि को भी सभापति बनाया जा सकता है। एक नवीन उपबन्ध के अनुसार जब सरपंच को प्रधान चुन लिया जाता है तो उसकी जगह पर नए सरपंच का चुनाव नहीं किया जाएगा वरन् उप-सरपंच ही उसके पद का कार्य भार सम्भाल लेगा। प्रधान एवं उप-प्रधान को यह अधिकार है कि वह पंचायत समिति को लिखित में अपना त्याग पत्र दे सकता है। यह त्याग पत्र उसी तिथि से प्रभावशील माना जाएगा जबकि वह विकास अधिकारी को प्राप्त हुआ था।

पंचायत समिति के प्रधान को अनेक शक्तियां प्राप्त हैं। प्रथम, वह पंचायत समिति की बैठक बुलाता है, उसका सभापतित्व करता है तथा सदस्यों में काम बांटता है। दूसरे, वह पंचायत समिति के समस्त अभिलेखों को देख सकता है। तीसरे, पंचायत के कार्यों में पहल की भावना एवं उत्साह उत्पन्न करने के लिए उसके द्वारा प्रोत्साहन दिया जाएगा। पंचायतों द्वारा उत्पादन के कार्यक्रमों एवं योजनाओं के क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयासों में यह पथ-प्रदर्शन करेगा तथा उनमें सहयोग एवं स्वेच्छापूर्ण संगठन पैदा करने में सहायता करता है। चौथे, पंचायत समिति एवं उसकी स्थायी समितियों द्वारा जो निर्णय एवं संकल्प किए जायें उनको क्रियान्वित करने के लिए वह खण्ड के कर्मचारियों एवं विकास आदि के अधिकारियों पर नियन्त्रण रखेगा। पांचवे, अधिनियम द्वारा उसे सौंपी गई समस्त शक्तियों का उपयोग एवं कार्यों का संचालन करेगा। इन सभी कार्यों को प्रधान अपनी स्वेच्छा से सम्पन्न करता है। उसके कार्यों में कुछ ऐसी शक्तियां भी आती हैं जिनका प्रयोग वह संकट काल में विकास अधिकारी के परामर्श से करता है। इस दृष्टि से उसकी प्रथम शक्ति यह है कि वह ऐसे किसी भी सार्वजनिक निर्माण कार्य के निस्पादन के लिए निर्देश दे सकता है जिसके लिए उक्त पंचायत समिति या उसकी

किसी स्थायी समिति की स्वीकृति अपेक्षित है तथा जिसका तुरन्त निस्पादन किया जाना उसकी राय में सार्वजनिक सेवाओं के संचारण तथा जनता की सुरक्षा के लिए आवश्यक है। दूसरे, वह उचित कारणों के आधार पर किसी भी कार्य के संचालन को बन्द कर सकता है। उसे इन कारणों का अभिलेख रखना होगा। तीसरे, जिला परिषद की स्वीकृति के बाद यह पंचायत समिति के किसी भी कार्यक्रम में परिवर्तन कर सकता है। इन दोनों ही प्रकार के कार्यों के अतिरिक्त प्रधान के कुछ अन्य कार्य भी होते हैं। वह प्रत्येक वर्ष के अन्त में उस वर्ष के दौरान विकास अधिकारी के कार्य के सम्बन्ध में जिला विकास अधिकारी को एक गुप्त पतिवेदन भेजेगा। जिला विकास अधिकारी उस प्रतिवेदन की एक प्रति अपने गुप्त प्रतिवेदन के साथ राज्य सरकार के पास भेजेगा।

जब प्रधान का पद रिक्त हो जाए तो पंचायत समिति का उप-प्रधान, उस समय तक प्रधान की शक्तियों का प्रयोग एवं कार्यों का सम्पादन करता है जब तक कि नया प्रधान न चुना जाए। जब प्रधान को किसी कारणवश निलम्बित कर दिया जाये अथवा छुट्टी पर जाने के कारण वह अनुपस्थित हो तो उसके कार्यों का सम्पादन उप-प्रधान द्वारा किया जायेगा। यदि संयोगवश प्रधान एवं उप-प्रधान दोनों ही समिति की बैठक में उपस्थित न हों तो उनकी शक्तियां पंचायत समिति द्वारा निर्वाचित किसी भी सदस्य को दी जा सकती हैं। इस प्रकार निर्वाचित सदस्य अस्थायी प्रधान कहलाएगा तथा वह किसी नये प्रधान या उप-प्रधान के निर्वाचन न होने तक तथा उसके द्वारा पद ग्रहण न कर लेने तक अथवा या तो प्रधान या उप-प्रधान के छुट्टी से लौट न आने तक या अपने पद पर बहाल न कर दिए जाने तक निर्धारित प्रतिबन्धों एवं शर्तों के अधीन प्रधान की शक्ति एवं कार्यों का पालन करता रहेगा।

राज्य सरकार ने अपने २० फरवरी १९६० की विज्ञप्ति संख्या एफ० ४५ (१७३) ८१ को डी०/डी०डी०/५९ के अनुसार अस्थायी प्रधान के इस अधिकार पर रोक लगा दी है कि वह पंचायत समिति के किसी कर्मचारी की नियुक्ति, तरक्की, दण्ड देना या गुप्त प्रतिवेदन लिखना आदि अधिकारों का प्रयोग कर सके।

पंचायत समिति के प्रधान की शक्तियां एवं अधिकार पर्याप्त विस्तृत हैं। ऊपर उसके जिन कार्यों का उल्लेख किया गया है उनके साथ-साथ प्रधान कुछ अन्य कार्य भी करता है; जैसे पंचायत समिति का निर्माण होने के तुरन्त बाद ही वह उप-प्रधान के चुनाव के लिए उसकी बैठक बुलाता है। वह निर्धारित तरीके से सदस्यों को शपथ दिलाता है। पंचायतों की अपील तथा रिपोर्टों के निपटारे में अधिक समय न लगे इसकी व्यवस्था करता है। वह पांच हजार रुपए से ज्यादा रकम के तमाम चैकों पर प्रति हस्ताक्षर (Counter Signature) करता है और यदि उसकी राय में किसी रकम का भुगतान पंचायत समिति के हित में नहीं है तो वह ऐसे भुगतान को रोक देगा तथा उस मामले को पंचायत समिति अथवा स्थायी समिति के सम्मुख पेश करेगा। पंचायत समिति का प्रधान समय-समय पर अपने क्षेत्र की पंचायतों में जाकर यह देखता है कि उनके सरपंच कितनी सक्रियता से कार्य

कर रहे हैं तथा वे पंचायत समिति तथा स्थायी समिति की बैठकों में नियमित रूप से शामिल होते हैं अथवा नहीं। यदि सरपंचों को अपने कार्यों में रुचि न हो तो प्रधान उनके घर जाकर अथवा पंचायतों में मिलकर उनको प्रोत्साहित करता है। वह इस प्रकार का वातावरण बनाने में सहायता देता है जिसमें कि पंचायत समिति के साधनों का उपयोग क्षेत्र के विकास कार्यों में अधिकतम सीमा तक हो। वह यह भी देखता है कि कर्मचारियों अथवा सदस्यों के भत्तों पर अधिक खर्च तो नहीं हो रहा है। वह पंचायत समिति द्वारा वितरित किए गए ऋण तथा अनुदानों के उचित प्रयोग की देखभाल करता है और इसके लिए वह तमाम योजनाओं से अपना निकट सम्बन्ध रखता है। प्रधान यह भी देखता है कि पंचायतें नियमानुसार ग्राम सभाओं का आयोजन कर रही हैं अथवा नहीं ताकि लोगों को विकास कार्यों में सहयोग देने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके और उनमें जिम्मेदारी के भाव पैदा किए जा सकें। उसके द्वारा यह भी देखा जाता है कि पंचायत के महत्वपूर्ण फैसलों में ग्राम सभाओं का कितना योग है।

विकास अधिकारी की स्थिति तथा कार्य (The Position and Functions of Vikas Adhikari)—प्रत्येक पंचायत समिति में एक मुख्य कार्यपालिका अधिकारी होता है, जिसे विकास अधिकारी कहा जाता है। विकास अधिकारी के अतिरिक्त कुछ अन्य विस्तार अधिकारी (Extension Officers) तथा लेखा लिपिक (Accounts Clerks) होते हैं। विकास अधिकारी विस्तार अधिकारियों की टीम के माध्यम से पंचायत समिति के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी है। वह पंचायत समिति स्टाफ का अध्यक्ष होता है तथा कार्यालय के अध्यक्ष के रूप में कार्य करता है। साथ ही पंचायत समिति के प्रतिदिन के प्रशासन को संचालित करता है। विकास अधिकारी प्रधान के प्रशासकीय नियन्त्रण में कार्य करता है। विकास अधिकारी के पद पर राज्य प्रशासकीय सेवा के सदस्यों को नियुक्त किया जाता है। राजस्थान में राज्य सरकार ने प्रारम्भ से ही विकास अधिकारी (Block Development Officer) के पद को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। प्रारम्भ से ही सरकार की यह नीति रही है कि इस पद पर वरिष्ठ एवं अनुभवी आदमियों को रखा जाए। पचायती राज की स्थापना के बाद सरकार द्वारा यह निर्णय लिया गया कि केवल राज्य प्रशासनिक सेवा के अधिकारियों को ही पंचायत समिति में विकास अधिकारी बनाया जाए। दस पदों को राजस्थान तहसीलदार सेवा के लिए सुरक्षित रखा गया है। विकास अधिकारी को पंचायत समिति का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी भी कह सकते हैं। इस पद पर राज्य प्रशासकीय सेवा के अधिकारी को नियुक्त करने के पीछे कई कारण थे। प्रथम, एक संस्था का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी जो कि स्थानीय प्रशासन एवं खण्ड के विकास के लिए उत्तरदायी है तथा जिसे पर्याप्त धन खर्च करने की शक्तियां प्राप्त हैं वह पर्याप्त उच्चस्तर एवं सत्ता का अधिकारी होना चाहिए। दूसरे, यह आवश्यक है कि पंचायत समितियां ऐसे अधिकारी की सेवाएं प्राप्त करें जो कि उनके निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए अपनी सत्ता का प्रयोग कर सके। पंचायत समितियां केवल विकास अभिकरण ही नहीं है वे प्रशासन की भी इकाईयां हैं और इसलिए मुख्य कार्य-

पालिका अधिकारी ऐसा होना चाहिए जिसे प्रशासनिक अनुभव प्राप्त हो। तीसरे, राज्य प्रशासकीय सेवा का अधिकारी पंचायत समिति के कार्यों का दूसरे विभागों के साथ अच्छा समन्वय कर सकेगा और अन्य अभिकरणों, विशेष रूप से राजस्व अभिकरण के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्ध बना सकेगा। वह स्टाफ के ऊपर प्रभावशाली प्रशासकीय नियन्त्रण रखने की स्थिति में होगा। चौथे, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बिना किसी हीनता की भावना के कार्य करेगा तथा प्रशासकीय एवं विकास से सम्बन्धित सभी विषयों में पंचायत समिति को विशेषज्ञतापूर्ण परामर्श देने के अपने कर्तव्य को बिना किसी हिचक के व विश्वासपूर्वक सम्पादित करेगा। पाँचवें, यह सोचा गया कि यदि विकास अधिकारी के पद के लिए अलग से स्तर रखा जाए तो उसका पद अकेले में पड़ जाएगा और उसमें उन्नति के अवसर सीमित हो जाएंगे।

विकास अधिकारियों के कार्यों का व्यावहारिक अध्ययन करने के बाद सादिक अली समिति ने बताया कि राज्य प्रशासकीय सेवा के अधिकारी को विकास अधिकारी के पद पर नियुक्त करने के विरुद्ध कई तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं। प्रथम, इन अधिकारियों को पंचायती राज संस्थाओं में स्थायी रूप से अपना भविष्य नहीं बनाना होता। वे विकासअधिकारीके पद पर नियुक्त होकर यही सोचते रहते हैं कि इस पद पर वे केवल कुछ समय ही कार्य करेंगे। यही कारण है कि वे मनोयोगपूर्ण काम नहीं कर पाते। दूसरे, इन अधिकारियों को अपनी स्थिति के बारे में बहुत असन्तोष रहता है। वे इस बात से नाखुश रहते हैं कि उनको न्यायाधीश या अन्य प्रशासकीय पद से विकास अधिकारी के पद पर क्यों स्थानान्तरित किया गया। तीसरे, ये अधिकारी परिवर्तित परिस्थितियों के प्रति आसानी से समायोजित नहीं हो पाते और इस प्रकार समायोजन की अनेक समस्याएं उठ खड़ी होती हैं। कुल मिलाकर सादिक अली समिति इन तर्कों की सत्यता से सहमत नहीं थी। उसके मतानुसार विकास अधिकारी का कार्य कोई सरल कार्य नहीं होता। उसकी सफलता एवं असफलता अनेक तत्वों पर निर्भर करती है; जैसे–प्रधान का दृष्टिकोण, पंचायत समिति का राजनीतिक रूप, विस्तार, अधिकारियों की योग्यता एवं उच्च अधिकारियों से प्राप्त समर्थन, निर्देशन तथा सहानुभूति। विपरीत तत्वों का मिश्रण प्रायः श्रेष्ठ एवं संलग्न अधिकारी को भी असफल बना सकता है।[1]

विकास अधिकारी को अनेक शक्तियाँ प्राप्त हैं। प्रथम, वह प्रधान तथा स्थायी समितियों के अध्यक्षों की हिदायतों के अधीन, पंचायत समिति तथा

---

1. "The job of Vikas Adhikari is not an easy assignment. Various factors account for his success or failure. Among these are the attitude of Pradhan, the political complexion of the Panchayat Samities, the calivre of the team of extension staff and the support, guidance and sympathy he received from superior officers. A combination of adverse factors very often can fail even the best and the devoted officer."

—*Sadiq Ali* Report, *op. cit.* P. 79

स्थायी समिति की बैठकों के लिए नोटिस जारी करेगा। दूसरे, वह ऐसी समस्त बैठकों में उपस्थित रहेगा तथा उनके कार्यों का विवरण अभिलिखित एवं संचारित करेगा। तीसरे, वह इन बैठकों के विचार विमर्शों में भाग लेगा। चौथे, वह पंचायत समिति के खजाने में से धन निकालेगा तथा वितरित करेगा। यहां प्रधान द्वारा उसकी शक्ति पर सीमा लगा दी गई है। प्रधान लिखित में कारण बताते हुए ऐसे किसी भी भुगतान को रोक सकता है। पांचवें, पंचायत समिति की पूर्व स्वीकृति के अधीन व उसके लिए तथा उसको ओर से संविधाओं को निस्पादित करेगा। छठे, पंचायत समिति के लिए व उसकी ओर से समस्त पत्रों व दस्तावेजों को हस्ताक्षरित या अधिप्रमाणित करेगा। सातवें, पचायत समिति के लेखाओं की परीक्षा के दौरान ध्यान में लाई गई या लेखा परीक्षा की रिपोर्ट में बतलाए गए किसी भी दोष या अनियमितता को दूर करने के लिए कदम उठाएगा। आठवें, वह पंचायत समिति के धन या अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में कपट, गबन, चोरी या हानि, समस्त मामलों की अविलम्ब रिपोर्ट करेगा। नवें, वह राज्य सरकार, जिला परिषद या इस सम्बन्ध में प्राधिकृत किसी भी अन्य अधिकारी को पंचायत समिति या उसकी किसी स्थायी समिति की बैठक में पारित संकल्पों की व कार्यवाहियों की प्रतिलिपियों तथा उनके द्वारा अपेक्षित अन्य दस्तावेजों की प्रतिलिपियां या उनके अंश पेश करेगा। दसवें, वह विकास सम्बन्धी कार्य के लिए उपयोगी, स्वेच्छापूर्ण संगठनों का गठन करने में तथा उनके कार्यक्रमों को (जो कि पंचायत समिति द्वारा निर्धारित स्थूल नीति के अनुरूप हों एवं पंचायत क्षेत्र में कृषि उत्पादन तथा सहकारी सगठन को बढ़ाने के लिए बनाये गये हों) बनाने में पंचायतों की सहायता करेगा। ग्यारहवें, वह इस बात को देखेगा कि उपयुक्त पदाधिकारियों द्वारा अनुमोदित योजनाएं एव कार्यक्रम कुशलता–पूर्वक एवं विस्तारक तरीके से सम्पन्न किये जा रहे हैं अथवा नहीं। बारहवें, वह इस बात का निरीक्षण करेगा कि पंचायतों ने जिन निर्माण कार्यों को अपने हाथ में लिया है वे निर्धारित स्तर के अनुरूप हैं अथवा नहीं और उनको नियत समय में पूरा किया गया है अथवा नहीं। तेरहवें, वह पंचायत समिति की ओर से पंचायतों की वित्तीय स्थिति का अर्थात् करों के आरोपण और उनकी वसूली, दिये गये ऋणों की वसूली तथा नियमित लेखाओं के संधारण आदि की जांच करेगा। चौदहवें, वह अधिनियम के उपबन्धों को क्रियान्वित करने की दृष्टि से पचायतों पर सामान्य परिवेक्षण एवं नियन्त्रण रखेगा। पंद्रहवें, वह पंचायत समिति के कार्यपालिका सम्बन्धी प्रशासन के विषयों में तथा उसके लेखाओं एवं अभिलेखों सम्बन्धी मामलों में पंचायत समिति के समस्त अधिकारियों व कर्मचारियों के कार्यों पर परिवेक्षण तथा नियन्त्रण रखेगा।

यदि किसी कारणवश विकास अधिकारी पंचायत समिति या उसकी स्थायी समिति को किसी बैठक में उपस्थित रहने में असमर्थ हो तो उसके आधीन वरिष्ठतम अधिकारी जो बैठक के स्थान पर मौजूद हो ऐसी बैठक में उपस्थित होगा व अध्यक्षता करेगा। विकास अधिकारी एक प्रकार से पंचायत समिति का मुख्य सचिव (Chief Secretary) होता है। पंचायत समिति के कार्यों को सुचारू रूप से चलाने की जिम्मेदारी उसके ऊपर होती है। वह

पंचायत समिति के नाम पर, पंचायत समिति का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी होता है। पंचायत समिति की ओर से किये जाने वाले सभी समझौते एवं करार उसी के द्वारा किये जायेंगे। पंचायत समिति के सभी पत्र उसके नाम से जारी किये जायेंगे। वह पंचायत समिति के अन्तर्गत आने वाली सभी पंचायतों पर निरीक्षण एवं नियंत्रण रखेगा। पंचायत समिति के समस्त अधिकारी एवं कर्मचारी उसके नियंत्रण में कार्य करेंगे। वह कर्मचारियों का खंड में कहीं भी स्थानान्तरण कर सकता है, उसी के द्वारा उनको अवकाश प्रदान किये जायेंगे। विकास अधिकारी द्वारा उस प्रत्येक स्थायी समिति के निर्णयों एवं संकल्पों की सूचना प्रधान को दी जायेगी, जिसका कि प्रधान सदस्य नहीं है। विकास अधिकारी को राज्य सरकार द्वारा अन्य अधिकार भी दिये जा सकते हैं।

इस प्रकार विकास अधिकारी के कर्तव्यों एवं अधिकारों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह प्रधान एवं स्थायी समिति के अध्यक्ष के निर्देशानुसार, पंचायत समिति एवं स्थायी समितियों के सदस्यों को बैठक में शामिल होने के लिए नोटिस जारी करता है। वह ऐसा कार्यक्रम तैयार करता है जिसमें कि प्रधान द्वारा बताये गये कार्यों को भी सम्मिलित किया जा सके। वह पंचायत समिति तथा स्थायी समितियों की बैठक में उपस्थित होकर उसकी कार्यवाहियों को देखता एवं उन्हें लेखबद्ध करके रखता है। इस प्रकार के लेखों की प्रतिलिपियां वह राज्य सरकार, जिला परिषद, जिला विकास अधिकारी एवं सम्बन्धित जिलास्तरीय विभागीय अधिकारी को भेजता है। वह पचायतों को उनका बजट बनाने में सहायता देता है तथा यह देखता है कि पंचायतें अपने कोष की अतिरिक्त धनराशि को सार्वजनिक सम्पत्ति के निर्माण, जैसे सिंचाई के लिए तालाब, जंगल, मछली-पालन आदि कार्यों में लगायें। वह पंचायतों को तकनीकी सहायता एवं सलाह प्राप्त करने में सहयोग देता है तथा उन्हें बताता है कि धन के दुरुपयोग को बचाने के लिए तकनीकी राय का पालन आवश्यक है। विकास-अधिकारी पंचायत समिति के समस्त कर्मचारियों के दौरे का कार्यक्रम स्वीकार करता है तथा उनके यात्रा-व्यय बिलों पर प्रमाणित हस्ताक्षर (Counter Signature) करता है। इसके द्वारा प्रसार अधिकारियों को एक बार में दो माह के उपार्जित अवकाश की स्वीकृति दी जा सकती है। विकास अधिकारी को कुछ संकटकालीन शक्तियां भी प्राप्त हैं। यदि विकास अधिकारी यह देखे कि पंचायत समिति का प्रधान कार्यालय में उपस्थित नहीं है और क्षेत्र में आग लगने, बाढ़ आने या महामारी फैलने के कारण कुछ कदम उठाना जरूरी हो गया है, ताकि जन-कल्याण एवं जन-सुरक्षा को बनाये रखा जा सके, ऐसी परिस्थितियों में वह उन कार्यों को किये जाने का आदेश दे सकता है, जिनको सामान्य रूप से पंचायत समिति अथवा उसकी कोई स्थायी समिति ही स्वीकार करने का अधिकार रखती है। विकास अधिकारी द्वारा यह आज्ञा भी प्रसारित की जा सकती है कि इन कार्यों की सम्पन्नता में होने वाला खर्चा पंचायत समिति के कोष से लिया जाय। इस प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करते ही विकास अधिकारी कारणों सहित उनकी रिपोर्ट सक्षम अधिकारी के पास भेजता है तथा उसकी स्वीकृति प्राप्त करता है।

वह स्थायी समितियों के अध्यक्षों से परामर्श करके योजनाएं तैयार कराता है तथा उन्हें क्रियान्वित कराता है। उसके द्वारा प्रसार-अधिकारियों की मासिक बैठकें आयोजित की जाती है जिनमें वह सम्बन्धित विभागों से प्राप्त या पंचायत समिति द्वारा जारी किए गए आदेशों की उनको जानकारी प्रदान करता है। वह उनकी अध्ययन बैठकें भी आयोजित करता है, जिनमें उन्हें समस्त अधिनियम एवं नियमों तथा पंचायत समिति, पंचायत, सहकारी समिति और अन्य संस्थाओं से सम्बन्धित आदेशों की जानकारी प्रदान की जाती है। वह स्थानीय संस्थाओं एवं प्रसार अधिकारियों के लाभ के लिए समय-समय पर विशेषज्ञों को बुलाता रहता है। वह वर्ष में कम से कम दो बार प्रत्येक ग्राम सेवक के काम का अच्छी तरह से निरीक्षण करता है। वह वर्ष में कम से कम एक बार प्रत्येक पंचायत का निरीक्षण करके उसकी रिपोर्ट स्थायी समिति को प्रस्तुत करता है। महिने में कम से कम एक बार वह देहाती रेडियो गोष्ठी के कार्यक्रम को देखता है। विकास अधिकारी द्वारा यह भी देखा जाता है कि समिति की जीप का ठीक तरह से प्रयोग किया जा रहा है अथवा नहीं। वह जीप के प्रयोग का एक माह का कार्यक्रम बना कर पंचायत समिति की बैठक में रखता है ताकि प्रधान के दौरे का कार्यक्रम भी एक साथ उपलब्ध किया जा सके और महिने में दो-चार दिन के लिए जीप को खाली रखा जा सके जिससे कि अन्य आने वाले अधिकारियों के लिये तथा आवश्यक कार्यों में प्रयोग की जा सके।

विकास अधिकारी को वित्तीय क्षेत्र में पर्याप्त शक्तियां प्राप्त हैं। वह पंचायत समिति के आय-व्यय से संबधित तिमाही नक्शे, जिला विकास अधिकारी को समय पर प्रस्तुत करता है। वह पंचायत समिति की आय तथा व्यय पर पूरी निगरानी रखता है और यह देखता है कि वसूली नियमित रूप से हो तथा खर्चा बजट के अन्तर्गत किया जाये। वह पंचायत समिति को छः महिने की आय एव व्यय का ब्यौरा तैयार करके, पंचायत समिति के समक्ष प्रस्तुत करता है। पंचायत समिति के हिसाबों की समय-समय पर जांच करता रहता है ताकि किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने पावे। वह यह भी देखता है कि कोई खर्च स्वीकृत धनराशि के अन्तर्गत हो रहा है अथवा नहीं और वह धन पंचायत समिति के हित में उपयोग हो रहा है या नहीं। उसके द्वारा व्यक्तिगत एवं संस्थाओं को दिये गये ऋण का पूरा हिसाब रखा जाता है और पंचायत सहकारी समिति तथा राजस्व विभाग की सहायता से ऋण की वसूली की जाती है। खाली तथा प्रयोग में आयी हुई सारी चैक बुक को अपनी व्यक्तिगत सुरक्षा में रखता है। वह कार्यालय अध्यक्ष के समस्त अधिकारों का प्रयोग करता है। निर्माण-कार्य सम्पूर्ण होने के प्रमाण मे ओवरसियर अथवा सहायक अभियन्ता के हस्ताक्षर से पैमायश के आधार पर उपयोगी प्रमाण प्राप्त करता है और स्वयं भी यह प्रदर्शित करने के लिए कि इनका सही उपयोग निर्धारित समय में किया जा चुका है, अपने हस्ताक्षर (Endorsement) कर देता है। वह पंचायत समिति के खजान्ची एव स्टोरकीपर की जमानत की रकम को वित्तीय नियमानुसार निर्धारित करता है। जिन अधिकारियों को धन पेशगी दिया जाता है उनसे प्राप्ति की स्वीकृति लेता है। यदि आर्डर द्वारा पंचायत समिति के वित्तीय नक्शे एवं अन्य हिसाब मांगे जायं तो वह उनको

पंचायत समिति के नाम पर, पंचायत समिति का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी होता है। पंचायत समिति की ओर से किये जाने वाले सभी समझौते एवं करार उसी के द्वारा किये जायेंगे। पंचायत समिति के सभी पत्र उसके नाम से जारी किये जायेंगे। वह पचायत समिति के अन्तर्गत आने वाली सभी पंचायतों पर निरीक्षण एवं नियंत्रण रखेगा। पंचायत समिति के समस्त अधिकारी एवं कर्मचारी उसके नियंत्रण में कार्य करेंगे। वह कर्मचारियों का खंड में कहीं भी स्थानान्तरण कर सकता है, उसी के द्वारा उनको अवकाश प्रदान किये जायेंगे। विकास अधिकारी द्वारा उस प्रत्येक स्थायी समिति के निर्णयों एवं संकल्पों की सूचना प्रधान को दी जायेगी, जिसका कि प्रधान सदस्य नहीं है। विकास अधिकारी को राज्य सरकार द्वारा अन्य अधिकार भी दिये जा सकते हैं।

इस प्रकार विकास अधिकारी के कर्तव्यों एवं अधिकारों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह प्रधान एवं स्थायी समिति के अध्यक्ष के निर्देशानुसार, पंचायत समिति एवं स्थायी समितियों के सदस्यों को बैठक में शामिल होने के लिए नोटिस जारी करता है। वह ऐसा कार्यक्रम तैयार करता है जिसमें कि प्रधान द्वारा बताये गये कार्यों को भी सम्मिलित किया जा सके। वह पंचायत समिति तथा स्थायी समितियों की बैठक में उपस्थित होकर उसकी कार्यवाहियों को देखता एवं उन्हें लेखबद्ध करके रखता है। इस प्रकार के लेखों की प्रतिलिपियां वह राज्य सरकार, जिला परिषद, जिला विकास अधिकारी एवं सम्बन्धित जिलास्तरीय विभागीय अधिकारी को भेजता है। वह पचायतों को उनका बजट बनाने में सहायता देता है तथा यह देखता है कि पंचायतें अपने कोष की अतिरिक्त धनराशि को सार्वजनिक सम्पत्ति के निर्माण, जैसे सिंचाई के लिए तालाब, जंगल, मछली-पालन आदि कार्यों में लगाये। वह पंचायतों को तकनीकी सहायता एवं सलाह प्राप्त करने में सहयोग देता है तथा उन्हें बताता है कि धन के दुरुपयोग को बचाने के लिए तकनीकी राय का पालन आवश्यक है। विकास-अधिकारी पंचायत समिति के समस्त कर्मचारियों के दौरे का कार्यक्रम स्वीकार करता है तथा उनके यात्रा-व्यय बिलों पर प्रमाणित हस्ताक्षर (Counter Signature) करता है। इसके द्वारा प्रसार अधिकारियों को एक बार में दो माह के उपार्जित अवकाश की स्वीकृति दी जा सकती है। विकास अधिकारी को कुछ संकटकालीन शक्तियां भी प्राप्त हैं। यदि विकास अधिकारी यह देखे कि पंचायत समिति का प्रधान कार्यालय में उपस्थित नहीं है और क्षेत्र में आग लगने, बाढ़ आने या महामारी फैलने के कारण कुछ कदम उठाना जरूरी हो गया है, ताकि जन-कल्याण एवं जन-सुरक्षा को बनाये रखा जा सके, ऐसी परिस्थितियों में वह उन कार्यों को किये जाने का आदेश दे सकता है, जिनको सामान्य रूप से पंचायत समिति अथवा उसकी कोई स्थायी समिति ही स्वीकार करने का अधिकार रखती है। विकास अधिकारी द्वारा यह आज्ञा भी प्रसारित की जा सकती है कि इन कार्यों की सम्पन्नता में होने वाला खर्चा पंचायत समिति के कोष से लिया जाय। इस प्रकार के कार्यों को सम्पन्न करते ही विकास अधिकारी कारणों सहित उनकी रिपोर्ट सक्षम अधिकारी के पास भेजता है तथा उसकी स्वीकृति प्राप्त करता है।

जिला स्तर की सत्ताएं
(The authorities at district level)

पंचायती राज्य त्रि-सूत्री योजना में जिला स्तर की संस्था उच्च स्तर पर आती है। सादिक अली समिति के शब्दों में यह पंचायती राज्य का सर्वोच्च सूत्र (Higher Tier) है। जिला परिषद में कई महत्वपूर्ण सत्ताएं आती हैं जो कि मुख्य रूप से पंचायतों एवं पंचायत समितियों के कार्यों पर निरीक्षण एवं परिवेक्षण के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती हैं। इसमें जिला प्रमुख, उपजिला प्रमुख, जिला विकास अधिकारी, जिला परिषद का सचिव तथा जिलास्तर के अन्य कई अधिकारी होते हैं।

जिला प्रमुख एवं उपप्रमुख की स्थिति तथा कार्य (The Position & functions of Zilla Pramukh and Up-Pramukh)—नियमानुसार, प्रत्येक जिला परिषद का एक प्रमुख और एक उपप्रमुख होता है जिसे जिला परिषद के सदस्य अपने में से ही निर्दिष्ट रीति के अनुसार निर्वाचित करते हैं। जिला प्रमुख के निर्वाचन के लिए उस डिविजन के आयुक्त द्वारा जिला परिषद की एक बैठक बुलाई जाती है जिसका सभापतित्व आयुक्त या अतिरिक्त आयुक्त या राज्य सरकार द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त कोई अन्य अधीनस्थ अधिकारी करेगा, जिसे आयुक्त मनोनीत करेगा। प्रमुख के निर्वाचन के पश्चात् उपप्रमुख के निर्वाचन के लिए प्रमुख द्वारा जिला परिषद की बैठक बुलाई जाती है। ये दोनों ही निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा होंगे। यदि किसी पंचायत समिति का प्रधान या उपप्रधान जिला परिषद के प्रमुख के रूप में निर्वाचित हो जाय तो, इस रूप में निर्वाचित होने की तारीख से ही वह अपने पूर्व पद को छोड़ देगा। जिला प्रमुख एवं उप-प्रमुख का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है। ये दोनों अधिकारी अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक लिखित नोटिस जिला परिषद को देकर अपने पद से त्याग पत्र दे सकते हैं। ये त्याग पत्र उसी तारीख से प्रभावी होंगे जिसको कि उनका नोटिस जिला परिषद के सचिव को मिलेगा। जिला प्रमुख का त्याग पत्र उस दिन से प्रभावी होगा जबकि उससे सम्बन्धित राज्य सरकार की स्वीकृति जिला परिषद के कार्यालय में पहुंच जाये। जिला परिषद के प्रमुख या उप-प्रमुख के विरुद्ध धारा ३९ के प्रावधान के अनुसार अविश्वास का प्रस्ताव भी लाया जा सकता है।

जिला परिषद के प्रमुख को अनेक कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। वह जिला परिषद की बैठकें बुलायेगा, उनकी अध्यक्षता करेगा और उनका संचालन करेगा। वह जिला परिषद के सभी आवश्यक या वांछित अभिलेखों को देख सकता है। वह जिला परिषद के सचिव तथा सचिवालय में कार्य करने वाले कर्मचारी वर्ग पर प्रशासकीय नियंत्रण रखेगा। उस जिला की किसी भी पंचायत समिति के प्रधान द्वारा यदि त्यागपत्र दिया जाय तो वह उस पर विचार करेगा तथा उसे स्वीकृति प्रदान करेगा। वह पंचायत के कार्यों में पहल की भावना उत्पन्न करने एवं उत्साह पैदा करने का प्रयास करेगा। पंचायतों ने उत्पादन के जो कार्यक्रम एवं योजनाएं अपने हाथ में ले रखी हैं उनका पथ-प्रदर्शन करेगा तथा उनमें सहयोग एवं स्वेच्छापूर्ण संगठन पैदा करने में मदद देगा। वह उन अन्य शक्तियों का प्रयोग करेगा जो कि अधिनियम के द्वारा

उपलब्ध कराता है। आडिट की रिपोर्ट में बताई गई गलतियों एवं अन्य कमियों को पूरा कराता है। पंचायतों के आडिट ऐतराजों की तामील कराता है। इस प्रकार विकास अधिकारी का स्थान पंचायत समिति के जीवन में एक केन्द्रीय बिन्दु का है।

विकास अधिकारी की शक्तियों का क्षेत्र इतना व्यापक है कि यदि वह इनका प्रयोग स्वेच्छा से करने लगे तो वह खण्ड-स्तर पर तानाशाह बन जाये। यह स्थिति उन उद्देश्यों एवं आदर्शों से पूर्णतया भिन्न है जो कि प्रजातंत्रात्मक विकेन्द्रीकरण की आधारशिला माने गये हैं। वास्तविकता यह है कि विकास अधिकारी की शक्तियों पर भी अनेक प्रभावशाली प्रतिबन्ध एवं सीमाएं हैं। इन नियंत्रण की परिधियों में कार्य करता हुआ वह एक उत्तरदायी अधिकारी की भांति अपने क्षेत्र की सेवा करता है। प्रथम, विकास अधिकारी के ऊपर प्रधान का नियंत्रण एवं परिवेक्षण रहता है। प्रधान पंचायत समिति का एक निर्वाचित अध्यक्ष है। वह इस संस्था का अध्यक्ष है और अपने कार्य क्षेत्र में आने वाले सभी विषयों के लिए इसके प्रति उत्तरदायी है। अतः स्वाभाविक है कि वह पंचायत समिति के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर नियंत्रण रखे। पंचायत समिति के दिन-प्रतिदिन का कार्य-संचालन विकास अधिकारी के माध्यम से होता है। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पंचायत समिति के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी है अतः विकास अधिकारी या मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को प्रधान के प्रशासकीय नियंत्रण में कार्य करना पड़ता है। दूसरे, विकास अधिकारी राज्यसेवा का सदस्य होता है और पंचायत समिति में उसे डेपुटेशन (Deputation) पर भेजा जाता है। इसलिए विकास अधिकारी पर अनुशासनात्मक नियंत्रण रखने की शक्तियां राज्य-सरकार में निहित होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि पचायत समिति या प्रधान को विकास अधिकारी के विरुद्ध कार्य करने के लिए असहाय बन जाना चाहिये। यदि प्रधान या पंचायत समिति द्वारा राज्य सरकार को कहा जाय तो विकास अधिकारी से प्रारम्भिक पूछताछ की जा सकती है। इस संबंध में सादिकअली समिति ने यह सिफारिश की है कि यदि पंचायत समिति या प्रधान विकास अधिकारी के विरुद्ध जिला परिषद के मुख्य अधिकारी को एक विशेष शिकायत भेजें तो वह उस विषय में प्रारम्भिक पूछताछ करेगा और उसके परिणामों से प्रधान के माध्यम से पंचायत समिति को सूचित कर देगा। यदि मामले में कुछ सार दिखायी दे तो सरकार द्वारा नियमित जांच करायी जायेगी और परिणामों की सूचना पंचायत समिति को भेज दी जायेगी। तीसरे, विकास अधिकारी का वार्षिक गुप्त प्रतिवेदन (Confidential Report) जिलाधीश द्वारा लिखा जाता है। प्रधान द्वारा विकास अधिकारी के वर्ष भर के कार्यों का विवरण कलक्टर को भेजा जाता है जो कि उसके गुप्त प्रतिवेदन का भाग बन जाता है। इस प्रकार प्रधान को विकास अधिकारी के कार्यों एवं योग्यताओं के बारे में कुछ कहने का अवसर प्राप्त हो जाता है। सादिकअली समिति ने इस व्यवस्था को जारी रखने की सिफारिश की किन्तु उसने सुझाया कि विकास अधिकारी का गुप्त प्रतिवेदन जिलाधीश के स्थान पर जिला परिषद के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा तैयार कर राज्य सरकार को भेजा जाना चाहिये।

जिला स्तर की सत्ताएं

(The authorities at district level)

पंचायती राज्य त्रि-सूत्री योजना में जिला स्तर की संस्था उच्च स्तर पर आती है। सादिक अली समिति के शब्दों में यह पंचायती राज्य का सर्वोच्च सूत्र (Higher Tier) है। जिला परिषद में कई महत्वपूर्ण सत्ताएँ आती हैं जो कि मुख्य रूप से पंचायतों एवं पंचायत समितियों के कार्यों पर निरीक्षण एवं परिवेक्षण के उत्तरदायित्वों का निर्वाह करती हैं। इसमें जिला प्रमुख, उपजिला प्रमुख, जिला विकास अधिकारी, जिला परिषद का सचिव तथा जिलास्तर के अन्य कई अधिकारी होते हैं।

जिला प्रमुख एवं उपप्रमुख की स्थिति तथा कार्य (The Position & functions of Zilla Pramukh and Up-Pramukh)—नियमानुसार, प्रत्येक जिला परिषद का एक प्रमुख और एक उपप्रमुख होता है जिसे जिला परिषद के सदस्य अपने में से ही निर्दिष्ट रीति के अनुसार निर्वाचित करते हैं। जिला प्रमुख के निर्वाचन के लिए उस डिविजन के आयुक्त द्वारा जिला परिषद की एक बैठक बुलाई जाती है जिसका सभापतित्व आयुक्त या अतिरिक्त आयुक्त या राज्य सरकार द्वारा इस कार्य के लिए नियुक्त कोई अन्य अधीनस्थ अधिकारी करेगा, जिसे आयुक्त मनोनीत करेगा। प्रमुख के निर्वाचन के पश्चात् उपप्रमुख के निर्वाचन के लिए प्रमुख द्वारा जिला परिषद की बैठक बुलाई जाती है। ये दोनों ही निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली द्वारा होंगे। यदि किसी पंचायत समिति का प्रधान या उपप्रधान जिला परिषद के प्रमुख के रूप में निर्वाचित हो जाय तो, इस रूप में निर्वाचित होने की तारीख से ही वह अपने पूर्व पद को छोड़ देगा। जिला प्रमुख एवं उप–प्रमुख का कार्यकाल तीन वर्ष का होता है। ये दोनों अधिकारी अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक लिखित नोटिस जिला परिषद को देकर अपने पद से त्याग पत्र दे सकते हैं। ये त्याग पत्र उसी तारीख से प्रभावी होंगे जिसको कि उनका नोटिस जिला परिषद के सचिव को मिलेगा। जिला प्रमुख का त्याग पत्र उस दिन से प्रभावी होगा जबकि उससे सम्बन्धित राज्य सरकार की स्वीकृति जिला परिषद के कार्यालय में पहुंच जाये। जिला परिषद के प्रमुख या उप–प्रमुख के विरुद्ध धारा ३९ के प्रावधान के अनुसार अविश्वास का प्रस्ताव भी लाया जा सकता है।

जिला परिषद के प्रमुख को अनेक कार्यों का उत्तरदायित्व सौंपा गया है। वह जिला परिषद की बैठकें बुलायेगा, उनकी अध्यक्षता करेगा और उनका संचालन करेगा। वह जिला परिषद के सभी आवश्यक या वांछित अभिलेखों को देख सकता है। वह जिला परिषद के सचिव तथा सचिवालय में कार्य करने वाले कर्मचारी वर्ग पर प्रशासकीय नियंत्रण रखेगा। उस जिला की किसी भी पंचायत समिति के प्रधान द्वारा यदि त्यागपत्र दिया जाय तो वह उस पर विचार करेगा तथा उसे स्वीकृति प्रदान करेगा। वह पंचायत के कार्यों में पहल की भावना उत्पन्न करने एवं उत्साह पैदा करने का प्रयास करेगा। पंचायतों ने उत्पादन के जो कार्यक्रम एवं योजनाएं अपने हाथ में ले रखी हैं उनका पथ-प्रदर्शन करेगा तथा उनमें सहयोग एवं स्वेच्छापूर्ण संगठन पैदा करने में मदद देगा। वह उन अन्य शक्तियों का प्रयोग करेगा जो कि अधिनियम के द्वारा

सौंपी जाएं। जिला प्रमुख समय-समय पर पंचायत समितियों, उनके प्रधान, विकास अधिकारियों तथा सदस्यों का पथ-प्रदर्शन करने के लिए एवं परामर्श देने के लिए जिला-खण्डों में जाएगा। वहां पंचायत समितियों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का निरीक्षण करेगा तथा अभिलेखों की जांच करेगा। इन सब के आधार पर वह जिले की पंचायत समितियों की कार्यवाहियों का मूल्यांकन करेगा तथा उनके कार्यक्रमों एवं समस्याओं का अध्ययन करने में समर्थ हो सकेगा। प्रमुख द्वारा किए जाने वाले इन निरीक्षणों एवं कार्यवाहियों का प्रतिवेदन जिला परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा। इस प्रतिवेदन में वह पंचायत समिति के दोषों को बताएगा। जिला प्रमुख का एक कर्त्तव्य यह भी है कि वह जिला परिषद के सचिव के उस वर्ष के कार्य की रिपोर्ट जिला विकास अधिकारी को भेजेगा जो उसको सचिव से सम्बन्धित गोपनीय प्रतिवेदन के साथ लगा देगा। जब प्रमुख का पद खाली हो तो उसके पद के कार्यों को उस समय तक उपप्रमुख सम्भालेगा जब तक कि नए प्रमुख का चुनाव न हो जाए। जिला प्रमुख यदि छुट्टी पर हो अथवा कुछ दिनों के लिए कार्यालय में न आए तो उसके दायित्वों को उप-प्रमुख द्वारा निभाया जाएगा। यदि परिस्थितिवश जिला प्रमुख एवं उपप्रमुख दोनों ही पद पर न रहे तो उसके कृत्यों का पालन जिला परिषद के ऐसे सदस्य द्वारा किया जाएगा जिसे कि उसके सदस्यों द्वारा निर्धारित रीति से निर्वाचित किया जाए। इस प्रकार से निर्वाचित प्रमुख अस्थायी प्रमुख कहलाएगा और वह निर्धारित प्रतिबन्धों एवं शर्तों के आधीन रह कर प्रमुख की शक्तियों का प्रयोग एवं कृत्यों का पालन करता रहेगा जब तक कि नया प्रमुख निर्वाचित न हो जाए।

इस प्रकार जिला स्तर पर जिला प्रमुख प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की नीति को क्रियान्वन का रूप प्रदान करता है। उसे पंचायती राज में संलग्न जिले की संस्थाओं के गैर-सरकारी कर्मचारियों की टीम का मुख्य कहा जा सकता है। वह यह देखता रहता है कि पंचायतों एवं पंचायत समितियों के दैनिक कार्यों में वातावरण अच्छा रहे ताकि सामुदायिक भावना पर बल दिया जा सके। पंचायती राज की संस्थाओं में स्वस्थ परम्पराएं स्थापित करने के लिए तथा जनतन्त्रात्मक प्रणाली को प्रोत्साहित करने के लिए वह हर सम्भव प्रयास करता है। जिला के विभिन्न स्तर के सरकारी एवं गैर-सरकारी कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में व उनमें उत्पन्न होने वाले मतभेदों तथा मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को दूर करने में सहायता करता है। वह यह भी देखता है कि पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों से समाज के निर्बल वर्ग को अधिक लाभ पहुंचे। जो अनुदान की धन राशि जिला परिषदों को दी जाती है उसे वह सही समय पर तथा सही अनुपात में वितरित करता है। वह यह देखता है कि पंचायत समितियां समय पर स्थायी समितियों का निर्माण करे एवं सरपंचों द्वारा यथा समय ग्राम सभा की बैठकें बुलाई जाएं। जिला परिषद फण्ड से लिए जाने वाले पाँच हजार रुपये के अधिक से चैक पर जिला प्रमुख द्वारा ही प्रति हस्ताक्षर (Counter Signature) किए जाते हैं। वह प्रमुख का चुनाव कराता है तथा जिला परिषद के सदस्यों को उनके पद की शपथ दिलाता है। वह

जिला परिषद की उपसमितियों का संगठन करता है। यह जिला परिषद कर्मचारी समिति का सदस्य होता है।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में जिला विकास अधिकारी (Chief Executive officer of the Zilla Parishad)—जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी इसका एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। एक ओर तो उसे जिला प्रमुख एवं जिला परिषद के सदस्यों का विश्वास प्राप्त करना होता है कि वह निष्पक्ष परामर्श दे रहा है एवं कुशलतापूर्वक कार्य संचालन कर रहा है। दूसरी ओर वह अपने अधिकारियों एवं स्टाफ के लोगों के साथ मिलकर जिला परिषद के निर्णय को क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। उसकी इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह निर्वाचित प्रतिनिधियों को बिना किसी पक्षपात के परामर्श दे सके और जिला स्तर के अधिकारियों एवं विकास अधिकारियों को आज्ञापालक बनाए रख सके।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के पद पर किस व्यक्ति को लिया जाए इस सम्बन्ध में कई सुझाव सुझाये जाते हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि जिलाधीश को जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बना दिया जाए। दूसरे, यह सुझाया जाता है कि इस पद पर एक पृथक वरिष्ठ अधिकारी हो जो पूरे समय कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाए। इन दोनों ही सुझावों के अपने अपने लाभ हैं। यदि जिलाधीश को मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बना दिया जाए तो उससे जिला परिषद का कार्य अत्यन्त सरल हो जाएगा। जिलाधीश अपने स्तर और स्थिति का प्रयोग विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करने में कर सकता है। वह पंचायती राज संस्थाओं के कार्य संचालन में राजस्व एवं पुलिस अभिकरणों का समन्वय भी आसानी से प्राप्त कर लेगा। जिला प्रशासन का अध्यक्ष होने के नाते वह जिला परिषद के लिए अधिक प्रभावशील एवं उपयोगी सिद्ध होगा। जिलाधीश के पक्ष में दिए गए ये तर्क अन्य विरोधी तर्कों द्वारा महत्वहीन सिद्ध किए जाते हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि ज़िलाधीश जिले के राजस्व, फौजदारी एवं सामान्य प्रशासन में इतना व्यस्त रहता है कि जिला परिषद के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में अपने कर्त्तव्यों के प्रति वह पर्याप्त ध्यान एवं समय नहीं दे पाएगा। दूसरे, जिलाधीश जिले में सरकार के प्रतिनिधि के रूप में जो विभिन्न कार्य करता है उनके अतिरिक्त वह कुछ विनियमन, नियन्त्रण एवं बाध्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है। जिला परिषद के साथ उसका सहयोग उसे एक अजीब सी स्थिति में डाल सकता है जहां कि वह अपने दायित्वों का सही ढंग से पालन न कर सके। तीसरे, ज़िलाधीश को सरकार की ओर से जिले में एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में रखना अच्छा रहेगा। उसे जिला परिषद के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में उलझाना उचित प्रतीत नहीं होता जबकि वह पहले से ही अपने अनगिनत कामों से दबा हुआ है। जिलाधीश को पंचायती राज की संस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण के कार्य सौंपे जाने चाहिए। जिलाधीश जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी न होकर यदि राज्य सरकार की ओर से उचित निर्देशन प्रदान करे तो अधिक अच्छा रहेगा। वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में सामान्य प्रशासन के विषयों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जिलाधीश की शक्तियां मुख्य रूप से इन्ह

सौंपी जाएं। जिला प्रमुख समय–समय पर पंचायत समितियों, उनके प्रधान, विकास अधिकारियों तथा सदस्यों का पथ–प्रदर्शन करने के लिए एवं परामर्श देने के लिए जिला–खण्डों में जाएगा। वहां पंचायत समितियों के द्वारा किए जाने वाले कार्यों का निरीक्षण करेगा तथा अभिलेखों की जांच करेगा। इन सब के आधार पर वह जिले की पंचायत समितियों की कार्य-वाहियों का मूल्यांकन करेगा तथा उनके कार्यक्रमों एवं समस्याओं का अध्ययन करने में समर्थ हो सकेगा। प्रमुख द्वारा किए जाने वाले इन निरीक्षणों एवं कार्यवाहियों का प्रतिवेदन जिला परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाएगा। इस प्रतिवेदन में वह पंचायत समिति के दोषों को बताएगा। जिला प्रमुख का एक कर्त्तव्य यह भी है कि वह जिला परिषद के सचिव के उस वर्ष के कार्य की रिपोर्ट जिला विकास अधिकारी को भेजेगा जो उसको सचिव से सम्बन्धित गोपनीय प्रतिवेदन के साथ लगा देगा। जब प्रमुख का पद खाली हो तो उसके पद के कार्यों को उस समय तक उपप्रमुख सम्भालेगा जब तक कि नए प्रमुख का चुनाव न हो जाए। जिला प्रमुख यदि छुट्टी पर हो अथवा कुछ दिनों के लिए कार्यालय में न आए तो उसके दायित्वों को उप–प्रमुख द्वारा निभाया जाएगा। यदि परिस्थितिवश जिला प्रमुख एवं उपप्रमुख दोनों ही पद पर न रहे तो उसके कृत्यों का पालन जिला परिषद के ऐसे सदस्य द्वारा किया जाएगा जिसे कि उसके सदस्यों द्वारा निर्धारित रीति से निर्वाचित किया जाए। इस प्रकार से निर्वाचित प्रमुख अस्थायी प्रमुख कहलाएगा और वह निर्धारित प्रतिबन्धों एवं शर्तों के आधीन रह कर प्रमुख की शक्तियों का प्रयोग एवं कृत्यों का पालन करता रहेगा जब तक कि नया प्रमुख निर्वाचित न हो जाए।

इस प्रकार जिला स्तर पर जिला प्रमुख प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की नीति को क्रियान्वन का रूप प्रदान करता है। उसे पंचायती राज में संलग्न जिले की संस्थाओं के गैर–सरकारी कर्मचारियों की टीम का मुख्य कहा जा सकता है। वह यह देखता रहता है कि पंचायतों एवं पंचायत समितियों के दैनिक कार्यों में वातावरण अच्छा रहे ताकि सामुदायिक भावना पर बल दिया जा सके। पंचायती राज की संस्थाओं में स्वस्थ परम्पराएं स्थापित करने के लिए तथा जनतन्त्रात्मक प्रणाली को प्रोत्साहित करने के लिए वह हर सम्भव प्रयास करता है। जिला के विभिन्न स्तर के सरकारी एवं गैर सरकारी कर्मचारियों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करने में व उनमें उत्पन्न होने वाले मतभेदों तथा मार्ग में आने वाली कठिनाईयों को दूर करने में सहा-यता करता है। वह यह भी देखता है कि पंचायती राज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा किए जाने वाले कार्यों से समाज के निर्बल वर्ग को अधिक लाभ पहुंचे। जो अनुदान की धन राशि जिला परिषदों को दी जाती है उसे वह सही समय पर तथा सही अनुपात में वितरित करता है। वह यह देखता है कि पंचायत समितियां समय पर स्थायी समितियों का निर्माण करे एवं सरपंचों द्वारा यथा समय ग्राम सभा की बैठकें बुलाई जाएं। जिला परिषद फण्ड से लिए जाने वाले पांच हजार रुपये के अधिक से चैक पर जिला प्रमुख द्वारा ही प्रति हस्ता-क्षर (Counter Signature) किए जाते हैं। वह प्रमुख का चुनाव कराता है तथा जिला परिषद के सदस्यों को उनके पद की शपथ दिलाता है। वह

जिला परिषद की उपसमितियों का संगठन करता है। यह जिला परिषद कर्मचारी समिति का सदस्य होता है।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में जिला विकास अधिकारी (Chief Executive officer of the Zilla Parishad)—जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी इसका एक महत्वपूर्ण अधिकारी होता है। एक ओर तो उसे जिला प्रमुख एवं जिला परिषद के सदस्यों का विश्वास प्राप्त करना होता है कि वह निष्पक्ष परामर्श दे रहा है एवं कुशलतापूर्वक कार्य संचालन कर रहा है। दूसरी ओर वह अपने अधिकारियों एवं स्टाफ के लोगों के साथ मिलकर जिला परिषद के निर्णय को क्रियान्वित करने का प्रयास करता है। उसकी इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह निर्वाचित प्रतिनिधियों को बिना किसी पक्षपात के परामर्श दे सके और जिला स्तर के अधिकारियों एवं विकास अधिकारियों को आज्ञापालक बनाए रख सके।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के पद पर किस व्यक्ति को लिया जाए इस सम्बन्ध में कई सुझाव सुझाये जाते हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि जिलाधीश को जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बना दिया जाए। दूसरे, यह सुझाया जाता है कि इस पद पर एक पृथक वरिष्ठ अधिकारी हो जो पूरे समय कार्य करने के लिए नियुक्त किया जाए। इन दोनों ही सुझावों के अपने अपने लाभ हैं। यदि जिलाधीश को मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बना दिया जाए तो उससे जिला परिषद का कार्य अत्यन्त सरल हो जाएगा। जिलाधीश अपने स्तर और स्थिति का प्रयोग विभिन्न विभागों के बीच समन्वय स्थापित करने में कर सकता है। वह पंचायती राज संस्थाओं के कार्य संचालन में राजस्व एवं पुलिस अभिकरणों का समन्वय भी आसानी से प्राप्त कर लेगा। जिला प्रशासन का अध्यक्ष होने के नाते वह जिला परिषद के लिए अधिक प्रभावशील एवं उपयोगी सिद्ध होगा। जिलाधीश के पक्ष में दिए गए ये तर्क अन्य विरोधी तर्कों द्वारा महत्वहीन सिद्ध किए जाते हैं। प्रथम, यह कहा जाता है कि ज़िलाधीश जिले के राजस्व, फौजदारी एवं सामान्य प्रशासन में इतना व्यस्त रहता है कि जिला परिषद के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के रूप में अपने कर्त्तव्यों के प्रति वह पर्याप्त ध्यान एवं समय नहीं दे पाएगा। दूसरे, जिलाधीश जिले में सरकार के प्रतिनिधि के रूप में जो विभिन्न कार्य करता है उनके अतिरिक्त वह कुछ विनियमन, नियन्त्रण एवं बाध्यकारी शक्तियों का प्रयोग करता है। जिला परिषद के साथ उसका सहयोग उसे एक अजीब सी स्थिति में डाल सकता है जहां कि वह अपने दायित्वों का सही ढंग से पालन न कर सके। तीसरे, ज़िलाधीश को सरकार की ओर से जिले में एक निष्पक्ष दर्शक के रूप में रखना अच्छा रहेगा। उसे जिला परिषद के कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों में उलझाना उचित प्रतीत नहीं होता जबकि वह पहले से ही अपने अनगिनत कामों से दबा हुआ है। जिलाधीश को पंचायती राज की संस्थाओं के सम्बन्ध में कुछ पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण के कार्य सौंपे जाने चाहिए। जिलाधीश जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी न होकर यदि राज्य सरकार की ओर से उचित निर्देशन प्रदान करे तो अधिक अच्छा रहेगा। वर्तमान समस्याओं के सन्दर्भ में सामान्य प्रशासन के विषयों को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। जिलाधीश की शक्तियां मुख्य रूप से इन्ह

विषयों पर केन्द्रित होनी चाहिए। इन सभी तर्कों पर विचार करने के बाद सादिक अली समिति ने सुझाया कि जिलाधीश को जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी बनाना अनुपयुक्त रहेगा। समिति के मतानुसार इस पद पर एक पृथक अधिकारी की नियुक्ति किया जाना अधिक उपयुक्त था।

मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को प्रशासनिक एवं विकास कार्यों में पर्याप्त अनुभव वाला वरिष्ठ अधिकारी होना चाहिए; वह न तो अधिक युवक होना चाहिए और न अधिक वृद्ध। सादिक अली समिति ने यह सुझाया कि मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के पद पर राजस्थान प्रशासकीय सेवा के वरिष्ठ श्रेणी के लोगों को लिया जाना चाहिए। भारतीय प्रशासकीय सेवा के अधिकारियों को ही इस पद पर लिया जा सकता है।

जिला विकास अधिकारी को कई प्रकार की शक्तियां सौंपी गई हैं। वह विभिन्न योजनाओं की क्रियान्विति में की गई प्रगति की सीमा तथा जिला परिषद के विनिश्चयों एवं संकल्पों की कार्यान्विति के लिए अथवा उनमें सुधार के लिए सुझाव दे सकता है। दूसरे, वह राज्य सरकार के विभिन्न विकास विभागों द्वारा जिलास्तर पर किए जाने वाले कार्यों को समन्वित करता है। तीसरे, जिला विकास अधिकारी यह देखता है कि पंचायत समितियों के अधीन रखी गई राशियां उचित ढंग से उन प्रयोजनों के लिए काम में लाई जाएं जिनके लिए कि वे रखी गई हैं, पंचायत समितियों द्वारा जिले में चलाई जाने वाली संस्थाओं के न्यूनतम स्तरों का संधारण किया जाए तथा विकास अधिकारी एवं विस्तार अधिकारियों का उसका दल पूर्णरूप से अपना कर्त्तव्य-पालन करे। चौथे, वह जिला परिषद को अपने द्वारा किए गए कार्यों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है। पांचवें, अधिनियम द्वारा उसको जो अन्य कार्य सौंपे जाएं उनका भी वह सम्पादन करेगा।

विकास अधिकारी के रूप में जिलाधीश के कार्य—जिला स्तर पर राज्य सरकार का प्रतिनिधि होने के नाते यह देखना जिलाधीश का कर्त्तव्य होता हैं कि पंचायती राज संस्थान ठीक प्रकार कार्य कर रही हैं या नहीं। वह उनको आवश्यक तकनीकी एवं प्रशासनिक सहायता दिलाने का प्रयास करता हैं। जिला स्तरीय अधिकारियों की टीम का वह मुखिया होता है। विकास के काम में लगे हुए विभिन्न स्तर के कर्मचारियों एवं कार्यकर्त्ताओं की कठिनाईयों को दूर करता है तथा काम की निरंतर प्रगति की व्यवस्था करता है। वह पंचायत समिति के कार्यक्रमों से राज्य सरकार को अवगत रखता है। वह यह भी देखता है कि पंचायत समिति के प्रस्तावित नियम एवं उपनियम राज्य सरकार की नीति के अनुकूल हैं अथवा नहीं। वह पंचायतों की आडिट रिपोर्ट की छानबीन करता है। उनकी पंचायत समिति द्वारा पंचायत से तामील कराता है और पंचायत के कसूरबार सदस्यों को दण्ड देता है। वह यह देखता है कि जिला स्तरीय अधिकारी पंचायत समिति के बुलाने पर और उसकी बैठकों में जब तब स्वेच्छा से शामिल होते रहें। वह तीन माह में एक बार हर पंचायत समिति की बैठक में शामिल होता है। जब वह पंचायत समिति, तहसील या पुलिस थाने जा रहा होता है तो बीच में पड़ने वाली पंचायतों को भी देखता चलता है। वह राज्य सरकार की हिदायतों के अनु-

सार सभी जिला स्तरीय अधिकारियों की वार्षिक गुप्त रिपोर्ट पर टिप्पणी देता है। यह जिला स्तरीय अधिकारियों एवं विकास अधिकारी की मासिक बैठक बुलाता है। इस प्रकार वह पचायती राज के प्रशासन में एक महत्वपूर्ण योगदान करता है।

जिला स्तरीय अधिकारी—जिला स्तर पर विभिन्न विभागों के अधिकारी अपने कार्यालयों के स्वतन्त्र अध्यक्ष के रूप में कार्य करते हैं। जिला परिषद का उनके ऊपर कोई प्रशासकीय नियन्त्रण नहीं रहता। यह अधिकारी जिला परिषद एवं पंचायत समितियों की बैठकों में उपस्थित रहते हैं और उनके कार्यों में तकनीकी निर्देशन प्रदान करते हैं। राज्य सरकार एवं विभागाध्यक्ष जिला स्तर के अधिकारियों के लिए कुछ निर्देश भेजते हैं ताकि वे पंचायती राज संस्थाओं के साथ अधिक निश्चित तरीके से मिलजुल कर कार्य कर सकें। ये अधिकारी कलक्टर अथवा जिला विकास अधिकारी को अपने दौरे का कार्यक्रम भेज देते हैं। जब जिलाधीश द्वारा वार्षिक गुप्त प्रतिवेदन लिखा जाता है तो वह जिला स्तर के अधिकारियों के कार्यों का मूल्यांकन करता है। सादिक अली समिति ने अध्ययन के दौरान यह पाया कि कुल मिलाकर जिला विकास अधिकारियों ने पंचायती राज की स्थापना के बाद प्रभावशाली रूप में कार्य नहीं किया तथा कार्यक्रमों की क्रियान्विति में उन्होंने उपयोगी निर्देशन नहीं दिया। समिति ने सुझाया कि जिला स्तर के उन अधिकारियों को जिला परिषद के आधीन रख दिया जाये जिनकी क्रियायें जिल परिषद को स्थानान्तरित कर दी गई हैं। समिति के मतानुसार जिन जिला स्तरीय अधिकारियों को जिला परिषद के आधीन कार्य करना चाहिए वे हैं—जिला कृषि अधिकारी, जिला पशुपालन अधिकारी, स्कूलों का निरीक्षक, जिला समाज कल्याण अधिकारी, कार्यपालिका अभियन्ता, सहायक अभियन्ता आदि।

जिला परिषद का सचिव—प्रत्येक जिला परिषद के लिए राज्य सरकार द्वारा एक सचिव नियुक्त किया जाएगा। प्रत्येक सचिव किसी राज्य सेवा का सदस्य या राज्य सरकार के आधीन कोई पद धारण करने वाला व्यक्ति होगा। राज्य सरकार जिला प्रमुख के परामर्श से उसे स्थानांतरित कर सकती है। जिला परिषद का सचिव, जिला परिषद के कार्यालय अध्यक्ष के अधिकारों का प्रयोग करेगा। वह जिला परिषद या उसकी उपसमितियों की बैठक की सूचना प्रमुख के निर्देशों के अनुसार जारी करेगा। वह इनकी बैठकों में उपस्थित रहेगा तथा उनके संक्षिप्त विवरण को लेखबद्ध करके रखेगा। वह जिला परिषद और उसकी उपसमितियों के निर्णयों तथा संकल्पों को क्रियान्वित करेगा। वह जिला परिषद के रुपया निकालने वाले और वितरण करने वाले अधिकारी के रूप में कार्य करेगा। वह निश्चित तिथि तक बजट तैयार करके जिला परिषद में प्रस्तुत कर देगा। वह जिला कर्मचारी समिति के सचिव का भी काम करता है। जिला परिषद के आडिट व निरीक्षण द्वारा जो ऐतराज उठाए गये हों, तथा जो आज्ञाएं दी गई हों उनके अनुसार कार्य करता है।

जिला विकास अधिकारी पर नियन्त्रण—जिला परिषद का विकास अधिकारी अथवा मुख्य कार्यपालिका अधिकारी जिला परिषद के सभी प्रशास-

कीय एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्तरदायी है। ऐसी स्थति में यह स्वाभाविक है कि वह कुशल प्रशासन बनाये रखने के लिए तथा जिला परिषद के निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए जिला परिषद के प्रति उत्तरदायी होगा। वह विकास कार्यक्रमों के सफल क्रियान्वयन के लिए भी उत्तरदायी है। अतः यह आवश्यक है कि संस्था का अध्यक्ष मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर नियन्त्रण रखे। इस अर्थ को पूरा करने के लिए ही जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी जिला प्रमुख के प्रशासकीय नियंत्रण में कार्य करता है। जिला विकास अधिकारी का गुप्त प्रतिवेदन जिला प्रमुख द्वारा लिखा जाता है।

८

स्थानीय सरकार के सेवी वर्ग का प्रबन्ध

[THE PERSONNEL MANAGEMENT OF LOCAL GOVT.]

किसी भी प्रशासनिक संगठन में सेवी वर्ग का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है जिसकी कुशलता एवं योग्यता ही आगे चल कर उस संगठन की सफलता एवं सार्थकता को सिद्ध करती है। स्थानीय स्तर पर विभिन्न निकायों का संगठन, उनका पारस्परिक सम्बन्ध, नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण की उचित व्यवस्था, संचार साधनों की सक्रिय स्थापना, आदि विभिन्न बातें स्थानीय सरकार की सफलता में महत्वपूर्ण योगदान करती हैं किन्तु इन सभी का प्रभाव इस समय तक पूर्ण रूप से सामने नहीं आएगा जब तक कि स्थानीय सरकार की विभिन्न निकायों में कार्य करने वाले पदाधिकारी योग्य तथा सामर्थ्यवान न हों। जब योग्य पदाधिकारियों को स्थानीय सरकार के विभिन्न दायित्व सौंप दिए जाते हैं तो जनता को वे सुविधाएं एवं सुख प्राप्त होने लगते हैं जिनके लिए इन निकायों का संगठन किया गया था। सेवी वर्ग इन संगठनों में वही कार्य करता है जो कि एक मशीन के संचालन में शक्ति द्वारा किया जाता है। स्थानीय निकायों के दिन प्रतिदिन का प्रशासन करने का दायित्व सेवी वर्ग के कन्धों पर ही आता है। इस सम्बन्ध में मि० अर्गल (Argal) का यह कहना सही है कि परिषद नीति निर्धारित करती है और नागरिक सेवा उसे संचालित करती है। यदि परिषद नगरपालिका निकाय का मस्तिष्क है तो नागरिक सेवक उसके हाथ हैं।[1] मि० हरमन फाईनर लिखते हैं कि सरकार का राजनैतिक पक्ष चाहे कितना ही पर्याप्त संगठित हो, हमारा राजनैतिक दर्शन चाहे कितना ही बुद्धिपूर्ण हो और नेतृत्व एवं आज्ञा कितने ही ऊंचे हों—ये सब बिना अधिकारियों के, विशेष

---

1. "The Council lays down the policy, the civil service carries it out. If the Council is the brain of the Municipal Corporate Body, the civil servants are its hands."

—*R. Argal,* Municipal Govt. in India, Agrawal Press, Allahabad, 1960, P. 132.

मामलों में बुद्धि एवं शक्ति प्रदान करने वाले विशेषज्ञों के तथा स्थायी एवं विशेष रूप से इस कार्य को करने के लिए नियुक्त व्यक्तियों के प्रभावहीन होंगे।[1]

स्थानीय नागरिक सेवाओं का सर्वश्रेष्ठ रूप प्रायः उसे माना जाता है जिसमें कि नियुक्ति योग्यता के आधार पर की जाए, कार्यकाल की सुरक्षा प्रदान की जाए, पदोन्नति के पूरे अवसर हों एवं राजनैतिक निष्पक्षता की व्यवस्था की जाए। भारत में विभिन्न स्थानीय सेवाओं का संगठन करते समय इन सिद्धान्तों पर कितना ध्यान दिया गया यह विचार का विषय है। भारत के प्रायः सभी राज्यों में स्थानीय निकायों के अधिकांश पदों पर नियुक्तियां एवं नियन्त्रण निकायों द्वारा ही रखा जाता है। कुछ तकनीकी एवं व्यावसायिक प्रकृति के पदों को अपवाद स्वरूप छोड़ दिया गया है। इन पदों पर नियुक्तियां राज्य सरकार की सेवाओं में से की जाती है। इस प्रकार नियुक्त किए गए सेवक अपनी पदोन्नति, अनुशासन, दण्ड, निलम्बन, आदि की दृष्टि से स्थानीय निकायों के नियन्त्रण में नहीं रहते। इन अधिकारियों के कार्य के प्रति असन्तोष होने पर स्थानीय निकाय उनके स्थानान्तरण के लिए मांग कर सकते हैं अथवा उनके विरुद्ध आरोप लगा सकते हैं। इन कुछ अधिकारियों को छोड़ कर अन्य सेवाओं पर स्थानीय सरकार का पूरा नियन्त्रण होता है।

स्थानीय सरकार के उच्च पदों के लिए प्रायः विज्ञापन निकाले जाते हैं तथा आने वाले प्रार्थना पत्रों में से उपयुक्त को छांटा जाता है। इन पदों पर नियुक्ति करने की शक्ति स्थानीय निकाय की व्यक्तिगत या सामूहिक उच्च सत्ता को प्राप्त होती है। छोटे पदों की नियुक्तियां सम्बन्धित अधिकारी द्वारा कर दी जाती हैं। कुछ पदों के बारे में कम से कम योग्यताएं राज्य सरकार द्वारा निर्धारित कर दी जाती हैं। किन्तु केवल इस व्यवस्था के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि चयन योग्यता के आधार पर किया जा रहा है। स्थानीय निकाय जब विभिन्न पदों पर नियुक्तियां करते हैं तो वे प्रायः यह नहीं देखते कि किस उम्मीदवार में अधिक से अधिक योग्यताएं हैं, वे केवल राजनैतिक एवं व्यक्तिगत दृष्टि से इस विषय पर विचार करते हैं। ऐसी स्थिति में जो उम्मीदवार स्थानीय निकाय के प्रभावशाली व्यक्ति की सद्भावना प्राप्त कर सकता है वह चुन लिया जाएगा और उससे अधिक योग्य व्यक्ति देखता रहेगा। छोटे पदों पर नियुक्ति करते समय एवं पदोन्नति के समय यह विचार बहुत अधिक प्रभावशील रहता है। इस स्थिति के परिणामस्वरूप उच्च पदों पर नियुक्तियां करते समय स्थानीय निकाय के विभिन्न सदस्यों के बीच प्रायः मतभेद उत्पन्न हो जाता है और वे अपने

---

1. "However adequately organized the political side of Govt., however voice of our political philosoply and high leadership and command, these would be of no effect without the body of officials, expert in applying the accumulated supply of power and wisdom to tne particular cases and permanently and specially employed to do so."
—*Herman Finer*, the British Civil Service, P. 5.

विशेष व्यक्ति को नियुक्त करने की धुन में लग जाते हैं। इस प्रकार के पदों पर की गई नियुक्तियों के बाद स्थानीय निकाय के सदस्यों में परस्पर दुर्भावनाएं एवं कटु सम्बन्ध पनपने लगते हैं।

कार्यकाल की सुरक्षा की दृष्टि से स्थानीय सरकार की सेवाओं को दो भागों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है। इनमें जो उच्चाधिकारी होते हैं उनका कार्यकाल सुरक्षित नहीं होता क्योंकि उनके कर्तव्य इस प्रकार के हैं कि स्थानीय निकाय के सदस्यों से उनका मनमुटाव होना स्वाभाविक है। फलतः उन्हें पद से हटाना पड़ता है। राज्य सरकार द्वारा इन उच्च पदाधिकारियों के पद को अधिक सुरक्षित बनाने के लिए यह प्रावधान रखा गया है कि स्थानीय परिषद् इनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही केवल २/३ के बहुमत से ही कर सकते हैं और इन अधिकारियों को मिली हुई सजा के विरुद्ध अपील करने का अधिकार है। कुछ राज्यों में कार्यपालिका अधिकारियों के विरुद्ध की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही पर राज्य सरकार की स्वीकृति भी अनिवार्य होती है। यह कहा जाता है कि यह प्रावधान मूल्यवान होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त नहीं है। जहां तक अधीनस्थ कर्मचारियों का सम्बन्ध है उनके पद का कार्यकाल बहुत कुछ स्थायी होता है। वे एक दृष्टि से सरकारी सेवकों से भी अधिक सुरक्षाओं का उपभोग करते हैं क्योंकि इनके विरुद्ध की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही को स्थानीय निकाय द्वारा प्रायः क्रियान्वित नहीं किया जाता। प्रत्येक भ्रष्टाचारी सेवक अपने समर्थन के लिए किसी सदस्य को ढूंढ लेता है जो कि उसकी ढाल का काम करता है। स्थानीय निकाय के कर्मचारी अकार्यकुशलता, कर्तव्यों की अवहेलना, दुर्व्यवहार, गबन और रिश्वत आदि से पूर्ण व्यवहार के बाद भी अछूते बच निकलते हैं जबकि सरकारी सेवा में ऐसा बहुत कम होता है।

यद्यपि कार्यकाल की सुरक्षा की दृष्टि से स्थानीय निकायों के उच्च अधिकारी एवं अधीनस्थ अधिकारियों के बीच अन्तर रहता है। किन्तु फिर भी दोनों की स्थिति में एक समानता है वह यह कि दोनों ही स्थानीय निकाय के सदस्यों की मेहरबानी प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। ऐसी स्थिति में स्थानीय सेवा के इन सदस्यों से राजनैतिक निष्पक्षता की आशा करना अनुपयुक्त होगा। जब सेवी वर्ग की नियुक्ति, पदोन्नति, अनुशासनात्मक कार्यवाही आदि सभी बातें राजनैतिक हस्तक्षेप से पूर्ण होती है तो यह स्वाभाविक है कि ये सेवक भी अपने व्यवहार में अपने समर्थक राजनैतिक नेताओं का पक्षपात करें।

नगरपालिका स्तर पर सेवी वर्ग प्रबन्ध

[Personnel Management at Municipal Level]

भारत में नगरपालिकाओं को यह स्वतन्त्रता दी गई है कि वे स्थापन पर कितना खर्चा निर्धारित कर सके। केवल मद्रास में ही राज्य सरकार द्वारा इसकी एक सीमा बता दी गई है जिससे अधिक खर्चा स्थापन कार्य पर वहां की नगरपालिका नहीं कर सकती। नगरपालिकाओं के सेवी वर्ग पर परिषदों का पूरा अधिकार रहता है। वे उनकी संख्या, पद, श्रेणी, वेतन और भत्ते आदि से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करती है। मद्रास, आंध्र एवं

केरल में उनसे सम्बन्धित सभी प्रस्ताव कार्यपालिका अधिकारी द्वारा रखे जाते हैं और परिषद को उन्हें ज्यों के त्यों या परिवर्तनों के साथ मानने का पूरा अधिकार रहता है। इन राज्यों की राज्य सरकारें यदि आवश्यक समझें तो नगरपालिकाओं के अधिकारियों एवं कर्मचारियों के पद, श्रेणी, संख्या, वेतन, फीस, भत्ते आदि में परिवर्तन कर सकती है। पंजाब में यदि आयुक्त के मतानुसार परिषद द्वारा नियुक्त अधिकारियों एवं सेवकों की संख्या या उन पर होने वाला खर्चा अधिक है तो वह उनको कम करने के सम्बन्ध में सलाह दे सकता है। परिषद को यह अधिकार है कि वह आयुक्त की आज्ञाओं के विरुद्ध राज्य सरकार के सम्मुख अपील कर सकें।

अधिकारियों की नियुक्ति (Appointment of Officers)—स्थानीय स्तर पर कार्य करने वाले विभिन्न लोगों में से अधिकारियों की श्रेणी को अन्य सेवकों से अलग रखा जाना चाहिये। यह केवल इसलिए नहीं कि उन्हें अधिक वेतन मिलता है, बल्कि इसलिए भी उनकी नियुक्ति पृथक अभिकरण द्वारा होती है और वे अपील करने का अधिकार रखते हैं। अधिकारियों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—प्रथम भाग में प्रशासनिक अधिकारी आते हैं जैसे कि कार्यपालिका अधिकारी, सचिव आदि। दूसरा वर्ग तकनीकी अधिकारियों का होता है जैसे अभियन्ता, स्वास्थ्य अधिकारी आदि। अधिनियम के अनुसार पचास रुपये से कम वेतन पाने वाले कर्मचारियों को निम्न स्तर का माना गया है जबकि इससे ऊपर वेतन पाने वालों का स्तर ऊंचा होता है। इस प्रकार वेतन को स्थिति वर्गीकरण का आधार बनाया गया है।

मद्रास, आंध्र प्रदेश एवं केरल में नगरपालिका परिषदें एक विशेष प्रस्ताव द्वारा कुछ पदों के लिए प्रावधान रख सकते हैं जैसे सचिव, स्वास्थ्य अधिकारी, नगरपालिका अभियन्ता आदि-आदि। राज्य सरकार को अधिकार है कि वह किसी भी नगरपालिका के तकनीकी अधिकारी की नियुक्ति स्वयं करें। इन अधिकारियों की नियुक्ति, वेतन एवं निलम्बन राज्य सरकार की स्वीकृति के विषय होते हैं। यदि राज्य सरकार नियुक्ति को मान्यता न दे या परिषद पद खाली होने के चार महीने के अन्दर-अन्दर नियुक्ति करे तो राज्य सरकार को उस पद पर नियुक्ति करने की शक्ति मिल जाती है।

यदि एक अधिकारी को हटाने के लिए परिषद द्वारा कम से कम दो तिहाई बहुमत से प्रस्ताव पास कर दिया जाए तो उस पर भी सरकार की स्वीकृति जरूरी है। तकनीकी अधिकारियों को छोड़कर अन्य नगरपालिका अधिकारियों को सजा देने का अधिकार कार्यपालिका अधिकारी को होता है। नगरपालिका के किसी भी सेवक अथवा अधिकारी पर जुर्माना नहीं किया जा सकता। पचास रुपये प्रतिमाह से अधिक वेतन पाने वाले प्रत्येक पद पर नियुक्ति एक समिति द्वारा होती है जिसमें सभापति, कार्यपालिका अधिकारी और परिषद द्वारा निर्वाचित एक सदस्य होता है। यह नियुक्ति समिति एक स्वतन्त्र कानूनन समिति होती है और इसकी प्रक्रियाओं पर परिषद की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। यदि समिति चाहे तो परिषद को इनके बारे में सूचित कर सकती है। अधिनियम के अनुसार यदि परिषद का बहुमत

चाहे तो राज्य सरकारें नगरपालिका अधिकारियों के किसी भी वर्ग का प्रांतीयकरण कर सकती है। केरल में सरकार को यह शक्ति प्राप्त है कि वह संबंधित नगरपालिका से पूछ कर नगरपालिका के अधिकारियों एव सेवकों को दूसरी नगरपालिकाओं में स्थानान्तरित कर दे। आंध्र प्रदेश के हैदराबाद क्षेत्र में नगरपालिका अभियन्ता, सचिव, पर्यवेक्षक, स्वास्थ्य अधिकारी आदि की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा नगरपालिका श्रेणी की राज्य श्रेणी में से की जाती है। उनका स्थानान्तरण, पदोन्नति और उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही को समिति के परामर्श से सरकार द्वारा नियमित किया जाता है। स्थानीय सरकार सेवा अधिकारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का स्थानीय निकायों को अधिकार नहीं है। कम वेतन पाने वाले स्टाफ की नियुक्ति परिषद द्वारा की जाती है, जो कि उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती है। परिषद के निर्णयों के विरुद्ध अपील राज्य के स्थानीय स्वायत्त सरकार विभाग में की जाती है।

बम्बई में सभी बारो नगरपालिकाओं में एक मुख्य अधिकारी होता है, जिसकी नियुक्ति परिषद द्वारा की जाती है। परिषद एक स्वास्थ्य अधिकारी तथा एक अभियन्ता की नियुक्ति भी कर सकती है किन्तु इस प्रकार के अधिकारियों पर जुर्माना नहीं किया जा सकता और उन्हें परिषद की कुल सख्या के केवल दो तिहाई बहुमत द्वारा ही हटाया जा सकता है। स्वास्थ्य अधिकारी का आधा वेतन तथा सफाई निरीक्षकों का आधा वेतन राज्य सरकार द्वारा दिया जाता है अतः इन अधिकारियों की नियुक्ति पर राज्य सरकार की पूर्व स्वीकृति अनिवार्य होती है।

नगर परिषद अधिकारियों एवं सेवकों के स्टाफ की नियुक्ति के बारे में नियम बनाती है तथा उनके पद, वेतन, भत्ते, शक्तियां एवं कर्त्तव्य आदि का निर्धारण करती है। इन सब पर संभाग के आयुक्त की स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी है। परिषद को आयुक्त की स्वीकृति के बाद किसी भी अधिकारी या सेवक को हटाने, सजा देने, कार्यकाल कम करने एवं अन्य अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्ति भी होती है। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी, स्वास्थ्य अधिकारी या अभियन्ता आदि से सम्बन्धित सभी नियमों पर राज्य सरकार की स्वीकृति जरूरी होती है। एक सौ रुपये महीने से कम वेतन वाले पदों पर नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में परिषद द्वारा जो नियम बनाए जाते हैं उन पर आयुक्त या राज्य सरकार की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। किन्तु राज्य सरकार को यह शक्ति होती है कि वह किसी भी नगरपालिका से स्थायी रूप से या कुछ विशेष समय के लिए शक्ति को छीन ले। अध्यापकों की नियुक्ति एवं सेवा की अन्य शर्तें शिक्षा मण्डल द्वारा नियन्त्रित होती हैं। नगरपालिका अधिकारियों को हटाने की शक्ति राज्य सरकार में निहित रहती है जो कि उचित जांच के बाद एवं परिषद द्वारा विशेष सामान्य बैठक में पास किए गए प्रस्ताव के बाद इसका प्रयोग करती है।

पश्चिम बंगाल में अध्यक्ष को यह अधिकार होता है कि किसी भी व्यक्ति को इन पदों पर नियुक्त कर सके तथा उन्हें हटा सके। पचास रुपये से अधिक वेतन पाने वाले पदों पर की जाने वाली नियुक्तियों पर परिषद की स्वीकृति लेना जरूरी होता है। दो सौ रुपये मासिक से अधिक वेतन

पदों पर सरकार की स्वीकृति के बिना कोई नियुक्ति नहीं की जाएगी। सौ रुपये या उससे अधिक वेतन पाने वाले व्यक्ति को हटाया जा सकता है; किंतु यह परिषद की विशेष बैठक में पास किए गए प्रस्ताव द्वारा एवं राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत होना चाहिए। यदि निलम्बन को परिषद के दो तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया जाए तो सरकार की स्वीकृति की आवश्यकता नहीं होती। यदि राज्य सरकार आवश्यक समझे तो परिषद से विचार-विमर्श करके परिषद को एक सचिव, एक अभियन्ता, एक स्वास्थ्य अधिकारी और एक या अधिक सफाई निरीक्षक नियुक्त करने को कह सकती है। एक लाख रुपये की आय वाली प्रत्येक नगरपालिका को एक कार्यपालिका अधिकारी नियुक्त करना होता है। इन सभी अधिकारियों की योग्यताएं सरकार द्वारा निर्धारित की जाती हैं और उनका वेतन सरकार की मान्यता के बाद परिषद द्वारा निश्चित किया जाता है। इन अधिकारियों को परिषद अपनी विशेष बैठक में दो तिहाई बहुमत से हटा सकती है। एक लाख से कम आय वाली नगरपालिकाएं इन अधिकारियों को केवल तभी नियुक्त कर सकती है जबकि राज्य सरकार ऐसा करने को कहे। यदि कोई व्यक्ति गम्भीर रूप से कर्जदार है तो कार्यपालिका अधिकारी, सचिव, अभियन्ता, स्वास्थ्य अधिकारी, सफाई निरीक्षक, कर संग्रहकर्त्ता, लेखा अधिकारी, ओवरसियर आदि पदों पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। एक पद पर नियुक्त होने से पूर्व यदि कोई व्यक्ति परिषद के किसी भी सदस्य या कार्यालय के अधिकारी से घनिष्ट रूप में संबंधित है तो उसे यह स्पष्ट करना होगा कि इस सम्बन्ध की प्रकृति क्या है। यदि वह ऐसा न कर सका तो नियुक्ति अवैध मानी जाएगी। उत्तर प्रदेश में १९४९ के संशोधित अधिनियम के अनुसार प्रत्येक परिषद एक कार्यपालिका अधिकारी नियुक्त करेगी। इसी प्रकार पचास हजार रुपये प्रतिवर्ष या इससे अधिक आय वाली नगरपालिकाएं एक मेडीकल अधिकारी की नियुक्ति करेंगी, जो कि राज्य जन-स्वास्थ्य सेवा का होगा। साथ ही ये एक लेखा अधिकारी नियुक्त करेंगी जो कि राज्य लेखा सेवा से होगा। उत्तर प्रदेश वेतन समिति के प्रतिवेदन के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा सभी वर्गों के सेवकों के लिए वेतन श्रृंखला निर्धारित कर दी गई है कि जिस नगर परिषद में कार्यपालिका अधिकारी नहीं है वह एक या अधिक सचिव नियुक्त कर लेगी। इस पद की नियुक्ति, वेतन एवं अन्य शर्तें राज्य सरकार द्वारा स्वीकार होनी चाहिए। यदि राज्य सरकार चाहे तो परिषद द्वारा एक अभियन्ता, एक विद्युत अभियन्ता, जलकार्य अभियन्ता, जलकार्य अधीक्षक, विद्युत अधीक्षक, एक योग्य ओवरसीयर आदि मुख्य तकनीकी अधिकारियों की नियुक्ति करा सकती है। अध्यक्ष द्वारा संकट की स्थिति में अस्थायी सेवक नियुक्त किए जा सकते हैं किन्तु ऐसे सेवकों की सूचना परिषद की अगली बैठक में दी जानी चाहिए। शिक्षण संस्थान के सेवकों की नियुक्ति की शक्ति को यदि परिषद चाहे तो शिक्षण समिति को हस्तांतरित कर सकती है।

कार्यपालिका अधिकारी, सचिव, एवं तकनीकी अधिकारियों को परिषद के दो तिहाई सदस्यों की स्वीकृति से पारित विशेष प्रस्ताव द्वारा ही सजा दी जा सकती है या हटाया जा सकता है। ये अधिकारी राज्य सरकार के सम्मुख अपील करने का अधिकार रखते हैं। यदि अध्यक्ष यह अनुभव करे

कि कार्यपालिका अधिकारी या अन्य अधिकारी भ्रष्ट हो गया है अथवा अपने कर्तव्यों को नहीं निभा रहा है या दुर्व्यवहार का दोषी है तो वह उसे सेवा से रोक सकता है। इससे सम्बन्धित सभी आज्ञायें सकारण राज्य सरकार के पास भेजी जानी चाहिए।

पंजाब में पहले परिषद को राज्य सरकार की स्वीकृति के बाद सभी अधिकारियों की नियुक्ति करने का अधिकार था किन्तु १९५५ के बाद से परिषद एक सौ पचास रुपए मासिक या इससे अधिक वेतन पाने वाले पदों पर नियुक्तियां लोक सेवा आयोग के माध्यम से करती है।

बिहार और उड़ीसा में परिषद द्वारा स्थापन की शृंखला तय कर दी जाती है और उसके अनुसार अध्यक्ष जिस व्यक्ति को उपयुक्त समझे उसे नियुक्त कर देता है और हटा भी सकता है। पचास रुपए मासिक से अधिक वेतन पाने वाले पदाधिकारी की नियुक्ति वह परिषद की स्वीकृति से ही कर सकता है। सौ रुपए मासिक वेतन पाने वाले पदों पर नियुक्तियां एवं पद-विमुक्तियां राज्य सरकार की स्वीकृति के बाद ही होती हैं। किसी भी अधिकारी का त्यागपत्र राज्य सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना स्वीकार नहीं किया जा सकता और न ही किसी अधिकारी को एक महीने से अधिक निलम्बित ही किया जा सकता है। यदि राज्य सरकार के मतानुसार इन पदों पर नियुक्त कोई व्यक्ति अपने कर्तव्यों का निर्वाह करने में अयोग्य । परिषद उसे हटा देगी अथवा किसी अन्य कार्यालय में उसका स्थानान कर देगी। राज्य सरकार ने अधिकारियों एवं सेवकों के वर्ग तथा स के अनुसार नियम बना दिए हैं कि किसे, किस सत्ता के सामने, किन शर्तों पर अपील करन का अधिकार है। राज्य सरकार अधिकारियों और सेवकों की नियुक्ति के लिए उम्मीदवारों की योग्यतायें भी निर्धारित कर सकती है। नियमानुसार पच्चीस साल से ऊपर का कोई व्यक्ति अथवा वह व्यक्ति जो कि राज्य का स्थायी निवासी नहीं है किसी नगरपालिका सेवा में नियुक्त नहीं किया जा सकता जब तक कि राज्य सरकार से स्वीकृति न ले ली जाए। नियम यह है कि महत्वपूर्ण पदों को विज्ञापित किया जाना चाहिए और पांच पारषदों की प्रवर समिति द्वारा नियुक्तियां की जानी चाहिए। यह प्रवर समिति सभी प्रार्थना पत्रों पर विचार करेगी, उम्मीदवारों का साक्षातकार करेगी तथा परिषद के सम्मुख अन्तिम चयन के लिए प्राथमिकता के आधार पर एक सूची प्रस्तुत करेगी। मध्य प्रदेश नगरपालिका अधिनियम १९४७ ने प्रान्तीय स्तर के लिए एक स्थानीय सेवा आयोग की स्थापना का प्रावधान रखा है।

अन्य सेवकों की नियुक्ति—मद्रास, आन्ध्र, केरल तथा बम्बई राज्यों की नगरपालिकाओं में ५०/- प्रति माह से कम वेतन पाने वाले समस्त पदों की नियुक्तियां कार्यपालिका अधिकारी द्वारा की जाती है जो कि राज्य सरकार द्वारा इस सम्बन्ध में बनाये गये नियमों के अनुसार व्यवहार करता है। पश्चिमी बंगाल में सभी नियुक्तियां अध्यक्ष द्वारा की जाती हैं किन्तु जिस सेवक का मासिक वेतन २०/- से ज्यादा होता है उसे परिषद की स्वीकृति के बिना नहीं हटाया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में अधिक से अधिक ४०/- प्रति माह तथा नगरों में ५०/- प्रति माह वेतन पानेवाले कर्मचारी को कार्यपालिका अधिकारी द्वारा नियुक्त किया जा सकता है। मध्य प्रदेश में ४०/- प्रति माह

तक वेतन पाने वाले सभी पदों पर नियुक्तियां अध्यक्ष द्वारा की जाती हैं। वह इस प्रकार की सभी नियुक्तियों की सूचना परिषद को देता है।

स्थानीय प्रशासन अथवा नगरपालिका प्रशासन के विचारकों का मत है कि स्थानीय प्रशासन को भार युक्त बनाने के लिए दो सिद्धान्त सभी स्थानीय सत्ताओं द्वारा माने जाते हैं। इनमें प्रथम यह है कि स्थानीय सरकार में पद-स्थिति को कैरियर माना जाता है तथा इसमें की गई नियुक्तियां जीवन भर चलती हैं। दूसरे, इन नियुक्तियों पर राजनैतिक हितों का प्रभाव नहीं पड़ता।[1] अर्गल महाशय के शब्दों में कार्यकाल की सुरक्षा, अच्छा वेतन एवं भविष्य और योग्यता की व्यवस्था ही सेवाओं के लिए सबसे अच्छी विषय-वस्तु प्राप्त कर सकती है। किन्तु उस देश के नगरपालिका प्रशासन में उन सिद्धान्तों की प्रायः अवहेलना की जाती है।[2]

यदि विभिन्न राज्यों की नगरपालिकाओं के सेवी वर्ग का व्यावहारिक अध्ययन किया जाय तो यह प्रतीत होगा कि यहां सेवी वर्ग की दशा संतोषजनक नहीं है। उत्तर प्रदेश की प्रशासकीय रिपोर्ट में कहा गया है कि सत्ताओं द्वारा नगरपालिकाओं के कर्मचारियों को तंग किया जाता है। सभापति द्वारा निलम्बित किए गये कर्मचारियों को अपील करने का अधिकार प्रयोग में नहीं लाने दिया जाता। यह कहा जाता है कि वे सरकार के लिए उनके कागजों को फोरवार्ड नहीं करते अथवा अनावश्यक रूप से देर लगा देते हैं।[3] बनारस, लखनऊ और आगरा की जांच समितियों ने अपने प्रतिवेदनों में कर्मचारियों को तंग करने के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उनमें बताया गया है कि किस प्रकार दलीय आधार पर कुछ अधिकारियों को परिषद द्वारा परेशान

---

1. "...... ...two essential principles recognised by all local authorities make for the soundness of local administration; the first is that the position in the local government are regarded as 'careers' and appointments are considered to be for life time. The second is the absence from such appointments of the influences associated with political interests."

—*Laski and others* : A century of Municipal Progress, P. 113.

2. "Security of tenure, better pay and prospects and merit system alone can secure the best material for services. But in the municipal administration of this country, these principles have very often being neglected."

—*R. Argal*, op. cit , P. 137

किया जाता है। आगरा की नगरपालिका जांच समिति ने बताया है कि कु-प्रशासन के बीज मुख्य रूप से बोर्ड तथा कार्यपालिका के सम्बन्धों में पाये जाते हैं। अधिनियम के अनुसार बोर्ड के अधिकार केवल कार्यपालिका अधिकारी, सचिव तथा अन्य उच्च तकनीकी कर्मचारियों की नियुक्ति तक ही सीमित हैं। किन्तु इन नियुक्तियों के द्वारा और सभापति के माध्यम से बोर्ड की शक्तियां कानून के शब्दों से बाहर चली जाती हैं और सामान्य स्टाफ तक पहुंच जाती हैं। यह किस प्रकार होता है इसे आसानी से देखा जा सकता है। बोर्ड द्वारा दो तिहाई बहुमत से कार्यपालिका अधिकारी को तथा साधारण बहुमत से अन्य अधिकारियों को हटाया जा सकता है। इसके परिणामस्वरूप सभापति, कार्यपालिका तथा तकनीकी अधिकारी एवं मेडिकल अधिकारी के सर पर डेमोक्लीज की तलवार लटकी रहती है। ऐसी स्थिति में कार्यपालिका एवं तकनीकी अधिकारी परिषद के सदस्यों को अपने पक्ष में रखने का प्रयास करते हैं ताकि समय पड़ने पर उनकी सहायता प्राप्त की जा सके। जहां तक मेडीकल अधिकारी का सम्बन्ध है वह स्थानान्तरण को रोकने का प्रयास करता है क्योंकि वह सदैव उसके लिए हानिकारक है। परिणामस्वरूप ये सभी अधिकारी उन मामलों में भी बोर्ड या परिषद के मातहत बन जाते हैं जिनमें कि इनको कानूनी शक्तियां मिली हुई हैं। अधिकारियों को हटाने की बोर्ड की शक्ति भी वास्तविक नहीं है। जहां तक इन अधिकारियों का सम्बन्ध है ये बोर्ड के कुछ सदस्यो को अपने पक्ष में क के बोर्ड की मर्जी की अवहेलना कर सकते हैं।

नियुक्तियों के मामलों में यह स्वाभाविक है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि गलत रूप से प्रभावित हो जायें और इस प्रकार योग्य व्यक्तियों का चुनाव न हो सके। अनेक सदस्य अपने सम्बन्धियों को रोजगार दिलाना चाहते हैं जबकि दूसरे सदस्य उन लोगों को रोजगार दिलाना चाहते हैं जिन्होंने उन्हें बोर्ड में भेजा है। इसके परिणामस्वरूप बोर्ड ऐसे कर्मचारियों से भर जाती है जो अनावश्यक एवं अयोग्य हैं। आगरा नगरपालिका जांच समिति का मत था कि अगर स्थानीय निकायों का सुधार करना है और उनको शुद्ध बनाना है तो सरकार को चाहिए कि वह इसके कर्मचारियों को वही स्तर एवं सुरक्षा प्रदान करे जो कि यह अपने सेवकों को देती है।

नगरपालिकाओं के कार्य संचालन पर पंजाब राज्य के प्रतिवेदन ने भी इस बात पर जोर दिया है कि यहां स्टाफ में कार्यकुशलता व अनुशासन का अभाव है। विभाग अध्यक्षों में नियन्त्रण और सहयोग नहीं है। सदस्यों द्वारा प्रशासनिक मामलों में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप किया जाता है और आवश्यकता पड़ने पर विभागीय कार्य सम्पन्न नहीं हो पाता।

मध्यप्रदेश की नगरपालिका के प्रतिवेदन में की गई आलोचना और भी गम्भीर है। उसमें कहा गया है कि स्टाफ के वेतन बहुत कम हैं जो कि योग्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित नहीं करते। ये कम वेतन भी नियमित रूप से नहीं दिये जाते तथा सरकार को नगरपालिका अधिनियम के सैक्शन ५५ के तहत हस्तक्षेप करना पड़ता है। वेतन में कटोती, बढोतरी को प्रति वर्ष रोक लेना, विभागीय जांच पड़ताल करवाना एवं अनुपयुक्त सजा देना आदि बातें बहुत सामान्य बन गई हैं। अकार्यकुशलता इनमें से अधिकांश

स्थानीय निकायों की मुख्य विशेषता बन गई है।[1] एक अन्य प्रतिवेदन में यह कहा गया है कि अनेक समितियों ने कार्यकुशल एवं संतोषजनक स्टाफ रखने की आवश्यकता को अभी तक महसूस नहीं किया है। जब कभी वित्तीय कठिनाइयों का अनुभव होता है तो वे खर्चा कम करने के एक सरल साधन के रूप में कर्मचारियों के वेतन में कटौती कर देते हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह नीति आत्महत्या जैसी है। इससे जो असुरक्षा और अन्याय की भावना पनपती है उसके कारण अकार्यकुशलता तो अवश्य ही उत्पन्न होगी चाहे बेईमानी या स्वामीभक्ति का अभाव पैदा हो या न हो।[2]

इन सब कथनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारी प्रशासनिक कठिनाइयों की जड़ परिषद के व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका सम्बन्धी कार्यों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके परिणामस्वरूप परिषद के सदस्य अनावश्यक रूप से पूर्णत. प्रशासकीय कार्यों में हस्तक्षेप करते हैं। दूसरे, नागरिक सेवकों में दलीय राजनीति पनपती है। तीसरे, स्टाफ में अकार्यकुशलता आती है।

सेवाओं का प्रान्तीयकरण
(Provincialization of Services)

नगरपालिका की सेवाओं पर विचार करते हुए पंजाब की जांच समिति ने यह बताया कि स्थानीय सरकार की एक मुख्य समस्या यह निश्चित करना है कि सेवाओं को व्यक्तिगत लक्ष्यों और प्रभावशाली समूहों के दबाव से सुरक्षा प्रदान की जायेगी और उनको पर्याप्त सुविधाएं तथा अच्छा भविष्य प्रदान किया जायेगा। साथ ही ये पदाधिकारी योग्य व्यक्ति होंगे और सार्वजनिक नियंत्रण के आधीन कार्य करेंगे। समिति ने सुझाया कि मुख्य अधिकारी को यदि सेवा की पर्याप्त सुरक्षा प्रदान की गई तो वह दलों द्वारा डाले गये भेदभाव के प्रभाव को कम कर देगा। इस सम्बन्ध में जो अन्य कदम उठाये जा सकते हैं उनके बारे में समिति ने सुझाया कि नगरपालिका के कर्मचारियों के सभी वर्गों के लिए विस्तृत नागरिक सेवा नियम बनाये जायं। दूसरे, वेतन-श्रृंखला निर्धारित की जाय तथा उसे क्रियान्वित करने के लिए नगर परिषदों को उनकी वार्षिक आमदनी के आधार पर कई भागों में बांट दिया जाय। तीसरे, नगरपालिका अधिकारियों एवं सेवकों के सभी वर्गों के लिए आवश्यक योग्यताएं निर्धारित कर दी जांय।[3]

---

1. "The salaries of the Staff are great lesser and do not attract persons of merit Even these poor salaries are seldom and regularly paid and there are always a number of cases where Government has to intervene under Sec. 55 of the Municiaplities act...... Cuts in salaries with holding of increments year after year, harassing departmental enquiries and disproportionate punishments are *only too* common. Inefficiency has become the byword in most of these local bodies."

—C. P. Resolution 1939.

2. C P. Resolution, 1939-40.
3. Punjab Local Self Govt. (Urban) Eng. Com. Rep. Chap. VI

इस प्रकार कुल मिलाकर अच्छाई इस बात में हैकि कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को अलग अलग कर दिया जाय तथा कार्यपालिका को मुख्य प्रबन्धक बना दिया जाय। हाल ही में कुछ ऐसे प्रयास किये गये हैं कि नगरपालिका के कर्मचारियों की स्थिति को अधिक सुरक्षित बनाया जा सके। इसके लिए परिषद् द्वारा पास किये गये सेवा निलंबन के प्रस्तावों के विरुद्ध अपील करने की व्यवस्था की गई है। अच्छे लोगों को आकर्षित करने के लिए वेतन एवं ग्रेड को सरकार द्वारा निश्चित कर दिया गया है; क्योंकि ये सभी सुधार उस समय तक अधिक उपयोगी नहीं होंगे जब तक कि मुख्य अधिकारी की स्थिति को शक्तिशाली न बनाया जाय और यह केवल तभी किया जा सकता है जबकि उसकी नियुक्ति, सजा, स्थानान्तरण एवं नियंत्रण की शक्तियां सरकार के पास अथवा बोर्ड से स्वतंत्र किसी निकाय को दे दिया जाय। मद्रास एवं मध्यप्रदेश में इस दिशा में कदम उठाये गये हैं। पंजाब में भी १५० रु० से अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारियों की नियुक्ति पंजाब लोकसेवा आयोग द्वारा की जाती है। उत्तरप्रदेश एवं पंजाब के अध्यापकों को जिले के स्कूल निरीक्षक द्वारा नियुक्त किया जाता है। नगर सरकार को सुधारने के उपायों पर की गई सैमिनार का विचार था कि नगरपालिका के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को सरकार द्वारा नियुक्त किया जाना चाहिए।

नगरपालिका के कर्मचारियों की स्थिति में किये जाने वाले सुधारों को प्रभावशाली बनाने के लिए अर्गल महोदय ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार यह उपयुक्त होगा कि नगरपालिका सेवाओं को चार श्रेणियों में विभाजित कर दिया जाय। प्रथम श्रेणी में वे अधिकारी हों जो कि ४०० रु. प्रतिमाह से अधिक पाते हों। दूसरे वे जो कि २५० रु से अधिक पाते हैं, तीसरे वे जो १०० रु. से अधिक पाते हैं, तथा चौथी श्रेणी में वे अधिकारी हों जिनका वेतन १०० रु. प्रतिमाह से कम हो। इन सभी श्रेणियों में केवल कुछ पदों को पदोन्नति द्वारा भरा जाय और शेष को प्रत्यक्ष भर्ती द्वारा भरा जाना चाहिये। सरकार द्वारा राज्य की नगरपालिकाओं को उनकी आय एवं अन्य परिस्थितियों के आधार पर दो या तीन श्रेणियों में विभाजित कर देना चाहिये और एक श्रेणी में आने वाली प्रत्येक नगरपालिका के लिए एक जैसे नियम बना देने चाहिये। निर्धारित स्तरों में कोई नया स्थायी पद नहीं बढ़ाना चाहिये जब तक कि सम्बन्धित–परिषद द्वारा स्थानीय लोक–सेवा–आयोग से न पूछ लिया जाय। लिपिक–वर्ग एवं छोटे बोर्डों में प्रशासकीय अधिकारियों की नियुक्ति प्रतियोगी परीक्षा द्वारा की जानी चाहिये। यह परीक्षा जिले में से ही जिला सेवा-आयोग द्वारा की जाय जिसमें जिला अधिकारी अध्यक्ष और नगरपालिका एवं जिला परिषद के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी हों। स्थानीय सेवाओं से सम्बन्धित सभी विषयों में जिला आयाग स्थानीय सेवा-आयोग के एजेन्ट के रूप में कार्य करेगा और उसके नियंत्रण में रहेगा।

वरिष्ठ कार्यपालिका अधिकारी राज्य स्तर के होने चाहिये तथा उनको स्थानीय सेवा आयोग द्वारा प्रतियोगी परीक्षा के आधार पर चुना जाना चाहिए। इस आयोग में तीन सवैतनिक सदस्य होने चाहिये। आयोग इन अधिकारियों की नियुक्ति पदोन्नति एवं स्थानान्तरण के लिये उत्तरद होगा। परिषद इन अधिकारियों पर केवल यह नियंत्रण रखेगी कि उनके

विरुद्ध आयोग से शिकायत कर देगी और आयोग या तो स्वयं जांच करेगा अथवा जिला आयोग को करने के लिए कह देगा। परिषद चाहे तो राज्य सरकार से अपील भी कर सकती है। स्वतन्त्रता के बाद की प्रवृत्ति को देख कर यह स्पष्ट है कि विभिन्न राज्यों की नगरपालिकाएं उच्च अधिकारियों एवं तकनीकी अधिकारियों को राज्य स्तर का सेवक बनाने के बारे में विचार कर रही है। मंत्रियों की परिषद में केवल प्रशासकीय एवं तकनीकी अधिकारियों की सेवाओं का ही प्रान्तीयकरण करने की सिफारिश की गई थी। किन्तु जैसा कि अर्गल महाशय का विचार है निम्न सेवाओं को भी परिषद के नियंत्रण में रखना उचित नहीं रहेगा क्योंकि इन्हीं सेवाओं के द्वारा असल में प्रशासन को संचालित किया जाता है। परिषद को इन सेवाओं के संबंध में अधिकार देने का अर्थ होगा भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद के लिए दरवाजे खोल देना। ऐसी स्थिति में प्रान्तीयकृत स्टाफ प्रशासन पर मुश्किल से नियंत्रण रख पायेगा। इससे अनेक जटिलताएं एवं गतिरोध पैदा हो जायेंगे और प्रशासन आज से भी बद्तर हो जायेगा। उत्तरप्रदेश की स्थानीय स्वायत्त सरकार समिति ने स्टाफ के पूर्ण प्रान्तीयकरण की सिफारिश की थी। मद्रास और मध्यप्रदेश की सरकारों ने भी इसी प्रकार की सिफारिश की। मध्यप्रदेश के संशोधित अधिनियम १६४५ के प्रावधान के अनुसार आयोग को नगरपालिका अधिकारियों एवं सेवकों को प्रभावित करने वाले नियुक्ति, प्रदोन्नति, स्थानान्तरण असाधारण सेवा निवृत्ति एवं अनुशासनात्मक कार्यवाहियों में परामर्श देने की शक्तियां होंगी। निम्न सेवाओं के लिए जिला आयोग रखना उपयुक्त रहेगा।

प्रान्तीयकरण की इस सुझायी गई योजना के यद्यपि कुछ लाभ अवश्य हैं किन्तु यह दोषों से परे नहीं है। यह कहा जाता है कि यदि नगरपालिका सेवाओं में सुधार करना है तो दूसरे कई कदम उठाये जा सकते हैं जो कि प्रान्तीयकरण की तुलना में कम संकटपूर्ण हैं तथा जिनके अपनाने पर स्थानीय निकायों को अधिक स्वायत्तता रह पायेगी। प्रान्तीयकरण के द्वारा यद्यपि उन दोषों को दूर कर दिया जायेगा जो कि आज लोगों की निगाह में हैं किन्तु यह अपनी कुछ अन्य जटिलताएं पैदा कर लेगा। प्रान्तीयकरण के कारण इन अधिकारियों के सामने दोहरी स्वामीभक्ति की समस्या उत्पन्न हो जाती है और स्थानीय निकाय एवं इन अधिकारियों के बीच समायोजन करना मुश्किल हो जाता है। यदि हम अन्य देशों के उदाहरण को देखें तो वहां हम पायेंगे कि स्थानीय अधिकारियों को पर्याप्त सुरक्षा प्रदान करते हुए भी किसी भी देश ने स्थानीय सेवाओं को राष्ट्रीयकृत या प्रान्तीयकृत करने की बात नहीं सोची है। स्थानीय स्वायत्तता अपने आपमें एक महत्वपूर्ण चीज है। राज्य का नियंत्रण इसका विरोध करता है अतः यह यथासम्भव कम होना चाहिये। प्रान्तीयकरण की योजना में स्थानान्तरण से सम्बन्धित समस्याएं भी महत्वपूर्ण बन जायेंगी। जब तक कि मजबूर न किया जाए तब तक कोई भी स्थानीय निकाय यह नहीं चाहेगा कि वह अधिकारी को अपने यहां ले ले जो कि दूसरी जगह पर पर्याप्त बदनामी पा चुका है और इसीलिए उसे वहां से हटाया जा रहा है। मजबूर करने से अच्छे प्रशासन पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

कुछ विचारकों के मतानुसार प्रान्तीयकरण द्वारा स्थानीय निकायों को

सेवाओं को सुधारने की अपेक्षा यह करना चाहिए कि सेवी वर्ग के प्रशासन में जहां कहीं भी हमको दोष दिखलाई दें उनको दूर करलें और अन्य बातों को ज्यों की त्यों बना रहने दें। इस दृष्टि से नियुक्ति, कार्यकाल की सुरक्षा, स्थानान्तरण, पदोन्नति, सेवा की शर्तें आदि बातों पर ध्यान दिया जाना उपयोगी है। नियुक्ति के गलत तरीके के कारण स्थानीय सेवी वर्ग के प्रबन्ध में अनेक दोष पैदा हो जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए यह होना चाहिए कि जब स्थानीय निकाय उच्च पदों पर नियुक्तियां करे तो वह स्थानीय लोक-सेवा-आयोग से परामर्श ले ले। स्थानीय निकाय के अध्यक्ष को यह अधिकार होना चाहिए कि वह आयोग द्वारा सुझाये गए उम्मीदवार के विरुद्ध एतराज उठा सके और यह आयोग का कर्तव्य होना चाहिये कि वह इन ऐत-राजों पर पर्याप्त ध्यान दे और यदि आवश्यक हो तो किसी अन्य के नाम का सुझाव रखे अथवा यह भी हो सकता है कि आयोग द्वारा योग्यता के आधार पर एक पद के लिए तीन नामों की सिफारिश की जाय और उनमें से अध्यक्ष किसी एक को छांट ले। दूसरे, अधिकारियों एवं कर्मचारियों को पर्याप्त सेवा सम्बन्धी सुरक्षा प्रदान करने के लिए कदम उठाये जाने चाहिए। इसके लिए यह व्यवस्था होनी चाहिए कि अधिकारियों एवं कर्मचारियों को दण्ड देने या सेवा से निकालने का अधिकार बोर्ड को न होकर अध्यक्ष को होना चाहिए, ताकि ऐसे विषयों पर होने वाले मतदान की कठिनाइयों को रोका जा सके। सभापति द्वारा दिये जाने वाले इन दण्डों के आदेशों पर स्थानीय सरकार के मन्त्री या स्थानीय सरकार बोर्ड की स्वीकृति का प्रावधान रखा जा सकता है। इस व्यवस्था में अध्यक्ष तथा सेवाओं के बीच मनमुटाव की गुंजाइश कम रह जाती है।

स्थानीय सेवाओं के लिए स्थानान्तरणों का प्रबन्ध भी स्थानीय सर-कार द्वारा प्रबन्धित किया जाना चाहिये। यदि कोई अध्यक्ष किसी विशेष अधिकारी का स्थानान्तरण चाहता हैं तो इसके लिए वह मंत्री के लिए लिखे जो कि इस प्रकार की मांगों की एक सूची बनाकर उपयुक्त प्रबन्ध करेगा। इस व्यवस्था के अन्तर्गत स्थानीय निकाय से वे अधिकारी चले जायेंगे जिनको अध्यक्ष नहीं चाहता और वे रह जायेंगे जिन्हें कि वह रखना चाहता है। यद्यपि ऐसे स्थानान्तरण तत्काल नहीं हो पाते, उनमें समय लगता है। यह व्यवस्था केवल तभी सफल हो सकती है जबकि स्थानान्तरित किए जाने वाले अधिका-रियों की सूची काफी लम्बी हो। पदोन्नति की समस्या को भी इसी प्रकार सुलझाया जा सकता है यदि किसी बड़ी नगरपालिका में कोई उच्च पद रिक्त होता है तो छोटी नगरपालिका के निम्न कर्मचारी उस पद के लिए प्रार्थना-पत्र दे सकते हैं। यदि प्रार्थी अन्य उम्मीदवारों की तुलना में आयोग की दृष्टि से योग्य है तो उसे नियुक्त किया जा सकता है। इस प्रकार की नियुक्ति के समय उसकी पूर्व सेवा को रोका नहीं जायेगा। जितने वर्ष उसने काम किया है उतने ही वर्ष का समय उसकी नयी सेवा में मिला दिया जायेगा। एक प्रार्थी के कार्य का पूर्व अनुभव स्थानीय निकायों के उच्च पदों की आवश्यक योग्यता माना जाना चाहिए। यद्यपि इस व्यवस्था के विरुद्ध यह आपत्ति की जा सकती है कि इसमें नये लोगों को सेवा का अवसर कम मिल पायेगा। वैसे पदोन्नति की समस्या अत्यन्त जटिल होती है और प्रत्येक स्तर पर पदोन्नति

की एक संतोषजनक व्यवस्था करना अत्यन्त कठिन कार्य है। जहां तक सेवा की शर्तों का प्रश्न है स्थानीय निकायों के सेवी वर्ग की सेवा की शर्तें सरकार के समान ही होनी चाहिए। अनुशासनात्मक कार्यवाही के लिए एक निश्चित तरीका निर्धारित कर देना चाहिये। साथ ही वेतन का एक निश्चित रूप भी तय कर देना चाहिए।

स्थानीय निकायों में एक स्तर के स्टाफ को रखने के लिए यह जरूरी है कि पर्याप्त प्रशिक्षण के लिए सुविधाएं प्रदान की जायं। बम्बई में स्थानीय स्वायत्त सरकार प्रशिक्षण शाला ही केवल एक मात्र प्रशिक्षण शाला है जो कि नगरपालिका सचिवों एवं स्वास्थ्य अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए व्यवस्था करती है। कलकत्ता और लखनऊ में सफाई निरीक्षकों के लिए कक्षायें चलती हैं। मद्रास, नागपुर, लखनऊ, इलाहाबाद और राजस्थान के विश्वविद्यालयों में भी लोक प्रशासन अथवा स्थानीय स्वायत्त सरकार पर डिप्लोमा कोर्स खोल दिये गये हैं। राजस्थान सरकार ने स्थानीय स्वायत्त सरकार डिप्लोमा कोर्स वालों के लिए एक प्रशिक्षण केन्द्र खोला है। यह आवश्यक है कि स्थानीय निकाय के कर्मचारियों को इन प्रशिक्षण केन्द्रों का पूरा लाभ उठाने की सुविधा दी जाय। बम्बई, मद्रास और मध्यप्रदेश की सरकारों ने अपने राज्यों की संस्थाओं के डिप्लोमाओं को मान्यता दे दी है। जहां इस प्रकार की मान्यता नहीं दी गई है वहां दी जानी चाहिए। स्थानीय सरकार के सेवीवर्ग को प्रशिक्षित करने के लिए हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए क्योंकि गल्तियों द्वारा सीखना काफी महंगा पड़ता है।

देहाती स्तर पर सेवीवर्ग-प्रबन्ध

[Personnel Management at Rural Level]

स्थानीय स्तर पर स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में सेवाएं महत्वपूर्ण योगदान करती हैं। इन संस्थाओं द्वारा सामान्य रूप से नीतियां एवं निर्देशन निर्धारित कर दिये जाते हैं और उनकी क्रियान्विति को सेवाओं के लिए छोड़ दिया जाता है। नीतियों एवं कार्यों का सफल संचालन सेवाओं के स्तर पर निर्भर रहता है। सेवाएं संस्थाओं के कार्यों में एकरसता स्थापित करती हैं। इसलिए सेवाओं की नियुक्ति, स्थापन, पदोन्नति, अनुशासनात्मक नियन्त्रण आदि बातों से अत्यधिक महत्व प्रदान किया जाता है तथा कुछ स्वीकृत सिद्धान्तों के आधार पर इन्हें प्रशासित किया जाता है। सादिक अली समिति के मतानुसार ये सिद्धान्त हैं—सेवाओं की नियुक्ति में तत्कालीनता, वस्तुगतता एवं विभिन्न पदों के निर्वाचन में औचित्य। जब विभिन्न पदों के लिये नियुक्ति की जा रही है तो कार्य की मांगों एवं आवश्यकताओं को ध्यान में रखना चाहिए। सेवा की योग्यताओं एवं शर्तों आदि के बारे में एकरूपता रहनी चाहिए। दूसरे, जब नियुक्ति पदोन्नति एवं अनुशासनात्मक नियन्त्रण के लिए किसी संगठन का गठन किया जाये तो सबसे महत्वपूर्ण लक्ष्य यह होना चाहिए कि सेवाओं को राजनैतिक एवं स्थानीय प्रभाव से अलग रखा जाये। सेवाओं को ऐसी स्थिति में संचालित नहीं किया जाना चाहिए जहां कि वे अपने आपको स्थानीय समूहों एवं प्रभावशाली व्यक्तियों से गठजोड़ करना उपयुक्त समझने लगें। इस प्रकार की स्थिति में अकार्यकुशलता पनपेगी तथा

सेवाओं का चरित्र गिर जायेगा । तीसरे, सेवाओं पर अनुशासनात्मक नियन्त्रण प्रभावशाली एव तत्कालीन होना चाहिए । आज्ञाकारिता की दृष्टि से अधिक अस्पष्टता नहीं होनी चाहिए ।

पचायती राज की सेवाए दो श्रेणियों में विभाजित की जा सकती हैं । प्रथम, वे अधिकारी एवं कर्मचारी जो कि राज्य सरकार द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को डेप्यूटेशन पर दिये जाते हैं । दूसरे, वे सेवाएं जिनका कि राजस्थान पचायत समिति एवं जिला परिषद सेवाओं में स्तरीकरण कर दिया गया है । प्रथम श्रेणी में आने वाली सेवाओं की नियुक्ति, पदोन्नति एवं नियन्त्रण राज्य सरकार के अधिकार में रहते हैं । इन सेवाओं में जब स्थानान्तरण किया जाये तो संस्थाओं के अध्यक्ष से परामर्श किया जाना चाहिए । दूसरी श्रेणी की सेवाओं की नियुक्ति, पदोन्नति, एवं अनुशासनात्मक कार्यवाही पंचायती राज निकायों के हाथ में रहती है जो कि राज्य स्तर पर राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवा आयोग एव जिला स्तर पर जिला स्थापन समिति द्वारा नियन्त्रित होती हैं ।

जो सेवाएं सरकार द्वारा पचायती राज निकायों को डेप्यूटेशन पर दी जाती हैं, वे हैं—जिला परिषद का सचिव, उपसचिव, पंचायत समिति का विकास अधिकारी, कृषि, पशुपालन, शिक्षा, सहकारिता, उद्योग आदि के प्रसार अधिकारी तथा पंचायत समितियों के ओवरसीयर आदि एवं पंचायत समितियों के लेखा लिपिक आदि । दूसरी श्रेणी की सेवाओं में मुख्य रूप से जो पदाधिकारी आते हैं, वे हैं—ग्राम सेवक, ग्राम सेविकाएं (अब यह पद समाप्त कर दिया गया है), प्राथमिक स्कूलों के अध्यापक, मन्त्री मण्डलात्मक स्थापन, फील्डमैन, स्टाकमैन, एव वैक्सीनेटर आदि । राज्य सरकार को यह अधिकार होता है कि वह इन सेवाओं में और नए पद जोड़ सकती है । सादिकअली समिति की सिफारिश के अनुसार न्याय–पंचायत एवं पंचायत के सचिवों को भी इन सेवाओं में मिलाया जाना चाहिए । समिति का सुझाव था कि इन सेवाओं को राजस्थान पंचायत समिति और जिला परिषद सेवा कहने की अपेक्षा राजस्थान पंचायती राज सेवा कही जानी चाहिए ।

पदाधिकारियों की नियुक्ति— राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद १९५९ के तहत राज्य स्तर पर सेवा चयन आयोग की रचना की गई है । इसमें तीन सदस्य होते हैं-जिले की जिला परिषद का प्रमुख तथा सरकार द्वारा नियुक्त किए गए अन्य दो स्थायी सदस्य । इन दो सदस्यों में से एक सरकार का अधिकारी होना चाहिए, चाहे वह सेवा निवृत हो अथवा सक्रिय रूप से सेवा में कार्य कर रहा हो । इस आयोग को राजस्थान की पंचायत समिति एवं जिला परिषद सेवओं के पदाधिकारी नियुक्त करने का कार्य सौंपा गया है । इसी के द्वारा अन्तर जिला स्थानान्तरण किए जाते हैं । प्रत्येक जिले मे एक जिला स्थापन समिति गठित करने का भी प्रावधान है । इसमें आयोग का एक स्थायी सदस्य सभापति होता है और प्रमुख एवं जिलाधीश को सदस्य बनाया जाता है । इस समिति को अस्थायी रूप से नियुक्त किए गए लोगों का कार्यकाल बढ़ाने की शक्ति दी गई है । वह जिले में पदोन्नतियों एवं स्थानान्तरणों को नियमित करती है । यह अनुशासन के मामले में भी पंचायत समिति को परामर्श देती है ।

उक्त सभी श्रेणियों के सेवीवर्ग का चयन करने के लिए आयोग का एक सदस्य विभिन्न जिलों में जाता है और जिला स्तर पर चयन किए जाते हैं। इस प्रकार मुख्य कार्य जिले स्तर पर चयन समिति द्वारा ही किए जाते हैं। सादिक अली समिति के अनुसार इन चयनों में बहुत देर की जाती है। इस देरी का कारण सम्भवतः यह होता है कि इन चयनों के करने में बहुत जल्दबाजी की जाती है और बाद में समिति की रचना करने तथा बार-बार उसे सन्दर्भित करने में पर्याप्त समय लग जाता है। पंचायती राज की स्थापना से पूर्व इन सभी श्रेणियों पर स्टाफ की नियुक्ति एक जिला स्तर के अधिकारी द्वारा कर दी जाती थी तथा राज्य स्तर के चयन आयोग की स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं होती थी। यह चयन अब भी जिला स्तर की समिति द्वारा ही किया जाना चाहिए। सादिक अली समिति की सिफारिश के अनुसार जिला चयन समितियों को जिला स्तर पर ही बनाया जाना चाहिए। इन समितियों में जिला परिषद का प्रमुख, जिले का जिलाधीश और जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी होना चाहिए। प्रमुख को इसका सभापतित्व करना चाहिए और मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को सदस्य सचिव के रूप में कार्य करना चाहिए। जिला स्तर से सम्बन्धित अधिकारी भी अपने विभाग के स्टाफ का चयन करने के लिए समिति के सदस्य के रूप में बैठना चाहिए। पंचायती राज सेवा के सभी स्थानों की नियुक्तियां इस समिति द्वारा होनी चाहिए। इस व्यवस्था के दो लाभ हैं—प्रथम तो यह कि यह निरन्तर कार्य करती रहेगी और दूसरे यह कि समिति के सभी सदस्य जिला मुख्य कार्यालय पर उपस्थित रहेंगे।

जिला चयन समिति द्वारा स्वीकृत उम्मीदवारों की सूची में से पदों पर नियुक्तियां मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा की जायेंगी। यदि इस प्रकार की कोई सूची नहीं बनाई गयी है और स्टाफ को नियुक्त किया जाना बहुत जरूरी है तो मुख्य कार्यपालिका अधिकारी और विकास अधिकारी को यह शक्ति होनी चाहिए कि जिला परिषद या पंचायत समिति के प्रशासन पर समिति की पूर्व स्वीकृति लेकर अस्थायी नियुक्तियां कर दे। इस प्रकार की नियुक्तियां नया उम्मीदवार आने तक अथवा छः महीने तक प्रभावशील रहेंगी। जिले के अन्तर्गत स्थानान्तरण करने की शक्ति जिला चयन समिति को दी जानी चाहिए और अन्तर-जिला स्थानान्तरण राज्य सरकार द्वारा किया जाना चाहिए। प्रत्येक जिले में जिला चयन समिति की रचना हो जाने के बाद राज्य स्तर पर सेवा चयन आयोग की आवश्यकता नहीं रहती। जिले में की जाने वाली सभी नियुक्तियों एवं स्थानान्तरणों का कार्य यह समिति संभाल लेगी। स्टाफ के उच्च पदों पर नियुक्तियां वर्तमान की भांति राज्य लोक सेवा आयोग द्वारा की जायें। यदि स्टाफ की कोई अन्य श्रेणी भी पंचायती राज सेवा में जोड़ दी जाए तो उस श्रेणी की नियुक्तियां भी इस समिति द्वारा की जायेंगी।

सेवाओं पर अनुशासनात्मक नियन्त्रण—पंचायत स्तर पर अपने कर्मचारियों के विरुद्ध कार्यवाही करने की शक्ति पंचायतों को सौंपी गई है। पंचायतों में अंशकालीन एवं पूर्णकालीन सेवकों के अतिरिक्त और कोई कर्मचारी नहीं होते। अपने कर्मचारियों के सम्बन्ध में पंचायतों द्वारा लिए

गए निर्णयों के विरुद्ध जिलाधीश को अपील की जा सकती है। पंचायत समिति स्तर पर उसके कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक नियन्त्रण प्रशासन से सम्बन्धित स्थायी समिति द्वारा रखा जाता है। पंचायत समिति के विकास अधिकारी को यह अधिकार दिया गया है कि वह चतुर्थ श्रेणी के सेवकों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करते समय हर प्रकार का दण्ड दे सके। जिला परिषद के चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को किसी प्रकार के दण्ड देने की शक्ति जिला परिषद के सचिव को नहीं सौंपी गई है। पंचायत समिति का विकास अधिकारी सेवा में नए जोड़े गए अपनी समिति के अधिकारियों के विरुद्ध भी कार्यवाही कर सकता है। जिला परिषद स्तर पर ऐसी ही शक्तियां जिला परिषद सचिव को दी गई हैं। पंचायत समितियां, जिला परिषद की स्थायी समितियां अपने कर्मचारियों के विरुद्ध केवल एक कार्यवाही कर सकती हैं वह यह कि वे उनके एक वर्ष की वेतन वृद्धि को रोक सकती हैं। अन्य प्रकार की सजायें देने से पूर्व इन स्थायी समितियों को जिला स्थापन समिति की स्वीकृति लेनी होती है।

इन सभी अनुशासनात्मक आज्ञाओं के विरुद्ध अपील करने का प्रावधान रखा गया है। विकास अधिकारी या सचिव की आज्ञाओं के विरुद्ध अपीलें क्रमशः पंचायत समिति या जिला परिषद में की जायेंगी तथा वे प्रशासन पर पचायत समिति की स्थायी समिति या जिला परिषद की उप-समिति द्वारा सुनी जाएगी। इन सत्ताओं के विरुद्ध की जाने वाली अपीलें जिला स्थापन समिति के सम्मुख की जाती हैं। यदि दण्ड बहुत ऊंचा दिया गया है तो उसकी अपील राज्य सरकार को की जाएगी।

अनुशासनात्मक नियन्त्रण की इस व्यवस्था के वास्तविक व्यवहार में कई प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव किया गया है। प्रथम, विकास अधिकारी को पंचायत समिति के कर्मचारियों में अनुशासन बनाए रखने की दृष्टि से असहाय बना दिया गया है। इसे केवल पंचायत समिति के कर्मचारियों पर सेन्सर का दोष लगाने की शक्ति दी गई है। किन्तु जब हम अनुशासन के संधारण एवं आज्ञापालन की दृष्टि से विचार करते हैं तो यह शक्ति अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत नहीं होती। इसके अतिरिक्त इसके द्वारा दिए गए दण्ड के विरुद्ध जिस संस्था में अपील की जा सकती है वह इसी निकाय का एक भाग है तथा विकास अधिकारी के अत्यन्त नजदीक है। इसलिए विकास अधिकारी अपील के डर से अपनी शक्ति का प्रयोग नहीं कर पाता। दूसरे, कर्मचारी वर्ग अनुशासनात्मक कार्यों से सुरक्षा प्राप्त करने के लिए पंचायत समिति में स्थानीय गुटों से गठबन्धन कर लेते हैं। तीसरे, अनुशासनात्मक नियन्त्रण की शक्ति जब एक निकाय को दे दी जाती है और निर्णय बहुमत पर आधारित रखे जाते हैं तो सेवाओं की दृष्टि से इसका परिणाम अधिक उपयोगी नहीं होता। चौथे, जो अधिकारी कार्यक्रमों एवं नीतियों के प्रभावशील क्रियान्वयन के लिए उत्तरदायी है उसे अपने कार्यकर्त्ताओं की टीम पर पर्याप्त शक्ति एवं सत्ता सौंपी जानी चाहिए। अनुशासनात्मक नियन्त्रण से सम्बन्धित वर्तमान प्रावधानों में यह व्यवस्था नहीं की गई है। सादिक अली समिति ने अनुशासनात्मक नियन्त्रण की समस्या पर पर्याप्त विचार करने के बाद बताया कि यद्यपि सेवाओं को स्वेच्छाचारी कार्य के विरुद्ध पर्याप्त सुरक्षा मिलनी चाहिए

किन्तु उनको यह भी डर होना चाहिए कि यदि उन्होंने कार्य ठीक प्रकार नहीं किया तो उनको दण्डित किया जा सकता है। जो शक्ति किसी से कार्य लेने का अधिकार रखती है उसे नियन्त्रण के भी पर्याप्त अधिकार होने चाहिए। इस मूल बात को ध्यान में रख कर सादिक अली समिति ने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि किस स्तर पर किस प्रकार का अनुशासनात्मक नियन्त्रण रखना चाहिए। समिति ने बताया कि पंचायती राज सेवाओं के कर्मचारियों एवं अधिकारियों पर दण्ड के वे तरीके काम में लाए जा सकते हैं जो कि राजस्थान नागरिक सेवा (वर्गीकरण, नियन्त्रण और अपील) नियम १९५० में दिए गए हैं। ये हैं—सेन्सर, वेतन वृद्धि एवं पदोन्नति को रोकना, किसी आर्थिक हानि की क्षतिपूर्ति वेतन में से कटौती करके करना, नीची सेवा, पद, स्तर पर नियुक्त कर देना, आवश्यक सेवा निवृति दे देना, सेवा से हटाना और सेवा के अनुपयुक्त बना देना आदि। इन उपायों में साधारण एवं गम्भीर दोनों ही प्रकार के अनुशासनात्मक तरीके हैं।

सादिक अली समिति ने पचायत स्तर पर अनुशासनात्मक नियन्त्रण रखने के लिए सुझाव देते हुए बताया है कि पंचायत स्तर के सचिव को पंचायती राज सेवा का सदस्य होना चाहिए। वह पंचायत के प्रशासकीय नियंत्रण में रहे किन्तु पंचायत को उसको कोई छोटा या बड़ा दण्ड देने की शक्ति न होगी। यदि पटवारी को ही सचिव बना दिया जाए तो वह सरकारी सेवा का सदस्य हो जायगा और उस पर वही अनुशासनात्मक नियन्त्रण लागू होगा जो कि डेप्यूटेशन पर भेजे गए कर्मचारियों पर लागू होता है। यदि पंचायत चौकीदार या चपरासी आदि की नियुक्ति करना चाहती है तो इस स्टाफ को नियुक्त करने का अधिकार पंचायत को ही होगा। इनके विरुद्ध अनुशासनात्मक दण्ड देने की शक्ति भी पूरी तरह उन्हीं को प्राप्त होगी। पंचायत के निर्णय के विरुद्ध जिला ट्रिब्यूनल को अपील की जा सकती है।

पंचायत समिति स्तर पर विकास अधिकारी को यह शक्ति होनी चाहिए कि वह पंचायती राज सेवा के सदस्यों को छोटी सजायें दे सके। इसके आदेशों के विरुद्ध अपील मुख्य कार्यपालिका अधिकारी से की जानी चाहिए। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को पंचायत समिति के कर्मचारियों को बड़ा दण्ड देने की शक्ति होनी चाहिए। उसके निर्णयों के विरुद्ध अपील जिला ट्रिब्यूनल में की जाए। चतुर्थ श्रेणी के सेवकों के सम्बन्ध में विकास अधिकारी को पूरी शक्तियां होनी चाहिए।

जिला स्तर पर सम्बन्धित जिला स्तर अधिकारी को अपने अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों पर छोटी सजायें देने का अधिकार होना चाहिए। पंचायती राज सेवा से सदस्यों को बड़े दण्ड देने का अधिकार मुख्य कार्यपालिका अधिकारी में निहित रहे। चतुर्थ श्रेणी के कर्मचारियों को उसे हर प्रकार की सजा यहां तक कि नौकरी से हटाने तक का अधिकार होना चाहिए। जिला स्तर के अधिकारी के आदेशों के विरुद्ध अपील मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को और मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के आदेशों के विरुद्ध अपील जिला ट्रिब्यूनल से की जानी चाहिए।

डेप्यूटेशन वाले कर्मचारियों पर नियन्त्रण—यह समस्या अत्यन्त

महत्वपूर्ण है कि राज्य सरकार द्वारा पंचायती राज निकायों में जो अधिकारी डेप्यूटेशन पर भेजे जाते हैं उन पर अनुशासनात्मक नियन्त्रण किस प्रकार रखा जाए। वर्तमान में विकास अधिकारी को प्रसार अधिकारियों पर कोई अनुशासनात्मक शक्ति प्राप्त नहीं है। इससे कई बार उसकी स्थिति अत्यन्त जटिल बन जाती है। सरकार ने जिला स्तर के अधिकारी को छोटा मोटा दण्ड देने की जो शक्ति दी है उससे विकास अधिकारी की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ। विकास अधिकारी को अपने अधीनस्थ स्टाफ से आज्ञापालन कराने तथा एक दल के रूप में कार्य करने के लिए सहायता प्रदान करनी चाहिए। उसे प्रसार स्टाफ की टीम के कैप्टेन के रूप में कार्य करना होता है। सादिक अली समिति ने सुझाया कि जिला परिषद के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी या पंचायत समिति के विकास अधिकारी को गैर राजपत्रित डेप्यूटेशन वाले स्टाफ पर छोटे-मोटे दण्ड देने की शक्ति होनी चाहिए। वर्तमान की भांति जिला स्तर के अधिकारियों को भी यह शक्ति होनी चाहिए कि वे पंचायती राज निकायों को भेजे गए अपने विभाग के अधीनस्थ स्टाफ पर छोटा-मोटा दोष लगा सके। मुख्य कार्यपालिका अधिकारी या विकास अधिकारी के विरुद्ध अपीलें सम्बन्धित विभागाध्यक्ष से की जा सकती हैं। समिति का विचार था कि यदि ये शक्तियां एक बार विकास अधिकारियों अथवा मुख्य कार्यपालिका अधिकारियों को दे दी गयीं तो प्रसार स्टाफ पर इसका बड़ा अच्छा असर पड़ेगा और सम्भवतः अनुशासनात्मक कदम उठाने की आवश्यकता ही न होगी।

राज्य सेवा वाले सरकारी कर्मचारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्ति विभागाध्यक्ष एवं राज्य सरकार में निहित रहनी चाहिए। किन्तु यदि एक विकास अधिकारी, जिला स्तर के अधिकारी या मुख्य कार्यपालिका अधिकारी के विरुद्ध पंचायत समिति के प्रधान या जिला प्रमुख द्वारा विशेष शिकायतें भेजी जायें तो इसके सम्बन्ध में पूछताछ करने के बाद परिणाम से शिकायत करने वाले पक्ष को सूचित किया जा सकता है। कहने का अर्थ यह है कि डेप्यूटेशन पर कार्य करने वाले अधिकारियों के विरुद्ध जांच कराने तथा उसके परिणामों से अवगत होने की शक्ति उस संस्था को है जिसमें कि वे कार्य कर रहे हैं। इस व्यवस्था से यह आशा की जाती है कि वर्तमान समस्याओं के लिए सन्तोषजनक सुझाव प्राप्त हो सकेगा। सेवायें यह अनुभव करेंगी कि उनके विरुद्ध कोई स्वेच्छाचारी कार्य नहीं किया जायेगा किन्तु साथ ही यदि उन्होंने सन्तोषजनक रूप से अपने कर्तव्यों का पालन न किया तो उन्हें दण्ड का भय भी रहेगा।

पंचायती राज व्यवस्था में उच्च अधिकारियों के वार्षिक गुप्त प्रतिवेदन गैर अधिकारियों द्वारा भेजने की परम्परा का अपना महत्व है। जिला स्तर के मुख्य कार्यपालिका अधिकारी का गुप्त प्रतिवेदन जिला प्रमुख द्वारा सरकार को भेजा जाता है। विकास अधिकारी का वार्षिक गुप्त प्रतिवेदन मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा तैयार करके सरकार को भेजा जाता है। प्रधान भी विकास अधिकारी के वार्षिक कार्य का विवरण प्रस्तुत करता है जिसे इस प्रतिवेदन के साथ संलग्न कर दिया जाता है। जिला स्तर के अधि-

कारियों के वार्षिक प्रतिवेदन मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा तैयार करके सम्बन्धित विभागाध्यक्षों के पास भेजे जाते हैं।

पंचायती राज सेवाओं में गुप्त प्रतिवेदन निकटस्थ अधिकारी द्वारा तैयार किए जाते हैं अर्थात् विकास अधिकारी, जिला स्तर अधिकारी या मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा। इनको मुख्य कार्यपालिका अधिकारी की व्यक्तिगत सुरक्षा के आधीन जिला परिषद में रखा जाता है। विकास अधिकारी जब ग्रामसेवकों, स्टाफमैनों, एवं अध्यापकों के गुप्त प्रतिवेदन तैयार करता है तो उसे सम्बन्धित प्रसार अधिकारियों से बात कर लेनी चाहिए और उनके विचारों को ध्यान में रखना चाहिए।

स्थानापन्नता एवं पदोन्नतियां—विकास अधिकारी के पद को राजस्थान प्रशासकीय सेवा में रख देने के बाद इस पद पर राजस्थान प्रशासकीय सेवा के बहुत अधिकारी कार्य करने लगे हैं। इन अधिकारियों के सम्बन्ध में सादिक अली समिति ने कुछ सुझाव रखे थे। समिति के मतानुसार आर० ए० एस० अधिकारियों को प्रशिक्षण के बाद दो तीन साल तक सामान्य प्रशासन एवं अन्य विभागों में विभिन्न पदों पर कार्य करना चाहिए। उसके बाद ही उनको विकास अधिकारी बना कर भेजा जाना चाहिए। दूसरे, किसी भी विकास अधिकारी को किसी भी दूसरे पद पर स्थानान्तरित नहीं करना चाहिए जब तक कि वह अपने एक पद पर तीन वर्ष पूरे न करले। तीसरे, जब आर० ए० एस० अधिकारी को विकास अधिकारी के रूप में भेज रहे हैं या किसी अन्य पद पर नियुक्त करने के लिए विकास अधिकारी पद से हटा रहे हैं तो वरिष्ठता भर्ती के वर्ष आदि कुछ निश्चित मापदण्डों को बिना अपवाद मान कर चलना चाहिए।

समिति ने बताया कि विभिन्न पदों एवं विभिन्न स्टेशनों पर रखे जाने वाले पदाधिकारियों के बारे में एक जैसी नीति अपनानी चाहिए ताकि ऐसा न हो कि अच्छे एवं आकर्षक स्टेशन केवल कुछ लोगों का एकाधिकार बन जाए। दूसरे, लोगों को अनचाहे एवं कठिन स्टेशनों पर हमेशा जबरदस्ती नहीं रखा जाए। तीसरे, व्यक्ति को क्रमशः अच्छा स्थान प्राप्त हो जाए। चौथे, पदाधिकारियों को स्थान अच्छा दिया जाए ताकि उनसे कुशल कार्य प्राप्त किया जा सके।

पंचायती राज सेवाओं के सम्बन्ध में जब मुख्य कार्यपालिका अधिकारी औपचारिक नियुक्तियां करले तो उन कर्मचारियों को विभिन्न पंचायत समितियों में भेजा जाना चाहिए। पंचायत समिति में कर्मचारियों को रखने का कार्य विकास अधिकारी द्वारा किया जाना चाहिए। कर्मचारियों का स्थानान्तरण भी विकास अधिकारी की आज्ञा से होना चाहिए। किन्तु दो वर्ष निकलने से पूर्व कोई भी स्थानान्तरण नहीं होना चाहिए। अध्यापकों का स्थानान्तरण सत्र के बीच में नहीं होना चाहिए। यदि किसी कारणवश दो साल से पूर्व या सत्र के बीच में स्थानान्तरण जरूरी बन जाए तो जिला चयन समिति की पूर्व स्वीकृति लेना आवश्यक है। स्थानान्तरण वाले आदेशों में यह लिखा जाना चाहिए कि नियुक्ति कब हुई थी, स्थानान्तरण क्यों हो रहा है और जिला चयन समिति की स्वीकृति प्राप्त की गई है या नहीं।

सेवाओं में आकर्षण एवं प्रतिरोध—किसी भी संस्था के सफल एवं सरल संचालन के लिए उसमें आकर्षण एवं प्रतिरोधों की पर्याप्त व्यवस्था किया जाना परम आवश्यक है। कार्य करने वाले व्यक्तियों को यह चेतना रहनी चाहिए कि यदि उन्होंने अच्छा एवं कुशल कार्य किया तो इसके लिए उन्हें पुरस्कृत किया जाएगा और यदि उन्होंने अपने कर्त्तव्यों के पालन में अवहेलना बरती या अकार्यकुशलता दिखाई तो उन्हें पद से गिरा दिया जाएगा। सादिक अली समिति के शब्दों में आकर्षकों का अभाव सामान्य रूप से असन्तोष एवं परिणाम स्वरूप कार्य में उत्साह तथा लगन के अभाव में फलीभूत होता है जबकि प्रतिरोधों का अभाव प्राय: अयोग्यता एवं अनुत्तरदायित्वता को उत्पन्न करता है।[1] प्रभावशाली प्रतिरोध लागू करने की दृष्टि से लगातार देखभाल एवं पर्यवेक्षण रखना और कार्य का नियमित मूल्यांकन करना अत्यन्त उपयोगी होता है। यह पर्यवेक्षण एवं निरीक्षण की व्यवस्था निरन्तर चलनी चाहिए और इसके अनुसार आवश्यक कार्यवाही भी की जानी चाहिए। कई बार ऐसा होता है कि खराब और अकार्यकुशल कर्मचारी इस कार्यक्रम से बच जाते हैं और उनको अच्छा स्थान भी प्राप्त हो जाता है किन्तु यह कभी नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति एक स्थान पर रह कर अपने उत्तरदायित्वों को कुशलता एवं सफलतापूर्वक नहीं निभा सका तो उसे अच्छी जगह परिवर्तित नहीं किया जाना चाहिए। अधिकारी के कार्य के बारे में उसके गुप्त प्रतिवेदन में विशेष नोट देना चाहिए। यदि एक व्यक्ति की कार्यसम्पन्नता का अभिलेख लगातार खराब रहा है और उसने दी गई चेतावनियों की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया है तथा दिए गए सुधार के लिए सुझावों की अवहेलना की है तो उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करनी चाहिए और उपयुक्त कदम उठाना चाहिए।

पदोन्नति के अवसर सेवाओं के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण आकर्षण होते हैं। सेवाओं की पदोन्नति के बारे में एक निश्चित एवं पूर्व निर्धारित नीति होनी चाहिए ताकि अच्छे एवं कुशल कार्य के लिए पुरस्कार दिया जा सके। सदस्यों को अपने भविष्य की सम्भावनाओं के बारे में सोच कर आगे बढ़ना चाहिए। प्रभावशील पदोन्नति की व्यवस्था के लिए एक निष्पक्ष यन्त्र का होना आवश्यक है। सादिक अली समिति ने यह सिफारिश की कि राज्य-सरकार द्वारा पदोन्नति के लिए मापदण्ड एवं नीति निर्धारित कर देनं चाहिए। जिले के लिए एक सामान्य वरिष्ट सूची बना लेनी चाहिए और पदोन्नति करते समय योग्यता एवं वरिष्ठता दोनों को ध्यान में रखा जाना चाहिए। आकर्षण सेवाओं के प्रत्येक वर्ग के लिए आवश्यक हैं। पंचायती राज व्यवस्था में विकास अधिकारी, प्रसार अधिकारी, ग्राम सेवक और अध्यापक महत्वपूर्ण कार्यकर्त्ता हैं। इन सभी कार्यकर्त्ताओं के लिए आकर्षण प्रदान करने

---

1. "Absence of incentives generally leads to disappointment and consequently loss of zeal and enthusiasm in work; while absence of deterrents invariably breeds in competence and complacency."

—Sadiq Ali Report, op. cit, P. 203.

के हेतु विशेष नीतियां अपनाई जानी चाहिए। सादिक अली समिति ने इन नीतियों का विस्तार से उल्लेख किया है।

ग्राम सेवक के लिए जो पदोन्नति के अवसर प्राप्त हैं उनके अनुसार उन्हें चयन स्तर के पदों पर लिया जा सकता है तथा प्रसार अधिकारियों के रूप में पदोन्नत किया जा सकता है। सरकार के निर्णय के अनुसार प्रसार अधिकारियों के पदों का कुछ प्रतिशत ग्राम सेवकों की पदोन्नति करके भरे जाने के लिए रखा गया है। यह निर्णय अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पंचायत समितियों के प्रसार अधिकारियों को पदोन्नति के लिए कई अवसर प्राप्त हैं। वे विकास अधिकारी या आर० ए० एस० अधिकारी बन सकते हैं तथा उनकी विभागीय पदोन्नति हो सकती है। ऐसे अनेक विकास अधिकारी हैं जिनको कि प्रसार अधिकारी पद से पदोन्नत किया गया है। एक संशोधन के अनुसार प्रसार अधिकारियों को पदोन्नत करके राजस्थान प्रशासकीय सेवा में लिया जा सकता है। इस प्रकार प्रसार अधिकारियों के लिए पदोन्नति के अवसर पर्याप्त अच्छे हैं और उन्हें श्रेष्ठ तथा कुशल कार्य के लिए प्रेरित कर सकते हैं। ग्राम सेवकों एवं प्रसार अधिकारियों के लिए जिलास्तर एवं राज्य स्तर की प्रतियोगिताएं की जानी चाहिए। जो ग्राम सेवक जिला स्तर पर प्रथम आए उसको एक अतिरिक्त अग्रिम वेतन वृद्धि तथा जो राज्य स्तर पर प्रथम और द्वितीय रहे उसको दो अग्रिम वेतन वृद्धियां दी जानी चाहिए। विभिन्न प्रसार अधिकारियों के लिए अलग से प्रतियोगिताएं कराई जानी चाहिए।

जब अध्यापकों को मिडिल स्कूल से पंचायती राज क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जाए तो उन्हें पदोन्नति के अवसर प्राप्त होने चाहिए। सादिक अली समिति ने सुझाया कि शिक्षा प्रसार अधिकारियों के कम से कम पचास प्रतिशत पद आवश्यक योग्यताओं एवं अनुभव वाले प्राथमिक तथा मिडिल स्कूल के अध्यापकों की पदोन्नति करके भरने चाहिए। अध्यापकों की जिला एव राज्य स्तर पर प्रतियोगिताएं संगठित की जानी चाहिए और तदनुसार उनको पुरस्कार प्राप्त होना चाहिए। श्रेणी विहीन एवं पदोन्नत प्रसार अधिकारी तथा विकास अधिकारी अपनी पदोन्नति के लिए राजस्थान प्रशासकीय सेवा की ओर देख सकते हैं। यह पर्याप्त अच्छा आकर्षण है। जिन आर० ए० एस० अधिकारियों को विकास अधिकारी बनाया जाता है वे पच्चहत्तर रुपये मासिक से अधिक वेतन प्राप्त करते हैं। यदि विकास अधिकारी के रूप में पदाधिकारी अच्छा कार्य करे तो उसे विकास विभाग या जिला परिषद में वरिष्ठ पद पर नियुक्त करके पुरस्कृत किया जाना चाहिए। विकास अधिकारियों की उनकी कार्यसम्पन्नता के आधार पर राज्य स्तर पर प्रतियोगिताएं की जानी चाहिए।

सेवी वर्ग का प्रशिक्षण

[The Training of Personnel]

किसी भी संगठन में योग्य कर्मचारी केवल दो ही स्थिति में आ सकते हैं। एक तो तब जब कि उन्हें उनके उत्तरदायित्वों एवं कर्त्तव्यों के बारे में पूरी जानकारी दी जाए तथा सम्भावित समस्याओं को रोकने तथा सुलझाने के उपाय बताए जाएं और दूसरे तब जब कि वह कर्मचारी अपने पद पर कार्य

करते हुए भूल और सुधार की प्रक्रिया द्वारा स्वयं ही इन सब बातों की जानकारी प्राप्त करले। इनमें जो बाद वाली प्रक्रिया है वह पर्याप्त असुरक्षित, अनिश्चित एवं लम्बे समय वाली है। इन सभी दोषों से बचने के लिए प्रथम तरीके का समर्थन किया जाता है जिसके अनुसार कर्मचारियों एवं अधिकारियों को उनके कार्य का सेवा से पूर्व अथवा सेवा काल में प्रशिक्षण देने का प्रबन्ध किया जाता है। पंचायती राज संस्थाओं में सेवी वर्ग के पर्याप्त प्रशिक्षण का महत्व बहुत पहले से स्वीकार कर लिया गया है। प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया में जिसमें कि सत्ता को निर्वाचित प्रतिनिधियों को सौंपा जाता है, जनता के प्रतिनिधियों को प्रशिक्षित करने की आवश्यकता बढ़ जाती है। जो व्यक्ति इन संस्थाओं में रखे जाते हैं उनके दृष्टिकोण को नए परिवर्तन के अनुसार बदला जाना जरूरी बन जाता है। पंचायती राज के सन्दर्भ में प्रशिक्षण के दो रूप हो सकते हैं। प्रथम, निर्वाचित प्रतिनिधियों एवं गांव के नेताओं को दिया जाने वाला प्रशिक्षण एवं दूसरे, पंचायती राज में कार्य करने वाले सेवी वर्ग को दिया जाने वाला प्रशिक्षण। सरकार एक प्रकार से एक आंगिक इकाई होती है और उसका कोई भी भाग या संगठन अकेले में कार्य नहीं कर सकता। पचायती राज संस्था का सफल कार्य संचालन सरकार की अन्य इकाईयों के सहयोग एवं समन्वय पर आधारित है। अतः अन्य विभाग के लोगों को भी पचायती राज के सिद्धान्तों एवं दर्शन का अध्ययन करा दिया जाए।

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं के कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने का कार्यक्रम बहुत पहले ही प्रारम्भ कर दिया गया है। २ अक्टूबर, १९५९ को पंचायती राज के रिचय से पूर्व ही यहां प्रशिक्षकों के लिए प्रशिक्षण कैम्प लगने प्रारम्भ हो गए थे। देहाती जनता एवं निर्वाचित प्रतिनिधियों को पंचायती राज के लक्ष्यों के बारे में शिक्षित करने के लिए कदम उठाए गए। एक प्रसार अधिकारी या सामाजिक कार्यकर्ता पंचायत क्षेत्र के प्रत्येक गांव में भेजा गया जो कि प्रातःकाल एक छोटी सेमीनार और सायंकाल लोगों की आम सभा आयोजित कर सके जिसमें कि वह पंचयाती राज की योजना एवं रचना को समझा सके। सामुदायिक विकास एवं सहयोग मन्त्रालय के आधीन संस्थाओं में प्रशिक्षण की सुविधाएं थीं। इनके अतिरिक्त अधिकारियों एवं गैर-अधिकारियों के प्रशिक्षणार्थ राज्य में अन्य संस्थाएं खोली गईं। मई, १९६१ में उदयपुर में एक पंचायती राज अध्ययन कैम्प संगठित किया गया जिसमें मन्त्री, प्रमुख, प्रधान, तथा सामुदायिक विकास एवं पंचायती राज से सम्बन्धित राज्य तथा केन्द्रीय स्तर के सरकारी अधिकारी थे। राजस्थान में भी एक सेमीनार आयोजित किया गया जिसमें कि संसद सदस्यों को बुलाया गया। मई–जून, १९६१ में जनता को प्रशिक्षित करने की विस्तृत योजना को पुनः शुरू किया गया। पंचायत मुख्य कार्यालयों पर प्रसार अधिकारियों एवं ग्राम सेवकों द्वारा प्रशिक्षण कैम्प संगठित किए गए। गैर अधिकारी सदस्यों को प्रशिक्षित करने के लिए पंचायत, पंचायत समिति और जिलाम्तर पर प्रशिक्षण कैम्प संगठित करने का प्रावधान है। राजस्थान में अनेक पंचायती राज अध्ययन केन्द्र हैं जहां पंचायत समिति के सदस्यों, न्याय पंचायत के सदस्यों एवं सभापति तथा ग्राम पंचायत के सचिवों को प्रशिक्षित किया जाता है। विकास

अधिकारियों को अध्ययन केन्द्रों में प्रशिक्षण दिया जाता है। जिन विकास अधिकारियों ने क्षेत्र में दो वर्ष से अधिक कार्य किया है उनको तीन सप्ताह के लिए रिफ्रेशर (Refresher) प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। जिला स्तर के अधिकारियों को भी अध्ययन केन्द्रों में लगाया जाता है। उच्चस्तर के अधिकारियों, जैसे सरकारी सचिव, विभागाध्यक्ष, जिलाधीश आदि को सामुदायिक विकास की राष्ट्रीय प्रशिक्षणशाला हैदराबाद में प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रशिक्षण के बाद अधिकारी एवं गैर अधिकारी दोनों ही अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में अधिक कुशल हो सकते हैं। किन्तु इसके लिए यह जरूरी है कि प्रशिक्षण सही प्रकार का होना चाहिए। प्रशिक्षण के लाभ केवल तभी मिल सकते हैं जबकि प्रशिक्षण मात्रा एवं गुण दोनों की दृष्टि से पर्याप्त हो। सादिक अली समिति के अनुसार एक उपयोगी प्रशिक्षण कार्यक्रम के लिए कुछ बातें जरूरी हैं। प्रथम, इस प्रकार के प्रशिक्षण का लक्ष्य उनके कर्त्तव्यों को कुशल रूप से संचालित करना होना चाहिए। इसका सैद्धान्तिक आधार हो तथा साथ ही व्यावहारिक महत्व भी हो। केवल सिद्धान्त अथवा कक्षा की पढ़ाई ही पर्याप्त नहीं है। इसमें प्रशिक्षणार्थी रुचि नहीं लेता और न ही इसकी कोई व्यावहारिक उपयोगिता है। दूसरे, प्रशिक्षण कार्यक्रम मनोरंजक होना चाहिए तथा आकर्षक होना चाहिए। यह तभी हो सकता है जबकि विषयवस्तु को उचित ढंग से रखा जायेगा तथा पुस्तकालय, वाचनालय, मनोरंजन की सुविधा आदि के रूप में वातावरण को उपयुक्त बनाया जायेगा। प्रशिक्षण कार्यक्रम का टैस्ट यह होना चाहिए कि प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण कार्यक्रम में रुचि लें तथा उसके प्रति आकर्षित हों। तीसरे, प्रशिक्षण कार्यक्रम द्वारा प्रशिक्षणार्थी को पंचायती राज संस्थाओं एवं उसके विभिन्न कार्यकर्त्ताओं के प्रति सही दृष्टिकोण बनाने में मदद प्राप्त होनी चाहिए।

यदि इन मापदण्डों के आधार पर विचार किया जाये तो राजस्थान में अपनायी गई प्रशिक्षण योजनाओं में पर्याप्त सुधार की आवश्यकता है। सादिक अली समिति ने अपने अध्ययन के दौरान यह पाया कि यहां की प्रशिक्षण योजना कई प्रकार से दोषपूर्ण है, जैसे कि यहां पर प्रशिक्षण के व्यावहारिक पहलू पर जोर नहीं दिया गया है। अतः यह अधिक से अधिक सैद्धान्तिक होती जा रही है। दूसरे, प्रशिक्षण कार्यक्रम बहुत कुछ परम्परागत से बन गये हैं और इनमें भारी सुधार की आवश्यकता है। ये प्रशिक्षणार्थी में उत्साह पैदा नहीं कर पाते। प्रशिक्षण केन्द्रों पर अध्यापक वर्ग पर्याप्त योग्य नहीं है। कुछ प्रशिक्षक तो स्वयं ही व्यावहारिक ज्ञान नहीं रखते। वे कार्य के व्यवहार में उत्पन्न होने वाली वास्तविक समस्याओं से अनभिज्ञ रहते हैं। चौथे, प्रशिक्षण केन्द्रों को पर्याप्त रूप से भूमि, वाचनालय तथा व्यावहारिक प्रदर्शन के लिए अन्य सुविधाएं प्रदान नहीं की गई। पांचवें प्रशिक्षण कार्य का एक महत्वपूर्ण अवरोधक कोर्स की पुस्तकों का अभाव है। जो पुस्तकें प्राप्त हैं वे सामान्य प्रकृति की हैं तथा उनको विभिन्न प्रशिक्षणार्थियों की आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर तैयार नहीं किया गया है। प्रशिक्षण केन्द्रों में जब प्रशिक्षणार्थी अपना अध्ययन कार्य समाप्त कर लेते हैं तो बाद में उनको जारी रखने की कोई व्यवस्था नहीं है। क्षेत्रीय समस्याओं को भी पर्याप्त महत्व नहीं दिया

जाता। साथ ही प्रशिक्षण कार्यक्रमों में दृष्टिकोण की रचना पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजस्थान में पंचायती राज्य संस्थाओं के अधिकारी एवं गैर-अधिकारियों को प्रशिक्षित करने के लिए जो कार्यक्रम अपनाया जा रहा है वह अपर्याप्त एव दोषपूर्ण है। प्रत्येक प्रशिक्षण कार्यक्रम को उपयोगी वनाने की पहली शर्त यह है कि प्रशिक्षण प्राप्त करने वाले लोग उसे उपयोगी मानने लगें। यदि उम्मीदवार द्वारा उसे दिये गये अवसरों का लाभ नहीं उठाया जाता तो कोई भी प्रशिक्षण कार्यक्रम सफल नहीं बन सकता। स्थिति उस समय और भी सोचनीय वन जाती है जबकि प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण को केवल एक औपचारिक खानापूर्ति मानने लगता है। इसे वह इसलिए पूरी करता है क्योंकि उसे पूरी करनी है। इस दृष्टिकोण से एक ओर तो कार्यकुशलता को धक्का लगता है और दूसरी ओर प्रशिक्षण योजना की निरर्थकता सिद्ध हो जाती है। प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण में प्राप्त ज्ञान एवं अपने वास्तविक व्यवहार के बीच सम्बन्ध स्थापित नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में सुधार के लिए गम्भीर कदम उठाया जाना जरूरी है। प्रशिक्षण कार्यक्रम को आकर्षक एवं उपयोगी वनाना होगा। इसके लिए दो प्रकार के कार्य किये जायं—प्रथम तो प्रशिक्षण की विषयवस्तु में सुधार किया जाय और दूसरे, प्रशिक्षण केन्द्रों की दशाओं एवं वातावरण को सुधारा जाय।

गैर-अधिकारियों का प्रशिक्षण (Training of non-officials)—गैर अधिकारियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम के बारे में एक सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि पंचायत समिति एव न्याय पंचायत के जिन सदस्यों को प्रशिक्षण के लिए मनोनीत किया जाता है वे प्रशिक्षण केन्द्रों में उपस्थित नहीं होते। राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद् अधिनियम १९५९ में यह प्रावधान है कि यदि पंचायत समिति के सदस्य जिला परिषद् द्वारा तीन बार नोटिस दिये जाने पर भी प्रशिक्षण केन्द्रों में उपस्थित न हो सकें तो उनकी सदस्यता समाप्त कर दी जायेगी। यह प्रावधान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इससे प्रशिक्षण संस्थाओं की उपस्थिति में सुधार हुआ है किन्तु अभी भी स्थिति संतोषजनक नहीं है। प्रशिक्षण केन्द्रों के प्रति गैर-अधिकारी सदस्यों में अवहेलना की भावना के अनेक कारण हैं। इनमें से कुछ तो प्रशिक्षणार्थी की परिस्थितियों से सम्बन्ध रखते हैं और कुछ प्रशिक्षण के रूप से सम्बन्धित हैं। जहां तक सम्भव हो सके वहां तक गैर-अधिकारी प्रशिक्षणार्थियों को उनकी व्यक्तिगत कठिनाईयों के साथ समायोजित कर देना चाहिए। जहां तक प्रशिक्षण के रूप एवं विषय का प्रश्न है वह ऐसा होना चाहिए कि प्रशिक्षणार्थी अपनी कुछ असुविधाओं के बावजूद भी उसमें भाग लेने के लिए उत्सुक हों।

गैर अधिकारियों के प्रशिक्षण को उपयोगी बनाने के लिए सादिक अली समिति ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किए हैं, वे निम्न प्रकार हैं—

(१) प्रशिक्षण कार्यक्रम का समय ऐसा नहीं होना चाहिए जबकि प्रशिक्षणार्थी कृषि कार्य में व्यस्त हों अर्थात् बोने या काटने में। जो समय चुना जाये वह कार्यों की दृष्टि से फालतू होना चाहिए।

(२) जब जिला परिषद् गैर-अधिकारियों को प्रशिक्षण के लिये निश्चित करे तो उसे पर्याप्त सजगता वरतनी चाहिए। प्रशिक्षण कार्यक्रमों

का एक पूरा नोटिस दिया जाये। इसे कम से कम पंद्रह दिन पूर्व दिया जाना चाहिए। प्रशिक्षणार्थी को यह अवसर मिलना चाहिए कि वह वर्ष में कोई भी समय अपने प्रशिक्षण के लिए छांट ले। जिला परिषद् को प्रशिक्षण कार्य-क्रम का समय एवं प्रशिक्षणार्थियों की सूची प्रसारित करनी चाहिए और प्रशिक्षणार्थियों से यह ज्ञात करना चाहिए कि उन्हें कौनसा समय अधिक उपयुक्त रहेगा।

(३) प्रशिक्षणार्थियों के प्रत्येक समूह के लिए निवास स्थान की व्यवस्था होनी चाहिए। उनको जो भोजन दिया जाय, वह यद्यपि कम खर्चीला हो किन्तु अच्छा होना चाहिए। प्रशिक्षणार्थियों को भी इस के प्रबन्ध में हाथ बंटाना चाहिए।

(४) प्रशिक्षणार्थियों के प्रत्येक समूह को आसपास के स्थानों का दिग्दर्शन कराना चाहिए। उसे केन्द्र के चारों ओर के महत्वपूर्ण एवं रुचिपूर्ण स्थानों पर ले जाया जाना चाहिए।

(५) प्रिंसिपल तथा अध्यापक-वर्ग को प्रशिक्षणार्थियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध विकसित करने चाहिए।

(६) प्रशिक्षण केन्द्रों में कुछ मनोरंजन की सुविधाएं दी जानी चाहिए और खेलकूद का भी प्रबन्ध होना चाहिए।

(७) प्रशिक्षण में पूर्ण रूप से सैद्धान्तिक दृष्टिकोण न अपनाकर व्यावहारिक दृष्टिकोण भी अपनाना चाहिए।

(८) प्रशिक्षणार्थियों को हिंदी में लिखी हुई लोकप्रिय पुस्तकें प्राप्त होनी चाहिए। जब वे अपना प्रशिक्षण समाप्त करके बाहर आयें तो उनको उनके उपयोग के लिए छपा हुआ या टाइप किया हुआ कुछ विषय का ज्ञान वितरित किया जाना चाहिए।

(९) प्रशिक्षण केन्द्रों में एक अच्छा पुस्तकालय तथा वाचनालय होना चाहिए।

(१०) जो प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण में अपने आपको विशेषतम साबित करें उनको योग्यता का प्रमाण-पत्र देना चाहिए।

(११) गैर-अधिकारी प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण काल में दैनिक भत्ता दिया जाना चाहिए। रहने एव भोजन के प्रबन्ध का खर्चा प्रशिक्षणार्थी को स्वयं ही उठाना होगा।

(१२) राष्ट्रीय प्रशिक्षण शाला में प्रशिक्षण पाने वालों को उनके नियमित वेतन के अतिरिक्त दस रुपये प्रतिदिन की दर से दैनिक भत्ता मिलना चाहिए।

अधिकारियों का प्रशिक्षण (Training of officials)—विकास अधिकारियों को उनका प्रशिक्षण ओरियेन्टेशन एवं अध्ययन केन्द्र में तीन महिने के लिए दिया जाता है। दो वर्ष तक क्षेत्र में कार्य करने के बाद उनको तीन सप्ताह के रिफ्रेशर प्रशिक्षण के लिए भेजा जाता है। सादिकअली समिति के अनुसार विकास अधिकारियों का प्रशिक्षण संतोषजनक रूप में चल रहा है। उसमें यहां-तहां कुछ संशोधन करने की आवश्यकता है। समिति ने इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये—

(१) अधिकारी प्रशिक्षण शाला (O.T.S) में आर. ए. एस अधिकारियों को दिये जाने वाले आधारभूत प्रशिक्षण (Foundational Training) में अधिकारियों को पंचायती राज्य एवं सामुदायिक विकास को एक अलग विषय के रूप में पढ़ाना चाहिए तथा प्रशिक्षण के अन्त में ली जाने वाली परीक्षा में इस विषय को मिलाना चाहिए।

(२) विकास अधिकारियों को दिया जाने वाला प्रशिक्षण सैद्धान्तिक होने की अपेक्षा दृष्टिकोण निर्माण एवं विकास तथा प्रसार से सम्बन्धित होना चाहिए।

(३) प्रशिक्षण के समय आपसी सम्बन्धों के पहलू पर अधिक जोर देना चाहिए। पंचायती राज्य से सम्बन्ध के विषय पर बोलने के लिए वरिष्ठ अधिकारियों, योग्य सामाजिक कार्यकर्त्ताओं, विश्वविद्यालय के अध्यापकों तथा राज्य के मंत्रियों को आमंत्रित किया जाना चाहिए।

(४) पंचायत समिति में लेखा–प्रक्रिया को विकास अधिकारियों के प्रशिक्षण का एक अलग विषय होना चाहिए।

(५) व्यावहारिक प्रशिक्षण के लिए स्थान छांटते समय पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। प्रशिक्षणार्थी को पन्द्रह दिन के लिए वास्तव में सफल एवं योग्य विकास अधिकारी के साथ कार्य करने का अवसर देना चाहिए।

प्रसार अधिकारियों का प्रशिक्षण (Training for Extension Officers)—कृषि प्रसार अधिकारियों को सरकारी कृषि फार्मों में सेवा से पूर्व पन्द्रह दिन का प्रशिक्षण दिया जाता है। सहकारी प्रसार अधिकारियों को सहकारी प्रशिक्षण स्कूल में एक वर्ष का प्रशिक्षण दिया जाता है। सादिक अली समिति ने अपने अध्ययन के दौरान पाया कि जो प्रसार अधिकारी पंचायत समितियों को भेजे जाते हैं उनको पर्याप्त व्यवहारिक ज्ञान नहीं होता। वे सामान्यतः अपने सैद्धांतिक ज्ञान को व्यावहारिक समस्याओं में लागू नहीं कर पाते। इसलिए प्रसार अधिकारी ग्रामसेवकों को प्रभावशील निर्देशन एवं सहयोग नहीं दे पाते। समिति ने कृषि प्रसार अधिकारियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम के सम्बन्ध में कुछ सुझाव दिये किन्तु सहकारी प्रसार अधिकारियों के प्रशिक्षण सम्बन्धी प्रबन्ध को संतोषजनक माना।

ग्रामसेवकों का प्रशिक्षण (The Training for Gramsevaks)—ग्रामसेवक देहाती विकास कार्यक्रमों में महत्वपूर्ण कार्य करते हैं। उनकी कार्यकुशलता एवं लगनपूर्ण कार्य के स्तर पर गांवों का विकास निर्भर करता है। ग्रामसेवक को इस प्रकार प्रशिक्षित किया जाना चाहिये कि वह किसान के लिए एक सच्चा निर्देशक सावित हो सके। उसे गांव की समस्याओं एवं ग्रामीण मनोविज्ञान की अच्छी जानकारी होनी चाहिए।

राजस्थान में कई ग्रामसेवक प्रशिक्षण केन्द्र हैं। सादिक अली समिति ने इन प्रशिक्षण केन्द्रों का अध्ययन करने के बाद पाया कि ग्रामसेवकों का प्रशिक्षण संतोषजनक रूप से नहीं किया जा रहा है। समिति को इसमें अनेक दोष देखने को मिले। प्रथम, प्रशिक्षणार्थी अपने प्रशिक्षण के बारे में उत्साहपूर्ण एवं प्रसन्न नहीं थे। दूसरे, प्रशिक्षण केन्द्रों में व्यावहारिक कार्य पर अधिक ध्यान नहीं दिया जाता। वे व्यावहारिक क्षेत्र प्रदर्शन की पर्याप्त सुविधा

नहीं रखते। तीसरे, निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुसार प्रशिक्षणार्थियों को पुस्तकें नहीं मिल पाती। चौथे, प्रशिक्षण केन्द्र क्षेत्र की समस्याओं से सम्बन्ध नहीं रखते। पांचवें, प्रशिक्षण देने वाले संतोषजनक नहीं हैं। छठे, सैद्धांतिक प्रशिक्षण पर बहुत जोर दिया जाता है। सातवें, प्रशिक्षणार्थी और प्रशिक्षणदाता के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं रहता। उनमें से कई एक तो मशीन की तरह अपना कार्य करते हैं। आठवें, ग्रामसेवक को बहुत काम करना पड़ता है और उसका काम कई प्रकार का होता है अतः उस पर प्रशिक्षण का पूरा प्रभाव नहीं पड़ पाता।

सादिक अली समिति ने ग्रामसेवकों के प्रशिक्षण की इन विभिन्न समस्याओं पर पर्याप्त विचार करने के बाद इसमें सुधार करने के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। समिति ने बताया कि प्रशिक्षण केन्द्रों में निवास एवं भोजन की परिस्थितियों को बदला जाना चाहिए। प्रशिक्षण केन्द्र के प्रिंसिपल को प्रशिक्षणार्थियों से व्यक्तिगत सम्पर्क रखने चाहिए ताकि उनकी हर सुविधा का प्रबन्ध किया जा सके, खेलकूद एवं मनोरंजन के लिए भी पर्याप्त सुविधाएं दी जानी चाहिए। दूसरे, अध्यापकों एवं प्रशिक्षणार्थियों के बीच व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाने चाहिए, ताकि प्रशिक्षण केन्द्रों में अनौपचारिक एवं घरेलू वातावरण तैयार किया जा सके। तीसरे, व्यावहारिक कार्य के लिए पर्याप्त सुविधाएं मिलनी चाहिए। केवल सैद्धांतिक निर्देश अधिक कुछ नहीं कर पाते। ग्रामसेवकों को व्यावहारिक ज्ञान और व्यावहारिक दृष्टिकोण मिलना चाहिए। सैद्धांतिक ज्ञान तो केवल इसलिए उपयोगी होता है कि वह पंचायती राज एवं सामुदायिक विकास को समझने के लिए आधार प्रदान करता है। चौथे, प्रशिक्षण केन्द्रों में व्यावहारिक कार्य पर जोर देने के अतिरिक्त प्रशिक्षणार्थियों को सत्र के अन्तिम तीन महीनों के लिए विभिन्न पंचायत समितियों में भेज देना चाहिए। इससे प्रशिक्षणार्थी प्रशिक्षण केन्द्रों में अधिक समय रहने से उत्पन्न अरुचि एवं उदासीनता से बच जायेगा। इस प्रकार ग्रामसेवकों के प्रशिक्षण के दो सत्र होने चाहिए। प्रथम सत्र के, प्रथम नौ महीनों में वह प्रशिक्षण केन्द्र में रहे और आखिरी तीन महीनों में पंचायत समिति से सम्बन्धित हो जाय। इसी प्रकार दूसरे सत्र में भी प्रथम नौ महीने वह केन्द्र में रहे और बाकी तीन महीने वह किसी पंचायत समिति में भेज दिया जाय। जिस समय प्रशिक्षणार्थी को पंचायत समिति में लगाया जाए उसे पच्चीस रुपया प्रतिमाह अतिरिक्त भत्ता मिलना चाहिए। उसे प्रत्येक सत्र में संस्थागत प्रशिक्षण एवं पंचायत समिति में जाने के बीच के समय में पन्द्रह दिन का अवकाश मिलना चाहिये। पांचवें, ग्रामसेवकों के लिए पाठ्यपुस्तकों का अभाव अपने आप में एक विरोधाभास है। वैसे पंचायती राज और सामुदायिक विकास पर इतना साहित्य है किन्तु ग्रामसेवकों को पाठ्यपुस्तकें नहीं मिल पाती, यह अत्यन्त चिंताजनक है। यदि पुस्तकें हैं भी तो वे सामान्य प्रकृति की हैं और अंग्रेजी भाषा में हैं। अतः यह बहुत आवश्यक है कि लोकप्रिय एवं सरल भाषा में गैर तकनीकी तरीके से हिन्दी माध्यम में लिखी गई पुस्तकें प्रशिक्षणार्थियों को सुलभ हो सकें। ये पुस्तकें प्रशिक्षण के पाठ्यक्रम पर आधारित होनी चाहिए।

छठे, कृषि फार्म एवं दुग्ध शाला में व्यावहारिक कार्य एवं ज्ञान के लिए प्रत्येक प्रशिक्षण केन्द्र में उसका अपना फार्म तथा दुग्धशाला होनी

चाहिए। दुग्ध शाला में पर्याप्त मवेशियां हों। मवेशियों एवं कुक्कुटों की प्रशिक्षणार्थियों द्वारा देखभाल की जाने चाहिए। सातवें, ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए कि एक क्षेत्र के प्रशिक्षणार्थियों को उसी क्षेत्र में यथासम्भव रखा जाना चाहिए। वर्तमान में स्थिति इससे भिन्न है क्योंकि यह देखने में आता है कि जो प्रशिक्षणार्थी टोंक, कोटा या गंगानगर जिलों के हैं उनको प्रशिक्षण के लिए ग्रामसेवक प्रशिक्षण केन्द्र गढ़ी (बांसवाड़ा जिला) भेज दिया जाता है। ऐसी स्थिति में प्रशिक्षणार्थी खुश नहीं रहते क्योंकि वे घर से काफी दूर पड़ जाते हैं। इसके अतिरिक्त उन्हें जो प्रशिक्षण प्राप्त होता है वह भी जलवायु, भूमि तथा कृषि के तरीके आदि के अन्तर के कारण कम उपयोगी रह जाता है और उसे वे व्यवहार में कम काम में ले पाते हैं। आठवें, प्रशिक्षण केन्द्रों को क्षेत्रों के आधार पर विषयों को महत्व देना चाहिए। कृषि की दृष्टि में भी क्षेत्र में विशेष महत्व की फसलों पर जोर दिया जाना चाहिए।

९

स्थानीय सरकार पर पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण

(SUPERVISION AND CONTROL OVER LOCAL GOVERNMENT)

स्थानीय निकायों का महत्व स्थानीय जनता की स्थानीय आवश्यकताओं को तत्काल कम खर्च में और उचित ढंग से सन्तुष्ट करने में होता है। यही इनकी स्थापना का मूल आधार है और इसी मापदण्ड के आधार पर विभिन्न स्थानीय निकायों का मूल्यांकन किया जा सकता है। यदि कोई स्थानीय निकाय अपने इस लक्ष्य को पूरा नहीं कर पाता तो या तो उसमें आवश्यक सुधार किए जाने चाहिए अथवा उसे समाप्त करना पड़ेगा। इन दोनों ही विकल्पों को अपनाने से पूर्व किसी ऐसे यंत्र की स्थापना करना भी जरूरी बन जाता है जो कि समय-समय पर इन निकायों के वास्तविक व्यवहार का निरीक्षण करता रहे और उसके आधार पर आवश्यक अनुशासनात्मक कार्यवाही करता रहे। पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण प्रशासन को प्रजातंत्रात्मक रूप देने में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं। जब तक एक संस्था के कार्यकर्ताओं को यह भान न हो कि कोई इनके कार्यों को देख रहा है और यदि उन्होंने अपने दायित्वों का सही रूप में निर्वाह नहीं किया तो वे दण्डित हो सकते हैं तब तक वे उस रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित नहीं होते जिस रूप में कि उन्हें होना चाहिये। इसके अतिरिक्त पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण विभाग में प्रशासनिक अधिकारियों के स्वेच्छाचारी एवं अनुत्तरदायी बनने की संभावना बढ़ जाती है और स्थानीय स्तर पर नौकरशाही पनपती है, जो कि जनता की सेवा करने के स्थान पर अपनी लालफीताशाही, देरी, भाई-भतीजावाद, भ्रष्टाचार आदि विशेषताओं से उसे पर्याप्त परेशान करती है। अर्गल महोदय का यह कथन महत्वपूर्ण है कि स्थानीय सत्ताएं गैर-सम्प्रभु निकाय हैं और इनको राज्य-सरकार तथा न्यायिक सत्ताओं द्वारा नियंत्रित किया जाता है।[1]

---

1. "Local authorities are non-sovereign bodies and are controlled by the state government and the judicial authorities."
—*R. Argal*, op. cit., P. 146

यह स्पष्ट है कि ये स्थानीय निकाय एक सीमा तक राज्य–सरकार के नियंत्रण में रहने चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो वे स्थानीय निकाय नहीं रहेंगे वरन् सम्प्रभु राज्य बन जाएंगे। यह नियन्त्रण कितना तथा किस प्रकार का हो, यह एक पृथक प्रश्न है जिस पर भिन्न-भिन्न प्रकार के मत प्रकट किये गए हैं। भारत में स्थानीय निकायों पर सरकार के नियन्त्रण का प्रश्न कुछ अधिक महत्व रखता है क्योंकि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारत के अनेक राज्यों में स्थानीय संस्थाओं को नए रूप में पुनर्गठित करने के प्रयास किए गए हैं। वैसे यह एक माना हुआ तथ्य है कि अपने पूर्ण रूप में स्थानीय स्वायत्त सरकार शब्दों का विरोधाभास है। स्थानीय सरकार को स्वायत्तता तो प्राप्त होती है किन्तु केवल एक सीमा तक ही और इस सीमा से अधिक बढ़ने पर स्थानीय सरकार अपने मूल लक्ष्य को छोड़ देती है जिसके अनुसार कि उसे स्थानीय लोगों के सहयोग द्वारा स्थानीय जनता की दिन–प्रतिदिन की आवश्यकताओं को पूरा करना है। स्थानीय सरकार की कोई भी व्यवस्था पूर्ण रूप से स्वायत्त नहीं हो सकती। इस सन्दर्भ में एक उपयुक्त प्रश्न यह है कि केन्द्र सरकार को कितना नियन्त्रण रखना चाहिए जो कि एक ओर कार्य–कुशलता की दृष्टि से उपयोगी हो और दूसरी ओर स्थानीय स्वतंत्रता को बनाए रख सके। अन्य देशों में स्थानीय सरकार पर नियन्त्रण के जो तरीके जिस मात्रा में अपनाए गए हैं उनसे भारत ने बहुत कुछ सीखा है। केन्द्रीय एवं स्थानीय संस्थाओं के बीच व्यवस्थापिका, न्यायपालिका, प्रशासन एवं वित्तीय क्षेत्रों में रहते हैं।

वर्तमान समय में केन्द्रीय सरकार के हाथों में शक्ति अधिक केन्द्रित होती जा रही है। यह प्रवृत्ति सामाजिक, आर्थिक एवं तकनीकी पहलुओं से प्रभावित होती है। इन सबके परिणामस्वरूप राज्य सरकार स्थानीय निकायों पर अधिक नियन्त्रण रखने लगी हैं। राज्य सरकारों की ओर से यह कहा जाता है कि केन्द्रीय सरकार का लक्ष्य केवल यह देखना नहीं है कि स्थानीय सत्ताओं की स्वयत्ततापूर्ण शक्तियां बनी रहे किन्तु यह देखना भी है कि विभिन्नतापूर्ण प्रक्रियाओं से सम्पूर्ण जनता के हित खतरे में न पड़ जाएं।

जिन साधनों से केन्द्र द्वारा स्थानीय सरकारों पर नियन्त्रण रखा जाता है वे अनेक प्रकार के हैं। उनका रूप एवं प्रसार इस संबंध में बनाए गए अनेक अधिनियमों एवं नियमों पर निर्भर करता है।

स्थानीय निकायों पर प्रशासकीय नियन्त्रण
(Administrative Control over Local Bodies)

प्रशासकीय दृष्टि से स्थानीय निकायों पर रखे जाने वाले नियंत्रण के मुख्यत: दो रूप हैं। प्रथम साधारण तथा दूसरा असाधारण। इसके असाधारण रूप में मुख्य रूप से हम संकटकालीन अधिकारों को ले सकते हैं। जिला अधिकारी को संकटकाल में इच्छानुसार व्यवहार करने की विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं। यद्यपि वह भी अपनी शक्तियों का प्रयोग मनमाने ढंग से नहीं करता और अपने द्वारा उठाए गए कदमों के कारण वह राज्य सरकार को भेज देता है तथा इन कारणों की एक प्रतिलिपि स्थानीय सत्ता को भी भेजी जाती है। दूसरे, सरकार को स्थानीय सत्ता की इच्छाओं एवं निर्णयों के विपरीत

करने का भी अधिकार है। सरकार ने इस शक्ति का कई बार प्रयोग किया है। इस शक्ति का प्रसार यहां तक है कि सरकार स्थानीय निकाय के सारे अधिकारों को छीन सकती है। इस प्रकार से जिस स्थानीय सत्ता के अधिकार छीन लिए जाते हैं उसे राज्य द्वारा एक निश्चित समय के लिए नियुक्त अधिकारी के नियन्त्रण में रख दिया जाता है। इस प्रावधान का लक्ष्य स्थानीय निकाय के प्रशासन को एक निश्चित स्तर तक लाना है और उसके बाद उसे पुनः जनता के प्रतिनिधियों को सौंप दिया जाता है। इस संबंध में तीसरा अधिकार यह है कि सरकार स्थानीय परिषद को भंग कर सकती है। सजा के रूप में इस साधन को अपनाया जाता है अर्थात् जो प्रतिनिधि सही रूप में जनता की सेवा नहीं कर पाते अथवा अपने पद का दुरुपयोग करते हैं उनको हटा दिया जाता है और योग्यताओं वाले लोगों को सेवा का अवसर प्रदान किया जाता है। इन सेवाओं के अतिरिक्त सरकार को यह भी अधिकार है कि वह स्थानीय सत्ता के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को हटा सके जिसने कि व्यवस्थापिका द्वारा पारित अधिनियमों के प्रावधानों की अवहेलना की है, मानने से मना किया है या उनका बहिष्कार किया है। असाधारण शक्तियों में सरकार के पास एक शक्ति यह भी रहती है कि वह स्थानीय सत्ता द्वारा पारित प्रस्ताव को रद्द कर सके या रोक सके। कुछ असाधारण परिस्थितियों में यदि स्थानीय निकाय अपने सभी या कुछ कार्यों को सम्पन्न करने से मना कर दे तो सरकार द्वारा उनको सम्पन्न किया जाएगा। ये कुछ असाधारण शक्तियां हैं जिनका कि स्थानीय प्रशासन के क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रयोग किया जाता है।

इन असाधारण शक्तियों के अतिरिक्त राज्य सरकार को स्थानीय सत्ताओं पर अनेक साधारण शक्तियां भी प्राप्त हैं। सर्वप्रथम राज्य सरकार को यह अधिकार है कि वह प्रत्येक स्थानीय सत्ता के क्षेत्र को चुनाव की दृष्टि से अनेक भागों में विभाजित कर देती है। इसे प्रत्येक भाग के लिए सदस्यों की संख्या निश्चित करने का अधिकार है। इसके साथ ही उसे कुछ स्थानीय सत्ताओं में सदस्य नामजद करने का अधिकार है। वह उनमें से एक को अध्यक्ष नियुक्त कर देती है। दूसरे, राज्य सरकार को यह अधिकार है कि इन स्थानीय सत्ताओं के कार्य संचालन के लिए नियम बना सके, इनके संबंध में जांच पड़ताल कर सके और इनसे किसी भी विषय पर प्रतिवेदन मांग सके। यदि दो या अधिक स्थानीय निकायों के बीच झगड़ा हो जाये तो यह उसको तय करती है। सरकार किसी भी स्थानीय सत्ता का प्रशासकीय नियन्त्रण की दृष्टि से निरीक्षण कर सकती है। स्थानीय सत्ता को अधिकारियों का निरीक्षण करने में सारी सुविधाएं देनी होंगी। तीसरे, सरकार को यह शक्ति है कि वह स्थानीय सत्ताओं के विभागीय अध्यक्ष नियुक्त कर सकती है; जैसे जिला बोर्ड के अभियन्ता वा नगरपालिका अभियन्ता, स्वास्थ्य अधिकारी और मुख्य कार्यपालिका अधिकारी आदि। मद्रास आदि कुछ राज्यों में सरकार स्थानीय सत्ता के कर्मचारियों की संख्या, स्तर एवं श्रृंखला भी निर्धारित कर सकती है। स्थानीय सत्ता इनमें उस समय तक कोई परिवर्तन नहीं कर सकती जब तक कि वह सरकार की स्वीकृति प्राप्त न कर ले। सरकार को अधिकारियों के स्थानान्तरण करने का भी अधिकार है। चौथे, सरकार स्थानीय सत्ताओं के

निर्णयों के विरुद्ध अपील भी सुनती है। उदाहरण के लिए स्थानीय निकाय की कार्यपालिका सत्ता द्वारा प्रसारित आदेशों के विरुद्ध उसके अधिकारी एवं कर्मचारी जो भी अपील करते हैं वह राज्य सरकार द्वारा सुनी जाती है। स्थानीय फण्ड लेखाओं के परीक्षक द्वारा जो अतिरिक्त व्यय प्रमाण पत्र प्रसारित किए जाते हैं उनके विरुद्ध भी अपीलें सुनने की शक्ति राज्य सरकार को है। पांचवें, राज्य सरकार कुछ स्तर निश्चित कर देती है जिनको कि स्थानीय सत्ताओं द्वारा मानना होता है। राज्य सरकार उपनियम बनाती है तथा स्थानीय सत्ताओं को उन्हें मानने के लिए निर्देशित करती है। इस शक्ति के अतिरिक्त उन्हें मान्यता देने की शक्ति है, परामर्श देने की शक्ति है तथा स्वीकार करने की शक्ति है।

वित्तीय मामलों में कुछ कर लगाने से पूर्व राज्य सरकार की स्वीकृति लेना आवश्यक होता है। दूसरे, स्थानीय सत्ताएं कानूनी रूप में अपने बजट अनुमान राज्य सरकार की छानबीन एवं स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करती हैं। जब राज्य सरकार बजट अनुमानों की छानबीन करती है तो वह बजट में दी गई मदों को कम या अधिक कर सकती है। तीसरे, जितने भी कर्ज आदि लिए जाते हैं उन पर राज्य सरकार की स्वीकृति जरूरी होनी है। चौथे, आर्थिक दृष्टि से स्थानीय सत्ताओं पर नियंत्रण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधन सहायता का अनुदान है। राज्य सरकार जब सहायतार्थ अनुदान प्रदान करती है तो स्थानीय सत्ता के कार्यों एवं निर्णयों पर कई प्रकार से नियन्त्रण रखने में समर्थ हो जाती है। पांचवें, स्थानीय सत्ताओं के सभी वित्तीय कार्य राज्य सरकार द्वारा नियुक्त एवं नियन्त्रित आडिटरों द्वारा आडिट किए जाते हैं।

नियन्त्रण के असाधारण एवं साधारण साधनों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्य सरकार एवं उसके अधीनस्थ अभिकरणों को स्थानीय सत्ताओं के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण प्राप्त है। ये अधिकार राज्य सरकार को सन् १९३० में प्राप्त नहीं थे। इस काल के बाद ही राज्य सरकार के हाथों में सत्ता का प्रसार होने लगा है। इस प्रवृति के लिए उत्तरदायी अनेक कारण माने जा सकते हैं। इसका पहला कारण यह है कि उस समय सरकार का रूप प्रतिनिधि एवं उत्तरदायी नहीं था। सरकार का वह रूप प्रकृति की दृष्टि से पैत्रिक था जिसमें कि केन्द्रीयकरण पर जोर दिया जाता है। इस व्यवस्था में विकेन्द्रीयकरण का हर प्रकार से विरोध किया जाता है। दूसरे, व्यवस्थापिका के कुछ सदस्यों की अब यह प्रवृति बन गई है कि वे स्थानीय सत्ताओं के प्रशासन में सरकार के हस्तक्षेप पर जोर देते हैं। तीसरे, राज्य सरकार के हस्तक्षेप के फलस्वरूप धार्मिक, सामाजिक एवं राजनैतिक अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्राप्त होती है अन्यथा अल्पसंख्यकों के साथ अन्यायपूर्ण भेदभाव बरता जाए। बहुमत का शासन यद्यपि प्रजातन्त्र का मूल आधार है किन्तु फिर भी उसकी कुछ सीमाएं होती हैं। उन सीमाओं में से एक यह है कि वे अल्पसंख्यकों का दमन न करे। बहुमत के दैवी अधिकार असीमित बन कर तानाशाही को जन्म देते हैं जिसे रोकने के लिए राज्य सरकार को दी गई नियन्त्रण की शक्तियां उपयुक्त हैं।

स्थानीय सत्ताओं पर राज्य सरकार का नियन्त्रण प्रशासकीय कार्यकुशलता को बढ़ाता है तथा वित्तीय अपव्यय को रोकता है। यदि यह नियन्त्रण

न रहे तो स्थानीय क्षेत्र में प्रशासकीय अव्यवस्था फैल सकती है और आर्थिक दृष्टि से वे घाटे में चलने लगेंगी जिसके परिणामस्वरूप राज्य के खजाने पर अतिरिक्त भार पड़ जाएगा और कुल मिलाकर राज्य की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाएगी। कहीं-कहीं राज्य का नियन्त्रण आर्थिक बचत की दृष्टि से नहीं बल्कि इसलिए न्यायोचित ठहराया जाता है कि स्थानीय सत्ताएं उन्हें सौंपे गए अनुदानों को निर्धारित लक्ष्यों में प्रयुक्त कर सकें। प्रशासकीय क्षेत्र में राज्य सरकार को उच्च अधिकारियों की नियुक्ति, स्थानीय परिषदों को भंग करने, स्थानीय प्र तावों और बजट को स्वीकार करने आदि की शक्तियां प्राप्त हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि केन्द्र सरकार को सर्वोच्चता प्रदान की गई है और स्थानीय सत्ताओं की स्वतन्त्रता में खतरे देखे गए हैं।

राज्य सरकार द्वारा जिन तरीकों से स्थानीय सत्ताओं पर नियन्त्रण रखा जाता है वे अनेक हैं। नियन्त्रण के रूप मुख्य रूप से तीन हैं—प्रथम, कानून द्वारा; दूसरे, न्यायालय द्वारा, तीसरे, सरकारी विभागों द्वारा। स्थानीय सत्ता की बनावट राज्य के कानून द्वारा निर्धारित करदी जाती है जिसके अनुसार स्थानीय निकाय, कुछ समितियां स्थापित करते हैं तथा कुछ अधिकारी नियुक्त करते हैं। राज्य के अधिनियमों के अर्थ की व्याख्या साधारण न्यायालयों में की जाती है। यदि कोई व्यक्ति स्थानीय सत्ता के किसी व्यवहार द्वारा कष्ट अनुभव करता है तो वह साधारण न्यायालय में अपील कर सकता है। स्थानीय निकायों पर राज्य सरकार के विभिन्न विभागों का नियन्त्रण दिन प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आजकल यह अत्यन्त व्यापक एवं गम्भीर हो गया है।

जिन तरीकों से राज्य सरकार स्थानीय निकायों पर नियन्त्रण करती है वे कई प्रकार के हो सकते हैं; जैसे:—

(१) **परामर्श एवं सूचना**—राज्य सरकार स्थानीय मामलों में निरन्तर शोध कराती रहती है और तत्सम्बन्धी सूचना प्राप्त करने के लिए संगठन बनाती है।

(२) **सामयिक प्रतिवेदन**—स्थानीय सत्ताओं को उनके कार्य सम्पन्न करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ा जा सकता है किन्तु उनको इनकी सूचना राज्य सरकार को देनी होती है। इस सूचना अथवा प्रतिवेदन का रूप एकरूपता लाने की दृष्टि से प्राय: केन्द्रीय निकाय द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं व्यापक प्रतिवेदन आर्थिक प्रकृति के होते हैं।

(३) **निरीक्षण एवं परामर्श**—केन्द्रीय अधिकारियों को यह सत्ता दे दी जाती है कि वे स्थानीय सत्ताओं के कार्यों का निरीक्षण कर सकें तथा उन्हें परामर्श दे सकें। किन्तु यह अधिकारी अपने परामर्श एवं सुझावों के अनुसार व्यवहार संचालन करने के लिए उन्हें मजबूर नहीं कर सकते।

(४) **केन्द्रीय पुनरीक्षा**—स्थानीय सत्ताओं के अधिकांश प्रशासकीय कार्य अन्तिम होते हैं किन्तु उनमें से कुछ कार्यों को नियमित रूप से राज्य सरकार द्वारा नियुक्त प्रशासकीय निकाय द्वारा पुनरीक्षित किया जाता है।

(५) **सहायता अनुदान**—उच्च सत्ता द्वारा निम्न सत्ता को दिया

जानेवाला सशर्त अनुदान प्रशासकीय नियन्त्रण का एक शक्तिशाली साधन है।

(६) **स्तर तय करना**—राज्य सरकार द्वारा स्थानीय सत्ताओं की शक्ति के प्रयोग के लिए कुछ स्तर तय किए जा सकते हैं और यदि वह उन स्तरों के अनुकूल कार्य न करे तो ऐसा करने के लिए वह चेतावनी दे सकती है। इस दृष्टि से वह खर्चे की मात्रा, नियुक्ति के लिए योग्यताएं, तथा सरकारी कार्य के अन्य पहलुओं से सम्बन्धित स्तर तय कर सकती है।

(७) **पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता**—स्थानीय सत्ता द्वारा किए जाने वाले अनेक कार्यों पर राज्य सरकार की पूर्व-स्वीकृति लेना अत्यन्त आवश्यक होता है। अधिकारियों की नियुक्ति एवं पद-विमुक्ति, भारत में स्थानीय निकायों के कई महत्वपूर्ण अधिकारियों की नियुक्ति राज्य सरकार द्वारा की जाती है और वही उनको हटाने का अधिकार रखती है।

भारत में स्थानीय सत्ताओं पर केन्द्रीय नियन्त्रण के विभिन्न रूप हैं उनमें से एक व्यवस्थापिका द्वारा रखा जाने वाला नियन्त्रण है। राज्य की व्यवस्थापिका अपने अधिनियमों द्वारा स्थानीय निकायों के संविधान एवं कार्यों को परिभाषित करती है तथा इन अधिनियमों का विस्तृत व्यवहार राज्य सरकार द्वारा बनाए गए नियमों द्वारा विनियमित किया जाता है। व्यवस्थापिका के अधिनियमों में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख होता है कि एक विशेष स्थानीय निकाय में कितने सदस्य होंगे मतदाता सूची कैसे तैयार की जाएगी, चुनावों का मूल्यांकन कैसे होगा और कर-संग्रह का रूप क्या होगा, आदि। न्यायिक दृष्टि से राज्य सरकार दो या दो से अधिक स्थानीय सरकारों के बीच उत्पन्न मतभेदों को सुलझाती है और यदि स्थानीय परिषद तथा उसकी समितियों और अधिकारियों के बीच अधिकार सम्बन्धी कोई झगड़ा उत्पन्न हो जाए तो वह राज्य सरकार द्वारा ही तय किया जाता है। न्यायालय भी राज्य के कानूनों की व्याख्या करने और स्थानीय कानूनों को गैर कानूनी ठहराने का अधिकार रखते हैं।

भारत में स्थानीय सत्ताओं पर जो नियन्त्रण अपनाया जा रहा है उसके विरुद्ध यह आलोचना की जाती है कि यह औपचारिक एवं निषेधात्मक है और रचनात्मक या विधेयात्मक नहीं है। इसका मुख्य उद्देश्य स्थानीय निकायों के उन कार्यों को रोकना है जो कि कानून विरोधी हैं। यह इन कार्यों पर प्रशासकीय कार्यकुशलता की दृष्टि से विचार नहीं करता तथा आवश्यक सुधारों को नहीं सुझाता। स्थानीय स्तर पर किए जाने वाले ठेकों में, कार्यों के संचालन में तथा की गई नियुक्तियों में अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार किए जाते हैं। इन भ्रष्टाचारों के लिए कर्त्ता द्वारा ऐसा मार्ग ढूंढ लिया जाता है जो कि कानून के विरुद्ध न हो; किन्तु फिर भी जन हित और प्रशासकीय कार्यकुशलता का गला घोंट दे। कानून द्वारा निर्धारित प्रक्रिया को अपना करके भी लोग बड़े-बड़े अपराध आसानी से कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त जो आडिट किया जाता है वह भी उस समय किया जाता है जबकि गलतियां हो चुकी होती हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्थानीय सत्ताओं पर सरकार का नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण वर्तमान की तुलना में अधिक निकट का एवं घनिष्ट होना चाहिए। किन्तु दूसरी ओर स्थानीय निकाय यह शिकायत

करते देखे जाते हैं कि सरकार उनके कार्यों में बहुत अधिक नियन्त्रण रख रही है। वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि सरकार को नियन्त्रण की विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं किन्तु वह इनका प्रयोग कदाचित ही करती है। किन्तु जब कभी वह उनका प्रयोग करती है तो स्थानीय स्वायत्तता एवं स्वतन्त्रता एक ओर रखे रह जाते हैं। नियन्त्रण के इन विभिन्नों रूपों एवं व्यवस्थाओं का ज्ञान भारत में नगरपालिका तथा पंचायतीराज संस्थाओं पर लगाए गए केन्द्रीय नियन्त्रण को देखने के बाद अधिक स्पष्ट रूप में हो सकेगा।

नगरपालिका परिषदों पर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण
[Supervision and Control over Municipal Councils]

भारत के विभिन्न राज्यों की विभिन्न नगरपालिकाओं पर राज्य सरकार तथा उसके अधिकारियों द्वारा प्रशासकीय नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखा जाता है। इस नियन्त्रण की मात्रा एवं प्रकृति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है किन्तु फिर भी सामान्य रूप से जिन क्षेत्रों में तथा जिन तरीकों से यह नियन्त्रण रखा जाता है उसमें बहुत कुछ एकरूपता परिलक्षित होती है। अर्गल (Argal) महोदय ने नगरपालिका सत्ताओं पर सरकार की शक्तियों को पांच मुख्य शीर्षकों में समूहीकृत किया है। ये हैं—संरक्षणात्मक शक्तियां, कानून को लागू करने की शक्तियां, प्रशासन की शक्तियां, सेवीवर्ग पर शक्तियां, एवं वित्तीय शक्तियां। इन समूहों के अन्तर्गत जिन शक्तियों का राज्य सरकार द्वारा प्रयोग किया जाता है वे संख्या एवं गुण की दृष्टि से विभिन्न हैं। इन सभी समूहों का संक्षेप में अध्ययन किया जाना उपयोगी रहेगा।

(१) संरक्षणात्मक शक्तियां [Tutelary Powers]—स्थानीय संस्थाएं अपने आप में कोई पृथक सत्ता नहीं होतीं। वे राज्य सरकार का ही एक अविभाज्य भाग होती हैं तथा उसके द्वारा हस्तान्तरित शक्तियों का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि जब कोई स्थानीय निकाय प्रशासन की मौलिक बातों की अवहेलना करे या जनता के हितों को किसी प्रकार बलिदान करे तो कोई उच्च सत्ता आकर निष्पक्षतापूर्वक हस्तक्षेप करे। भारत में नियन्त्रण की यह शक्ति राज्य में निहित की गई है जो कि व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मन्त्री के माध्यम से इसका प्रयोग करता है। पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण की सामान्य शक्तियां राज्य कार्यपालिका में निहित रहती हैं जो कि स्थानीय शक्तियों की क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी सत्ताओं के मित्र, निर्देशक, दार्शनिक, उत्साहवर्धक एवं उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती है। यह तुलनात्मक अध्ययन, आलोचना एवं स्पष्टीकरण, वार्षिक प्रतिवेदन, प्रस्ताव, सामान्य एवं विशेष स्मृति पत्र आदि के माध्यम से विभिन्न नगरपालिका परिषदों को विशेषज्ञतापूर्ण परामर्श प्रदान करती है। विभिन्न आयोगों, समितियों एवं जांचों के माध्यम से नवीन व्यवस्थापन के प्रभावों का अध्ययन करने के बाद राज्य सरकार कार्यों एवं शक्तियों के सम्बन्ध में नई नीतियां सुझाने में समर्थ होती है। नगरपालिका प्रशासन के सभी पहलुओं की इसके पास पूरी सूचना रहती है और इसलिए यह नगरपालिका परिषदों को अप्रत्यक्ष एवं सामूहिक रूप से कभी भी निर्देशित कर सकती है। स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में राज्य सरकार की ये शक्तियां संरक्षणात्मक शक्तियां कहलाती हैं।

करते देखे जाते हैं कि सरकार उनके कार्यों में बहुत अधिक नियन्त्रण रख रही है। वस्तुस्थिति यह है कि यद्यपि सरकार को नियन्त्रण की विस्तृत शक्तियां प्राप्त हैं किन्तु वह इनका प्रयोग कदाचित ही करती है। किन्तु जब कभी वह उनका प्रयोग करती है तो स्थानीय स्वायत्तता एवं स्वतन्त्रता एक ओर रखे रह जाते हैं। नियन्त्रण के इन विभिन्नों रूपों एवं व्यवस्थाओं का ज्ञान भारत में नगरपालिका तथा पंचायतीराज संस्थाओं पर लगाए गए केन्द्रीय नियन्त्रण को देखने के बाद अधिक स्पष्ट रूप में हो सकेगा।

नगरपालिका परिषदों पर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण
[Supervision and Control over Municipal Councils]

भारत के विभिन्न राज्यों की विभिन्न नगरपालिकाओं पर राज्य सरकार तथा उसके अधिकारियों द्वारा प्रशासकीय नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखा जाता है। इस नियन्त्रण की मात्रा एवं प्रकृति प्रत्येक राज्य में भिन्न-भिन्न है किन्तु फिर भी सामान्य रूप से जिन क्षेत्रों में तथा जिन तरीकों से यह नियन्त्रण रखा जाता है उसमें बहुत कुछ एकरूपता परिलक्षित होती है। अर्गल (Argal) महोदय ने नगरपालिका सत्ताओं पर सरकार की शक्तियों को पांच मुख्य शीर्षकों में समूहीकृत किया हैं। ये हैं—संरक्षणात्मक शक्तियां, कानून को लागू करने की शक्तियां, प्रशासन की शक्तियां, सेवीवर्ग पर शक्तियां, एवं वित्तीय शक्तियां। इन समूहों के अन्तर्गत जिन शक्तियों का राज्य सरकार द्वारा प्रयोग किया जाता है वे संख्या एवं गुण की दृष्टि से विभिन्न हैं। इन सभी समूहों का संक्षेप में अध्ययन किया जाना उपयोगी रहेगा।

(१) संरक्षणात्मक शक्तियां [Tutelary Powers]—स्थानीय संस्थाएं अपने आप में कोई पृथक सत्ता नहीं होतीं। वे राज्य सरकार का ही एक अविभाज्य भाग होती हैं तथा उसके द्वारा हस्तान्तरित शक्तियों का प्रयोग करती हैं। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि जब कोई स्थानीय निकाय प्रशासन की मौलिक बातों की अवहेलना करे या जनता के हितों को किसी प्रकार बलिदान करे तो कोई उच्च सत्ता आकर निष्पक्षतापूर्वक हस्तक्षेप करे। भारत में नियन्त्रण की यह शक्ति राज्य में निहित की गई है जो कि व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी मन्त्री के माध्यम से इसका प्रयोग करता है। पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण की सामान्य शक्तियां राज्य कार्यपालिका में निहित रहती हैं जो कि स्थानीय शक्तियों की क्रियान्विति के लिए उत्तरदायी सत्ताओं के मित्र, निर्देशक, दार्शनिक, उत्साहवर्धक एवं उत्प्रेरक के रूप में कार्य करती है। यह तुलनात्मक अध्ययन, आलोचना एवं स्पष्टीकरण, वार्षिक प्रतिवेदन, प्रस्ताव, सामान्य एवं विशेष स्मृति पत्र आदि के माध्यम से विभिन्न नगरपालिका परिषदों को विशेषज्ञतापूर्ण परामर्श प्रदान करती है। विभिन्न आयोगों, समितियों एवं जांचों के माध्यम से नवीन व्यवस्थापन के प्रभावों का अध्ययन करने के बाद राज्य सरकार कार्यों एवं शक्तियों के सम्बन्ध में नई नीतियां सुझाने में समर्थ होती है। नगरपालिका प्रशासन के सभी पहलुओं की इसके पास पूरी सूचना रहती है और इसलिए यह नगरपालिका परिषदों को अप्रत्यक्ष एवं सामूहिक रूप से कभी भी निर्देशित कर सकती है। स्थानीय निकायों के सम्बन्ध में राज्य सरकार की ये शक्तियां संरक्षणात्मक शक्तियां कहलाती हैं।

(२) **कानून को लागू करने की शक्तियां (Powers for Application of Law)**—राज्य की व्यवस्थापिका अधिनियम बनाती है तथा राज्य सरकार को अधिनियम के आधीन नियम बनाने की शक्ति सौंपती है। ये नियम सामान्य हो सकते हैं और विशेष भी। इनको किन-किन नगरपालिकाओं पर किस प्रकार लागू किया जाएगा इस बात को देखने की शक्ति राज्य सरकार के पास में होती है। राज्य सरकार को विभिन्न विषयों के सम्बन्ध में नियम बनाने की शक्ति दी गई है। यह उन शर्तों के बारे में जिनके अनुसार परिषद के द्वारा सम्पत्ति प्राप्त एवं स्थानान्तरित की जा सकती है, भाग्य निधि (Provident Fund) की क्रियान्विति के बारे में, कर,वित्त एवं अनुदान से सम्बन्धित विषयों के बारे में, राज्य एवं नगरपालिका सत्ताओं के बीच सम्पर्क रखने वाले कार्यालय के बारे में, परिषद द्वारा कार्य के लिए तैयार की गई योग्यताओं एवं अनुमानों के बारे में, नगरपालिका परिषदों द्वारा रखे जाने वाले लेखों के बारे में, जिस ढंग से राज्य सरकार के अधिकारी नगर–पालिका परिषद को अधिनियम के लक्ष्यों के संचालन के बारे में सहायता, परामर्श एव सहयोग प्रदान करेंगे. उसके बारे में परिषद की बैठकों इत्यादि के व्यवहार के बारे में तथा इसी प्रकार के अन्य बहुत से विषयों के बारे में राज्य सरकार को नियम बनाने का अधिकार है। ये विभिन्न विषय स्पष्ट रूप से अधिनियम में दिए गए हैं किन्तु राज्य सरकार चुनाव, पार्षदों के चयन एवं नामजादगी अध्यक्ष एवं उपाध्यक्ष, खड़े होने वाले उम्मीदवारों द्वारा जमा किए जाने वाले धन आदि ऐसे विषयों पर भी नियम बना सकती है जो कि अधिनियम में नहीं दिए गए हैं।

सरकार की नियम बनाने की शक्ति नगरपालिका प्रशासन में एक–रूपता लाती है और यह नागरिक सेवकों को, इनके उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में सहयोग देती है, आडिटरों को लेखों की परीक्षा करने में मदद करती है और स्थानीय स्वायत्त सरकार विभाग को उसके प्रतिवेदन तैयार करने तथा नगरपरिषद के कार्यों की पुनरीक्षा करने में सहायता करती है। ये विभिन्न नियम एवं उपनियम अनुभवी परिषदों एवं नागरिक सेवकों को बजट बनाने में, अभिलेख रखने में तथा लेखा तैयार करने में सहायता करते हैं क्योंकि इन नियमों एवं रूपों के माध्यम से ही परिषद उन योग्य प्रशासकों एवं विशेषज्ञों का निर्देशन प्राप्त करने में योग्य बन पाती है जिनको कि वह नियुक्त नहीं कर सकती।

राज्य सरकार द्वारा बनाए गए ये नियम एवं उपनियम राज्य के स्थानीय स्वायत्त सरकार विभाग द्वारा प्रसारित किए जाते हैं। यद्यपि शिक्षा विभाग एवं स्थास्थ्य विभाग आदि जो कि नगरपालिका प्रशासन से घनिष्ट रूप से सम्बन्धित हैं, भी संचारों को प्रसारित कर सकती हैं जिन पर नगर-परिषदों द्वारा विचार किया जाना परम आवश्यक होता है। इन नियमों, उपनियमों के अतिरिक्त स्थानीय स्वायत्त सरकार नगरपालिका प्रशासन से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों पर उपनियम बना सकती है ताकि परिषद को निर्देशन मिल सके। ये उपनियम विभिन्न नगरपालिकाओं की परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करने के बाद लागू किए जाते हैं। इसलिए नगरपालिका प्रशासन में राज्य सरकार का प्रभाव हर जगह देखने में आता है।

राज्य सरकार को नगरपालिकाओं को बनाने एवं बिगाड़ने में भी कुछ शक्तियां प्रदान की गई हैं। केवल राज्य सरकार ही नई नगरपालिका बना सकती है, इसकी क्षेत्रीय सीमाओं में परिवर्तन कर सकती है अथवा एक स्थित नगरपालिका को समाप्त कर सकती है। यदि राज्य सरकार यह देखे कि एक नगरपालिका की विशेष परिस्थितियों में अधिनियम का कोई प्रावधान अनुपयुक्त है तो वह विज्ञप्ति द्वारा उस नगरपालिका को उस विशेष प्रावधान से उन्मुक्त कर सकती है।

(३) **प्रशासन की शक्तियां (Powers of Administration)**—राज्य सरकार को नगरपालिकाओं के प्रशासन क्षेत्र में विभिन्न प्रकार की शक्तियां प्राप्त हैं; जैसे, निरीक्षण करने की शक्तियां जांच करने एवं प्रतिवेदन प्राप्त करने की शक्तियां, स्वीकृति की शक्तियां, गड़बड़ी करने पर कार्यवाही करने की शक्तियां, अपील सुनने की शक्तियां, भग करने एवं अधिकार छीनने की शक्तियां आदि। इनमें से प्रत्येक प्रशासकीय शक्ति पर थोड़ा विचार किया जाना अपेक्षित है। राज्य सरकार निरीक्षण करने की दृष्टि से एक सामान्य या विशेष आज्ञा द्वारा जिला अधिकारी को किसी समिति, उपसमिति या संयुक्त समिति की प्रक्रियाओं का परीक्षण करने की शक्ति दे सकती है। स्वयं जिला अधिकारी नगरपालिका की अचल सम्पत्ति या किसी भी परिपत्र को देख सकता है। यदि जिला अधिकारी के मतानुसार परिषद की किसी आज्ञा, प्रस्ताव या कार्य की क्रियान्विति से शान्ति को खतरा है तो वह जिले में उसकी सम्पन्नता पर रोक लगा सकता है। बम्बई में जिला अधिकारी की ये शक्तियां स्थानीय सत्ताओं के संचालक द्वारा और मद्रास में नगरपालिका एवं स्थानीय बोर्डों के निरीक्षक द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं। मद्रास में जिला अधिकारी को नगरपालिकाओं पर केवल संकटकालीन अधिकार प्राप्त हैं।

अन्य सरकारी विभाग भी स्थानीय निकायों पर निरीक्षण की कुछ शक्ति रखते हैं ताकि वे यह देख सकें कि विभिन्न लक्ष्यों के लिए दिया गया सरकारी अनुदान ठीक प्रकार से प्रयुक्त किया जाए, नीति में एकरूपता रखी जाए तथा राज्य भर में कम से कम कार्यकुशलता अवश्य रखी जाए। नगरपालिका द्वारा संचालित स्कूलों के पाठ्यक्रम एवं शिक्षा सम्बन्धी सामान्य नीति पर शिक्षा विभाग का पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण रहता है जिसे कि वह स्कूलों के उपसंचालक द्वारा लागू करता है। स्कूलों के स्थापन के सम्बन्ध में भी शिक्षा विभाग द्वारा सिफारिशें की जा सकती हैं किन्तु परिषद इसके निर्णयों को मानने के लिए बाध्य नहीं है। किन्तु यदि इन विषयों में कोई नीति सम्बन्धी प्रश्न उठ उठा होता है तो शिक्षा विभाग अपने निर्णयों को प्रभावशाली बनाने के लिए स्थानीय स्वायत्त सरकार विभाग को अनुदान वापस लेने के लिए सिफारिश कर सकता है। सफाई से सम्बन्धित विषयों का निरीक्षण करने के लिए जिले का सिविल सर्जन होता है। इसके साथ-साथ जन स्वास्थ्य का संचालक भी वार्षिक निरीक्षण करता है। इसी प्रकार से विभिन्न विभागों के विभिन्न अधिकारी जन कार्य- नियोजन, पशु चिकित्सा सेवा, अस्पताल आदि से सम्बन्धित निरीक्षण की शक्तियों का प्रयोग करते हैं।

राज्य सरकार को नगरपालिका के जिन विषयों के सम्बन्ध में स्वीकृति तथा मान्यता देने का कानूनी अधिकार है उनसे सम्बन्धित किसी भी

विषय पर जांच करने के लिए अपने अधिकारियों को आज्ञा दे सकती है और इस प्रकार की जांच सामान्य रूप से उसी प्रकार की जाएगी जिस प्रकार कि एक न्यायालय द्वारा की जाती है। यह जांच दो प्रकार की हो सकता है—प्रथम विशेष अधिकारियों द्वारा नगरपालिका क्षेत्रों में स्थित दशाओं की निश्चित जानकारी प्राप्त करने के लिए की जाने वाली जाँच और दूसरे, व्यक्तिगत करदाताओं के कष्टों एवं दोषारोपणों के सम्बन्ध में की जाने वाली जांच। उत्तर प्रदेश में प्रथम प्रकार की जांच तब की जाती है जब कि सरकार को नगरपालिकाओं के कार्यों के गलत प्रतिवेदन प्राप्त हों और वह उनके अधिकारों को लेना चाहे। इस प्रकार की जांच करते समय राज्य सरकार सामान्यतः एक विशेष बोर्ड समिति नियुक्त कर देती है। दूसरे प्रकार की जांच या तो जिला अधिकारियों द्वारा की जाती है या मद्रास की भांति नगरपालिका के निरीक्षक द्वारा की जाती है। जांच पूरी हो जाने के बाद आवश्यक कार्यवाही के लिए राज्य सरकार के सम्मुख प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है। नगरपालिका प्रशासन पर पर्याप्त पर्यवेक्षण रखने की दृष्टि से यह व्यवस्था की गई है कि परिषद विभिन्न कार्यों का सामयिक प्रतिवेदन एक निर्धारित फार्म पर सांख्यिकीय एवं अन्य आवश्यक सूचनाओं सहित विभिन्न विभागों को प्रस्तुत करे। विभिन्न अधिकारियों को प्रस्तुत किये जाने वाले प्रतिवेदनों को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाता है जैसे साप्ताहिक, अर्धमासिक, मासिक, त्रैमासिक, अर्धवार्षिक एवं वार्षिक। कभी-कभी तो इन प्रतिवेदनों का रूप भी राज्य सरकार द्वारा निर्धारित कर दिया जाता है। परिषदें जिन विभिन्न विषयों के बारे में सूचनाएं प्रस्तुत करती हैं वे हैं— शिक्षा, कर स्थापन, प्रशासन, सफाई, टीके, जलदाय, आदि। इन विषयों में प्रतिवेदनों की संख्या, विषय एवं प्रकृति प्रत्येक राज्य में अलग-अलग होती है।

राज्य सरकार को स्वीकृति देने का अधिकार है। कई एक ऐसे कार्य एवं व्यवहार हैं जिनको साकार करने से पूर्व परिषद को राज्य सरकार की स्वीकृति लेनी होती है। जैसे कि नगरपालिका द्वारा बनाए गए उप-कानून केवल तभी प्रभावशील होते हैं जबकि वे सरकार द्वारा स्वीकार एवं प्रकाशित कर लिए जायें। ऐसे अन्य विषय भी होते हैं जिन पर कि राज्य सरकार की पूर्व स्वीकृति लेना जरूरी है। वे विषय जिनके बारे में राज्य सरकार से पूर्व स्वीकृति लेना अत्यन्त आवश्यक होता है, विभिन्न राज्यों में अलग-अलग हैं। इसलिए ऐसे विषयों की कोई एक सामान्य सूची नहीं बनाई जा सकती।

अनेक अवसरों पर नगरपालिका के अधिकारियों के निर्णय एवं आदेश विरोध का कारण बन जाते हैं। इनके विरुद्ध की गई अपीलें राज्य सरकार को प्रस्तुत की जाती हैं। यदि कानून का संचालन सही ढंग से न किया जाए और नगरपालिका परिषदें उसकी अवहेलना करें तो राज्य सरकार से इसकी अपील की जा सकती है। विभिन्न राज्यों में ऐसे अनेक विषयों का उल्लेख कर दिया गया है जिन पर दी गई आज्ञायें ही अपील का विषय बन सकती हैं। सामान्य रूप से परिषद की आज्ञाओं के विरुद्ध की गई अपील तथ्य के विषयों से सम्बन्ध रखती है न कि कानून के विषयों से। अपील सुनने वाली सत्ता का निर्णय प्रत्येक स्थिति में अन्तिम माना जाएगा, कोई भी न्यायालय

इसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता तथा विषय को पुनरीक्षा के लिए नहीं मंगा सकता।

यदि नगरपालिका परिषद उसे सौंपे गए कार्यों की सम्पन्नता में कोई गड़बड़ी करे या देर करे तो सरकार उसकी सम्पन्नता के लिए समय निश्चित कर सकती है और फिर भी यदि वह न हुआ तो उसकी क्षतिपूर्ति के रूप में परिषद से लिए जाने वाले मूल्य की मात्रा निश्चित कर देगी। बम्बई में जिला अधिकारी को यह शक्ति प्राप्त है कि वह आवश्यक समझे जाने वाले कार्य को सम्पन्न करने के लिए नगरपालिका से कहे। वह नगरपालिका को विचारार्थ कोई सूचना भेज सकता है और उसके अनुसार कार्य करने के लिए कह सकता है। यदि नगरपालिका ऐसा न कर सके तो वह लिखित रूप में इसके कारण मांग सकता है। जिला अधिकारी को भी संकट काल में यह अधिकार दिया गया है कि वह नगरपालिका से कोई भी कार्य सम्पन्न करने के लिए कह सके।

जब एक परिषद अपने कर्तव्यों की पूरी तरह से अवहेलना करे या दलीय मतभेदों के कारण प्रशासनिक कार्य को नुकसान पहुंचे या परिषद अपनी शक्तियों से बाहर चली जाये अथवा उनका दुरुपयोग करे अथवा वह निरन्तर अयोग्य साबित हो तो राज्य सरकार परिषद को भंग करके नए निर्वाचनों की आज्ञा प्रसारित कर सकती है। यदि नव-निर्वाचित परिषद भी इन्हीं कार्यों को दोहराती है तो राज्य सरकार उसकी समस्त शक्तियां छीन कर नगरपालिका के प्रशासन को किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को सौंप सकती है। इस प्रकार नियुक्त व्यक्ति का वेतन नगरपालिका फण्ड में से दिया जायेगा। अधिकार छीनने का समय समाप्त होते ही परिषद की पुनर्रचना की जाएगी या पर्याप्त जांच के बाद काल को बढ़ाया जा सकेगा। जो व्यक्ति शक्ति छिनवाने के लिए उत्तरदायी थे उनको सदस्यता के लिए अयोग्य नहीं ठहराया जायेगा। परिषद को भंग करने का या उससे शक्तियां छीनने का अधिकार दिखने में अत्यन्त डरावना प्रतीत होता है किन्तु यह केवल तभी प्रयुक्त किया जाता है जबकि कुप्रशासन अपनी चरम सीमा तक पहुंच जाए; और ऐसी स्थिति में यदि सरकार इस अधिकार को काम में लाए तो कोई बुराई नहीं है। स्वायत्तसरकार के उत्साही समर्थकों द्वारा नगरपालिकाओं को भंग करने तथा उनसे अधिकार छीनने की शक्ति का दृढ़ता के साथ विरोध किया जाता है किन्तु कई बार इस शक्ति का प्रयोग अपरिहार्य बन जाता है अतः इस शक्ति को एक आवश्यक बुराई के रूप में लेकर चलना चाहिए।

(४) **सेवी वर्ग पर शक्तियां [Powers over Personnel]**—नगरपालिका स्तर पर अधिकारी एवं गैर अधिकारी दोनों ही प्रकार के सदस्य कार्य करते हैं। जहां तक गैर अधिकारी सदस्यों का प्रश्न है राज्य सरकार पार्षदों की संख्या निश्चित करती है, परिषद में निर्वाचित, चयन किए हुए एवं मनोनीत सदस्यों का अनुपात निश्चित करती है और उनके चुनाव को विनियमित करने के लिए नियम बनाती है। जहां सदस्यों को मनोनीत करने का प्रावधान होता है वहां पार्षदों की कुछ संख्या को सरकार द्वारा मनोनीत किया जाता है। पंजाब में सरकार को यह अधिकार है कि वह किसी निर्वाचित सदस्य का पद खाली होने पर उस पद को खाली रखने या नियुक्ति द्वारा

भरने के लिए निर्देशित करे। वह निर्वाचित या नियुक्त किसी भी विशेष सदस्य की सीट को खाली करा सकती है। राज्य सरकार को यद्यपि यह शक्ति है कि वह परिषद के किसी भी सदस्य को हटा सके किन्तु इस शक्ति का प्रयोग तब तक नहीं किया जाएगा जब तक कि सम्बन्धित पारषद को स्पष्टीकरण का अवसर न दे दिया जाए। यदि किसी नगरपालिका के सदस्य को कार्यालय से गलती से हटा दिया जाए तो वह सरकार के विरुद्ध मुकदमा लड़ सकता है। ऐसी स्थिति में हटाने वाले को यह सिद्ध करना होगा कि वह उचित कारणों से ही हटाया गया है। मद्रास, आन्ध्र, पंजाब और केरल राज्यों में सरकार अध्यक्ष को भी शक्तियों के दुरुपयोग या कर्तव्यों के पालन में स्वभावगत असफलता के लिए हटा सकती है। राज्य सरकार शिक्षा, जन-कार्य, मेडीकल, स्वास्थ्य एवं अन्य तकनीकी विभागों के लोगों को भी समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए तथा उनके विभाग को प्रभावित करने वाले विषयों पर बोलने के लिए आमन्त्रित कर सकती है।

अधिकारी सेवी वर्ग—नगरपालिका के नागरिक सेवकों की दृष्टि से राज्य सरकार को विभिन्न शक्तियां सौंपी गई हैं। उसे अधिकार होता है कि सचिव अभियन्ता, स्वास्थ्य अधिकारी, सफाई निरीक्षक, लेखाधिकारी, ओवरसीयर, नर्स आदि की नियुक्ति के सम्बन्ध में नियम बना सके। केरल में राज्य सरकार को यह अधिकार है कि वह सम्बन्धित नगरपालिका से पूछ कर किसी भी कर्मचारी का दूसरी नगरपालिका में स्थानान्तरण कर सकती है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश में कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति तथा उसका वेतन सरकार की स्वीकृति के विषय होते हैं। मध्य प्रदेश जहां समिति योग्य न हो वहां सरकार द्वारा अपने सेवक को अठारह महीने के लिए कार्यपालिका अधिकारी नियुक्त किया जा सकता है तथा उसकी शक्तियां स्पष्ट कर दी जाती हैं। यदि परिषद द्वारा किसी उच्च अधिकारी को पद से हटा दिया जाय या उसका पद घटा दिया जाय तो राज्य सरकार से अपील की जा सकती है। यदि सरकार यह मानती है कि समिति का कोई अधिकारी या कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करने में उदासीनता रखता है तो परिष[illegible] उसे निलम्बित कर देगी या उसे दूसरी प्रकार की सजा देगी और यदि सम्न्धित व्यक्ति को नौकरी के अयोग्य समझा जाय तो परिषद् उसे बिलकु[illegible] हटा देगी। पंजाब, मध्य प्रदेश और राजस्थान में यदि आयुक्त यह सोचे [illegible] नगरपालिका द्वारा नियुक्त अधिकारियों या सेवकों की संख्या या वेतन अ[illegible] है तो वह उनकी संख्या अथवा वेतन को कम कर सकता है। कर्मचारियों [illegible] भाग्यविधि (Provident fund) भी सरकार की आज्ञाओं एवं नियमों द्व[illegible] विनियमित होते हैं। बम्बई में राज्य सरकार नगरपालिका से मुख्य अधिका[illegible] नियुक्त करने को कह सकती है और उसे किसी भी ऐसी नगरपालिका के [illegible] जिसकी कि जनसंख्या कम से कम एक लाख है, राज्य सरकार नगरपा[illegible] आयुक्त, नियुक्त कर सकती है। जब आयुक्त की नियुक्ति कर दी जाती है [illegible] मुख्य अधिकारी का पद समाप्त हो जाता है। मैसूर सरकार को स[illegible] अधिकारी तथा अभियन्ता आदि कुछ अधिकारियों को नियुक्त करने का अधिकार है।

(५) **वित्तीय अधिकार (Financial Powers)**—राज्य सरकार

वित्तीय क्षेत्र में भी नगरपालिकाओं पर नियन्त्रण रखने के पर्याप्त अवसर प्रदान किए जाते हैं। नगरपालिका फण्ड एवं व्यय, कर, बजट, आडिट और कर्जे आदि के क्षेत्र में उसके द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। राज्य सरकार नगरपालिका के फण्ड को लागू करने और नियमित करने के लिए नियम बनाती है। इन नियमों के आधार पर वह यह तय करती है कि कितनी कीमत वाले अनुमान एवं योजनायें किसके द्वारा तय होंगे, नगरपालिका के खर्चे एवं भुगतान की आज्ञाओं पर किसके हस्ताक्षर होंगे तथा यह भुगतान किस प्रकार किए जायेंगे आदि-आदि। नगरपालिका परिषद् द्वारा किसी भी रूप में सरकार की स्वीकृति के बिना कोई धन व्यय नहीं किया जा सकता। उत्तर प्रदेश में सरकार किसी मतलब के लिए परिषद् से धन का प्रबन्ध करने को कह सकती है। मेले आदि में राज्य सरकार द्वारा जो पुलिस भेजी जायेगी एवं संकटकाल में उसके द्वारा परिषद् के अधिकार क्षेत्र में आने वाले जो कार्य सम्पन्न किए जायेंगे, उन पर होने वाला व्यय परिषद् को देना होगा। नगरपालिका के फण्ड को किसी भी ऐसे बैंक में नहीं रखा जा सकता जो कि सरकार द्वारा मान्य नहीं है। नगरपालिका अपनी सीमाओं से बाहर खर्चा केवल तभी कर सकती है जबकि राज्य सरकार से पूछ ले। उसकी सीमाओं के खर्चे पर भी राज्य सरकार निर्देश दे सकती है।

राज्यों की व्यवस्थापिका द्वारा नगरपालिका के कर निर्धारित किए जाते हैं। राज्य सरकार कर लगाने तथा अधिक से अधिक मात्रा निश्चित करने के बारे में भी नियम बना सकती है। कर लगाते समय राज्य सरकार की स्वीकृति लेनी होती है। मद्रास की नगरपालिका परिषदें, व्यवसाय कर, सम्पत्ति कर, सवारी कर, आदि को अपनी इच्छा से लगा सकती हैं किन्तु यदि इसके अतिरिक्त कर लगाना चाहें तो वे राज्य सरकार से अनुमति लेंगी। यदि राज्य सरकार कभी यह सोचे कि नगरपालिका द्वारा लगाया गया कर अन्यायपूर्ण है या उसे उगाहने का तरीका ठीक नहीं है तो वह उस कर को समाप्त करने या बदलने के लिए कह सकती है। आन्ध्र प्रदेश और मद्रास में सरकार को यह शक्ति है कि वह किसी भी नगरपालिका को सम्पत्ति कर एवं सेवा कर लगाने के लिए मजबूर कर सके। उत्तर प्रदेश और मैसूर में यदि राज्य सरकार यह सोचे कि नगरपालिका ने निर्धारित समय में तथा उपयुक्त दर से एक कर को नहीं लगाया है तो वह इस कार्य को करने के लिए एक बोर्ड नियुक्त कर सकती है।

प्रत्येक नगरपालिका एक वार्षिक बजट तैयार करती है। पंजाब, आंध्र-प्रदेश, मद्रास आदि राज्यों में बजट अनुमान पर सरकार की स्वीकृति जरूरी होती है और उसके द्वारा रखा जाने वाला नियंत्रण अत्यन्त कठोर होता है। दूसरे राज्यों में परिषदें अपना बजट बना सकती हैं तथा राज्य की स्वीकृति केवल उन्हीं परिषदों के लिए जरूरी होती है जो कि कर्जदार हैं। बजट बनाने आदि कामों के सम्बन्ध में राज्य सरकार नियम बना सकती है।

राज्य सरकार द्वारा नगरपालिका के लेखों का आडिट करने के लिए आडिटर नियुक्त किये जाते हैं। राज्य सरकार लेखों को उचित रूप से रखने के बारे में भी नियम बना सकती है और परिषद् द्वारा रखे जाने वाले विभिन्न रजिस्टरों के सम्बन्ध में भी सुझाव प्रस्तुत कर सकती है।

नगरपालिका की कर्जा लेने की शक्ति स्थानीय सत्ता कर्जा अधिनियम १९१४ से प्रशासित होती है जिसके अनुसार कुछ अस्थायी एवं जरूरी कर्जों को छोड़कर सभी कर्जो के प्रार्थना पत्रों पर विचार करती है चाहे वे सरकारी हों अथवा व्यक्तिगत। कर्जे से सम्बन्धित कार्यों एवं लेखाओं का परीक्षण करने की शक्ति राज्य सरकार को है। जब कर्जे के रूप में कोई भी धन नगरपालिका को दिया जाता है तो राज्य सरकार उससे सम्बन्धित कार्य पर पर्यवेक्षण रखती है। यदि कार्य पूरा हो जाने के बाद कर्जे में से कोई धन बच जाता है तो उसे राज्य सरकार को लौटा दिया जाता है। गैर-सरकारी कर्जे के सम्बन्ध में भी राज्य सरकार यह निर्देशित कर सकती है कि खर्च न किये गये धन को कर्जा कम करने के काम में लाया जाय।

नियन्त्रण तकनीक का मूल्यांकन (An assessment of the control technique)—उपर्युक्त अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार द्वारा नगरपालिका परिषदों पर रखा जाने वाला प्रशासकीय नियंत्रण पर्याप्त विस्तृत एवं व्यापक है किन्तु नगरपालिका प्रशासन पर सरकार को इतनी अधिक शक्तियां प्राप्त होते हुए भी सामान्यत: यह शिकायत की जाती है कि इस दिशा में बहुत कुछ किया जाना चाहिए। इस सामान्य शिकायत के संदर्भ में नियंत्रण रखने वाले अभिकरणों एवं उसके तरीकों की न्यायोचितता एवं उपयुक्तता पर विचार करना परम आवश्यक बन जाता है। ऐसे अनेक अभिकरण हैं जिनके द्वारा परिषदों पर राज्य का नियत्रण लागू किया जाता है। शिक्षा, जन स्वास्थ्य, सफाई, पशु चिकित्सालय, आदि पर विभिन्न सरकारी तकनीकी विभाग अपने कार्यालयों द्वारा प्रत्यक्ष नियन्त्रण रखते हैं। सामान्य प्रशासन एवं वित्त के क्षेत्र में स्थानीय स्वायत्त-सरकार मंत्रणालय आयुक्तों एवं जिला अधिकारियों के माध्यम से नियन्त्रण रखता है। किन्तु ये अधिकारी राजस्व विभाग के अधिकारी होते है और इनको स्थानीय प्रशासन पर पर्यवेक्षण रखने के लिए कोई विशेष प्रशिक्षण नहीं मिलता। वे अन्य कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहने के कारण स्थानीय कार्यों में अधिक समय नहीं दे सकते; इस प्रकार स्थानीय निकायों पर पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण अत्यन्त अपर्याप्त रहता है। इन अधिकारियों के विभिन्न कार्य तथा विभिन्न क्षेत्रों में इनके हस्तक्षेप बढ़ते जा रहे हैं जिसके कारण स्थानीय स्वायत्त सरकार की ओर इनका ध्यान कम जाता है किन्तु दूसरी ओर नगरपालिकाओं का प्रजातंत्रीकरण हो जाने से तथा उनमें अधिकारी तत्व के कम हो जाने से उनमें अधिक पर्यवेक्षण की आवश्यकता पहले की अपेक्षा और अधिक हो गई है। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वायत्त सरकार समिति ने बताया कि जिला अधिकारियों एवं आयुक्तों द्वारा सरकार की ओर से स्थानीय निकायों पर जो नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखा जाता है उसमें वे पर्याप्त रुचि नहीं लेते क्योंकि उन पर उनके अपने ही कार्यों का भार काफी रहता है। आगरा जांच समिति ने तो इस मत का समर्थन करने के लिए कई मामलों को उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किया है।

इस स्थिति को सुधारने के लिए क्या किया जाय यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है जिस पर कि समय-समय पर विचार किया जाता रहा है। लाहौर नगरपालिका के कार्यों की जांच करने के लिए नियुक्त की गई डोबसन कमेटी (Dobson Committee) ने सुझाया कि नगरपालिका द्वारा भेजी गई

खर्चे की योजनाओं पर स्वीकृति देने के विषयों में आयुक्त को परामर्श देने के लिए एक विशेष समिति बना दी जाय। इस समिति ने एक संयुक्त आयुक्त की नियुक्ति का भी सुझाव दिया किन्तु यदि उसे उपयुक्त न समझा जाये तो स्थानीय स्वायत्त सरकार मंत्रालय के नियन्त्रण में एक पृथक निरीक्षणालय रखा जाय। इस समिति के सुझावों को ध्यान में रखते हुए पंजाब सरकार ने सन् १९३५ में आयुक्तों को सहायता के लिए प्रत्येक संभाग में स्थानीय निकायों के निरीक्षक नियुक्त किये। ये प्रतिवर्ष नगरपालिका समितियों का निरीक्षण करते हैं और आयुक्त को अपना प्रतिवेदन भेजते हैं। यद्यपि इस नये अभिकरण के द्वारा सरकार नगरपालिका कार्यों के घनिष्ट सम्पर्क में आ गई किन्तु फिर भी जिस लक्ष्य के लिए यह प्रयोग किया गया था वह पूरा न हो सका। निरीक्षकों को केवल परामर्शदात्री शक्तियां प्राप्त हैं और कभी भी उनके परामर्श की अवहेलना की जा सकती है। आगरा नगरपालिका जांच समिति ने यह स्पष्ट रूप से सुझाया है कि सरकार को हस्तक्षेप करने की शक्तियां वर्तमान की भांति केवल सुधारात्मक कार्यों तक प्रतिबन्धित न हों। सरकार को ज्यों ही सूचना प्राप्त हो उसे अनियमितता रोकने के लिए और दोषी को दण्ड देने के लिए सीधे कार्यवाही करनी चाहिए।[1]

इस समिति ने यह भी सुझाया कि सहायता अनुदान की व्यवस्था द्वारा नियन्त्रण को अधिक बढ़ाया जाना चाहिए। वैसे नगरपालिकाओं के निरीक्षण के लिए जिस व्यवस्था को अपनाया गया है वह अधिक आकर्षक नहीं है तथा उसकी अपनी कमजोरियां हैं। वर्तमान में नगरपालिका परिषद् का एक निरीक्षक होता है जो कि परिषद् को अधिनियम एवं नियमों द्वारा सौंपे गये दायित्वों को पूरा करने में सहायता देता है। वह उनके कार्यों की सभी शाखाओं की छानबीन करता है तथा सरकार को विशेष आवश्यकताओं के बारे में अवगत रखता है। वह आवश्यक विषयों पर उनको परामर्श देता है। स्थानीय निकायों की कठिनाइयों एवं दुःखों को निगाह में रखता है। निरीक्षक के पास परिषद् के कार्यों का विस्तृत निरीक्षण करने के लिए समय नहीं होता अतः उसकी सहायता करने के लिए चार उपनिरीक्षक नियुक्त किये जाते हैं। ये उपनिरीक्षक परिषदों को सामान्य परामर्श देने के लिए तथा निरीक्षक द्वारा सौंपे गये मामलों में पूछताछ करने के लिए कम से कम वर्ष में एक बार नगरपालिका का निरीक्षण करते हैं। मध्यप्रदेश और राजस्थान में निरीक्षण के इस ढंग को अपनाया गया है। मध्यप्रदेश में नगरपालिकाओं का महा-निरीक्षक नगरपालिकाओं का विभाग अध्यक्ष होता है और उनके सामान्य कार्यों तथा प्रशासन पर नियन्त्रण रखता है। बम्बई में सन् १९५० से स्थानीय निकायों का पर्यवेक्षण एवं निर्देशन करने के लिए स्थानीय

---

1. "We consider firstly that the powers of Government for interference should not be restricted as at present o puritive action against the members of the board. Government should be able to prevent irregularities, on one hand, to punish them directly as soon as they are reporte on the other."

—Agra, I.B.E.C. Rep. Paar128.

सत्ताओं के संभागीय संचालक नियुक्त किये गये हैं। वे कानूनी एवं अकानूनी उन सभी शक्तियों का प्रयोग करते हैं जिनका कि पहले संभागीय राजस्व आयुक्त (Divisional Revenue Commissioners) किया करते थे। बिहार राज्य में नगरपालिकाओं की सहायता एवं परामर्श का कार्य अब भी जिला अधिकारी करते हैं किंतु अब उन्हें स्थानीय निकायों के वरिष्ठ एवं अवर निरीक्षकों द्वारा सहायता दी जाती है जो कि वर्ष में कम से कम एक बार देहाती एवं शहरी स्थानीय निकायों का निरीक्षण करते हैं।

स्थानीय निकायों पर न्यायिक नियंत्रण (Judicial Control over Local Bodies) — नगरपालिका सत्ताओं पर व्यापारिक निगमों की भाँति मुकदमें चलाये जा सकते हैं किन्तु व्यापारिक संगठनों से भिन्न वे अपने कुछ कानूनी कर्तव्यों को सम्पन्न करते हुए कुछ सीमा तक स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं। बम्बई उच्च न्यायालय ने यह घोषित किया है कि जहाँ कहीं अधिनियम नगरपालिका या निगम को सार्वजनिक लाभ की शक्ति देता है वहाँ एक अधिक उदार प्रक्रिया अपनानी चाहिये, अपेक्षाकृत उन शक्तियों के जो कि केवल व्यक्तिगत प्राप्ति या अन्य लाभों के लिए प्रयुक्त की जाती है। अव्यक्तिगत मामलों में परिषद् को विशेष अधिकार की स्थिति प्राप्त है। व्यवस्थापिका ने नगरपालिका को कुछ शक्तियाँ सौंप दी हैं, अब यह अधिकार नगरपालिका का है कि वह यह निर्णय करे कि उसकी कानूनी शक्तियों में कौन से कार्य जनसुविधा के लिए हैं। उसकी स्वेच्छा पर किसी न्यायालय का नियंत्रण नहीं हो सकता। किन्तु जहाँ कहीं कर्तव्यों के पालन के लिए नियमित प्रक्रिया को न अपनाया जाय और व्यक्तियों के प्रति गलतियाँ की जांय वहाँ नगरपालिका के विरुद्ध मुकदमा उठाया जा सकता है और होने वाली हानि की माँग की जा सकती है।

न्यायिक नियत्रण अनेक दृष्टियों से प्रशासनिक नियंत्रण से भिन्न होता है। न्यायिक नियंत्रण प्रशासकीय नियंत्रण की भाँति पूर्वकालीन नहीं होता अर्थात् उसकी तरह यह निरीक्षण एवं हस्तक्षेप द्वारा कर्तव्यों के पालन के समय ही अनेक गलतियों को नहीं सुधार सकता। कोई न्यायालय उस समय तक परिषद् की स्वेच्छापूर्ण शक्तियों के प्रयोग में हस्तक्षेप नहीं करेगा जब तक कि परिषद् ने अपनी शक्तियों को घातक रूप में तथा बुरे विश्वास के साथ न अपनाया हो। न्यायाधीश स्वयं अपनी तरफ से पहल करके कोई कदम नहीं उठा सकता। यद्यपि यह नियंत्रण निष्क्रिय होता है किन्तु फिर भी कम प्रभावशील नहीं होता। यह सत्ताओं को सीमा में रखता है और इसलिए व्यक्ति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

नगरपालिकाएँ कानून की सृष्टि होती हैं। उनकी रचना का उद्देश्य व्यक्तिगत जीवन को आरामदायक बनाना है। देहली नगरपालिका बनाम मोहम्मद इब्राहीम के मामले में यह निर्धारित किया गया कि यद्यपि एक विशेष व्यवहार द्वारा किसको कोई नुकसान नहीं पहुँचाया गया है किन्तु फिर भी जहां नगरपालिका के कार्यों द्वारा निवासियों के आराम में दखल दिया गया है वही एक व्यक्ति न्यायपालिका के विरुद्ध कार्यवाही कर सकता है।[1]

---

1. M.C., Delhi vs. Mohd Ibrahim A.I.R. 1935 Lab 196.

नगरपालिकाओं पर न्यायालय का नियंत्रण तीन प्रकार से प्रयुक्त किया जाता है। प्रथम, न्यायालय अधिनियम और कानूनों की व्याख्या करता है और उन्हें कानून का स्तर देता है। दूसरे,न्यायालय नगरपालिका की सत्ताओं को गैर कानूनी कार्य करने से मना करता है। तीसरे, अधिनियम के आधीन न्यायालयों को नगरपालिका के कार्यों एवं प्रशासन पर अपील सुनने का अधिकार है। नगरपालिकाएं असल में कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखती, वे केवल उन शक्तियां का प्रयोग करती हैं जो कि उन्हें सौंपी गई है। न्यायपालिका को यह अधिकार है कि वह यह निर्णय करे कि नगरपालिका परिषद को कौन-कौन सी शक्तियां सौंपी गई हैं और कानूनो में व्यवस्थापिका ने अपने किस अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है। न्यायालयों को नगरपालिका के कार्यों पर कोई सामान्य पर्यवेक्षण का क्षेत्राधिकार नहीं है किन्तु वे नगरपालिका शक्तियों से उत्पन्न जनकष्टों को दूर करने का तथा मौलिक नियमों को नगरपालिकाओं द्वारा तोड़े जाने से बचाने का प्रयास करती है। किन्तु फिर भी न्यायालय को यह अधिकार अवश्य है कि वह यह देख सके कि नगरपलिका काकोई कार्य अथवा उद्यम गैरकानूनी तो नहीं है। यदि ऐसा है तो वह नगरपालिका को उसमें आगे बढ़ने से रोक सकता है।

न्यायपालिका द्वारा स्थानीय निकायों पर जो नियंत्रण रखा जाता है उसका एक निश्चित रूप है। जनता को प्राप्त न्यायिक-उपचारों को जेनिंग्स (Jennings) महाशय ने दो भागों में वर्गीकृत किया है। ये हैं साधारण और विशेषाधिकार। साधारण उपचारों के अन्तर्गत हम घोषणा (Declaration), आज्ञा (Injunction) तथा प्रतिफल (Damage) को ले सकते हैं जबकि विशेष अधिकार पूर्ण उपचारों में हम उत्प्रेक्षण (Certiorari) तथा परमादेश (Mandamns) को ले सकते हैं। इन पांचों ही प्रकार के लेखों द्वारा न्यायालय नगरपालिका सत्ताओं पर नियंत्रण रखते हैं।

देहाती स्थानीय निकायों पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण

[Supervision and control over rural local body]

शहरी क्षेत्र की भांति देहाती क्षेत्र में कार्य करने वाले स्थानीय निकायों पर भी पर्याप्त पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण रखने की आवश्यकता है ताकि आवश्यक सुरक्षाएं प्रदान करके कुशल एवं प्रभावशील व्यवस्था की जा सके। पंचायती राज संस्थाओं के क्षेत्र में इस नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण की व्यवस्था का अपेक्षाकृत अधिक महत्व है। इसका कारण यह है कि ग्राम्य स्तर पर स्थानीय जनता को जो शक्ति सौंपी गई है उसका प्रयोग करने वाले लोग प्रशिक्षित एवं पर्याप्त योग्य नहीं हैं और उनके द्वारा सत्ता के दुरुपयोग की संभावनाएं पूरी तरह से रहती हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय प्रशासकीय संस्थाओं को शक्ति हस्तान्तरित करने के बाद सरकार जनता के विकास एवं कल्याण के उत्तरदायित्वों से पूर्णतः मुक्त नहीं हो जाती। यह राज्य का एक स्वाभाविक अधिकार एवं उत्तरदायित्व है। राज्य सरकार को यह देखना पड़ता है कि ये स्थानीय संस्थाएं एक निश्चित स्तर के अनुसार कार्य करती रहें। पंचायती राज्य इकाईयां प्रशासन के एकीकृत भाग के रूप में

विकसित होंगी तथा वे राष्ट्रीय नीतियों एवं राज्य के सांवैधानिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने में सहयोग देंगी। जब इन संस्थाओं पर नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण की एक विकसित व्यवस्था लागू की जायेगी तो स्वयं ये भी लाभान्वित होंगे।

पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण की कोई भी व्यवस्था करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह इनकी मात्रा को इतना न बढ़ा दे कि वह अनावश्यक एवं अनुचित रूप से उन संस्थाओं की स्वतंत्रता को प्रतिबन्धित करदे और इनकी पहल तथा स्वेच्छापूर्ण व्यवहार को समाप्त कर दे। संस्थाओं को गलतियों और खतरों से बचाना चाहिए किन्तु उनके विकास एवं प्रगति को नहीं रोकना चाहिए। सादिक अली समिति का मत था कि सामान्य प्रशासन विकास एव जनता के कल्याण के राज्य के उत्तरदायित्वों की सीमा के अन्तर्गत पचायती राज संस्थाओं को इतनी अधिक स्वतंत्रता देनी चाहिए जितनी कि दी जा सके।[1]

राजस्थान में पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम १९५९ में अधिनियम १९५३ की भांति सुरक्षाओं, नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण से सम्बन्धित प्रावधान रखे गये थे। पंचायती राज्य संस्थाओं पर आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही प्रकार के नियंत्रणों की व्यवस्था की गई है। आन्तरिक पर्यवेक्षण की दृष्टि से विकास अधिकारी पंचायतों का निरीक्षण करते हैं और जिला स्तर के अधिकारी पंचायतों द्वारा क्रियान्वित की जाने वाली योजनाओं को देखते हैं। जिलाधीश को पंचायत समिति तथा उनके आधीन कार्य करने वाली किसी भी संस्था में प्रवेश करने तथा उसका निरीक्षण करने की शक्तियां हैं। राज्य सरकार भी कुछ दशाओं में पंच, सरपंच, पंचायत समिति के सदस्यों, न्याय पंचायत के पंच एव सभापति तथा पंचायत समिति के प्रधान आदि को हटाने की शक्ति रखती है। पंच को हटाने की शक्तियां राज्य सरकार द्वारा जिलाधीश को हस्तान्तरित करदी गई हैं। पंचायत समिति के प्रस्तावों को रोकने एवं समाप्त करने की शक्तियां भी राज्य सरकार को मिली हुई है। संकटपूर्ण स्थितियों में राज्य सरकार पंचायत या पंचायत समिति या जिला परिषद को भंग कर सकती है अथवा उसकी शक्तियां छीन सकती है। जिलाधीश पंचायत समिति के प्रस्ताव को शान्ति के लिए खतरनाक मानकर ठुकरा सकता है। कानून के अनुसार राज्य सरकार पंचायत समिति या जिला परिषद को कोई कार्य करने के लिए एक समय निश्चित कर सकती है और यदि इस आदेश का पालन न किया गया तो वह स्वयं ही उस कार्य को सम्पन्न करने का प्रबन्ध करेगी। पंचायती राज संस्थाओं के लेखों का आडिट स्थानीय फण्ड आडिट के परीक्षक द्वारा किया जाता है। सादिक अली समिति ने पंचायती राज संस्थाओं पर पर्य-

---

1. "Panchayati Raj institutions should be allowed as much freedom and discretion as possible within the limits of overall responsibilities of the state for general administration, development and welfare of people."
—*Sadiq Ali Report*, op. cit., pp. 205-207

वेक्षण एवं नियन्त्रण की व्यवस्था को देखने बाद जो दोष पाए वे निम्न प्रकार थे—

(१) पर्यवेक्षण एवं नियन्त्रण की शक्तियां राज्य स्तर पर केन्द्रीकृत कर दी गई है अतः तुरन्त कार्यवाही करना प्रायः असम्भव हो गया है। जिस समय कार्यवाही की जाती है उस समय स्थिति पूरी तरह बदल जाती है और किए गए कार्य का परिणाम संतोषजनक नहीं रहता।

(२) वर्तमान समय में निर्वाचित प्रतिनिधियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्ति राज्य सरकार में निहित है। राज्य सरकार के पास कार्य अधिक होता है। इसके अतिरिक्त वह स्थानीय निकायों से दूर रहती है अतः आवश्यक कदम तुरन्त नहीं उठा पाती।

(३) आडिट का यन्त्र भी निरन्तर निर्देशन एवं रोकथाम करने के लिए पर्याप्त सिद्ध नहीं हुआ है। आडिट के ऐतराजों को पूरा करने तथा अनियमितताओं के सम्बन्ध में कार्यवाही करने की गति भी धीमी रहती है।

इन सब कारणों से प्रभावित होकर समिति ने यह सुझाया कि पंचायती राज संस्थाओं के सम्बन्ध में नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण की व्यवस्था इस प्रकार की होनी चाहिए जो कि एक ओर तो निरन्तरता ला सके और दूसरी ओर शीघ्रतापूर्ण कार्यवाही की व्यवस्था कर सके। निर्वाचित प्रतिनिधियों पर अनुशासनात्मक नियन्त्रण की शक्तियां सरकार को पक्षपातपूर्ण बना देती हैं तथा कार्य में देरी लाती हैं। अतः यह उचित माना जाता है कि अनुशासनात्मक शक्तियां एवं नियन्त्रण की शक्तियां एक स्वतन्त्र निकाय द्वारा प्रयुक्त की जानी चाहिए, तुरन्त कार्यवाही के लिए उचित स्तर पर सत्ता हस्तांतरित की जानी चाहिए। सादिक अली समिति ने एक जिला एवं राज्य पंचालय के संगठन का सुझाव रखा जो कि पंचायती राज की संस्थाओं के नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण की संस्थाओं पर विचार कर सके। इस प्रकार का पंचालय (Tribunal) इन संस्थाओं के कार्यों पर लगातार देखभाल रखेगा तथा अनेक औचित्य एवं वैधानिकता की रक्षा करेगा साथ ही वह जनता और निर्वाचित प्रतिनिधियों में समान रूप से विश्वास की प्रेरणा देगा। जिला पंयालय में जिला प्रमुख, जिलाधीश तथा सरकार द्वारा नियुक्त एक न्यायिक सदस्य होगा जो कि जिला या सेशन जज के स्तर का होगा। इस प्रकार का अधिकारी सरकार द्वारा एक जिले के लिए अथवा कई जिलों के लिए नियुक्त किया जा सकता है। पंचालय का न्यायिक सदस्य इसके सभापति के रूप में कार्य करेगा। जिला परिषद का मुख्य कार्यपालिका अधिकारी जिला पंचालय के सचिव के रूप में कार्य करेगा। जिला पंचालय को अनेक कार्य एवं शक्तियां प्राप्त होंगी। वह जिले की पंचायतों एवं पंचायत समितियों के प्रस्तावों के सम्बन्ध में परीक्षण कर सकता है तथा कार्यवाही कर सकता है। दूसरे, पंच, सरपंच तथा न्याय पंचायत के सभापति एवं पंचों तथा पंचायत समिति के सदस्यों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही भी कर सकता है। तीसरे, पंचायत तथा पंचायत समिति के सदस्यों की योग्यता के बारे में निर्णय देता तथा आज्ञा प्रसारित करता है। चौथे, पंचायती राज सेवाओं के सम्बन्ध में अनुशासनात्मक आदेशों के विरुद्ध अपीलें सुनता है। जिला पंचालय का न्यायिक सदस्य न्याय पंचायतों का निरीक्षण भी करता है।

राज्य स्तर पर भी इसी तरह से पंचायती राज के लिए राज्य पंचालय बनाया जाना चाहिए। इसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश स्तर का एक न्यायिक सदस्य होगा, विकास आयुक्त होगा, तथा राज्यकी पंचायती राज परामर्शदाता परिषद द्वारा नियुक्त एक सदस्य होगा जो कि अधिकारी नहीं होगा। राज्य सरकार द्वारा वरिष्ठ स्तर के आर० ए० एस० अधिकारी को राज्य पंचालय के सचिव का कार्य करने के लिए नियुक्त किया जा सकता है। इस पंचालय को भी अनेक कार्य एवं शक्तियाँ प्राप्त होंगी। यह जिला परिषद के प्रस्तावों का परीक्षण करेगा तथा आवश्यक कार्यवाही करेगा। दूसरे, पंचायत समितियों के प्रधानों तथा जिला परिषद के सदस्यों एवं जिला प्रमुख के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करेगा। तीसरे, जिला पंचालय के आदेशों के विरुद्ध अपील सुनेगा। चौथे, जिला परिषद के सदस्यों एवं जिला प्रमुख द्वारा बरती गई अयोग्यताओं का निर्धारण करेगा और जिलाधीश या स्थानीय फण्ड आडिट के परीक्षक की आज्ञाओं के विरुद्ध अपीलों की सुनवाई करेगा। सादिक अली समिति ने बताया था कि जिला पंचालय एवं राज्य पंचालय दोनों ही स्वतन्त्र उच्च शक्ति प्राप्त निकायों के रूप में कार्य करें। राज्य सरकार जन पंचायती राज निकायों की शक्ति को छीनेगी या उनको भंग करेगी तो वह इनकी सलाह लेगी। इन पंचालयों को राज्य सरकार द्वारा अतिरिक्त शक्तियां एवं कार्य भी सौंपे जा सकते हैं।

पंचायत समिति एव जिला परिषद के प्रस्तावों की परीक्षा करने के लिए और अभिलेख रखने के लिए क्रमशः जिला एव राज्य पंचालय के सचिव के नियन्त्रण में एक नियमित स्टाफ होना चाहिए। जिला पंचालय के सम्बन्ध में मुख्य कार्यपालिका अधिकारी और राज्य पंचालय के मामले में इस कार्य के लिए नियुक्त अधिकारी प्रत्यक्ष रूप से इस कार्य के लिए उत्तरदायी होगा। पंचायत के प्रस्तावों को केवल पंचायत समिति को भेजा जाएगा और उन्हें पंचालय को भेजना जरूरी नहीं है। पंचायत या पंचायत समिति का कोई सदस्य या विकास अधिकारी किसी भी प्रस्ताव को जिसे कि वह गैर-कानूनी या नियमों के विरुद्ध मानता है, आवश्यक कार्यवाही के लिए पचालय के सम्मुख रख सकता है। पंचायत तथा पंचायत समिति के प्रस्ताव जिला पंचालय द्वारा एवं जिला परिषद के प्रस्ताव राज्य पंचालय द्वारा परिवर्तित या रद्द किए जा सकते हैं, यदि वे इनको गैर-कानूनी रूप से पास किया हुआ माने या इन्हें इनकी शक्ति का दुरुपयोग समझे। जिला या राज्य पंचालय के सभापति को यह अधिकार है कि वह किसी भी ऐसे निर्णय की क्रियान्विति को रोक सकता है जिस पर कि पंचालय ने अन्तिम निर्णय नहीं लिया है। यदि सभापति उपस्थित न हों तो सम्बन्धित पंचालय का सचिव उस प्रस्ताव की क्रियान्विति को रोकने की शक्ति रखे। किन्तु सचिव की इस प्रकार की आज्ञा एक निश्चित समय में सभापति द्वारा स्वीकृत होनी चाहिए वरना ये अपना प्रभाव खो देंगी। पंचायत समिति के विकास अधिकारी को भी यह शक्ति होनी चाहिए कि वह पंचायत के किसी निर्णय या प्रस्ताव की क्रियान्विति को रोक सके। उसे भी अपनी इस आज्ञा पर जिला पंचालय के सभापति की स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। ऐसी स्वीकृति के अभाव में विकास अधिकारी की आज्ञा भी स्वतः ही प्रभावहीन बन जाएगी।

पंचायती राज संस्थाओं के सम्बन्ध में अनुशासनात्मक कार्यवाही करने की शक्तियां भी विभिन्न निकायों को सौंप दी गई हैं। जिला पंचालय पचायत समिति के सदस्यों, पंचायत के पंचों और सरपंचों, न्याय पंचायत के सभापति एवं पंचों, आदि को निलम्बित कर सकता है तथा हटा सकता है। इसी प्रकार की शक्तियां जिला पंचालय को पंचायत समिति के प्रधान एवं जिला परिषद के सदस्यों तथा जिला प्रमुख के सम्बन्धों में प्राप्त हैं। पंचालय लगाए गए दोषों के विरुद्ध या तो स्वयं जांच कर सकता है अथवा सरकार के किसी अधिकारी को यह अधिकार सौंप सकता है। जिला पंचालय की आज्ञाओं के विरुद्ध राज्य पंचालय में अपील करने की सुविधा होनी चाहिए। राज्य पंचालय की आज्ञाओं के विरुद्ध अपील करने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। इसे स्वयं ही अपने निर्णय की पुनरीक्षा करने का अधिकार होगा।

राज्य सरकार द्वारा नियन्त्रण—पंचायत, पंचायत समिति या जिला परिषद को निलम्बित करने, अधिकार छीनने या भंग करने की शक्तियां राज्य सरकार के पास होनी चाहिए। सरकार को इन शक्तियों का प्रयोग करते समय जिला पंचालय या राज्य पंचालय के परामर्श के द्वारा करना चाहिए। राष्ट्रीय प्राथमिकताओं की दृष्टि से राज्य सरकार को जिला परिषद या पंचायत समितियों को निर्देश देने की शक्ति होनी चाहिए ताकि कुछ विशेष कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जा सके। सरकार को यह भी अधिकार होना चाहिए कि वह पंचायत समिति, जिला परिषद या जिलाधीश द्वारा प्रशासनिक मामलों में पंचायती राज संस्थाओं के सम्बन्ध में की गई मौलिक या अपील की आज्ञाओं को परिवर्तित या पुनरीक्षित कर सके। राज्य सरकार को यह भी अधिकार हो कि वह पंचायत, पंचायत समिति या जिला परिषद द्वारा पारित प्रस्तावों का अभिलेख मंगवा सके और अवैधानिकता या नियम-भंगता के आधार पर उनको परिवर्तित या रद्द कर सके। सरकार के आधीन जो पंचायती राज निकाय एवं संस्थाएं कार्य कर रही हैं उनके सम्बन्ध में निरीक्षण की शक्तियां भी सरकार को प्राप्त होनी चाहिए। सरकार इन शक्तियों का किस प्रकार प्रयोग करेगी यह नियमों में उल्लिखित कर देना चाहिए।

पंचायती राज के सम्बन्ध में जो ऑडिट संगठन कार्य कर रहे हैं वे अधिक सशक्त नहीं हैं। सादिक अली समिति ने सशक्त बनाने की सिफारिश की थी। समिति ने बताया कि इन संगठनों को न केवल आडिट करना चाहिए वरन् लेखा संधारण में सहायता एवं निर्देशन तथा अनियमितताओं को रोकने में सहयोग करना चाहिए। वर्तमान समय में जो स्थानीय फण्ड आडिट के परीक्षकों द्वारा कार्य किया जाता है वह सन्तोषजनक नहीं है क्योंकि उनका अधिकार क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत है। इसे जितना विकेन्द्रित किया जाए उतना ही उपयोगी रहेगा। एक या कुछ जिलों के लिए एक स्थानीय फण्ड आडिट का सहायक परीक्षक होना चाहिए। इसको जिलाधीश के साथ निकट सम्पर्क बनाए रखना चाहिए।

आडिट प्रतिवेदन को पूरा करने की शक्तियां एवं कार्य विकेन्द्रित कर देने चाहिए। पंचायत एवं पंचायत समितियों का आडिट करने की शक्ति जिलाधीश को होनी चाहिए। जिलाधीश ही आडिट प्रतिवेदन की बातों को पूरा कराने की स्थिति में रहता है।

पंचायती राज संस्थाओं पर नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रखने की दृष्टि से जिलाधीश को कुछ विशेष शक्तियां दी गई हैं। कलक्टर एवं जिलाधीश पंचायत समिति के किसी भी प्रस्ताव को क्रियान्वित होने से रोक सकता है। सादिक अली समिति का विचार था कि कलक्टर को अनुशासनात्मक मामलों के विषयों में कोई शक्ति नहीं होनी चाहिए किन्तु उसे यह शक्ति हो कि पंचायत एवं पंचायत समितियों का निरीक्षण कर सके।

१०

स्थानीय सरकार की वित्तीय व्यवस्था

[FINANCIAL MANAGEMENT OF LOCAL GOVT.]

वित्त को प्रशासन का जीवन रक्त कहा जाता है जिसके बिना प्रशासनिक निर्णयों को क्रियान्वित करना असम्भव बन जाता है। स्थानीय निकायों में वित्त की व्यवस्था कई कारणों से महत्व रखती है। भारत में जहां कि केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों की वित्तीय व्यवस्था ही अधिक भारशील नहीं है तथा जो कि स्थानीय निकायों को सुगमतापूर्वक अनुदान देने की स्थिति में नहीं हैं यह समस्या अत्यन्त ध्यानाकर्षक बन जाती है। वैसे कुल मिलाकर भारत की अर्थव्यवस्था ही सन्तोषजनक नहीं है और लोगों का जन जीवन एक विकासशील देश का जन जीवन होने के नाते करों के नाम से ही घबड़ाता है। यह सब होने पर भी क्योंकि स्थानीय सत्ताए आधुनिक युग की आवश्यक विशेषताएं हैं, इनको स्थानीय स्तर पर संगठित किया जाना अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त इनका वित्तीय प्रबन्ध भी स्थानीय जनता के योगदान द्वारा किया जाएगा। भारत में स्थानीय निकायों के वित्त से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करने के लिए समय-समय पर समितियों का गठन किया गया है। इनमें काले समिति बम्बई (Kale Committee Bombay), नगरपालिका सहायता अनुदान समिति उत्तर प्रदेश (The Municipal Grants-in-aid Committee U.P.), स्थानीय सरकार और समन्वय समिति मैसूर, कलकत्ता निगम जांच समिति, स्थानीय वित्त जांच समिति भारत सरकार, आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

भारत में स्थानीय निकायों को सौंपे गए प्रशासकीय कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वे शिक्षा, मेडीकल सहायता, जन-स्वास्थ्य, जलदाय, संचार, प्रकाश, सफाई, नालियां, पुल-निर्माण, नाले, अन्धों, अपाहिजों की व्यवस्था आदि से सम्बन्धित कार्य करती हैं। यहां स्थानीय निकायों का कार्यक्षेत्र जितना व्यापक है उनके वित्तीय स्रोत उतने ही कम हैं। स्थानीय सरकार को जिन क्षेत्रों में कार्य सौंपे गए हैं उन क्षेत्रों में वस्तुस्थिति बहुत खराब है। देहाती क्षेत्रों में छः सात गांवों के बीच एक स्कूल है। सड़कों की व्यवस्था अधिक अच्छी नहीं है, जल प्रसारण तो कई एक कस्बों में भी नहीं हो पाया है। देहाती एवं शहरी केन्द्रों में सफाई की व्यवस्था असन्तोषजनक

है। इन दोनों ही क्षेत्रों में दी गई मेडीकल सुविधाएं भी पर्याप्त नहीं हैं। प्रकाश एवं सफाई की व्यवस्था आदि मूल बातों को भी केवल कुछ ही नगरपालिकाएं अपने निवासियों को प्रदान कर पाती हैं। इन सभी कार्यों को करने के लिए अधिक से अधिक धन की आवश्यकता पड़ती है। स्थानीय निकाय इस धन को कहां से प्राप्त करेंगी अथवा उनके राजस्व के क्या-क्या स्रोत होंगे, यह एक विचारणीय प्रश्न है। स्थानीय निकायों को जो धन प्राप्त होता है वह कुछ तो करों द्वारा प्राप्त होता है और कुछ गैर करों के स्रोतों द्वारा। करों के रूप में प्राप्त होने वाला धन सम्पत्ति कर, वाणिज्य कर, व्यापार कर, एवं फीसों तथा लाईसेन्सों से प्राप्त होता है। ये फीसें मेडीकल संस्थानों, बाजार तथा वधिक गृहों, मोटर, ट्रामवे, उद्यम आदि व्यापारिक कार्यों से प्राप्त किया जाता है। दूसरे प्रकार की आय उस किराए से होती है जो कि भूमि, गृह, विश्रामगृह, डाक बंगला आदि से प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त ये स्थानीय निकाय व्यय पर ब्याज के रूप में तथा सरकार से अनुदान के रूप में प्राप्त धन से भी अपने कोष को भरती हैं।

भारतीय नगरपालिकाओं में राजस्व के स्रोत

[Sources of Revenue in Indian Municipalities]

भारत में नगरपालिका के राजस्व के स्रोतों को मि० मर्गन ने कई भागों में विभाजित किया है जैसे, अप्रत्यक्ष कर, प्रत्यक्ष कर, सेवा के लिए लिये जाने वाला कर, सरकारी अनुदान, अन्य प्राप्तियां, जुर्माने आदि। अप्रत्यक्ष कर में चुंगी, टर्मीनल कर, सड़कों पर राहगीर कर तथा घाट कर आदि को समाहित किया जाता है। प्रत्यक्ष करों में घरों और जमीन पर कर, सम्पत्ति के स्थानान्तरण पर कर, हैसियत कर, व्यवसाय और व्यापार पर कर, तीर्थ स्थान पर कर, बाजार कर और कुत्तों पर कर आदि को लिया जा सकता है। सेवा सम्बन्धी करों में पानी, प्रकाश आदि सेवाओं से होने वाली आमदनी को लिया जा सकता है। नगरपालिका के राजस्व का एक भाग सरकारी अनुदान से प्राप्त होता है।

१. अप्रत्यक्ष कर (Indirect Taxes)–अप्रत्यक्ष करों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कर चुंगी एवं टर्मीनल हैं जो कि बम्बई, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान आदि जैसे राज्यों में नगरपालिका राजस्व में सर्वाधिक योगदान करते हैं। ये दोनों ही वैकल्पिक कर हैं और दोनों को एक साथ नहीं लगाया जा सकता। टर्मीनल कर अब संघीय कर बन चुका है और किसी भी नई नगरपालिका द्वारा अब इसे नहीं लगाया जा सकता किन्तु जहां यह पहले से ही लगा हुआ है वहां इसे केन्द्रिय सरकार की आज्ञा से जारी रखा गया है। यही कारण है कि चुंगी का महत्व आजकल बढ़ गया है। ये दोनों प्रकार के कर अत्यधिक उत्पादक हैं और ये अप्रत्यक्ष होने के साथ–साथ अत्यन्त लोचशील भी हैं। क्योंकि ये शहर की सम्पन्नता एवं आवश्यकताओं के साथ–साथ बढ़ते जाते हैं तथा ये जिन लोगों से लिये जाते हैं वे इन्हें देने की स्थिति में होते हैं। चुंगी (*Octroi*) एक प्राचीनतम कर है। मुगल काल से ही चले आ रहे इस कर का प्रभाव, प्रसार एवं रूप समय–समय पर बदलता रहा है किन्तु इसका अस्तित्व अभी तक है। इस कर ने भारत में सभी नगरपालिकाओं की

आय पर गम्भीर प्रभाव डाला। कर के रूप में चुंगी का महत्व दो कारणों से अधिक हो जाता है। प्रथम तो यह कि एक अप्रत्यक्ष कर के रूप में इसके लगने का जनता द्वारा अधिक विरोध नहीं किया जाता और दूसरे, बड़े शहरों में जहां कि प्रत्यक्ष कर को उगाना एक समस्या होती है, यह कर अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

चुंगी कर (Octroi)—अन्य स्थानीय करों की भांति चुंगी (Octroi) को भी राज्य सरकार की स्वीकृति के बाद ही लागू किया जा सकता है। भारत सरकार ने चुंगी (Octroi) की उगाई के लिए जो सिद्धान्त अपनाए हैं वे १८८६ और १९०३ के इससे सम्बन्धित भारत सरकार के सिद्धान्तों से मेल खाते हैं। इन प्रस्तावों में यह कहा गया था कि जिन *वस्तुओं पर ये कर लगाये जाएं वे जनता के लिए परम उपयोगी* होने चाहिए और इस बात की पर्याप्त सुविधा दी जानी चाहिए कि कर दाता व्यापार के माध्यम से दिए हुए कर को वापिस ले लके। कर को उचित सीमाओं के अन्तर्गत रखने के लिए दरों की शृंखला निर्धारित कर दी गई है जिससे कि सरकार की आज्ञा एवं मान्यता के बिना बढ़ाया नहीं जा सकता।

चुंगी (Octroi) कर के पक्ष एवं विपक्ष में समय-समय पर तर्क दिए जाते रहे हैं। सन् १९३५ में सर चार्ल्स ट्रेविल्यान (Sir Charles Trevelyan) द्वारा कस्बा एवं परिवर्तन करों पर एक प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया था। उसी समय से भारत सरकार ने चुंगी (Octroi) की एक बुरे स्थानीय कर के रूप में भर्त्सना की और भारतीय कर जांच समिति ने अपने तर्क के समर्थन में सर जोसिया स्टाम्प को उद्दृत करते हुए बताया कि कोई भी वह देश उन्नतिशील नहीं कहला सकता जो कि किसी भी मात्रा में चुंगी (Octroi) पर निर्भर करता है। असल में सैद्धान्तिक आधार पर चुंगी (Octroi) कर का समर्थन करना अत्यन्त कठिन है क्योंकि यह कर प्रणाली के सभी मूल्यों का विरोध करता है। यह अनिश्चित कर होता है और यदि व्यापार की स्थिति खराब हो जाए, मुद्रा का अवमूल्यन हो जाए, कीमतें गिर जाए या युद्ध छिड़ जाए तो इस कर से प्राप्त होने वाला राजस्व कम हो जाएगा। यह कर समान रूप से नहीं लगाया जा सकता और इसलिए यह समाजवादी नहीं है। इसके विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि यह वचतपूर्ण नहीं है, अपव्ययशील है और इसमें भ्रष्टाचार के लिए मार्ग खुला रहता है। यह जनता की सुविधा के विरुद्ध पड़ता है क्योंकि कृषक अथवा व्यापारी से उसी समय कर ले लिया जाता है जब कि उसका माल बिका नहीं है। मि० ए० ई० मैथ्याज़ (A. E. Mathias) के कथनानुसार मोहर्रिर से सांठ-गांठ करके चुंगी (Octroi) को हजम किया जा सकता है; विशेष रूप से जहां कि पर्यवेक्षणकर्त्ता स्टाफ कमजोर है और एक प्रकार से धोखेवाजी पूर्ण वापसियां भी ली जा सकती हैं। स्टाफ द्वारा भ्रष्टाचार के अनेक अवसर होते हैं। इनमें से सबसे प्रमुख यह है कि यदि सामान का मालिक चुंगी (Octroi) के मुहर्रिर की मांग को पूरी न कर सके तो मोहर्रिर को यह शक्ति है कि वह सामान को एक समय में घन्टों तक रोक सके।[1]

1. "Octroi can be and is easily evaded by collusion with the Muharrir, specially where the supervising staff is weak; in

इस सामान्य विरोध के बावजूद भी चुंगी (Octroi) के रूप में कर-व्यवस्था का न केवल अस्तित्व ही रहा है वरन् पिछले सौ वर्षों में इसका रूप भी अत्यन्त बदल चुका है। यद्यपि प्रत्यक्ष करों के आ जाने से यह आमदनी का अब इतना स्रोत नहीं रह गया है जितना कि उन्नीसवीं शताब्दी में था किन्तु फिर भी नगरपालिका राजस्व का लगभग ४७ प्रतिशत इसी के द्वारा प्राप्त किया जाता है। इसके पीछे सबसे बड़ी शक्ति यह है कि इसे परम्पराओं का आधार प्राप्त है। यह न केवल भारतीय स्वभाव के ही अनुकूल है जैसा कि ब्रिटिश वालों द्वारा कहा जाता था; क्योंकि इसे यहां के निवासियों द्वारा सदियों से अदा किया जा रहा है अत: इसका महत्व है। दूसरे, इस कर का लाभ एवं महत्व इसलिए भी है कि इसका लोगों द्वारा अनुभव नहीं किया जाता। यह कर उत्पादक एवं व्यापारी दोनों के लिए भारी नहीं पड़ता क्योंकि वे इसे स्थानाय बाजारों में से प्राप्त कर लेते हैं। तीसरे, यह प्रत्यक्ष रूप से उस वर्ग से संग्रहीत किया जाता है जो कि अपेक्षाकृत छोटा है और जिसके सदस्य नियमानुसार सामान्य व्यक्ति से अधिक बुद्धि रखते हैं। वे कस्बे के व्यापारी एवं विक्रेता होते हैं और अपनी आदत एवं अनुभवों के द्वारा एक उचित अभिकरण नियुक्त करके इस भार को इतना हल्का बना लेते हैं जितना कि यह बन सके। चौथे, यह कर सबसे अधिक धन देने वाला होता है और स्थानीय निकाय किसी अन्य प्रकार के कर द्वारा इतना धन इकट्ठा करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। यदि इस कर के संग्रह पर रोक लगा दी जाए तो उत्तरी एवं पश्चिमी भारत की स्थानीय स्वायत सरकार के विकास में पर्याप्त बाधा पहुंचेगी। कुछ विचारकों के कथनानुसार चुंगी (Octroi) कर उन आवश्यक बुराईयों में से एक है जिन्हें कि सरकार को अपना कर चलना है।

यदि चुंगी (Octroi) कर को बनाए रखना है तो यह आवश्यक है कि इसके सम्भावित दोषों को कम किया जाए। इस कर व्यवस्था के जो प्रमुख दोष बताए जाते हैं वे हैं—यह देश के आर्थिक विकास में रोड़ा डालती है, न्याय सिद्धान्त के विपरीत है, इसे इकट्ठा करने की विधि खर्चीली है और इसमें भ्रष्टाचार के लिए मार्ग खुला रहता है। इन दोषों को दूर करने के लिए विभिन्न उपाय किए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए आवश्यक चीजों पर हल्की चुंगी (Octroi) लगाई जाए और आरामदेह वस्तुओं पर भारी चुंगी (Octroi) लगाई जाए। एक कस्बे से दूसरे कस्बे में व्यापार परिवर्तन के विरुद्ध सुरक्षात्मक कदम उठाने के लिए चुंगी (Octroi) कर एवं टर्मीनल कर को इतना कम रखना चाहिए कि वह केवल उन सेवाओं के बराबर हो

---

the same way fraudulent, refunds can also be obtained ......
Chief among the opportunities of peculation by the staff is the power which octroi Moharrir's possess of holding up goods for hours at a time, if the owner is not prepared to their demands."

—Memorandum of *A. E. Mathias*, Financial Secretary to the Govt. the Central Provinces, I. T. E. Com. Rep. Vol. IV, PP. 275-76

जो कि किसान एवं व्यापारी को सड़कों तथा बाजारों की सुविधा देकर प्रदान की गई हैं। इस कर के सम्बन्ध में पर्यवेक्षण करने वाले यन्त्र को भी पर्याप्त सुधरा हुआ होना चाहिए। सामान्य अनुभव के अनुसार, एक अच्छी पर्यवेक्षण व्यवस्था के परिणामस्वरूप राजस्व की अच्छी मात्रा प्राप्त होती है। लखनऊ की नगरपालिका जांच समिति के प्रतिवेदन में बताया गया है कि स्टाफ के श्रेष्ठ गुण एवं बुद्धिमता का उच्चस्तर तथा सीमाओं का सभापति एवं बोर्ड के सदस्यों द्वारा श्रेष्ठ पर्यवेक्षण कार्यपालिका अधिकारियों में बढ़ी हुई सजगता जागृत करेगा। इससे कर की चोरी के अवसर कम होंगे और इस स्रोत से होने वाली आमदनी की मात्रा बढ़ जाएगी। इस सम्बन्ध में बनारस नगरपालिका बोर्ड की जांच समिति ने भी कुछ सुझाव प्रस्तुत किए थे। इस प्रकार चुंगी कर (Octroi) के सम्बन्ध में दो बातें स्पष्ट रूप से कही जा सकती हैं। प्रथम तो यह कि इसकी मात्रा इतनी कम होनी चाहिए जितनी कि हो सके और दूसरे, वापसी के अवसरों को सम्भवतः पूरी तरह समाप्त कर दिया जाए क्योंकि चुंगी कर (Octroi) की वापसी की प्रक्रिया में अनेक प्रकार के भ्रष्टाचार पैदा हो जाते हैं। कर जांच आयोग ने भी विना वापसी वाले चुंगी कर (Octroi) का समर्थन किया जैसा कि पजाब में व्यवहृत किया जा रहा है। आयोग ने बताया कि चुंगी कर (Octroi) को वसूल करने की व्यवस्था में कुछ सुधार किए जाने चाहिए। प्रथम, चुंगी कर (Octroi) सामान्यतः वजन के आधार पर निर्धारित होना चाहिए न कि प्रति वस्तु के हिसाब से; क्योंकि इस व्यवस्था में देर और परेशानी दोनों ही होती हैं। दूसरे, सभी राज्यों में राज्य सरकार द्वारा एक आदर्श सूची बना देनी चाहिए जिसमें कि छोटी-मोटी चीजों को अनावश्यक परेशानी से बचा देना चाहिए जैसे कि सब्जी, दूध, आदि। तीसरे, चुंगी कर (Octroi) के संग्रह का समय-समय पर्यवेक्षण करते रहना चाहिए। चौथे, कुछ अपवादस्वरूप परिस्थितियों को छोड़ कर राज्य सरकार द्वारा खाने की वस्तुओं पर चुंगी कर (Octroi) की वर्तमान दर में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। पांचवें, टर्मीनल कर का श्रीगणेश या चुंगी कर (Octroi) से टर्मीनल कर को अपनाना, रेलवे बोर्ड के साथ समन्वय के बाद उपयुक्त स्थिति में ही होना चाहिए। दीर्घकालीन कार्यक्रम के रूप में कर आयोग ने सुझाया कि सभी राज्यों में भवनों एवं भूमियों पर कर, नगरपालिकाओं की आमदनी का मुख्य स्रोत होना चाहिए और चुंगी (Octroi) एवं टर्मीनल जैसे अप्रत्यक्ष करों पर कम निर्भर रहना चाहिए।

टर्मीनल कर (Terminal)–चुंगी कर (Octroi) के अतिरिक्त दूसरे प्रकार के अप्रत्यक्ष कर टर्मीनल कर होते हैं। उत्तरप्रदेश की नगरपालिका कर समिति ने यह सुझाया कि छोटे कस्बों में चुंगी कर (Octroi) के स्थान पर प्रत्यक्ष कर लगाने चाहिए और बड़े शहरों में टर्मीनल करों के द्वारा चुंगी कर को बदल देना चाहिये। इस कर की व्यवस्था का सचालन कानपुर में बहुत अच्छी प्रकार हुआ है और इसने व्यापार में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डाली। इस प्रकार के कर की विशेषताओं के रूप में यह बताया गया कि यह सभी आयातों पर लगाया जाएगा तथा इसकी दर चुंगी करों की अपेक्षा कम होगी। दूसरे, इसमें वापसी का प्रावधान नहीं होगा। तीसरे, कर का मूल्यांकन वजन के आधार पर किया जाएगा न कि वस्तु के आधार पर। चौथे, यह

रेलवे द्वारा संग्रहित किया जाएगा। पांचवे, यात्रियों के सामान इससे मुक्त होंगे। आयात किए गए सामान को जब बिना सील तोड़े हुए दुबारा बुक कराया जाएगा तो उस पर यह कर नहीं लगेगा। सड़क के रास्ते से आयातित माल पर टाल (Toll) के रूप में कर लिया जाएगा जिसे रेल द्वारा लाए गए सामान की दर से निश्चित किया जाएगा। ब्रिटिश शासनकाल में भारत सरकार ने चुंगी कर व्यवस्था की परीक्षा करवाई तथा यह पाया गया कि विभिन्न प्रान्तों में इसे लगाने पर अलग-अलग मत प्रकट किए गए। सन् १९३५ में इस कर को संघीय विषय बनाया गया और चुंगी कर को पुनः स्थापित कर दिया। अब सामान्य मत यह हो गया कि चुंगी कर को यदि प्रत्यक्ष करों से न्यायपूर्ण रूप में मिला दिया जाए और सावधानी के साथ लागू किया जाए तथा उचित रूप में संग्रहित किया जाए तो इस पर कोई ऐतराज नहीं किया जाना चाहिए। जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं पर तथा उद्योगों के कच्चे माल आदि कुछ मूल वस्तुओं पर लगाए गए हल्के कर चुंगी कर के अनेक दोषों को कम कर देते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जबकि नगरपालिकाओं की अर्थव्यवस्था बहुत बिगड़ गई थी तो कुछ नगरपालिकाओं ने चुंगी कर को बदल करके उसकी दर बढ़ा दी और सम्भवतः अनेक नगरपालिकाओं में यह आय का सर्वोच्च स्रोत बन गया। टर्मीनल कर की प्रायः वे आलोचनाएं नहीं की जाती जो कि प्रायः चुंगी कर की की जाती हैं। ऐसे स्थानों पर जहां कि व्यापार के बड़े केन्द्र हैं टर्मीनल करों को निम्न दरों पर लिया जा सकता है तथा इसे केवल मुख्य वस्तुओं पर लागू किया जाएगा। इसमें वापसी से सम्बंधित कठिनाईयां भी हटा दी जाती हैं। जब छोटे नगरों के सन्दर्भ में देखा जाता है तो टर्मीनल कर भी उतने ही खराब होते हैं जितने कि चुंगी कर होते हैं। केवल वापसी की व्यवस्था का अन्तर रहता है।

टाल कर (Tall)—अप्रत्यक्ष कर का एक तीसरा रूप टाल है जो कि टर्मीनल कर का अनुपूरक है किन्तु इसका अस्तित्व उसके अतिरिक्त भी रहता है। यह बाजारों के उपयोग पर कर की एक पुरानी परम्परा का सूचक है। किन्तु इसे मद्रास को छोड़कर कहीं भी राजस्व का महत्वपूर्ण स्रोत नहीं माना गया है। मद्रास में सन् १९३० में नगरपालिका के कुल कर राजस्व का यह लगभग एक चौथाई भाग था। अन्य राज्यों में इस कर का प्रतिशत भिन्न-भिन्न था; भारत सरकार ने १८८६ से ही इस बात पर जोर दिया है कि इस कर से प्राप्त होने वाले धन को सड़कों की रचना एवं मरम्मत पर लगाया जाना चाहिये; किन्तु फिर भी इस कर के द्वारा संग्रहित धन की मात्रा में एवं सड़कों की बनावट पर खर्च किए जाने वाले धन की मात्रा में कभी भी प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहा। सड़कों पर टाल कर पशुओं एवं उन वाहनों पर एक कर होता है जो कि बाहर से आ रहे हैं और नगरपालिकाओं की सीमाओं में प्रवेश पा रहे हैं। यह टर्मीनल कर से भिन्न है। यह वाहनों के आधार पर मूल्यांकित किया जाता है न कि प्रत्येक चीज के भार के आधार पर। इस कर का सबसे मुख्य दोष यह है कि स्वतन्त्र तीव्रगति संचार के इन दिनों में टाल करों द्वारा मोटर चलाने वालों को बहुत परेशानी उत्पन्न हो जाती है। भारतीय सड़क विकास समिति ने इसकी इसी आधार पर आलोचना की तथा मद्रास सरकार ने इस समिति की सिफारिशों को मानते हुए इस

प्रकार के करों को १९३१ में समाप्त कर दिया। अन्य राज्यों में भी इसे आसानी से मिटाया जा सकता है क्योंकि यह राजस्व का कोई बड़ा स्रोत नहीं है। यह व्यापार के मार्ग की एक बाधा है और इसमें वे सभी खतरे निहित हैं जो कि चुंगी कर में बताए गए हैं। यह कर कुछ स्थितियों में बड़ा उपयोगी सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए जनता की आवश्यकता की दृष्टि से एक पुल को बनवाना अत्यन्त आवश्यक है; किन्तु नगरपरिषद उसे बनवाने की सामर्थ्य नहीं रखती, ऐसी स्थिति में वह पुल के बन जाने के बाद उस पर टाल कर लगा सकती है ताकि लिए हुए कर्जे को इस तरह से चुकाया जा सके।

२. **प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes)**—प्रत्यक्ष कर कई प्रकार के होते हैं। इनमें गृहकर एवं व्यक्ति पर लगाए कर प्रमुख हैं।

गृह कर [**House Tax**]—गृह कर प्रायः सभी देशों में राजस्व का मुख्य स्रोत है। ग्रेट ब्रिटेन में यह कुल राजस्व का पचास प्रतिशत धन एकत्रित करता है और अमरीका में तो इसको स्थानीय आमदनी का एकमात्र साधन माना जाता है। भारत में जहां चुंगी कर नहीं लगाया गया है उन राज्यों में यह कर सर्वाधिक आय का स्रोत है और जहां चुंगी कर भी लगाया गया है वहां पर भी यह अन्य करों में सबसे प्रमुख है। गृह कर का एक मुख्य लाभ यह बताया जाता है कि इसका मूल्यांकन न्यायपूर्ण तरीके से किया जाता है। यह गरीब जनता से कम धन लेता है। इतना होने पर भी कर की यह व्यवस्था कम लोकप्रिय है। सन् १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार केन्द्रीय सरकार की सम्पत्तियों को स्थानीय कर से अलग रखा गया था। यह स्थिति आज भी संविधान के अनुच्छेद २८५ के अनुसार बनाये रखी गई है। गृहकर के सम्बन्ध में एक मुख्य प्रश्न यह रहता है कि इसका मूल्यांकन किस तरह किया जाए। गृह कर उन भवनों या भूमियों पर लगाया जाता है जो कि नगरपालिका सीमाओं में स्थित हैं। कर का मूल्यांकन भवन के वार्षिक किराये मूल्य के आधार पर किया जाता है। भारत में गृह कर उससे नहीं लिया जाता है जो कि उसका उपभोग कर रहा है वरन् उससे लिया जाता है जो कि उसका स्वामी है।

कई राज्यों में कर की अधिक से अधिक दर नगरपालिका द्वारा निर्धारित कर दी गई है; जैसे पंजाब नगरपालिका अधिनियम ने अधिकतम को वार्षिक मूल्य का $12\frac{1}{2}$ प्रतिशत कर दिया है। बम्बई में विभिन्न नगरपालिकाओं के गृह–कर की दर मद्रास में उसी आकार के गृह–करों की अपेक्षा बहुत कम है। प्रोफेसर ज्ञानचन्द ने सुझाया है कि गृह–कर के मूल्यांकन का आधार भवन एवं भूमियों का वार्षिक मूल्य न होकर उनका पूंजीगत मूल्य होना चाहिए क्योंकि उनके मतानुसार वार्षिक मूल्य थोड़ा बहुत अमूर्त होता है। यह कल्पनात्मक किराएदार द्वारा कल्पनात्मक भूस्वामी को दिया जाता है। दूसरी ओर पूंजीगत मूल्यांकन अधिक विषयगत होता है तथा उसमें व्यक्तिगत विचारों का हस्तक्षेप कम रहता है। असल में भूमि एवं भवनों के मूल्य के विभिन्न तत्वों का निश्चय करना किसी एक बुद्धिमान व्यक्ति का कार्य नहीं है वरन् एक विशेषज्ञ का कार्य है।

मूल्य को प्रभावित करने वाले कारण साधारण नहीं हैं बल्कि

इतने ही जटिल हैं जितनी कि वर्तमान अर्थव्यवस्था। एक अच्छे मूल्यांकनकर्त्ता को अर्थशास्त्र का एवं कीमत की प्रवृत्तियों का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। किसी भी चीज का मूल्य एक ऐसा गुण नहीं है जिसे कि वजन या आकार की तरह पूर्णत: निर्धारित किया जा सके। यह कुछ सीमा तक दृष्टिकोण का भी विषय रहता है। जिस समय किसी भवन का मूल्य निर्धारण करना हो उस समय व्यक्ति को केवल अपने मत से प्रभावित न होकर औरों के मत का भी पर्याप्त ध्यान रखना चाहिए। गृह-कर का मूल्यांकन इस प्रकार होना चाहिए कि सम्पत्ति का स्वामी स्थानीय निकाय को इतना कर दे जितना कि वह स्थानीय निकाय द्वारा प्रदान की गई सेवाओं का उपभोग कर रहा है। एक भवन का किराया केवल उसके पूंजीगत मूल्य का ही द्योतक नहीं है किन्तु वह सामाजिक रूप से निर्मित मूल्यों का भी प्रदर्शक है। केवल पूंजीगत मूल्य के आधार पर किया गया मूल्यांकन कई बातों का ध्यान रखना भूल सकता है; जैसे बस्ती का महत्व, उसकी बाजार से निकटता, रेलवे स्टेशन से निकटता, बिजली की लाईन की सुविधा, आदि-आदि। कर जांच आयोग ने तो यह भी कहा है कि सम्पत्ति के पूंजीगत मूल्य उसके किरायेगत मूल्यों की तुलना में अधिक अनिश्चित होते हैं। आयोग के मतानुसार वास्तविक या बुद्धिपूर्ण किराये के आधार पर कर लगाना सम्पत्ति की वास्तविक या सम्भावित आय पर कर लगाना है और इस दृष्टि से यह करारोपण का उससे अधिक न्यायपूर्ण तरीका है जो कि पूंजीगत मूल्य पर आधारित रहता है।[1]

सम्पत्ति के स्वामी को भी सामाजिक दृष्टि से निर्मित इन मूल्यों के परिणामस्वरूप लाभ होता है और यही कारण है कि वह इस कर की अदायगी करता है। यदि उसका घर खाली रहता है तथा वह स्थानीय निकायों से किसी प्रकार का लाभ या सुविधा प्राप्त नहीं करता तो उस काल के लिए उससे कर नहीं लिया जायेगा। सरकारी भवन, फैक्ट्री, अस्पताल आदि का केवल पूंजीगत मूल्य ही होता है। वे सामाजिक मूल्यों की रचना का साधन तो होते हैं किन्तु उनसे स्वयं लाभ नहीं उठा पाते। यही कारण है कि उन पर सम्पत्ति कर का निर्धारण करते समय पूंजीगत मूल्य को ही आधार बनाया जाता है। गृह-कर मकान के स्वामी से ही इस कारण लिया जाता है क्योंकि स्थानीय निकाय द्वारा प्रबन्धित सफाई आदि सेवाओं का सर्वाधिक लाभ उसी को प्राप्त होता है। वास्तविक व्यवहार में यह होता है कि गृह स्वामी किराये की मात्रा बढ़ा देता है और इस प्रकार गृह-कर किरायेदार द्वारा ही चुकाया जाता है।

गृहकर के मूल्यांकन के विरुद्ध अपील करने की भी व्यवस्था की गई है। बम्बई निगम में आयुक्त द्वारा मूल्यांकन किया जाता है। उसके विरुद्ध की जाने वाली अपीलें एक छोटे न्यायालय में जाती हैं। पश्चिमी बंगाल में सरकारी सूची में स्वीकृत मूल्यांकनकर्त्ता द्वारा मूल्यांकन किया जाता है तथा उसके विरुद्ध अपील नगरपालिका के सभापति के सम्मुख की जाती है। उत्तर प्रदेश में मूल्यांकन नगरपालिका करती है किन्तु अपील जिलाधीश के

1. T. E. C. Report, 1954–55, Vol. III, PP. 378–79.

सम्मुख की जाती है। बिहार, उड़ीसा तथा आसाम में मूल्यांकन नगरपालिका द्वारा किया जाता है जबकि अपील उपसमिति द्वारा सुनी जाती है।

व्यक्तियों पर कर (Taxes on Persons)—प्रत्यक्ष करों का एक अन्य प्रकार वह है जिसके द्वारा व्यक्तियों पर कर लगा दिये जाते हैं। व्यवसाय पर कर तथा हैसियत पर कर आदि करों को इसी श्रेणी में गिना जाता है। ये कर स्थानीय लोगों की आर्थिक स्थिति पर निर्भर करते हैं और इसलिए इनका महत्व सभी राज्यों में एक जैसा नहीं है। बिहार आदि कुछ राज्यों को छोड़कर अन्य सभी राज्यों में व्यावसायिक कर लगाये जाते हैं। 'हैसियत कर' केवल मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा में ही लगाये जाते हैं। बंगाल, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा एवं बिहार आदि राज्यों में व्यक्तियों पर कर लगाये जाते हैं। बम्बई राज्य की नगरपालिकायें इस प्रकार का कोई कर नहीं लगातीं।

(i) व्यवसाय पर कर—व्यवसाय पर कर ब्रिटिश सरकार द्वारा १८६७-१८८६ के मध्य लगाया गया था। यह कर विभिन्न प्रकार के लाइसेंसों के आधीन लगाया गया जो कि बाद में एक तरह से आयकर बन गया। उस समय जिस प्रकार इसे लगाया गया, यह भारत के सामान्य राजस्व का एक भाग बन गया किन्तु असल में इसका प्रयोग स्थानीय निकायों द्वारा ही किया जाता रहा है। संविधान के अनुच्छेद २७६ में कहा गया है कि इस आधार पर किसी भी कर को गलत नहीं बताया जा सकता कि इसका संबंध आय से है। इस प्रकार से किसी भी व्यक्ति पर जो अधिक से अधिक कर लगाया जा सकता है उसकी मात्रा २५०/- प्रति वर्ष तक हो सकती है। व्यवसाय पर कर मद्रास, आन्ध्र, केरल एवं पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में नगरपालिका के राजस्व का प्रधान स्रोत माना जाता है। यह कर प्रत्येक उस व्यक्ति पर लगाया जाता है जो नगरपालिका क्षेत्र में कोई कार्य, व्यापार अथवा कलाकारी करता है। मद्रास में जिन लोगों पर व्यवसाय कर लगाये जा सकते हैं उनको दस श्रेणियों में बांटा गया है। प्रत्येक श्रेणी पर लगाया जाने वाला अधिक से अधिक कर राज्य सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। कर का मूल्यांकन आय की मात्रा के आधार पर किया जाता है। केरल में सामान बेचने वाले दूकानदारों, गृहस्वामियों आदि पर लगाये जाने वाले कर का मूल्यांकन इस आधार पर किया जाता है कि वे अपने व्यापारिक स्थान का किराया क्या देते हैं।

उत्तर प्रदेश में इस शीर्षक के आधीन दो प्रकार के कर लगाये जाते हैं। प्रथम, उन व्यापारों पर कर जो कि नगरपालिका क्षेत्र में संचालित किये जा रहे हैं तथा नगरपालिका सेवाओं से लाभ प्राप्त कर रहे हैं या उन पर विशेष भार डाल रहे हैं। दूसरे, उन व्यापारों एवं व्यवसायों पर कर, इसमें वे रोजगार भी शामिल हैं जो कि वेतन या फीस के आधार पर आय प्राप्त करते हैं। प्रथम तो सेवाओं से सम्बन्धित कर है और यह विशेष रूप से उत्तर प्रदेश में ही लगाया जाता है जबकि दूसरे प्रकार का कर सामान्य व्यवसायों पर कर है और इसे अन्य राज्यों में भी लगाया जाता है। विशेष कर प्रायः इन व्यापारों पर लगाया जाता है—चीनी, तम्बाकू, आलू, ईंटें आदि। कभी-कभी इसे खाद्यान्न एवं कपड़ा विक्रेताओं पर भी लगा दिया जाता है। इस व्यवहार

की न्यायोचितता के बारे में कई बार प्रश्न किया जाता है। सामान्य कर १०० रुपये प्रति मास की आय वालों से आरम्भ होता है तथा ज्यों-ज्यों आय की मात्रा बढ़ती जाती है, इस कर की मात्रा भी बढ़ती जाती है। उत्तर प्रदेश के आदर्श नियमों (Model rules) ने सुझाया है कि इस कर की दृष्टि से कर दाताओं को दो समूहों में रख देना चाहिए। प्रथम में उन करदाताओं को लिया जाये जिनकी आय ७५/- प्रति माह से कम है और दूसरी में उनको जिनकी मासिक आय इससे अधिक है। उत्तर प्रदेश में विशेषीकृत कर अधिक लोकप्रिय है। व्यवसाय पर कर बड़े नगरों में लगाये नहीं जा सकते तथा प्राय: सभी छोटी नगरपालिकाओं में इनको समाप्त कर दिया गया है। यह इसलिए किया गया क्योंकि नगरपालिका बोर्ड जिन व्यवसायों पर आसानी से कर लगा सकती है वे ही इन बोर्डों में शक्तिशाली प्रतिनिधित्व पाते हैं। अत: यह स्वाभाविक है कि वे इस भार से मुक्ति पाने के लिए या तो अप्रत्यक्ष करों पर जोर दें या सम्पत्ति अथवा परिस्थितियों पर कर लगाने की व्यवस्था करें। बम्बई में यह कर केवल कुछ ही नगरपालिकाओं में लगाया गया है। बम्बई सरकार का मत है कि इस कर के संग्रह में इतना अधिक खर्चा हो जाता है कि यह कर आय का एक अच्छा स्रोत नहीं बन सकता।

(ii) परिस्थितियां, सम्पत्ति, एवं हैसियत पर कर (Tax on Cirumstances, Property and Haisiyat Tax)—व्यक्ति पर लगाये गए कर का मूल्यांकन उसकी परिस्थिति, सम्पत्ति एवं हैसियत के आधार पर लगाया जाता है। इस कर का जन्म सम्भवत: चौकीदारी कर से हुआ है जिसके अनुसार करदाता से उतना ही अधिक कर लिया जाता था जितनी कि उसकी सम्पत्ति एवं परिस्थितियों की रक्षा करनी होती थी। ये कर गृह कर के पूरक होते हैं। केवल घर को देख कर ही व्यक्ति पर कर किया पर्याप्त एवं उचित नहीं है क्योंकि एक व्यक्ति का घर प्राय: उसकी स्थिति का सही प्रतिनिधित्व नहीं करता। घर को देख कर यह पता नहीं लगाया जा सकता कि व्यक्ति की आय के स्रोत कैसे तथा कितने हैं। अनेक अच्छी स्थिति वाले लोग अपने पूर्वजों के घर में रहते हैं जिसकी कि वे मरम्मत भी नहीं करवाते। इसी प्रकार व्यापारियों के रहन-सहन का स्तर भी बड़ा धीरे-धीरे ही उठता है। कई लखपति आसामी अपने पूर्वजों के छोटे-छोटे कमरों वाले घर में ही जीवन व्यतीत कर देते हैं जहां कि उनके पित्रों ने धन एकत्रित किया था।

परिस्थितियों पर कर, सम्पत्ति पर कर तथा हैसियत पर कर या तो गृह कर का विकल्प हो सकता है अथवा उसका सहगामी भी बन सकता है। यह कर, गृह कर की अपेक्षा अधिक लोचशील होता है। नियमानुसार कर की कम से कम मात्रा निश्चित कर दी जाती है और जो वर्ग इसकी भी अदायगी नहीं कर पाता उसे इस कर से मुक्ति प्रदान कर दी जाती है। कर का मूल्यांकन करते समय कई बातों को ध्यान में रखा जाता है, जैसे-करदाता की परिस्थितियां, सामाजिक स्थिति, परिवार का आकार, नगरपालिका सीमाओं में सम्पत्ति का प्रसार तथा नगरपालिका सेवाओं से इनके द्वारा प्राप्त किये जाने वाले लाभ की मात्रा। उत्तर प्रदेश नगरपालिका की कर समिति ने बताया कि यह ज्ञात करना बड़ा कठिन है कि एक व्यक्ति की वास्तविक आय

क्या है। किन्तु फिर भी छोटे स्थानों पर यह पता लगाना अधिक कठिन नहीं होता कि तुलनात्मक दृष्टि से लोगों की स्थिति क्या है। इस प्रकार, इस श्रेणी के करों के लिए यह जरूरी है कि मूल्यांकन करने वाले तथा मूल्यांकित होने वाले के बीच घनिष्ट सम्बन्ध बना रहे। कर लगाने के लिए मूल्यांकन-कर्त्ता का निकट का ज्ञान कई बार विरोध का भी विषय बनता है। प्रायः यह कहा जाता है कि मूल्यांकन का आकार अनिश्चित होता है, यह विषयगत की अपेक्षा वस्तुगत अधिक है। मध्य प्रदेश में हैसियत कर को एक विशेष ढंग से लगाया जाता है। पहिले कुल मात्रा को निश्चित कर दिया जाता है जिसको कि करके रूप में इकट्ठा किया जाता है, निवासियों को परिस्थितियों के अनुसार वर्गों में विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक वर्गके व्यक्तियों की कुछ इकाईयां बना दी जाती हैं। सर्वोच्च वर्ग वालों को सबसे अधिक कर देना होता है। इस प्रकार लिए जाने वाले कर की कुल मात्रा इकाईयों की कुल संख्या में बांट दी जाती है और इस तरह एक इकाई की दर ज्ञात हो जाती है।

व्यक्तियों पर लगाये गये कर असल में स्थानीय आमदनी के कर हैं। इसीलिए कई बार यह सुझाया जाता है कि आय का मूल्यांकन करने का कार्य आयकर विभाग को सौंप दिया जाय किन्तु इससे अनेक प्रशासकीय कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। आयकर विभाग एक संघीय विभाग है और भारत सरकार यह किसी को नहीं बताना चाहती कि किसी संस्था से उसे कितना आय कर मिल रहा है। यहां तक कि वह राज्य सरकार को भी इसे नहीं बताती जो कि इस कर में भागीदार है। इसलिए वर्तमान प्रवन्ध में से यदि शिकायतों को दूर करने के लिए कर की चोरी के अवसरों को कम करना है या अन्यायपूर्ण मूल्यांकन को रोकना है तो मूल्यांकन करने वाले अभिकरण को सुधारना होगा और उसे स्वतन्त्र सत्ता बनाना होगा।

(iii) **अन्य कर**—यदि किसी शहर की विशेष परिस्थितियां हैं तो वहां भारत सरकार की स्वीकृति से तीर्थ स्थान कर लगाया जा सकता है। इस प्रकार का कर बम्बई, मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश में लगाया गया है। इसके अतिरिक्त नगरपालिकाएं कुत्तों पर कर लगाती हैं तथा मवेशियों की बिक्री के पंजीकरण का कर प्राप्त करती हैं। ये कर आमदनी की दृष्टि से नहीं लगाये जाते वरन् इनका उद्देश्य पागल कुत्तों तथा मवेशियों की चोरी पर रोक लगाना है।

सेवा सम्बन्धी कर (Service Taxes)—सामान्य रूप से सम्पत्ति पर लगाये गये कर के साथ ही कुछ सेवा कर भी लगाये जाते हैं जिनका मूल्यांकन सम्पत्ति कर की भांति ही अचल सम्पत्ति के वार्षिक किराये के आधार पर किया जाता है। इनको सेवा कर इसलिए कहते हैं क्योंकि ये उन विशेष सेवाओं के लिए प्राप्त किये जाते हैं जो कि नगरपालिका द्वारा अपने निवासियों को प्रदान की जाती है। इस प्रकार के करों में प्रमुख उल्लेखनीय हैं—पानी पर कर जो कि शहर के निवासियों को जल प्रदान करने के लिए लगाया जाता है, दूसरे, प्रकाश पर कर, जो कि गलियों एवं सार्वजनिक सड़कों पर प्रकाश का प्रवन्ध करने के लिए लिया जाता है, नालियों पर कर जो कि सार्वजनिक नाली एवं नाले बनाने एवं नियमित रूप

से उनकी सफाई तथा मरम्मत करने के लिए लिया जाता है, शिक्षा कर आदि। शिक्षा, प्रकाश एवं नालियों सम्बन्धी कर सामुहिक रूप से अचल सम्पत्ति के सभी स्वामियों से इकट्ठा किया जाता है जबकि जल कर आदि नगरपालिका द्वारा सेवित विशेष स्थानों से ही लिया जाता है।

नगरपालिका के राजस्व को बढाना इस प्रकार के करों का लक्ष्य नहीं है बल्कि ये कर, सेवाओं में किये गए व्यय के लिए उगाये जाते हैं। गरीब लोगों को प्राय: इस प्रकार के करों से राहत प्रदान कर मुफ्त सेवाएं प्रदान की जाती हैं। इस कर से मिलने वाले धन को किसी अन्य काम पर खर्च नहीं किया जायेगा और न उस जगह लगाया जायेगा जहां कि सेवाएं प्रदान नहीं की जाती। कई बार यह कहा जाता है कि नगरपालिका द्वारा प्रदान की जाने वाली ये सेवाएं आत्मनिर्भर होनी चाहिए। उत्तर प्रदेश, बंगाल और बिहार के नगरपालिका अधिनियमों में यह कहा गया है कि कर का निर्धारण इस रूप में होना चाहिए कि उससे प्राप्त धन उस मात्रा से अधिक न हो जो कि इन सेवाओं में खर्च की गई है। कुछ व्याख्याकारों के मतानुसार इस प्रकार के अधिनियम का अर्थ केवल यह है कि इन करों से प्राप्त धन को अन्य कार्यों पर खर्च न किया जाये। इसका अर्थ यह कदापि नहीं होता कि सेवाएं आत्मनिर्भर हों। राज्य-सरकार एवं आडिटर द्वारा आत्मनिर्भरता के सिद्धांत के बारे में जो आज्ञाएं दी गई हैं उनका महत्व बंगाल तथा बिहार के उन अधिनियमों द्वारा समाप्त कर दिया गया है जो कि इस प्रकार के करों की अधिक से अधिक मात्रा को निश्चित कर देते हैं। असल में आत्मनिर्भरता के सिद्धांत पर इतना अधिक जोर नहीं देना चाहिए और इन करों को जितना अधिक इकट्ठा किया जा सके उतना करना चाहिए ताकि दूसरे स्थानों पर उनकी व्यवस्था की जा सके जहां पर कि इस समय वे नहीं हैं। शिक्षा पर होने वाले व्यय को आंकने के बाद यह कहा जाता है कि इसे तभी उठाया जा सकेगा जबकि राज्य भी इसमें हाथ बँटाये। ऐसी स्थिति में यद्यपि यह उपयुक्त है कि शिक्षा पर अधिक से अधिक कर लिया जाय किन्तु फिर भी आत्मनिर्भरता की बात कहना गलत होगा।

फीस आदि से प्राप्त आमदनी (The income from fees etc.)— नगरपालिका परिषदों द्वारा जो फीस लगाई जाती है वे मुख्य रूप से चार प्रकार की होती हैं। प्रथम, कुछ विशेष उद्देश्यों के लिए लगाये गये एक भाग को प्राप्त करना, जैसे स्कूल फीस, मेडिकल राहत फीस आदि। दूसरे, सवारियों, साईकिलों, दुकानों तथा होटलों आदि को लाइसेन्स देने की फीस या ईंट के भट्टों को चलाने पर लगाई गई फीस आदि। तीसरे, नगरपालिका के दावों की पूर्ति के सम्बन्ध में प्रसारित किये गये नोटिसों तथा वारन्टों के लिए लगाई गई फीस। चौथे, अभिलेख तथा प्रपत्रों को देने की फीस, पानी के कनक्शन लगाने की फीस, आदि-आदि। इन फीसों में से कुछ के पीछे कानून की शक्ति होती है, कुछ नियमों द्वारा तथा अन्य नगरपालिका के उप-नियमों द्वारा लगाई जाती हैं। लाइसेन्स फीस को असल में कर नहीं कहा जा सकता और न ही ये आमदनी के स्रोत हैं।

३. **सरकारी अनुदान [Government grants]**—स्थानीय निकायों को विशेष सेवाओं में कार्यकुशलता का कम से कम स्तर बनाये रखने के लिए

और एक विशेष सेवा में लगे हुए स्टाफ की कार्यकुशलता को सुधारने के लिए, नए कार्यों को चलाने के हेतु नए तरीके अपनाने के लिए तथा कार्यभार की असमानताओं को कम करने के लिए सरकार द्वारा अनुदान दिया जाता है। सभी स्थानीय निकाय जो अपनी सेवाओं का प्रशासन करते राष्ट्रीय दृष्टिकोण से निर्देशित होकर चलना पड़ता है। अनुदान के रूप में केन्द्रीय सरकार के हाथों में ही शक्ति रहती है जिसके द्वारा वह स्थानीय निकायों की क्रियाओं को केन्द्रीय कार्यक्रम के अनुसार समन्वित कर सकती है। सरकारी अनुदान देते समय दो बातों का ध्यान रखना चाहिए—प्रथम तो यह है कि वे नीति एवं प्रशासन से सम्बन्धित अपने परिवासित लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें और दूसरे यह कि वे स्थानीय निकायों में अपने स्रोतों का विकास करने में अरुचि पैदा न करें। भारत में नगरपालिकाओं को तीन उद्देश्यों के लिए सरकारी अनुदान प्राप्त होते हैं, ये हैं शिक्षा के लिए, मेडी-कल राहत एवं जन-स्वास्थ्य के लिए, तथा सामान्य उद्देश्यों के लिए। इनमें से कुछ अनुदान कानूनन होते हैं और अन्य अ-कानूनन। कानूनन अनुदानों को सम्बन्धित अधिनियम में निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार लिया जाता है जबकि अ-कानूनन अनुदान के बारे में कोई व्यवस्थित नीति विकसित नहीं की गई है। अधिकांश राज्यों में शिक्षा के लिए दिया जाने वाला अनुदान अधिक होता है किन्तु मद्रास इसका अपवाद है जहां कि जन-स्वास्थ्य के उद्देश्य से दिए गये अनुदान भी समान महत्व के होते हैं। उत्तर प्रदेश में अनुदान अधिकतर सड़कों, जल प्रसारण एवं नाली कार्यक्रमों के लिए दिए जाते हैं। इन विभिन्न प्रकार के अनुदानों के सम्बन्ध में कुछ जानकारी प्राप्त कर लेना उपयोगी रहेगा।

शिक्षा सम्बन्धी अनुदान—भारत के विभिन्न राज्यों में प्राथमिक-शिक्षा पर सरकार द्वारा नगरपालिकाओं को पर्याप्त अनुदान दिया जाता है। मद्रास में सन् १९४७-४८ में सरकार ने शिक्षा के उद्देश्य के लिए स्थानीय निकायों को १५३ लाख रुपए का अनुदान दिया। इसमें से केवल ६० लाख रुपए ही कानूनन थे। बम्बई में इस समय सरकार उस खर्च का ५०% नगरपालि-काओं को देती है जो कि वे अधिकृत रूप से प्राथमिक शिक्षा पर खर्च करती हैं। अनधिकृत नगरपालिकाओं की भी सरकार समस्त कमियों को पूरा कर देती है यदि वे नगरपालिकायें गृह-कर की एक निश्चित रकम अदा कर दें। पश्चिमी बंगाल में सरकार द्वारा शिक्षा के लिए दिया जाने वाला अनुदान कानूनन नहीं है। वहां सरकार नगरपालिका के कुल खर्च का २०% ही देती है। पंजाब के प्राथमिक शिक्षा अधिनियम में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो कि प्राथमिक शिक्षा को धन देने के लिए अथवा इस उद्देश्य के लिए सरकारी सहायता को विनियमित करने का कार्य करता हो। आसाम, हैदराबाद क्षेत्र, मैसूर तथा राजस्थान आदि राज्यों में प्राथमिक शिक्षा के लिए सरकार पूरी तरह से उत्तरदायी है अतः स्थानीय निकायों को इन राज्यों में सरकार द्वारा अनुदान दिए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

शिक्षा के क्षेत्र में सरकारी अनुदान की मात्रा को कई आधारों पर तय किया जाता है। नगरपालिकाओं की आमदनी के स्रोत भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं अतः प्राकृतिक न्याय के अनुसार राज्य सरकार को सामान्यीकरण

एवं जलदाय कार्यों तथा सफाई से सम्बन्धित अन्य कार्यों के लिये अनुदान प्राप्त करती हैं। पंजाब में नगरपालिका स्वास्थ्य अधिकारियों का आधा वेतन सरकार द्वारा दिया जाता है। यदि स्थानीय निकायों के पास महामारी विरोधक कार्यों के लिये पर्याप्त धन न हो तो सरकार द्वारा अनुदान दिया जा सकता है। बिहार में नगरपालिकायें विशेष उद्देश्यों के लिये कोई अनुदान प्राप्त नहीं करती बल्कि अनुदान का निर्धारण करते समय प्रत्येक नगरपालिका की आवश्यकता को तथा उसके प्रशासन की कार्यकुशलता को देखा जाता है।

सामान्य उद्देश्यों के लिए अनुदान —शिक्षा के क्षेत्र में, मेडीकल राहत एवं जन स्वास्थ्य के क्षेत्र में दिये जाने वाले अनुदानों के अतिरिक्त स्थानीय सत्ताओं को सरकार द्वारा सामान्य उद्देश्यों के लिए भी अनुदान दिया जाता है। इन अनुदानों का कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं होता।

४. **नगरपालिका द्वारा लिए जाने वाले कर्जे (Municipal borrowings)**—लोकवित्त का यह एक प्रारम्भिक नियम माना जाता है कि गैर-आमदनी वाली मदों पर जो खर्चा किया जाय अथवा ऐसे विषयों पर खर्चा किया जाय जिनसे कि धन या सेवा के रूप में आमदनी वर्षों बाद होगी तो जहां तक सम्भव हो सके ऐसे खर्चे को कर्जा लेकर निबाहना चाहिये न कि चालू राजस्व में से। किन्तु चालू खर्च के लिये कर्ज का उपयोग न किया जाय और भावी संततियों पर कर्जे का भार न बढ़ जाय इसके लिये स्थानीय निकायों की कर्जा लेने की शक्ति पर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखा जाना बहुत जरूरी है। ब्रिटिशकालीन भारत में यह नियन्त्रण स्थानीय सत्ता कर्जा अधिनियम १८७१–७६ तथा १९१४ द्वारा रखा जाता था। नगरपालिकायें केवल उसी कार्य के लिये कर्जा ले सकती हैं जो कि उनके क्षेत्र की सीमाओं में आता है और इन सीमाओं में रहने वाले निवासियों के लिये लाभदायक है। स्थानीय निकायों के कोष की जमानत पर वे कर्जा ले सकती हैं। जिन कार्यों के लिए कर्जा लिया जा सकता है उनमें मुख्य हैं—उन कार्यों को करने के लिए जिनके लिए कि स्थानीय निकाय कानूनी रूप से अधिकृत है। अकाल एवं कमी की हालत में राहत कार्यों में किए जाने वाले व्यय के लिए यह कर्जा ले सकती है। दूसरे, किसी खतरनाक महामारी के जन्म या प्रसार को रोकने के लिए, तीसरे, कानूनी आधार पर पहिले लिये गए धन को चुकाने के लिए; चौथे, अस्थायी एवं अकल्पित कठिनाइयों के समय स्वायत खर्चे को निबाहने के लिए, तथा आवश्यक एवं अकल्पित किसी भी अपवाद स्वरूप खर्चे को करने के लिए।

जब कभी एक स्थानीय सत्ता कर्जा लेना चाहती है तो इस सम्बन्ध में अपनी विशेष बैठक में वह एक प्रस्ताव पास करती है और उसे स्थानीय एवं सरकारी राज्य पत्र में प्रकाशित करती है तथा उस उद्देश्य को स्पष्ट करती है जिसके लिए कि कर्जा लिया गया है। यदि इस प्रस्ताव के प्रकाशन की दिनांक से लेकर बीस दिन के अन्दर-अन्दर कोई ऐतराज प्राप्त हो तो परिषद् उन पर अपनी विशेष बैठक में विचार करती है। उसके बाद अन्त में प्रस्तावों को राज्य सरकार के लिए भेज दिया जाता है। राज्य सरकार स्वीकृति दे सकती है या प्रार्थना पत्र को अस्वीकार कर सकती है या प्रस्ताव में कुछ परिवर्तन करके कर्ज लेने को कह सकती है। यह निर्णय करना राज्य सरकार के

हाथ में है कि लिया गया कर्जा खुले बाजार से लिया जा सकता है या सरकारी विभाग में से ही। यदि सरकार यह निर्णय करे कि परिषद् खुले बाजार से कर्जा ले सकती है तो प्रायः यह देखा जाता है कि कर्जे का समय तीस वर्ष से अधिक न होगा, कर्जे की मात्रा तीस लाख से अधिक न होगी, ब्याज की दर अनुचित रूप से उच्च न होगी तथा ब्याज एवं मूलधन को चुकाने के लिए पर्याप्त प्रावधान होगा। यदि पच्चीस लाख से अधिक कर्जा लेना हो तो केन्द्र सरकार से स्वीकृति लेना जरूरी होता है। विभिन्न राज्यों में ब्याज की दर अलग २ है। केन्द्रीय सरकार एवं मद्रास राज्य के नयमानुसार ब्याज की दर वही होगी जिस पर कि समझौता किया गया है। बम्बई, पंजाब और मध्यप्रदेश में यह नियम बना दिया गया है कि ब्याज की दर उतनी होगी जितनी कि राज्य सरकार द्वारा तय की जाए। उत्तर प्रदेश में ब्याज की दर साढ़े चार प्रतिशत से कम न होगी और बिहार तथा उड़ीसा में यह चार प्रतिशत से कम न होगी। राज्य सरकार को यह देखने की शक्ति है कि कर्जे द्वारा लिया गया धन उसी कार्य में लगाया गया है जिसके लिए वह लिया गया था तथा किश्तें नियमित रूप से दी जा रही हैं आदि।

भारत की नगरपालिकाओं का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि अधिकांश नगरपालिकाएं कर्जदार नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि उनका पूंजीगत खर्च सामान्य रूप से चालू राजस्व में से किया जाता है। मद्रास में १९२० तक पूंजी एवं सामान्य व्यय के बीच कोई अन्तर नहीं किया गया था और उसी वर्ष वित्तीय सम्बन्धो की समिति ने यह सुझाया कि इन दोनों प्रकार के खर्चों के बीच स्पष्ट अन्तर किया जाना चाहिए और सभी पूंजी-गत कार्यों पर किया गया खर्च, कर्जे द्वारा पूरा किया जाना चाहिए। साधारण खर्चों को पूरा करने के बाद जो अतिरिक्त राजस्व बचता है उसे पूंजीगत कार्यों एवं छोटी मात्रा वाले पूंजीगत खर्चों में लगा देना चाहिए।

कर्जे को सरकार से लिया जाय अथवा खुले बाजार से लिया जाय, इस सम्बन्ध में सभी राज्यों द्वारा अलग २ नीतियां अपनाई जा रही हैं। मद्रास सरकार की नीति यह है कि वह स्थानीय सत्ताओं को खुले बाजार में से धन लेने की अनुमति नहीं देती, जबकि बम्बई में कुछ समय तक नीति यह रही कि खुले बाजार में से कर्ज लेने को प्रोत्साहित किया जाता था। सामान्यतः व्यवहार यह है कि कर्जे राज्य सरकारों द्वारा दिये जाते हैं। इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि स्वयं केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के पास भी इतना धन नहीं होता कि वे कर्जा दे सकें।

पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था

[The Financial Management of Panchayati-Raj Institutions]

पंचायती राज संस्थान को आत्मनिर्भरता प्रदान करने की दृष्टि से उनकी अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने का प्रयास किया गया है। राज्य सरकार की ओर से इन संस्थाओं को जो विभिन्न कार्य सौंपे गए हैं उनकी सम्पन्नता के लिए यह जरूरी है कि उनकी वित्तीय व्यवस्था भी उन कार्यों का भार सहन करने योग्य हों। पचायती राज संस्थाओं ने विकसित होकर सामुदायिक विकास खण्डों के कार्यों को भी अपने हाथ में ले लिया है। विकास विभाग

द्वारा संचालित किए जाने वाले कार्य–पंचायती राज संस्थाओं को हस्तांतरित कर दिए गए हैं। किसी भी स्थानीय संस्था की सफलता के लिए इसके वित्तीय स्रोतों की मजबूती को सामान्य रूप से स्वीकार किया गया है। सादिक अली समिति के शब्दों में कोई भी संस्था प्रभावशील एवं उपयोगी सिद्ध नहीं हो सकती यदि वह अपने कार्यों को संचालित करने के लिए पर्याप्त वित्तीय साधन नहीं रखती।[1] इन संस्थाओं के वित्तीय साधनों का केवल एक सीमित भाग ही सरकार द्वारा प्रदान किया जाता है। अतः यह जरूरी हो जाता है कि ये संस्थाएं स्वयं के साधनों का विकास करें ताकि आत्मनिर्भर बन सकें। इससे न केवल स्थानीय सरकार में स्वायत्तता का विचार पनपेगा वरन् ये संस्थाएं भी उस समय अपने आपको अधिक शक्तिशाली अनुभव करेंगी जबकि इन्हें स्वेच्छा का अधिक अधिकार मिल जाएगा। राज्य एवं केन्द्र के साधन सीमित होते हैं इसलिए वे स्थानीय सरकार की संस्थाओं को अधिक कुछ नहीं दे पाते।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के स्रोतों के बारे में समय-समय पर अलग-अलग विचार प्रकट किए गए हैं। सरकार द्वारा भी स्थानीय वित्तीय मामलों की जांच के लिए तथा उस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए कई समितियों की रचना की गई है जिनकी सिफारिशों के आधार पर स्थानीय संस्थाओं की वर्तमान वित्त एवं कर प्रणाली को निश्चित किया गया। सन् १९५१ में स्थानीय वित्त जांच समिति नियुक्त की गई। इसके प्रतिवेदन में स्थानीय संस्थाओं के लिए आरक्षित रखे जाने वाले विभिन्न विषयों पर सुझाव दिया गया। इनमें मुख्य हैं रेल, समुद्र या वायु से ले जाए जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, भूमि एवं भवनों पर कर खनिज पर कर, स्थानीय क्षेत्र में उपभोग, प्रयोग या विक्रय के लिए वस्तुओं के प्रवेश पर कर, विद्युत के उपभोग या विक्रय पर कर, विज्ञापन पर कर, सड़कों पर ले जाए जाने वाली वस्तुओं एवं यात्रियों पर कर, पशुओं तथा नौकाओं पर कर, पथ कर, व्यापार, आजीविका तथा नौकरी पर कर, प्रति व्यक्ति कर, आमोद-प्रमोद की वस्तुओं तथा मनोरंजन पर कर। इस समिति ने बताया कि गृह कर, आबादी भूमि कर और चूल्हा कर, तथा सामान्य स्वच्छता एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी उप कर, आदि को अनिवार्य घोषित कर देना चाहिए। इस समिति के बाद कर जांच आयोग १९५३–५४ ने आरक्षित रखे जाने वाले करों के बारे में अपने विचार प्रकट किए और बताया कि भूमि एवं भवनों पर कर, सड़कों पर चलने वाले वाहनों पर कर, पशुओं एवं नौकाओं पर कर, व्यापार, आजीविका और नौकरियों पर कर, विज्ञापनों पर कर, रंगमंच पर कर, सम्पत्ति के हस्तान्तरण पर कर, मार्ग कर, आदि को स्थानीय सरकार की आय का साधन बनाया जाए। इसके अतिरिक्त आयोग ने यह भी सुझाया कि राज्य सरकार किसी भी उपयुक्त कर साधन को स्थानीय संस्थान के लिए प्रदान कर सकती है। कर से प्राप्त होने वाली आय के अतिरिक्त अनेक चीजों

---

1. *"No institution can prove affective and useful if it does not possess adequate financial resources to carry out its functions."* ...t., P. 154

की बिक्री जैसे, सड़क के निकट के वृक्ष, तलाई या झीलों में पैदा होने वाली चीजें अथवा बाजारों में दुकानों का किराया आदि स्थानीय संस्थाओं की आय के अच्छे साधन हो सकते हैं। पंचायतों द्वारा आटे की चक्की चला कर, खाद का वितरण करके तथा कृषि औजारों को किराए पर देकर भी अपनी आय में वृद्धि की जा सकती है। इस आयोग के बाद बलवन्तराय मेहता समिति १९५८ ने भी पचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनी सिफारिश प्रस्तुत की। इस समिति के मतानुसार पंचायती राज के तीनों अवयवों की आय के भिन्न-भिन्न स्रोत होने चाहिए। ग्राम पंचायतों की आय के साधन मुख्य रूप से ये बताए गए—सम्पत्ति अथवा गृह कर, बाजार एवं सवारी कर, चुंगी, शौच अथवा मल वहन कर पानी एवं रोशनी कर, कांजी हाऊस की आय, पंचायत समिति द्वारा अनुदान, पशु-विक्रय आदि के पंजीयन पर शुल्क, भूमिकर की वसूली पर कमीशन और पंचायत समिति को मिलने वाले भूराजस्व का निर्धारित भाग। पंचायत समिति की आय समिति द्वारा जो मुख्य साधन बताए गए हैं वे हैं—विकास खण्ड में एकत्रित भूराजस्व का निश्चित प्रतिशत, भूराजस्व पर उप कर वृत्तियों पर उप कर, अचल सम्पत्ति के हस्तांतरण पर विशेष कर, पथ कर एवं पट्टा की शुद्ध आय, यात्री कर, मनोरजन कर, प्राथमिक शिक्षा शुल्क, मेले एवं हाट से आय, मोटरगाड़ी कर का एक भाग, जनता द्वारा दिया गया स्वेच्छापूर्ण अंशदान, सरकार द्वारा अनुदान, सम्पत्ति से किराया एवं लाभ। राज्य सरकार जब पंचायत समिति को अनुदान देगी तो वह प्रतिबन्ध सहित भी दे सकती है और बिना प्रतिबन्ध के भी। ऐसा करते समय वह विकास खण्ड के पिछड़ेपन का पूरा-पूरा ध्यान रखेगी। केन्द्र अथवा राज्य सरकार द्वारा जो विकास-खण्डों को धन राशि दी जाएगी उसका वितरण पंचायत समितियां करेंगी। जिला परिषद की आय के मुख्य साधनों में मेहता समिति ने यह बताया कि सामान्यत: सरकार द्वारा प्राप्त राशि एवं पंचायत समितियों अथवा जनता से प्राप्त दान या अनुदान इसके क्षेत्र में आयेंगे। जिला परिषदें मुख्य रूप से प्रशासनिक इकाईयां होती हैं अतः उनको सीमित साधन प्रदान किए गए हैं।

राजस्थान में पंचायती राज संस्थाओं की आय के स्रोत मेहता समिति की सिफारिशों से बहुत कुछ प्रभावित हुए। यहां जिला परिषद को आय के बहुत कम साधन सौंपे गए हैं क्योंकि उनके पास कोई कार्यपालिका संबंधी उत्तरदायित्व नहीं होता। राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम के अनुसार जिला परिषद की आय के स्रोत होंगे, राज्य सरकार से प्राप्त धन जिसके अन्तर्गत सरकार जिला परिषद को कार्यालय के स्थापन और प्रमुख के यात्रा भत्ता आदि को प्रदान करेगी। जिला परिषद को पंचायत समिति या सामान्य जनता द्वारा स्वेच्छापूर्वक दिया गया अनुदान या दान प्राप्त होगा। अधिकांश जिला परिषदों द्वारा अधिनियम के इस प्रावधान को व्यव-हार में साकार नहीं किया गया है। केवल कुछ ही जिला परिषदों ने पंचायत समितियों से योगदान प्राप्त किया है।

अधिनियम के अनुसार पंचायत समितियों को जो आय के स्रोत सौंपे गए हैं उनमें मुख्य हैं—करों एव फीस से प्राप्त होने वाली आय, सम्पत्ति की

बिक्री से प्राप्त होने वाली आय, हड्डियों के ठेके से प्राप्त आय, जनता से प्राप्त दान एवं योगदान, विभिन्न विकास विभागों द्वारा हस्तांतरित उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए सरकारी अनुदान, वार्षिक तत्कालीन अनुदान, पंचायत समिति क्षेत्र की जनता से भू-राजस्व के भाग के रूप में पच्चीस पैसे प्रति व्यक्ति राज्य द्वारा दिए जाने वाले कर्ज़े, आदि। पंचायत समितियों को यद्यपि कर्ज आदि लेने की शक्तियां सौंपी गई हैं किन्तु किसी भी पंचायत समिति ने इस शक्ति का प्रयोग नहीं किया। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में राज्य सरकार ने चार करोड़ रुपये का एक स्वतंत्र कोष (Free Fund) रखा है जिसका प्रयोग राज्य सरकार के निर्देशन के अनुसार पचायत समितियों द्वारा किया जाएगा। अनुदान की मुख्य शर्त यह रखी गई कि कुल खर्चे का साठ प्रतिशत पंचायत समिति द्वारा जुटाया जाएगा और उसके चालीस प्रतिशत का प्रबन्ध राज्य सरकार करेगी। ऐसे अनुदान के दो तिहाई भाग का प्रयोग उत्पादनशील कार्यक्रमों के लिए किया जाएगा और एक तिहाई भाग को सामाजिक सुविधा कार्यक्रमों के लिए। यह भी बताया गया कि यदि पंचायत समिति इस अनुदान के केवल एक या दो स्थानान्तरित कार्यक्रमों को लेगी तो पंचायत समिति द्वारा दिया जाने वाला योगदान साठ प्रतिशत के स्थान पर पच्चहत्तर प्रतिशत होगा। इसका मुख्य उद्देश्य नए कार्यक्रमों को लेने के लिए पंचायत समिति को प्रोत्साहित करना तथा पंचायतों के लिए आय के कुछ साधन विकसित करना था। सन् १९६१-६२ में इस कार्यक्रम का ३२.२० लाख रुपया पंचायत समितियों को सौंप दिया गया। इस योजना में साठ प्रतिशत या पच्चहत्तर प्रतिशत योगदान की जो शर्त रखी गई थी वह अत्यन्त कठिन सिद्ध हुई। पंचायत समितियों को इन स्थानान्तरित योजनाओं के अन्तर्गत जो धन सौंपा गया उसके बारे में उन्हें बहुत कम स्वेच्छापूर्ण अधिकार दिए गए। पंचायत समितियों को सामुदायिक विकास योजना के संबंध में कुछ स्वेच्छापूर्ण अधिकार हैं किन्तु वे भी अत्यन्त सीमित हैं। दूसरे शब्दों में पंचायत समितियों को केवल उसी धन के संबंध में स्वेच्छापूर्ण शक्तियां हैं जिसे वह अपने साधनों द्वारा स्वयं एकत्रित करती है। सादिकअली समिति का विचार था कि स्वयं के साधनों से पंचायत समिति की आय यद्यपि बढ़ रही है किन्तु यह पर्याप्त नहीं है।

पंचायतों की आय के स्रोत मुख्य रूप से ये हैं—२० पैसे प्रति व्यक्ति के हिसाब से दिये जाने वाला सरकारी अनुदान जो कि अधिक से अधिक चार सौ रुपये तक हो सकता है। दूसरे, करों से प्राप्त आय, तीसरे, मवेशी तालाबों से प्राप्त आय, चौथे, प्रशासकीय मामलों में किए गए दण्ड, पांचवें, दी गई सेवाओं की फीस, छठे, चारागाह भूमि से प्राप्त आय, सातवें, भूमि के अस्थायी उपयोग की फीस, आठवें, पंचायतों को मिले हुए तालाबों से लिया गया सिंचाई शुल्क, नवें, मछलियों के ठेके से प्राप्त आय, दसवें, आबादी भूमि की बिक्री से आय। प्रत्येक पंचायत को १५ बीघा जमीन दी गई है जिसका विकास एवं उपयोग पंचायत जिस तरह चाहे, कर सकती है। कुछेक पंचायतें इस सामान्य भूमि से अच्छी आमदनी कर लेती है। जिस पंचायत का सरपंच और पंचों मेंसे अस्सी प्रतिशत का चुनाव सर्वसम्मति से होता है उन पंचायतों को कुल जनसंख्या के पच्चीस पैसे प्रति व्यक्ति के हिसाब से अतिरिक्त अनुदान राज्य

सरकार द्वारा दिया जाएगा। राजस्थान में अनेक पंचायतें इससे लाभान्वित हो रही हैं।

पंचायती राज संस्थायें अपने कार्य संचालन के लिये जो धन प्राप्त करती हैं वह जिन स्रोतों से आता है वे हैं—कर, फीस तथा जुर्माना, गैर कर वाला राजस्व, दान, अंशदान, सहायता अनुदान एवं कर्ज आदि। इन सभी वित्तीय स्रोतों के बारे में कुछ अधिक व्यापक रूप से अध्ययन करना उपयोगी रहेगा।

(A) करों से प्राप्त आय (The Income From Taxes)—पंचायत समितियों एवं पंचायतों को कर लगाने की शक्ति सौंपी गई है ताकि वे अपने विभिन्न उत्तरदायित्वों को सम्पन्न करने के लिए यथोचित धन प्राप्त कर सकें। जिला परिषदों को कर लगाने की कोई शक्ति प्राप्त नहीं है। पंचायत समिति तथा पंचायत के हाथों में जितने भी कर दिए गए हैं उनमें से कोई भी अनिवार्य नही हैं। वे सभी स्वेच्छा पर आधारित हैं। पंचायत द्वारा जो कर लगाये जा सकते हैं उनमें गृहकर प्रमुख है। इसके अतिरिक्त पशुओं एवं सामान पर कर, कृषि कार्य के लिए प्रयुक्त वाहनों के अतिरिक्त वाहनों पर कर, तीर्थ स्थान पर कर, पीने के पानी के प्रसारण का प्रबन्ध व्यापारिक फसल पर कर तथा अन्य कर जिनको सरकार की स्वीकृति से केवल व्यवस्थापिका ही लगा सकती है। पंचायत यदि सामान्य उपयोगिता की कोई चीज अपने क्षेत्र में बनवाना चाहे तो गांव के सभी वयस्कों पर विशेष कर लगा सकती है।

पंचायत समिति को जिन विषयों पर कर लगाने का अधिकार प्राप्त है वे हैं—व्यवसाय, व्यापार कार्य तथा उद्योगों पर कर, प्राथमिक शिक्षा का कर, मेलों पर कर इत्यादि।

पंचायतों एवं पंचायत समितियों द्वारा लगाये जाने वाले कर क्योंकि अनिवार्य नहीं होते अत: ये संस्थायें बहुधा करों को लगाने में आगा–पीछा देखती रहती हैं कर लगाने में इन संस्थाओं की उदासीनता का कारण संभवत: यह है कि इनके सदस्य मतदाताओं के अत्यन्त निकटस्थ होते हैं। इनके अधिकारियों को यह डर रहता है कि कहीं मतदाता नाराज न हो जाये। कर न लगाने का एक अन्य कारण यह हो सकता है कि वे लगाये गये करों के अनु–सार शायद विकास कार्य न कर पाये और इसलिए जनता द्वारा उनका विरोध किया जाये। करारोपण सदैव ही एक अप्रसन्नतापूर्ण कार्य होता है और जनता इसके प्रति कभी भी समर्थनपूर्ण रवैया नहीं अपनाती। फिर भी यदि लोगों को यह पता चल जाये तथा विश्वास हो जाये कि दिये गये करों का कुछ लाभ उनको भी अवश्य ही मिल जायेगा तो उनके प्रति किया जाने वाला विरोध कम हो जायेगा। पंचायत समिति एवं पंचायतों को कर लगाने में जो झिझक रहती है उसे दूर करने के लिए सादिकअली समिति ने यह सिफारिश की कि कुछ करों को अनिवार्य बना देना चाहिये तथा कर लगाने वाली सत्ता को दूर रहना चाहिये। इस व्यवस्था के परिणामस्वरूप इन संस्थाओं की आय बढ़ जायेगी तथा वे कर लगाने के झंझट से भी बच जायेंगी। यह सभी क्षेत्रों में एकरूपता की स्थापना करेगी। एकरूपता के अभाव में लगाये गये किसी भी कर का पंचायत या पंचायत समिति के क्षेत्र की जनता द्वारा यह कह कर विरोध किया जायेगा कि यह कर अन्य किसी भी क्षेत्र में नहीं लगे हुए हैं।

यहां पंचायत संस्थाओं द्वारा लगाये जाने वाले विभिन्न करों का कुछ विस्तार से अध्ययन किया जाना उपयोगी रहेगा। ये मुख्य कर निम्न प्रकार हैं—

१. गृह कर (House Tax)—यह कर बने हुये मकान, उसके पास की भूमि अथवा मकान बनने के लिए भूमि पर लगाया जाता है। गृह कर को भी दो रूपों में देखा जा सकता है जिनके बीच मूल्यांकन की दृष्टि से कुछ भेद है। प्रथम रूप है सामान्य कर; दूसरा है प्रदान की गई सेवाओं पर कर। सामान्य गृहकर को पंचायतों की आय का एक मुख्य स्रोत माना जाता है। इसे लगाते समय कई बातों को ध्यान में रखा जाता है, उदाहरण के लिए सम्पत्ति की लागत एवं उसका वास्तविक मूल्य तथा कुल मकान का वास्तविक या सम्भावित किराया। वैसे देहाती क्षेत्रों में लोग प्राय: स्वयं के ही घरों में रहते हैं तथा वहां किरायेदारों की समस्या ही नहीं रहती। घर का मूल्य आंकना भी कोई सरल कार्य नहीं है क्योंकि गांवों में भी समय के साथ-साथ ज्यों-ज्यों जीवनस्तर बढ़ता जा रहा है त्यों-त्यों घरों में जीवन की सुविधायें भी बढती जा रही हैं। घर के अलावा अन्य भवनों को किराये की दृष्टि से आंका जा सकता है। दुकानों, गोदामों आदि का प्रयोग किरायेदारों द्वारा भी किया जाता है। किन्तु किराये की वास्तविक मात्रा जानना भी एक समस्या है और इस सम्बंध में भी पर्याप्त धोखा किया जा सकता है।

जब भवनों पर कर लगाया जाये तो कुछ मूल बातों से प्रेरित होने को कहा जाता है। यह बताया जाता है कि कीमती इमारतों पर कर निर्धारण करते समय कर की दर में रियायत की जानी चाहिए। दूसरे, कर की दरें लोचशील हों अर्थात् ज्यों ही भवन का मूल्य बढ़ जाये त्यों-ही उसके कर की मात्रा भी बढ़ा दी जाये। तीसरे, कर की दर को मूल्य के अनुपात में रखा जाना चाहिए। कई लोग इन कथनों की न्यायोचितता के बारे में संदेह करते हैं। उनका मत है कि प्रथम बात को मानने का अर्थ होगा धनी लोगों पर कर कम लगाना, जिन पर कि अधिक कर लगाना चाहिए था। दूसरे मत के सम्बंध में यह कहा जाता है कि इससे वे व्यक्ति बुरी तरह प्रभावित होंगे जो कि केवल मकान किराये को ही अपनी जीविका का साधन मानकर चलते हैं।

सामान्यतः कुछ भवनों पर पंचायती-राज-संस्थाओं द्वारा कर नहीं लगाये जाते। इस प्रकार धर्मशाला, सराय, पुस्तकालय, पाठशाला, शफाखाना, वाचनालय एवं धर्मार्थ उपयोग में लाये जाने वाले भवन आदि को कर से मुक्ति प्रदान कर दी जाती है। करमुक्त भवनों के किसी भी भाग से किराया अर्जित नहीं किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त पंचायत या पंचायत समित क्षेत्र में स्थित राज्य सरकार अथवा केन्द्रीय सरकार के किसी भवन पर भी कर नहीं लगाया जायेगा। इन भवनों के बारे में नीति यह अपनायी जाती है कि जितना कर मुक्त किया गया है, उतना कर सम्बंधित सरकार द्वारा अनुदान के रूप में प्रदान कर दिया जाना चाहिए। कर मुक्त भवनों से भी सेवा सम्बंधी कर अवश्य लिया जायेगा।

लगाया गया गृह-कर असल में किरायेदार द्वारा ही प्रदान किया जाता है क्योंकि ज्योंही यह कर लगता है त्योंही किराये की दर भी बढ़ादी जाती

है। जिस भवन में किरायेदार ही नहीं होता वहां इसे चुकाने का दायित्व गृह-स्वामी पर ही आता है। गृहकर निश्चित करने से पूर्व पहले क्षेत्र के भवनों की एक सूची तैयार की जाती है। इस सूची में मकान का पूरा विवरण रहता है अर्थात् उसका आकार, कमरे, रूप, बनावट की स्थिति, आंका गया मूल्य, कर के रूप में लगाई जाने वाली रकम आदि-आदि। इस सूची को सूचना-पट्ट पर लगाने एवं प्रचारित करने के पन्द्रह दिन के भीतर-भीतर जो भी ऐतराज हो वे सत्ता के पास आजाने चाहिए। किये गये ऐतराजों पर विचार किया जाता है और यदि आवश्यक समझा जाये तो सूची-सुधार भी किया जा सकता है। कर की वसूली इस सूची में दिये गये विवरण के आधार पर की जानी चाहिए। स्थानीय वित्त जांच समिति, १९५१ के प्रतिवेदन में यह कहा गया था कि सम्पत्ति का मूल्यांकन एक अत्यन्त ही जटिल प्रश्न है जिस पर आसानी से निर्णय नहीं किया जा सकता। इस कार्य को करने के लिए एक अलग से ही विशेषज्ञों का निकाय होना चाहिए। आंके गये मूल्य पर प्रभावित व्यक्ति को आपत्ति करने का अधिकार दिया जाना चाहिए। यदि आवश्यक समझा जाये तो इस प्रकार के विवादों को सुलझाने के लिए एक न्यायालय भी स्थापित कर दिया जाये। पर्याप्त अभ्यास एवं प्रशिक्षण के बाद ही पंचायत अधिकारियों को मूल्यांकन का कार्य दिया जाना चाहिए।

गृह कर का एक अन्य आधार प्रदान की गई सेवायें होता है। सेवा-शुल्क के अन्तर्गत पंचायत एवं पंचायत समितियों द्वारा क्षेत्रीय निवासियों पर उन सेवाओं के बदले में कर लगाया जायेगा जिनका प्रबन्ध करने में इन संस्थाओं को समय, शक्ति एवं धन का व्यय करना पड़ता है। एक सम्पत्ति का मूल्य जितना अधिक होता है उतना ही अधिक उस पर सेवा-शुल्क लगाया जाता है। इसका कारण यह है कि अधिक मूल्य वाले भवन द्वारा इन सेवाओं का उपयोग अधिक किया जायेगा और इसलिए उनको अधिक कर देना चाहिए। इस प्रकार की सेवाओं में जल प्रदाय, रोशनी, मल-वहन, जल-निकास, सड़कों की रचना एवं देखभाल आदि मुख्य हैं। सेवा-शुल्क इन संस्थाओं के राजस्व का कोई प्रमुख साधन नहीं है। इसका प्रमुख लक्ष्य तो यह होता है कि इस दृष्टि से इन संस्थाओं को आत्मनिर्भर बना दिया जाये तथा ये जो भी खर्चा इन सेवाओं के प्रबन्ध में उठाती हैं वह कर के रूप में इनको प्राप्त हो जाये। यदि ये कर न लगाये जायें तो पंचायती-राज-संस्थाओं को कर्ज के आधार पर सब कार्य करने होंगे और एक स्थिति ऐसी आयेगी जब कि कर्ज के भार से उसकी अर्थव्यवस्था की कमर टूट जायेगी।

गृह कर के सम्बध में यह कहा जाता है कि इस प्रकार के करों की अदायगी करदाता आसानी से कर देता है क्योंकि यह कर ऐसे व्यक्ति पर लगाया जाता है जिसकी कुछ सामर्थ्य है तथा जो कर की मद को देने में अधिक कठिनाई का अनुभव न करे।

गृह कर के सम्बंध में विचार करते हुए सादिक अली समिति ने अपना मत प्रकट किया है। समिति का कहना है कि गृह कर का स्थानीय महत्त्व होता है अतः यह पंचायतों द्वारा लगाया जाना चाहिए। सादिक अली समिति, पंचायती राज वित्त पर समिति की इस सिफारिश से सहमत नहीं थी कि गृह कर को अनिवार्य बना दिया जाये। यद्यपि वित्त समिति द्वारा दिये गये तर्क

अत्यन्त प्रभावपूर्ण थे किन्तु आर्थिक स्थिति की विभिन्नता एवं रचना के मापदण्ड के भेदों के आधार पर उसका सुझाव माननीय न था। सादिक अली समिति का कहना था कि गृह कर पूंजीगत मूल्य (Capital value) के आधार पर लिया जाना चाहिए। गृहकर की अधिक से अधिक एव कम से कम दर निर्धारित कर देनी चाहिए। जब एक पंचायत द्वारा गृह कर प्रारम्भ कर दिया जाये तो इससे किसी को मुक्त न रखा जाये क्योंकि इसकी कम से कम दर इतनी कम है कि प्रत्येक गृहस्वामी दे सकता है।

२. **कृषि-भूमि पर कर (Tax on agricultural land)**—यह कर अंग्रेजी शासन काल में भी प्रचलित था जबकि इसको केन्द्रीय एव प्रान्तीय सरकारों के लिए राज्यों में वसूल किया जाता था। आज यह केवल राज्य एवं स्थानीय संस्थाओं को ही प्रदान किया जाता है। भू-राजस्व का एक निश्चित भागपंचायत समितियों एवं पंचायतों को प्रदान किया जाता है। इस अर्थ में इसे प्राय: उपकर भी कह दिया जाता है। जमींदारी प्रथा की समाप्ति के बाद भूमि का स्वामी कृषक होता है और इसलिए इस उपकर का भार उसी को वहन करना होता है। भू-राजस्व की वसूली का कार्य पंचायतों को सौंपने के सम्बध में भी कभी-कभी प्रश्न किया जाता है तथा कहा जाता है कि इनकी बढ़ती हुई कार्यकुशलता के संदर्भ में यदि यह उत्तरदायित्व भी इनको सौंप दिया जाये तो गलत बात नहीं होगी। इससे इन संस्थाओं को जो कमीशन प्राप्त होगा वह उनकी आय में वृद्धि करने के लिए उपयोगी रहेगा; साथ ही कर-दाताओं को भी इससे सुविधा हो जायेगी। इस व्यवस्था के अपने खतरे भी हैं। यदि संग्रह में जरा भी ढील कर दी गई तो परिणाम भयंकर हो सकते हैं।

३. **सम्पत्ति के हस्तांतरण पर कर (Tax on transformation of property)**—अचल सम्पत्ति का जब हस्तांतरण किया जाता है तो उस पर लगाया गया मुद्रांकन शुल्क सामान्यतः राज्य सरकार को प्रदान किया जाता है। इस शुल्क के साथ ही एक अधिकार भी वसूल किया जाता है जो कि पंचायतीराज संस्थाओं की आमदनी का स्रोत है। जब सम्पत्ति के हस्तांतरण केसमय पंजीकरण अधिकारी द्वारा दस्तावेजों का पंजीकरण किया जाता है तो वह राज्य शुल्क वसूल करते समय अधिकार को भी प्राप्त कर लेता है। यह राशि त्रैमासिक रूप से स्थानीय निकायों को कुछ कमीशन का प्रतिशत काटने के बाद सौंप दी जाती है।

४. **चुंगी (Octroi)**—चुंगीकर पंचायतों के राजस्व का एक महत्व-पूर्ण स्रोत है। यही कारण है कि समय-समय पर विभिन्न वस्तुओं को चुंगी-कर वाली सूची में जोड़ दिया जाता है, साथ ही इसकी दरों में भी वृद्धि की प्रवृत्ति है। चुंगीकर के संग्रह एवं प्रबन्ध में रहने वाले दोष तथा कठिनाइयों के कारण इसमें बहुत अनियमिततायें बरती जाती हैं तथा भ्रष्टा-चार होता है। चुंगीकर में वापसी का प्रावधान रहता है। इस कर प्रतिदान की व्यवस्था को यदि समाप्त कर दिया जाये तो स्थिति में कुछ सुधार हो सकता है। किन्तु ऐसा करने से पूर्व कुछ अन्य कदम भी उठाने होंगे जैसे-सीमा में घुसते ही प्रयोग, उपभोग या विक्रय वाली वस्तुओं को अन्य से पृथक कर दिया जाए ताकि पहले वर्ग की चीजों पर कर ले लिया जाये और दूसरे वर्ग को कर मुक्त कर दिया जाए। इस प्रकार प्रतिदान की समस्या ही नहीं

होगी। फिर भी ऐसी वस्तुओं के बारे में व्यावहारिक कठिनाई उत्पन्न हो सकती है जो कि कुछ समय बाद वापस भेज दिये जाते हैं। इस कठिनाई से छुटकारा पाने के लिए यह व्यवस्था की जाती है कि यदि वस्तुएं एक निर्धारित समय में न हटाई गई तो उनको प्रयोग, उपभोग या विक्रय के लिए ही समझा जायेगा और उन पर कर लिया जायेगा। चुंगीकर एवं सीमाकर दोनों ही बहुत पहले से आलोचना के विषय रहे हैं। इनकी आलोचना का मुख्य आधार प्रशासनिक सम्बन्धी कठिनाइयां हैं। जिन आवश्यक वस्तुओं पर यह कर लगाया जाता है उनके बाजार-भाव अधिक हो जाते हैं और उन वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। सरकार के सामने मूल्य-वृद्धि की एक नई समस्या उठ खड़ी होती है।

चुंगी कर को पंचायत के लिए अनिवार्य माना गया है। पंचायत की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए, पंचायत द्वारा उन रास्तों की घोषणा कर दी जाती है जिनमें होकर चुंगी योग्य माल या मवेशी सीमा में प्रवेश कर सकें। इसके अतिरिक्त पंचायतें आवश्यकतानुसार चुंगी चौकियां स्थापित करती हैं जिनके द्वारा कर वसूल किया जाता है। चुंगी का भुगतान चौकी पर अथवा इस प्रयोजनार्थ निश्चित किये हुए अन्य स्थान पर होगा अन्यथा पंचायत कार्यालय में होगा। सामान्यतः जो व्यक्ति कर नहीं देता या न देनेको उकसाता है या धोका देने का प्रयत्न करता है उसको अर्थ-दण्ड देने की व्यवस्था है जिसकी मात्रा चुंगी से कई गुनी होती है। कई वस्तुओं को चुंगीकर से मुक्त भी रखा जाता है; उदाहरण के लिए गोबर, ईंधन, घास, चारा तथा कटी हुई झाड़ियों का सिर पर बोझा। दूसरे, ऐसा माल जिस पर देय चुंगी एक पैसे से कम हो। तीसरे, सेना, पुलिस या राज्य या केन्द्रीय सरकार के किसी विभाग के प्रयोग के लिए हथियार। चौथे, व्यक्तिगत प्रयोग के लिए लाया गया माल। पांचवें, पंचायत क्षेत्र में निर्मित अथवा उत्पादित सामान। छठे, व्यक्तिगत या घरेलू सामान जो पंचायत-क्षेत्र में निकास के लिए मंगाया गया हो। सातवें, पहनने के कपड़े, बर्तन, फर्नीचर एवं भोजन का सामान जो कि बारात का हो।

चुंगीकर के सम्बन्ध में कुछ विशेष बातों का ध्यान रखना उपयोगी है; जैसे, चुंगी कर को वस्तुओं के माप-तौल के आधार पर लिया जाना चाहिए न कि उनके मूल्य के अनुपात से, क्योंकि इस व्यवस्था में समय अधिक लगता है और परेशानी भी अधिक होती है। दूसरे, चुंगी लगने वाली वस्तुओं एवं उनकी दरों की एक आदर्श सूची तैयार की जानी चाहिए। दूध, साग आदि वस्तुओं पर कर नहीं लगाना चाहिए। तीसरे, चुंगीकर के संग्रह का कार्य केवल कर्मचारियों के भरोसे नहीं छोड़ देना चाहिए, उस पर उच्चाधिकारियों का पर्याप्त नियंत्रण रखा जाना चाहिए ताकि भ्रष्टाचार को रोका जा सके और जनता को अधिक सुविधा दी जा सके। चौथे, दैनिक आवश्यकता की चीजें जैसे, अनाज आदि पर कर नहीं लगाना चाहिए इन पर, तो राज्य सरकार द्वारा प्रतिबंध लगाना चाहिए। पांचवें, गोदाम आदि की सुविधा प्रदान करके रास्ते से निकलने वाली वस्तुओं पर कर न लिया जाय। इससे अंतर्देशीय व्यापार एवं जन-साधारण को असुविधा होती है।

सादिक अली समिति के कथनानुसार चुंगी लगाने तथा उगाहने की शक्ति केवल नगर पंचायतों को दी जानी चाहिए। जहां तक ग्राम पंचायतों का सम्बन्ध है उनको इस प्रकार की शक्ति न दी जाए। असल में अनेक ग्राम-पंचायतों में यह कर महत्वपूर्ण रूप से आमदनी का साधन नहीं बनेगा। यहां तक कि नगर पंचायतों में भी इसे ऐच्छिक होना चाहिए न कि अनिवार्य तथा कुछ वस्तुओं को जैसे, नमक, गुड़, मिट्टी का तेल आदि वस्तुओं का जिन्हें कि घरेलू उपयोग के लिए लाया जाए इस कर से मुक्त रखना चाहिए।

५. गाड़ी-कर—गांवों में यातायात की सुविधाएं बहुत कम हैं साथ ही कच्ची सड़क, रेतीले मैदान, ऊंची-नीची खाइयां जो कि हमारे गांवों के मानचित्र की विशेषताएं हैं, वे स्वयं व्यक्तियों के आवागमन पर रोक लगाती हैं। जहां कहीं पक्की सड़कें बनाई गई हैं अथवा कच्चा रास्ता साफ किया गया है वहां से रास्तों या सड़कों का उपयोग करने वाले लोगों पर कर लगाने की व्यवस्था की गई है ताकि उनका लाभ उठाने वाले लोग पंचायती राज संस्थाओं को वित्तीय योगदान कर सकें। यह कर गाड़ियों के अतिरिक्त अन्य वाहनों पर भी लगाया जा सकता है जो कि कृषि कार्य में नहीं आते। ऐसे वाहनों में साईकिल, घोड़ा गाड़ी आदि को ले सकते हैं। पंचायतों के पास ऐसे वाहनों की सूची रहती है और इनके स्वामियों तथा उपभोक्ताओं का नाम भी निर्दिष्ट रहता है। इन वाहनों को प्राप्त करने के पंद्रह दिन के भीतर प्राप्तकर्त्ता को चाहिए कि वह इसके सम्बन्ध में पंचायत कार्यालय को सूचना दे और पंचायत इस सूचना के आधार पर अपनी सूची में समय समय पर परिवर्तन करती रहे। गाड़ी कर का भुगतान प्रतिवर्ष अग्रिम रूप से किया जायेगा और पंचायत एक लाइसेन्स प्रदान करके उस समय के लिए गाड़ी के रखने तथा प्रयोग करने की अनुमति दे देगी। कर का भुगतान न होने की दशा में गाड़ी को जब्त किया जा सकता है और यदि एक निश्चित समय तक कर नहीं प्रदान किया जाता है तो उस गाड़ी को बेचकर, कर वसूल कर लिया जायेगा। यदि निश्चित अवधि में या विक्रय से पूर्व गाड़ी का स्वामी आकर प्रार्थना करे और दण्ड अदा करदे तो गाड़ी लौटायी जा सकती है।

जिन गाड़ियों पर यह कर नहीं लगेगा वे हैं, मोटर गाड़ी, कृषि प्रयोजनार्थ काम में आने वाली गाड़ी, सार्वजनिक प्रयोजनार्थ काम में आने वाली केन्द्रीय या राज्य सरकार की गाड़ी एवं पंचायत की गाड़ी।

६. वाणिज्यिक फसलों पर कर—सामान्यतः भू-राजस्व को राज्य सरकार द्वारा वसूल किया जाता है फिर भी कई प्रकार की वाणिज्यिक फसलों पर पंचायतों को भी कर लगाने का अधिकार होता है उदाहरण के लिए मिर्च, मूंगफली, जीरा, गन्ना, रूई आदि। ऐसी वस्तुओं के उत्पादन शुरू करने से कम से कम एक माह पूर्व या जितना समय निर्धारित किया जाये उस समय में पंचायत के पास एक विवरण पंजिका भेजकर उसे सूचित किया जाना चाहिए। इस विवरण पंजिका में भूमि की स्थिति, क्षेत्रफल, फसल की किस्म, काश्तकार का नाम, निवास स्थान आदि होगा। पूरी तरह जांच पड़ताल करने के बाद जितनी आवश्यक समझी जायेगी, कर की राशि निर्धारित कर दी जावेगी। यदि प्राकृतिक प्रकोप अथवा अन्य किसी कारण-वश फसल अच्छी हुई हो तो आवश्यक जांच के बाद निर्धारित कर में

उचित कमी की जा सकती है। यह कर कृषक द्वारा दिया जाता है और अधिकांश परिस्थितियों में वही इस कर को देने के लिए उत्तरदायी रहता है।

७. **नौ–घाट कर**—किसी नदी या बड़े तालाब के घाट पर किश्तियां लगाने के संबंध में स्थानीय संस्थाओं द्वारा शुल्क लिया जाता है और इसके बदले में स्थानीय संस्था उस घाट को भली-भांति रखने का कार्य करती है। इसकी वसूली के लिए या तो घाट पर चौकी स्थापित करदी जाती है अथवा सामूहिक आधार पर इसकी वसूली की जाती है। प्रत्येक नौका के स्वामी से इसकी वसूली की जा सकती है।

८. **राह कर**—इस प्रकार का कर रास्ते का प्रयोग करने के लिए गाड़ियों एवं जानवरों पर लगाया जाता है। यह कर इसलिए लगाया जाता है ताकि रास्ते के निर्माण एवं देखरेख में होने वाले व्ययको वसूल किया जा सके। यह कर चुंगी एवं सीमा कर का पूरक तथा गाड़ी कर का एक भाग है। सड़कों पर किए गए व्यय संबंधी भार भी इसमें आ जाते हैं।

९. **विज्ञापन कर**—समाचार पत्रों के अतिरिक्त जो विज्ञापन किये जाते हैं उन पर स्थानीय सस्थाओं द्वारा कर लगाया जा सकता है। गड़े हुए खम्भों पर या सूचना पट्टों पर जो विज्ञापन किए जाते हैं इनसे सम्बन्धित कर पंचायतें लेती हैं जो विज्ञापन सरकारी अथवा निजी स्थान पर निर्मित, प्रदर्शित या स्थापित किया जाता है उस पर भी कर लिया जायेगा। इस प्रकार के करों का यद्यपि प्रत्यक्ष भार विज्ञापन देने वाले पर पड़ता है किन्तु व्यापारिक-व्यय एवं उत्पादन संबंधी व्यय का भाग बन कर इसकी वसूली उपभोक्ताओं से भी की जा सकती है।

१०. **परिस्थिति एवं सम्पत्ति पर कर**—व्यक्तियों पर लगाये जाने वाले करों में यह कर अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसे भूमि एवं गृह कर के स्थान पर लगाया जाता है। कभी–कभी यह गृह-कर का अनुपूरक भी समझा जाता है। यह कर, करदाता की आय, उसकी सामाजिक स्थिति, परिवार की मात्रा, स्थानीय क्षेत्र में सम्पत्ति तथा स्थानीय क्षेत्र की सेवाओं के लाभ से संबंधित है। कुल मिलाकर यह सम्पत्ति एवं व्यवसाय–कर का योग है। इस कर में वर्ती जाने वाली असमानता को आलोचना का विषय बनाया जाता है। यह कहा जाता है कि इस प्रकार के कर में प्रभावशाली व्यक्तियों के साथ पक्षपात की सम्भावना रहती है और गरीबों पर कर–भार अधिक बढ़ने का खतरा रहता है।

११. **व्यापार, आजीविका, व्यवसाय एवं उद्योगों पर कर**—यह कर आयकर से मिलता-जुलता सा है। इस कर के निर्धारण के लिए व्यक्तियों एवं व्यवसायों को अनेक श्रेणियों में विभक्त कर दिया जाता है तथा श्रेणी के आधार पर ही उसकी दरें लगाई जाती हैं। कई एक संस्थाएं तो घरेलू सेवकों पर कर लगा कर के गृह स्वामियों से उसे वसूल करती हैं। इस प्रकार के करों का भार समाज के समस्त वर्गों पर उनकी करदाय शक्ति के अनुपात में प्रगामी गति से बढ़ता है। एक निर्धारित न्यूनतम सीमा तक की आय को कर से मुक्त रखा गया है, तथा संविधान की धारा २७६ के अनुसार इसकी अधिकतम

सीमा २५० रु. वार्षिक रखी गई है। राज्य सरकार द्वारा कर की छूट भी दी जा सकती है।

(B) आय के अन्य स्रोत [Other Sources of Income]—भारत के गांवों की हालत अत्यन्त पिछड़ी हुई है। यहां के निवासियों की आर्थिक स्थिति एवं रहन-सहन के निम्न स्तर को देखते हुए ग्राम पंचायतें उनके विकास की विभिन्न योजनाएं बनाती हैं। ग्राम पंचायत में बहुमत द्वारा एक संकल्प पास करके पचायत क्षेत्र में सार्वजनिक उपयोगिता के किसी निर्माण-कार्य को प्रारम्भ किया जा सकता है। ऐसा निर्माण कार्य प्रारम्भ करते समय पंचायत को यह अधिकार मिल जाता है कि वह प्रत्येक वयस्क के शारीरिक श्रम को आवश्यक बना दे। शारीरिक या मानसिक स्थिति से कमजोर एवं असमर्थ व्यक्तियों को इस प्रकार के कार्य से मुक्त किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति शारीरिक श्रमदान न देना चाहे तो उसे कर-दान के रूप में इस कमी को पूरा करना होगा।

पंचायतों को कांजी-होस से भी पर्याप्त आय मिलती है जिसका कि वे अपने राजस्व की वृद्धि में उपयोग करती हैं। यदि किसी निजी पालतू पशु द्वारा किसी की व्यक्तिगत भूमि अथवा फसल के खेत में अनधिकृत रूप से प्रवेश करके उसे नुकसान पहुंचाया गया है अथवा यह सार्वजनिक सड़कों, मनोरंजन के स्थानों, नहरों, बांधों आदि पर भटकता हुआ पाया गया है तो उसे कांजी-होस में बंद किया जा सकता है। वहां उसके भरण-पोषण का व्यय पंचायत द्वारा उठाया जाता है और यदि एक निश्चित समय तक उसका स्वामी उसे छुड़ाकर न ले जाय तो वह नीलाम कर दिया जाता है। कांजी-होस से प्राप्त होने वाली आय के तीन तरीके हैं—या तो पशु के स्वामी पर दण्ड के रूप में धन की कुछ मात्रा निश्चित की जा सकती है या उससे पशुओं को खिलाने-पिलाने में व्यय की गई राशि भी वसूल की जा सकेगी अथवा जानवरों को बेचने में जो समय, श्रम एवं खर्चा हुआ वह भी वसूल किया जा सकता है।

मेले एवं त्यौहारों से भी पंचायती राज संस्थाओं को कुछ आय हो जाती है। पंचायतों द्वारा मेले एवं त्यौहार से सम्बन्धित उत्सवों को मनाने का स्थान नियत कर दिया जाता है और उस स्थान का उपयोग करने वालों से यह कर लेती है। उस स्थान की सीमा में प्रवेश एवं निष्कासन की जांच के लिए अलग से एक संस्था निर्धारित कर दी जाती है। इस संस्था द्वारा जब स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है तभी किसी विक्रेता या सौदागर को मेले की सीमा में प्रवेश पाने दिया जाता है। पशु-मेलों में जो पशुओं की खरीददारी करते हैं वे लोग शुल्क देने के बाद खरीद को पंजीकृत कराते हैं और रवानगी की रसीद प्राप्त करते हैं। इस रसीद के आधार पर ही उनको बाहर निकलने की अनुमति दी जाती है। ऐसा न होने पर व्यक्ति को निर्धारित जुर्माना चुकाना होता है। इस आय के अलावा मेलों में आने वाली दूकानों से भी किराया लिया जाता है। कभी-कभी पंचायत समितियों द्वारा हाट लगाकर भी आय प्राप्त की जा सकती है।

पंचायतों की आय का एक भाग न्यायालय शुल्क के रूप में भी होता है। न्याय पंचायत जिन मामलों को सुनती हैं तथा निपटाती हैं उन पर वे

मुद्रांक लगाती हैं । 'न्याय पचायत' शब्द से युक्त ये न्यायालय मुद्रांक उपयुक्त कीमत पर दिये जाते हैं । इस प्रकार से वसूल किया गया धन पंचायत को भेजा जाता है । यदि कोई व्यक्ति न्याय पचायत या ग्राम पंचायत की पंजिका, पुस्तक या अभिलेख का निरीक्षण या तलाशी करना चाहे तो इस पर निर्धा–रित शुल्क लिया जाता है । अविलम्ब निरीक्षण करना हो तो शुल्क की मात्रा दुगुनी हो जायेगी । यदि आवेदित निरीक्षण या तलाशी निषिद्ध हो अथवा सार्वजनिक हित के विपरीत हो तो अधिकारी इस संबंध में आज्ञा प्रदान नहीं करता । यदि आवेदित अभिलेख की प्रतिलिपि लेने में भी आवेदक इच्छुक हो तो उसे शब्दों के आधार पर आवश्यक शुल्क जमा कराना होगा ।

पचायती राज संस्थाओं की आय के कुछ अन्य छोटे-मोटे साधन भी हैं । इनमें कुछ कर, शुल्क एवं अर्थ-दण्ड उल्लेखनीय हैं । करों में शुद्ध भोजन कर, तेल के इंजन पर कर, आगजनी से रक्षा संबंधी कर, मत्स्य कर आदि हैं । शुल्कों में अनुज्ञा–पत्र शुल्क जैसे मृत जानवरों की खाल एवं हड्डियां एकत्रण, भयंकर एवं घृणास्पद व्यापार, चाय की दुकान या होटल, सार्वजनिक भूमि का उपयोग ग्रामीण आम्यान आदि हैं । अर्थ दण्ड में, न्यायालय संबंधी, अनुज्ञा-पत्र न लेने पर, निषेधित वस्तुओं के व्यापार पर अथवा किसी नियम या अधिनियम के उल्लंघन पर ।

तीर्थ स्थानों पर जो कर लगाया जाता है वह स्थानीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है । तीर्थ स्थानों के केन्द्र विभिन्न स्थानों पर होते हैं तथा वे निकट एवं दूर के लोगों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित करते हैं । ऐसे कई एक केन्द्र है जो कि एक पंचायत क्षेत्र में स्थित होते हुए भी दूर दूर की जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं । अतः सादिकअली समिति ने यह सुझाव दिया था कि प्रति वर्ष आने वाले तीर्थ यात्रियों की संख्या के आधार पर तीर्थस्थानों को पंचायत, पचायत समिति एवं जिला परिषद के बीच वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिये । इस वर्गीकरण के आधार पर ही यथोचित संस्था को तीर्थ-स्थान सम्बन्धी कर लगाने का अधिकार दिया जाये ।

करों के भागीदार [Sharing of Taxes]—करों को पचायती राज संस्थाओं के बीच किस प्रकार बांटा जायेगा इस सम्बन्ध में अभी तक कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है । सादिक अली समिति का विचार था कि यदि इन करों को संस्थाओं के बीच विभाजीकृत कर दिया जाये तो अधिक कर उगाही के प्रयास किए जायेंगे । समिति ने इस संबंध में कई सुझाव प्रस्तुत किये थे । प्रथम, जहां कर को पंचायत द्वारा लिया जा रहा है वह कर पूर्ण तरह पचा-यत को ही प्राप्त होना चाहिए । दूसरे, जो कर पंचायत समिति द्वारा लगाया जाता है उससे आय पचायत समिति एवं पचायत के बीच ७५.२५ के अनु-पात से बट जानी चाहिये । तीसरे, जो कर जिला परिषद द्वारा लिये या लगाये जाते है पचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद—तीनों ही संस्थाओं में बट जाने चाहिये । इस विभाजन का अनुपात ३०:३०:४० होगा । जब कर का विभाजन उच्च संस्था एवं निम्न संस्था के बीच किया जा रहा है तो प्राप्त धन को निम्न संस्थाओं में वितरित करते समय जनसंख्या का ध्यान रखा जाना चाहिये ।

सीमा २५० रु. वार्षिक रखी गई है। राज्य सरकार द्वारा कर की छूट भी दी जा सकती है।

(B) आय के अन्य स्रोत [Other Sources of Income]—भारत के गांवों की हालत अत्यन्त पिछड़ी हुई है। यहां के निवासियों की आर्थिक स्थिति एवं रहन सहन के निम्न स्तर को देखते हुए ग्राम पंचायतें उनके विकास की विभिन्न योजनाएं बनाती हैं। ग्राम पंचायत में बहुमत द्वारा एक संकल्प पास करके पचायत क्षेत्र में सार्वजनिक उपयोगिता के किसी निर्माण-कार्य को प्रारंभ किया जा सकता है। ऐसा निर्माण कार्य प्रारंभ करते समय पंचायत को यह अधिकार मिल जाता है कि वह प्रत्येक वयस्क के शारीरिक श्रम को आवश्यक बना दे। शारीरिक या मानसिक स्थिति से कमजोर एवं असमर्थ व्यक्तियों को इस प्रकार के कार्य से मुक्त किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति शारीरिक श्रमदान न देना चाहे तो उसे कर-दान के रूप में इस कमी को पूरा करना होगा।

पंचायतों को कांजी-होस से भी पर्याप्त आय मिलती है जिसका कि वे अपने राजस्व की वृद्धि में उपयोग करती हैं। यदि किसी निजी पालतू पशु द्वारा किसी की व्यक्तिगत भूमि अथवा फसल के खेत में अनधिकृत रूप से प्रवेश करके उसे नुकसान पहुंचाया गया है अथवा यह सार्वजनिक सड़कों, मनोरंजन के स्थानों नहरों, बांधों आदि पर भटकता हुआ पाया गया है तो उसे कांजी-होस में बंद किया जा सकता है। वहां उसके भरण-पोषण का व्यय पंचायत द्वारा उठाया जाता है और यदि एक निश्चित समय तक उसका स्वामी उसे छुड़ाकर न ले जाय तो वह नीलाम कर दिया जाता है। कांजी-होस से प्राप्त होने वाली आय के तीन तरीके हैं--या तो पशु के स्वामी पर दण्ड के रूप में धन की कुछ मात्रा निश्चित की जा सकती है या उससे पशुओं को खिलाने-पिलाने में व्यय की गई राशि भी वसूल की जा सकेगी अथवा जानवरों को बेचने में जो समय, श्रम एवं खर्चा हुआ वह भी वसूल किया जा सकता है।

मेले एवं त्यौहारों से भी पंचायती राज संस्थाओं को कुछ आय हो जाती है। पंचायतों द्वारा मेले एवं त्यौहार से सम्बन्धित उत्सवों को मनाने का स्थान नियत कर दिया जाता है और उस स्थान का उपयोग करने वालों से यह कर लेती है। उस स्थान की सीमा में प्रवेश एवं निष्कासन की जांच के लिए अलग से एक संस्था निर्धारित कर दी जाती है। इस संस्था द्वारा जब स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है तभी किसी विक्रेता या सौदागर को मेले की सीमा में प्रवेश पाने दिया जाता है। पशु-मेलों में जो पशुओं की खरीददारी करते हैं वे लोग शुल्क देने के बाद खरीद को पंजीकृत कराते हैं और रवानगी की रसीद प्राप्त करते हैं। इस रसीद के आधार पर ही उनको बाहर निकलने की अनुमति दी जाती है। ऐसा न होने पर व्यक्ति को निर्धारित जुर्माना चुकाना होता है। इस आय के अलावा मेलों में आने वाली दूकानों से भी किराया लिया जाता है। कभी-कभी पंचायत समितियों द्वारा हाट लगाकर भी आय प्राप्त की जा सकती है।

पंचायतों की आय का एक भाग न्यायालय शुल्क के रूप में भी होता है। न्याय पंचायत जिन मामलों को सुनती हैं तथा निपटाती हैं उन पर वे

मुद्रांक लगाती हैं। 'न्याय पचायत' शब्द से युक्त ये न्यायालय मुद्रांक उपयुक्त कीमत पर दिये जाते हैं। इस प्रकार से वसूल किया गया धन पंचायत को भेजा जाता है। यदि कोई व्यक्ति न्याय पंचायत या ग्राम पंचायत की पंजिका, पुस्तक या अभिलेख का निरीक्षण या तलाशी करना चाहे तो इस पर निर्धारित शुल्क लिया जाता है। अविलम्ब निरीक्षण करना हो तो शुल्क की मात्रा दुगुनी हो जायेगी। यदि आवेदित निरीक्षण या तलाशी निषिद्ध हो अथवा सार्वजनिक हित के विपरीत हो तो अधिकारी इस संबंध में आज्ञा प्रदान नहीं करता। यदि आवेदित अभिलेख की प्रतिलिपि लेने में भी आवेदक इच्छुक हो तो उसे शब्दों के आधार पर आवश्यक शुल्क जमा कराना होगा।

पंचायती राज संस्थाओं की आय के कुछ अन्य छोटे-मोटे साधन भी हैं। इनमें कुछ कर, शुल्क एवं अर्थ-दण्ड उल्लेखनीय हैं। करों में शुद्ध भोजन कर, तेल के इंजन पर कर, आगजनी से रक्षा संबंधी कर, मत्स्य कर आदि हैं। शुल्कों में अनुज्ञा-पत्र शुल्क जैसे मृत जानवरों की खाल एवं हड्डियां एकत्रण, भयंकर एवं घृणास्पद व्यापार, चाय की दूकान या होटल, सार्वजनिक भूमि का उपयोग ग्रामीण आस्थान आदि हैं। अर्थ दण्ड में, न्यायालय संबंधी, अनुज्ञा-पत्र न लेने पर, निषेधित वस्तुओं के व्यापार पर अथवा किसी नियम या अधिनियम के उल्लंघन पर।

तीर्थ स्थानों पर जो कर लगाया जाता है वह स्थानीय दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। तीर्थ स्थानों के केन्द्र विभिन्न स्थानों पर होते हैं तथा वे निकट एवं दूर के लोगों का पर्याप्त ध्यान आकर्षित करते हैं। ऐसे कई एक केन्द्र हैं जो कि एक पंचायत क्षेत्र में स्थित होते हुए भी दूर-दूर की जनता को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। अतः सादिकअली समिति ने यह सुझाव दिया था कि प्रति वर्ष आने वाले तीर्थ यात्रियों की सख्या के आधार पर तीर्थस्थानों को पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद के बीच वर्गीकृत कर दिया जाना चाहिये। इस वर्गीकरण के आधार पर ही यथोचित संस्था को तीर्थ-स्थान सम्बन्धी कर लगाने का अधिकार दिया जाये।

करों के भागीदार [Sharing of Taxes]—करों को पंचायती राज सस्थाओं के बीच किस प्रकार बांटा जायेगा इस सम्बन्ध में अभी तक कोई स्पष्ट प्रावधान नहीं है। सादिक अली समिति का विचार था कि यदि इन करों को संस्थाओं के बीच विभागीकृत कर दिया जाये तो अधिक कर उगाही के प्रयास किए जायेंगे। समिति ने इस सबंध में कई सुझाव प्रस्तुत किये थे। प्रथम, जहां कर को पंचायत द्वारा लिया जा रहा है वह कर पूरी तरह पंचायत को ही प्राप्त होना चाहिए। दूसरे, जो कर पंचायत समिति द्वारा लगाया जाता है उसकी आय पंचायत समिति एवं पचायत के बीच ७५.२५ के अनुपात में बंट जानी चाहिये। तीसरे, जो कर जिला परिषद द्वारा लिये या लगाये जायें वे पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद—तीनों ही संस्थाओं मे बंट जाने चाहिये। इस विभाजन का अनुपात ३०:३०:४० होगा। जब कर का विभाजन उच्च सस्था एवं निम्न संस्था के बीच किया जा रहा है तो प्राप्त धन को निम्न संस्थाओं में वितरित करते समय जनसंख्या का ध्यान रखा जाना चाहिये।

करारोपण की शक्तियां [Powers for Tax Imposition]—पंचायती राज संस्थाओं से संबंधित कर नीति के बारे में दो बातों का मुख्य रूप से ध्यान रखना है। प्रथम तो यह कि कर लगाने वाली संस्था दूरस्थ भी हो, जैसे कि जिला परिषद है और दूसरे, इस व्यवस्था में पंचायत समिति का उत्साह एवं पहल की शक्ति भी समाप्त न हो जाये। पंचायतों को तो कुछ करों के संबंध में पूर्ण सत्ता सौंपी गई है। वे गृहकर, वाहन कर एवं चुंगी आदि पर एकाधिकार रखते हैं।

मनोरंजन कर एवं भू-राजस्व के साथ कर को आवश्यक बना दिया गया है जिसकी मात्रा ५ प्रतिशत होगी। कई एक करों पर जिला परिषद एवं पंचायत समिति को समवर्ती शक्तियां दी गई हैं। ये कर हैं व्यवसाय कर, स्टाम्प आदि पर कर, वाणिज्यिक फसल पर कर, शिक्षा कर, भू-राजस्व कर आदि।

जिन करों पर पंचायत समिति एवं जिला परिषद दोनों को ही समान अधिकार है उसे एक ही साथ दोनों निकायों द्वारा नहीं लगाया जा सकता। यदि एक कर पंचायत समिति द्वारा लगा दिया गया है और उसी कर को जिला परिषद पूरे जिले पर लगा देती है तो पंचायत समिति की दरें उस क्षेत्र पर लागू रहेगी और उस विशेष पंचायत समिति क्षेत्र की उस कर से प्राप्त आय पंचायत समिति को ही जायेगी तथा उसका कोई भी भाग जिला परिषद को नहीं दिया जायेगा। सादिकअली समिति ने करों की शक्तियों के सम्बन्ध में अपनी जो सिफारिशें प्रस्तुत की हैं वे समिति के परिशिष्ठ xxxiii में निम्न प्रकार वर्णित की गई हैं—

Institution	Taxes which may be imposed	Sharing
Gram Panchayat :	1. House Tax 2. Vehicle Tax (Compulsory) 3. Tax on fairs and markets 4. Pilgrim Tax	No Sharing
Nagar Panchayat :	1. House Tax (Compulsory) 2. Vehicle Tax (Compulsory) 3. Octroi 4. Tax on fairs and markets 5. Pilgrim Tax	No Sharin
Panchayat Samiti :	1. Entertainment Tax (Compulsory) 2. Surcharge on Stamp duty	Between Panchayat Samiti and

Institution	Taxes which may be imposed	Sharing
Panchayat Simiti	3. Tax on commercial crops. 4. Tax on fairs and markets 5. Pilgrim Tax	Panchayat in the ratio of 75·25
	6. Education cess	No Sharing
	7. Cess on Land revenue (compulsory at 5% optional at higher rates)	No Sharing in respect of compulsory cess at 5%. cess at enhanced rate to be shared by Panchayat Samiti and Panchayat in the ratio of 2:1
Zila Parishad	: 1. Profession Tax (Compulsory)	
	2. Surcharge on Stamp duty 3. Tax on commercial crops 4. Tax on fairs and markets 5. Pilgrim Tax	Between Zila Parishad, Panchayat Samiti & Panchayat in the ratio of 40:30:30
	6. Education cess	Between Zila Parishad and Panchayat Samiti in the ratio of 1:2
	7. Cess on land Revenue at enhanced rate over 5%	Between Zila Parishad, Panchayat Samiti and Panchayat in the ratio of 2:2:1

करों की उगाही [Realisation of Taxes]—करों के सम्बन्ध में सबसे अधिक असंतोषजनक बात यह रहती है कि उनको लगा तो दिया जाता है किन्तु उगाया नहीं जाता। सादिक अली समिति ने अपने अध्ययन के आधार पर बताया कि पंचायत समितियां जो कर लगाती हैं उनमें से केवल आधे करों को ही वे उगाह पाती हैं। पंचायतों की स्थिति इससे भी अधिक खराब रहती है। पंचायत समिति के करों को लेने वाला यन्त्र राजस्व अभिकरण होता है जबकि पंचायतें अपने करों की उगाही स्वयं ही करती हैं।

पंचायती राज संस्थाओं के कर धीमी गति से क्यों उगाहे जाते हैं इसके कारणों का उल्लेख सादिक अली समिति द्वारा किया गया है। समिति के मतानुसार ये कारण निम्न प्रकार हैं—

१. करों के प्रति जनता की प्रतिक्रिया सामान्यतः समर्थनपूर्ण नहीं होती, विशेष रूप से उस समय जबकि करों को प्रदान किये गये लाभों के साथ जोड़ कर नहीं दिखाया जाता।

२. कई बार करों का मूल्यांकन गलत रूप में कर दिया जाता है परिणामस्वरूप उनकी उगाही में समय लग जाता है।

३. राजस्व अधिकारी पंचायत समिति के करों को इकट्ठा करने में रुचि नहीं लेते।

४. पंचायत के पास कर इकट्ठा करने वाला कोई यंत्र नहीं है। परिणाम स्वरूप पंचायतें या तो अपनी शक्तियों का प्रयोग ही नहीं करतीं और यदि करना भी चाहती हैं तो पुलिस एव राजस्व विभाग की सहायता की आवश्यकता के कारण नहीं करतीं।

इन सभी कारणों को दूर करने एवं कुछ विधायी कदम उठाने के लिए प्रयास करना परम आवश्यक है। यह कहा जाता है कि पंचायत समिति के अधिकारी पंचायत समिति के करों को उगाहने में इसलिए रुचि नहीं लेते क्योंकि इसके लिए उनको कोई आर्थिक लाभ प्राप्त नहीं होता। आजकल कर उगाहने के लिए पटवारियों को कुछ कमीशन देने की व्यवस्था की गई है। वैसे पंचायती राज संस्थाओं द्वारा लगाये गये करों को राजस्व अभिकरणों द्वारा ही अच्छी प्रकार से संग्रहित किया जा सकता है। चुंगीकर मेलों एवं बाजारों पर कर, तथा तीर्थ स्थान पर कर आदि को उन्हीं संस्थाओं द्वारा उगाया जाना चाहिए जो कि इनको लगायें। कर दाताओं को कर देने के लिए प्रोत्साहित करने के हेतु सादिक अली समिति ने सुझाया था कि जो लोग समय पर कर न दें उन पर ५ प्रतिशत अतिरिक्त दण्ड के रूप में लगा दिया जाये अथवा जो समय पर दे दें उनके योग में से ५ प्रतिशत को काट लिया जाये। बाद वाला विकल्प अधिक उपयुक्त है।

गैर-कर राजस्व [Non-Tax Revenues]—यद्यपि राजस्व एकत्रित करने के साधन के रूप में 'कर' एक महत्वपूर्ण तरीका है किन्तु इसकी अपनी कुछ सीमायें हैं। अतः यह जरूरी है कि पंचायती राज संस्थाओं की आय के लिए गैर-कर स्रोतों का विकास किया जाये। पंचायतों, पचायत समितियों एवं जिला परिषदों को गैर-कर वाले स्रोतों को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया जाये। इन संस्थाओं को कोई नियमित आमदनी वाला कार्य प्रारम्भ करने में पूरी सहायता दी जानी चाहिए। सादिक अली समिति ने इस प्रकार के स्रोतों की वृद्धि के लिए कई एक उपायों की सिफारिश की थी।

प्रथम, समिति ने बताया कि आबादी भूमि की बिक्री से पंचायती राज संस्थाओं को पर्याप्त आय प्राप्त हो सकती है। आबादी भूमि अब भी पंचायतों के पास ही रहती है। कई एक पंचायतों ने एक निश्चित योजना के अनुसार आबादी भूमि की बिक्री करके पर्याप्त आमदनी की है। किन्तु अन्य पंचायतों ने इस भूमि को बहुत कम दामों में बेच दिया है जब कि उनके

आसपास की भूमि के दाम काफी थे। सादिक अली समिति ने बताया कि आबादी भूमि की बिक्री एक योजनाबद्ध तरीके से करनी चाहिए। सभी गांवों के लिए एक मास्टर प्लान बनाया जाए। यदि कोई पंचायत प्रार्थना करे तो ओवरसीयर या सहायक अभियन्ता की सेवाओं का पंचायत समिति या जिला परिषद द्वारा प्रबन्ध किया जाना चाहिए। आबादी भूमि की बिक्री द्वारा जो पूंजी प्राप्त हो उसका उपयोग करने के लिए नियम बनाए जाने चाहिए।

दूसरे, राजस्थान आदि राज्यों में मवेशियों के तालाबों को भी पंचायतों को सौंप दिया गया। प्रायः सभी पंचायतों में उनके मवेशियों के तालाब हैं और वे उनसे होने वाली आय को ग्रहण करती हैं। इन तालाबों से प्राप्त धन का अभिलेख एवं लेखा रखने तथा प्रवन्ध करने में अनियमितताओं की अनेक शिकायतें प्राप्त हुई हैं अतः निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण को अधिक प्रभावशील बनाने की आवश्यकता है।

तीसरे, अनेक पंचायतों को कृषि के लिए दस एकड़ भूमि प्रदान की गई है। जिन पंचायतों को अभी तक कोई भूमि नहीं दी गई है उन्हें भूमि दी जानी चाहिए। कुछ पचायतों ने इस भूमि का उपयोग करते हुए उससे वड़ी अच्छी आमदनी प्राप्त की है जब कि अन्य अनेक पंचायतों को राजस्व के स्रोत का विकास करना बाकी है। समिति ने सुझाया कि जहां अधिक हो सके वहां पन्द्रह एकड़ तक भूमि पंचायतों को दी जानी चाहिए। इस भूमि के विकास के लिए सरकार द्वारा विशेष सहायता भी प्राप्त की जानी चाहिए।

चौथे, जिन पोखरों एवं तालाबों में मछलियां होती हैं वहां मछली पकड़ना पंचायत का एक मुख्य स्रोत बन जाता है।

पांचवें, गांवों में कुछ जमीन को चारागाह भूमि घोषित कर दिया जाता है जो कि प्राकृतिक रूप से विकसित होती है और पंचायतों की आय का एक साधन बन जाती है। पंचायतें चारागाह भूमि का विकास कर सकती हैं तथा उससे पैदा होने वाली चीजों को या पेड़ आदि को बेच सकती हैं।

छठे, ग्राम पंचायतों की आय का एक अन्य स्रोत वह भूमि भी हो सकती है जो कि कृषि के काम नहीं आती और बेकार पड़ी है। ऐसी भूमि पंचायतों को हस्तान्तरित कर दी जानी चाहिए। इन भूमियों से उत्पन्न होने वाले प्राकृतिक पदार्थों एवं पेड़ पौधों के द्वारा पंचायतें पर्याप्त आय कर सकती हैं। पंचायतों को यह अधिकार होना चाहिए कि वे विना स्वामी वाली जमीन से या चारागाह भूमि से जलाने के लिए या लकड़ी निकालने के लिए पेड़ों को काट सकें। पेडों को काटने के व्यवहार को नियमित करने के लिए नियम बनाए जाने चाहिए। इस प्रकार के अधिकार मिलने के बाद पंचायतें बेकार की भूमि पर अधिक पेड उगाने के लिए प्रोत्साहित होंगी।

सातवें, पंचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषदों को सम्पत्ति का स्वामित्व करने का अधिकार होना चाहिए। इन्हें यह अधिकार हो कि वे अपनी दुकानें बाजार, होटल, सिनेमाघर, ट्रेक्टर, ट्रक आदि आमदनीपूर्ण वस्तुओं का उपयोग करके आय को बढ़ा सकें। यदि पंचायत या पंचायत समिति के पास खुद का ट्रेक्टर होगा तो वह उस संस्था की सेवा करने के अतिरिक्त जनता के लिए भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा।

आठवें, हड्डियों के संग्रह का ठेका भी पंचायत समितियों की आय का एक मुख्य साधन है। जहां कहीं ऐसे कार्य के लिए ठेकेदार सामने न आए वहां स्वयं पंचायत समिति इनका प्रबन्ध कर सकती है।

नवें, पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों को इस बात के लिए पर्याप्त सुविधा मिलनी चाहिए कि वे छोटे स्तर के उद्योग संचालित कर सकें। जिला परिषद को अपेक्षाकृत बड़े आकार के उद्यम सौंपे जा सकते हैं। पंचायती राज संस्थाओं को देहाती क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र का विकास करना चाहिए।

दसवें, पंचायत एवं पंचायत समितियों द्वारा फलोंके बाग तथा सब्जियों के बगीचे लगाए जा सकते हैं। बड़े नगरों एव कस्बों के निकट की पंचायत एवं पंचायत समितियों को इस योजना से पर्याप्त लाभ मिलेगा।

(C) **अनुदान द्वारा प्राप्त आमदनी (The Income Receipt through Grants**—पंचायती राज संस्थाओं की वित्तीय व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए यद्यपि उन्हें अनेक आय के स्रोत सौंपे गए हैं किन्तु फिर भी उनकी वित्तीय अवस्था इतनी संतोषजनक नहीं है कि उसे आत्मनिर्भर कहा जा सके। कई कारणों से इन संस्थाओं को राज्य द्वारा दिए जाने वाले अनुदान पर निर्भर रहने के लिए मजबूर होना पड़ता है। पंचायती राज संस्थाओं को अनुदान तथा सहायता अनुदान किसी व्यक्ति विशेष, सरकार अथवा एक संस्था से प्राप्त हो सकता है। पंचायती राज संस्थाओं के कार्यक्षेत्र बढ़ जाने के कारण यह अनिवार्य हो गया है कि राज्य सरकार द्वारा उनके सीमित साधनों की कमी को पूरा किया जाए। अनुदान को राज्य सरकार एवं स्थानीय संस्थाओं के पारस्परिक सम्बन्ध का एक माध्यम कहा जाता है। अनुदान का मुख्य उद्देश्य इन संस्थाओं की वित्तीय स्थिति को सुधारना और इनके योजना-बद्ध विकास तथा अन्य कार्यक्रमों में सहयोग प्रदान करना है। अनुदान की व्यवस्था का कई कारणों से समर्थन किया गया है। प्रथम यह कि अनुदान की व्यवस्था द्वारा विभिन्न स्थानीय संस्थाओं में पारस्परिक वित्तीय निकटता लाई जाती है। इसके द्वारा स्थानीय संस्थाओं के कर भार में भी एकरूपता लाई जा सकती है। यदि अनुदान की व्यवस्था न हो तो अनेक नगरपालिकाएं कर्जे के भार से दब कर समाप्त हो जाएगीं। इसके अतिरिक्त जब क्षेत्र की वित्तीय स्थिति स्वस्थ नहीं रहती तो उसके कारण सभी विकास कार्यक्रम अधूरे रह जाते हैं। इस सब का जनसाधारण की भावना एवं जीवन-स्तर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। वित्तीय सत्ता के अतिरिक्त कर भार को राज्य सरकार द्वारा अनुदान के सहारे कम किया जा सकता है। दूसरे जब राज्य सरकार द्वारा स्थानीय संस्थाओं को जो सुझाव दिए जाते हैं वे उस समय तक महत्वहीन होते हैं जब तक कि अनुदान के रूप में उन्हें सम्पन्न करने के लिए आज्ञा न दी जाए। अनुदान के बिना नीतिबद्ध प्रशासनिक कार्यों में दक्षता नहीं लाई जा सकती। तीसरे, अनुदान के सहारे केन्द्रीय सत्ता राष्ट्रीय नीति को क्रियान्वित करने के लिए कदम उठा सकती है। साथ ही वह अपने अनुभव, ज्ञान, एवं दृष्टिकोण को अपनाने के लिए स्थानीय सत्ताओं को प्रभावित कर सकती है।

कुछ लोग अनुदान का विरोध भी करते हैं। उनके मतानुसार यह स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं के कार्यों में राज्य सरकार के अनुचित हस्तक्षेप को जन्म देता है। साथ ही इस प्रकार से राज्य सरकार स्वायत्त सरकार के मार्ग में एक बाधा बनती है।

राजस्थान में पंचायतों को लगभग ३७ लाख रुपये प्रतिवर्ष सहायता अनुदान प्राप्त होता है। यहां राज्य सरकार अपनी कुल आय के १/६ भाग से भी ज्यादा को पंचायती राज संस्थाओं के माध्यम से खर्च करती है।

अनुदान के सम्बन्ध में प्रावधान बनाते समय विभिन्न राज्यों ने जिन बातों को ध्यान में रखा है उनका उल्लेख किया जाना उपयोगी रहेगा। प्रथम, मद्रास एव महाराष्ट्र आदि राज्यों में अनुदान की मात्रा को क्रमशः गृह कर एवं भू-राजस्व की मात्रा के साथ जोड़ दिया गया है। इस व्यवस्था से लाभ यह होता है कि आय के अनुपात में अनुदान इन संस्थाओं को अधिक से अधिक धन एकत्रित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। दूसरे, मद्रास में यह व्यवस्था है कि वहां पंचायती राज संस्थाएं धन को योजनाओं पर व्यय कर देती हैं और बाद में अनुदान की मांग प्रस्तुत करती हैं। इस प्रक्रिया में धन का दुरुपयोग होने की सम्भावनाएं कम रहती हैं। तीसरे जब अनुदान की मात्रा को जनता के सहयोग के अनुपात से सम्बद्ध कर दिया जाता है तो क्षेत्रीयता की भावनाएं उभरती हैं। चौथे, जब उच्चतम भौतिक उपलब्धियों तथा निर्विरोध चुनाव पर अनुदान देने की व्यवस्था की जाती है तो इन संस्थाओं के बीच एक स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना जागृत होती है।

सादिक अली समिति ने राजस्थान में पंचायत समितियों को दिए जाने वाले अनुदान की व्यवस्था मे जो कमियां एवं दोष पाए, वे निम्नलिखित हैं—

१. जो धन दिया जाता है वह किसी विशेष कार्यक्रम के लिए दिया जाता है और पंचायत समितियों को उस अनुदान के प्रयोग के सम्बन्ध में कोई स्वेच्छा नहीं दी जाती। सामुदायिक विकास कोष के सम्बन्ध में पंचायत समितियों को कुछ स्वेच्छा का अधिकार दिया गया है किन्तु यह भी अनेक शर्तों से प्रतिबन्धित है। अन्य हस्तान्तरित कार्यक्रमों के सम्बन्ध में पंचायत समितियो को मुश्किल से ही स्वेच्छा का अधिकार रहता है।

२. स्थानीय आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के अनुसार जब स्वेच्छा एवं पुनर्विनियोग की स्वतन्त्रता नहीं दी जाती और धन देने में तथा उसका उपयोग करने में जो कठोरता बर्ती जाती है उसके परिणामस्वरूप इन संस्थाओं की पहल करने की शक्ति समाप्त हो जाती है। इसके परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि पंचायत समितियों के पास एक शीर्षक के अन्तर्गत ऐसा धन बचा रहता है जिनका उपयोग नहीं किया गया जबकि दूसरे शीर्षक के अधीन धन की मांग रहती है और वह घाटे में चलता है। इस प्रकार पंचायत समितियां अपने पास के धन का पूरा-पूरा उपयोग नहीं कर पातीं।

३. अनुदान का जो आर्थिक कार्यक्रम इस समय अपनाया जा रहा है उसमें निम्न स्तर पर नियोजन के लिए बहुत कम गुंजाइश है। जब पंचायत समितियां प्राप्त धन का स्थानीय परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार

उपयोग नहीं कर पातीं तो नियोजन की प्रक्रिया अवास्तविक बन जाती है। निम्न स्तर पर नियोजन की प्रक्रिया केवल तभी वास्तविक बन सकती है जब कि स्थानीय संस्थाओं को राष्ट्रीय एवं राज्य की प्राथमिकताओं की व्यापक सीमा में रह कर अपने अनुदान का प्रयोग करने की स्वतन्त्रता होगी।

४. वर्तमान व्यवस्था लेखों की एक उलझी हुई व्यवस्था को उत्पन्न करती है जिसमें कि अनेक शीर्षक और उपशीर्षक होते हैं जो कि एक भ्रम-पूर्ण तस्वीर सामने रखते हैं।

५. विभिन्न हस्तान्तरित कार्यक्रमों के लिए दिया गया धन विभागों द्वारा निश्चित किया जाता है जो कि हमेशा पर्याप्त नहीं रहता। यह कहा जाता है कि इस निर्धारण में स्थानीय आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों को पर्याप्त ध्यान से नहीं देखा जाता।

६. सामुदायिक विकास के लिए दिया गया धन स्तर के अनुसार बद-लता रहता है। सामुदायिक विकास खण्डों का सम्बन्ध पूरे क्षेत्र से रहता है अत: सभी खण्डों के लिए स्थापन एवं कम से कम अनुदान का एकसा ही तरीका प्रदान किया जाना चाहिए।

अधिकांश विचारकों का यह मत है कि स्थानीय निकायों को जो धन दिया जाये उसका उपयोग करने की उनको पर्याप्त स्वेच्छा प्रदान की जानी चाहिए। यह भी कहा जाता है कि अनुदान का एक जैसा तरीका भी विकसित किया जाये। संस्थाओं को यह पहले से ही अनुमान लगा लेना चाहिए कि उनको आगामी वर्ष में क्या दिया जायेगा; अर्थात् धन प्रदान करने के बारे में कुछ निश्चितता होनी चाहिए। धन प्रदान करने की प्रक्रिया भी साधारण होनी चाहिए, उसमें उलझनें नहीं होनी चाहिए।

विभिन्न राज्यों में अनुदान की व्यवस्था का अध्ययन करने के बाद यह ज्ञात हो जाता है कि इस प्रकार दिये गये धन के दुरुपयोग को रोकने के लिए राज्य सरकार द्वारा पर्याप्त व्यवस्था की जाती है। आन्ध्र-प्रदेश में अनुदान की स्वीकृति देने से पूर्व मांगों का अच्छी प्रकार से परीक्षण कर लिया जाता है। उड़ीसा राज्य में आखिरी किश्त का भुगतान करने से पूर्व व्यय को भली प्रकार जांच लिया जाता है। राजस्थान, उत्तर प्रदेश एवं पंजाब आदि राज्यों में माहवारी लेखे मांग कर उन पर नियन्त्रण किया जाता है। राजस्थान एवं आसाम आदि राज्यों में व्यय से सम्बन्धित प्रमाण-पत्र भी मांगा जाता है।

अनुदान की राशि में से उपयोग में आने के बाद जो शेष धन बच जाता है उसका उपयोग किस प्रकार किया जाये यह भी एक समस्या रहती है। इस सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों में अलग-अलग प्रकार का व्यवहार किया जाता है। मैसूर, पंजाब, उत्तर प्रदेश, गुजरात, पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों में अनुदान की राशि में से बचे हुए धन को अगले वर्ष काम में लाया जा सकता है। आसाम में यह व्यवस्था है कि वहां जब किसी विशेष प्रयोजन के लिए अनुदान दिया जाता है और वह प्रयोजन पूरा होने के बाद भी धन बच रहता है तो उसे अन्य कार्य के लिए हस्तांतरित कर दिया जाता है अथवा उसे अगले वर्ष काम में लाया जाता है। स्थानीय सड़कों आदि से सम्बन्धित जो वैधानिक अनुदान दिया जाता है उसकी बची राशि को अगले वर्ष काम में

लाया जा सकता है। आन्ध्र प्रदेश में यह व्यवस्था है कि अनुदान द्वारा प्रदान किये गये धन को बारह माह के भीतर ही काम में लेना होता है। इसके बाद वह प्रत्यर्पित हो जाती है। उड़ीसा में पंचायत समितियाँ इस राशि को अगले वर्ष भी काम में ला सकती हैं।

राजस्थान पंचायती राज संस्थाओं के प्रसंग में अनुदान सम्बन्धी दोषों एवं कठिनाइयों पर विचार करने के बाद सादिक अली समिति ने कुछ सुझाव प्रदान किये ताकि वित्तीय व्यवस्था को एक नये रूप में विकसित किया जा सके। समिति ने सुझाया कि अनुदान की उन मदों को, जिनका सम्बन्ध उन सभी क्षेत्रों के सामान्य कार्यों एवं क्रियाओं से है जिनमें कि धन को एक अध्यक्ष से दूसरे में स्थानान्तरित करना उपयोगी रहेगा, एक साथ ही रखा जाना चाहिए तथा एकरूपता के आधार पर उनको वितरित करना चाहिए। दूसरे, जो अनुदान कुछ निश्चित वर्गों एवं क्षेत्रों से ही सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं तथा कार्यक्रमों पर दिये जाते हैं उनको विशेषीकृत सिद्धान्तों के आधार पर दिया जाना चाहिए। तीसरे, संस्थाओं को जब शिक्षा सम्बन्धी धन दिया जाये तो उसे एक जैसे आधार पर 'शिक्षा अनुदान' के रूप दिया जाना चाहिए क्योंकि शिक्षा एक महत्वपूर्ण क्रिया है और पंचायती राज संस्थाओं के कुल व्यय का एक तिहाई भाग इस पर खर्च होता है।

उद्देश्य की दृष्टि से पंचायती राज संस्थाओं को प्राप्त अनुदान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सामान्य विकास अनुदान एव विशेष अनुदान।

सामान्य विकास अनुदान (General development grant)—सामान्य प्रशासन अथवा विकास के लिये पंचायती राज संस्थाओं को अनुदान प्रदान किये जाते हैं। सादिक अली समिति के कथनानुसार उस समय राज्य सरकार द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को दस या ग्यारह करोड रुपये प्रति वर्ष दिये जाते थे, इनमें से ९०% पचायत समितियों को प्राप्त होता था। राज्य सरकारों ने पंचायतों को कुल अनुदान ३६ लाख रुपये प्रति वर्ष दिया। समिति के मतानुसार यह मात्रा अत्यन्त कम थी तथा पंचायतों को शक्तिशाली बनाने के लिये यह मात्रा और अधिक होनी चाहिए थी। सन्थानम् समिति ने एक रुपया प्रति व्यक्ति के हिसाब से यह अनुदान देने की बात कही थी। सादिक अली समिति ने भी इस सुझाव का समर्थन किया। उसने यह भी कहा कि जब यह अनुदान दिया जाये तो राज्य सरकार एवं केन्द्र सरकार दोनों को ही योगदान करना चाहिये।

पंचायत को अपने सचिव पर जो व्यय करना पड़ता है वह उसे अपने विकास अनुदान में से करना चाहिये। यदि पंचायत को राज्य सरकार द्वारा प्रदत्त किसी सचिवालयी सहायता की आवश्यकता हो तो उसका व्यय पंचायत को दिये जाने वाले अनुदान में से कम कर लेना चाहिये।

पंचायत समितियों को सबसे अधिक अनुदान सामुदायिक विकास एवं राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं वाले शीर्ष में दिया जाता है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य अनुदान भी होते हैं जो कि विभागों द्वारा इनको हस्तांतरित किये जाते हैं। इस प्रकार पचायत समितियों को कुल मिला कर लगभग ३२० करोड़

रुपये वार्षिक अनुदान के रूप में प्राप्त हो जाते हैं। सादिक अली समिति ने सुझाया था कि प्रत्येक पंचायत समिति को २/- प्रति व्यक्ति के हिसाब से अनुदान दिया जाना चाहिये तथा इसको सामान्य विकास अनुदान कहा जाना चाहिये। यह अनुदान एकरूपतापूर्ण तरीके से दिया जाना चाहिये।

पंचायत समितियों को जो अनुदान दिया जाय उसमें एकरूपता बरतने का अर्थ यह है कि खण्ड के विकास का स्तर देखकर किसी प्रकार का भेद भाव नहीं किया जाना चाहिये। पंचायत समिति द्वारा जो स्टाफ रखा जायेगा उसका व्यय सामान्य विकास अनुदान से ही दिया जायेगा। इसके अतिरिक्त उत्पादन एवं सामाजिक सुविधाओं की गरज से पंचायत समितियों को अन्य मदद दी जायेगी। यहां शर्त यह है कि सामाजिक सुविधाओं पर खर्च की गई मात्रा कुल व्यय के २०% से अधिक नहीं होनी चाहिये। छोटी पंचायत समितियों में सामान्य विकास अनुदान की एक बड़ी मात्रा को स्थापन व्यय पर खर्च किया जाता है। अतः यह प्रावधान रखा गया है कि यदि कोई पंचायत समिति १/- प्रति व्यक्ति से अधिक व्यय अपने स्थापन कार्य पर कर दे तो उसको अतिरिक्त स्थापन अनुदान दिया जाना चाहिए।

विशेष अनुदान [Specific grants]—पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों को उन कार्यक्रमों एवं क्रियाओं के लिये विशेष अनुदान प्रदान किया जायेगा जिनको कि सामान्य विकास अनुदान में समूहीकृत नहीं किया गया है। इस प्रकार के अनुदान निम्नलिखित उद्देश्यों के लिये दिये जा सकते हैं—

पंचायत समितियों को सहकारिता, उद्योग, समाज-कल्याण, स्थानीय विकास कार्य, देहाती मानवीय शक्ति का उपयोग, आग लगने या अन्न अभाव से दुःखी व्यक्तियों को राहत, पंचायत समिति के मुख्य कार्यालय का व्यय आदि के बारे में यह अनुदान दिया जा सकता है।

जिला परिषदों को यह अनुदान उसके स्थापन सम्बन्धी प्रबन्ध के लिए दिया जा सकता है तथा उन योजनाओं एवं कार्यों पर दिया जा सकता है जो कि जिला परिषदों को सौंपे जाने चाहिये। इन कार्यों को निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—

(i) **कृषि**—बीज संग्रह के फार्म, कृषि के औज़ार बाँटने के लिये, मरम्मत तथा सेवा सुविधार्थ कारखाना खोलने के लिये, कुओं को खोदने तथा बनाने से सम्बन्धित कार्यक्रमों का समन्वय करने के लिये।

(ii) **पशुपालन**—पशु चिकित्सालय, नकली गर्भाधान केन्द्र, मवेशी एवं कुक्कुटों की सुधरी हुई नस्ल देना, जिला भेड़ फ़ार्म, जिला कुक्कुट फार्म।

(iii) **मेडीकल एवं स्वास्थ्य**—प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र गर्भवती एवं बाल कल्याण केन्द्र, परिवार नियोजन, आयुर्वेदिक औषधालय, पीने के पानी की प्रसारण योजनाओं का नियोजन एवं समन्वय।

(iv) **शिक्षा विभाग**—प्राथमिक तथा मिडिल स्कूलों में अध्यापकों के स्तर पर नियन्त्रण रखना, मिडिल स्कूलों का प्रशासन, वजीफा प्रदान करना, जिले स्तर की प्रतियोगितायें कराना आदि।

(v) **जन कार्य (सिंचाई)**—२५ हजार रुपये से अधिक व्यय वाले तथा एक लाख रुपये से कम व्यय वाले किसी भी नये कार्यक्रम को प्रारम्भ करना, एक लाख रुपये तक के पुराने कार्यक्रमों को चलाना।

(vi) **जन कार्य (भवन एवं सड़क)**—राज्य की सड़कों तथा जिले की मुख्य सड़कों के अतिरिक्त सड़कों को बनवाना, पंचायती राज्य संस्थाओं के भवनों को बनवाना।

(vii) **सामाजिक सेवायें**—जिला स्तर पर समाज-कल्याण विभाग का क्रियायें, प्राथमिक एवं मिडिल स्कूलों में अनुसूचित जातियों एवं जन जातियों को वजीफा, कमजोर भागों का कल्याण।

सरकार द्वारा जिला परिषद के इन कार्यों की सूची में और जोड़कर तथा कुछ कार्यों को घटा कर परिवर्तन किये जा सकते हैं।

(D) **ऋण [Loans]**—पंचायती राज संस्थाओं की आय के स्रोत यद्यपि अनेक हैं किन्तु साथ ही उनके कन्धों पर कार्यों का उत्तरदायित्व भी कम नहीं है। इसके अतिरिक्त इन संस्थाओं द्वारा अपने आय के साधनों का पूरी तरह उपयोग भी नहीं किया जाता। परिणामस्वरूप ये प्रायः घाटे में चलती रहती हैं और इस व्यवस्था में रहकर अपने कार्यों का सचालन करने के लिये इनको कर्ज लेना होता है। यातायात, स्वास्थ्य, शिक्षा, सफाई, सामाजिक सेवा आदि कार्य ऐसे हैं जिनमें पर्याप्त धन लगाने की आवश्यकता होती है। जितना धन इनमें लगाया जाता है उतना प्राप्त नहीं हो पाता और परिणामस्वरूप ऋण ही एक मात्र साधन रह जाता है जिसके आधार पर ये कुछ कर सकती हैं। पंचायती राज संस्थाओं को या तो जनता से ऋण लेने का अधिकार दिया जाता है अथवा राज्य सरकार अपनी निधि में से उसे योगदान देती है। इस धन पर भी ब्याज लिया जाता है।

ऋण लेना अपने आप में बुरा नहीं है। कई बार तो इन संस्थाओं को ऋण लेने के लिए प्रोत्साहित किया जाता है। ऋण से सम्पत्ति एवं आय में वृद्धि होती है। ऋण लेकर जनता की उत्पादन शक्ति को बढ़ाया जाता है और उसके बाद उसे चुकाने का प्रयत्स किया जाता है। वित्त विशेषज्ञों के मतानुसार यद्यपि ऋण लेना अपने आप में बुरा नहीं है वरन् एक सीमा तक तो यह उपयोगी है किन्तु इस सोमा से बाहर निकलने पर यह दोष बन जाता है। अधिक कर्जा लेना व्यक्तिगत जीवन की भांति सस्थागत जीवन में भी घातक सिद्ध हो सकता है। इस सम्बन्ध में पूरी सतर्कता बरती जाना परम आवश्यक है।

विभिन्न राज्यों में ऋण राशि के वितरण का माध्यम जिला परिषदें या पंचायत समितियां होती हैं। राजस्थान में सरकार पंचायत समिति को ऋण देती है और पंचायत समितियों द्वारा उस ऋण का विभिन्न कार्यों के लिये वितरण किया जाता है। धन प्राप्त करते समय पंचायत समिति द्वारा अनुवन्ध किया जाता है तथा वह रसीद देती है। ऋण के सम्बन्ध में किसी प्रकार का विवाद होने पर वह इस अनुवन्ध के द्वारा सुलझाया जाता है।

राजस्थान में कर्जा केवल पंचायत समिति द्वारा ही लिया जा सकता

है। जिला परिषद एवं पंचायतों को कर्जा लेने के सम्बन्ध में किसी प्रकार का अधिकार नहीं होता। कुछ ऐसी योजनायें होती हैं जिनको एक साथ समूहीकृत किया जा सकता है। इन पर पंचायत समितियों को प्रति व्यक्ति के हिसाब से कर दिया जाता है।

काल की दृष्टि से ऋणों को तीन भागों में विभाजित किया जाता है। वे ऋण जो कि तेरह माह में वापिस कर दिये जायें, अल्पकालीन ऋण कहलाते हैं। जो ऋण एक साल से लेकर पांच साल तक चुकाये जायें वे मध्यकालीन तथा जो पांच वर्ष से कम समय में वसूल न हों उनको दीर्घकालीन ऋण कहा जाता है। जिन कार्यों के लिये ये ऋण दिये जाते हैं उनमें उल्लेखनीय हैं—सामुदायिक विकास, कृषि विकास, ग्रामीण आवास, राजस्व तकावी, सहकारी समितियां, प्राकृतिक संकट आदि।

पंचायती राज संस्थाओं द्वारा लिये जाने वाले ऋण के सम्बन्ध में सादिक अली समिति ने अपने सुझाव प्रस्तुत किये हैं। समिति का विचार था कि पंचायती राज संस्थाओं को छोटे उद्यमों एवं लघु उद्योगों का स्वामित्व करने की शक्तियां प्राप्त होनी चाहिए। इन संस्थाओं को जनता के लिए कुछ मूल उपयोगी सेवायें भी प्रदान करनी होती हैं। इन कार्यों के लिये इन संस्थाओं को अधिक धन की आवश्यकता होगी जो सामान्यत: इन निकायों के सामर्थ्य के बाहर की बात है। यही कारण है कि इन संस्थाओं के लिये कर्ज वाली अर्थव्यवस्था आवश्यक बन जाती है। सरकार को चाहिए कि इन निकायों को कर्जा लेने की सुविधा देने के अतिरिक्त स्वयं भी उचित ब्याज एवं शर्तों पर इन कार्यों के लिये ब्याज प्रदान करे—जन-उपयोगी चीजों की रचना जैसे जलदाय, नालियां, विद्युत प्रसारण आदि। दूसरे, दुकानों, बाजारों, एवं सिनेमाघर आदि की बनावट के लिये। तीसरे, ट्रैक्टरों, पम्पिग सैटों, ट्रकों एवं अन्य कृषि सम्बन्धी औजारों की खरीद के लिये। चौथे, छोटी व्यापारिक या औद्योगिक इकाई खोलने के लिये, उदाहरणार्थ—आटा पीसने की चक्की, तेल मील, हड्डी पीसने की फैक्ट्री, दाल मील आदि। पांचवें, कृषि, बागवानी आदि कार्यों के लिए।

सरकार द्वारा जो कर्जे दिए जायें उनके उचित एवं कुशल उपयोग के सम्बन्ध में सरकार को व्यवस्था करनी चाहिए। जिन लक्ष्यों के हेतु कर्ज लिया गया है उनको साकार करने के लिए विशेषज्ञों का परामर्श एवं निर्देशन भी मुहैया करना चाहिए। पंचायती राज संस्थाओं की जो भी अर्थव्यवस्था रखी जाये वह एकरूप हो, निश्चित हो, सरल हो तथा उनको कुछ स्वेच्छा प्रदान करे।[1]

---

1. "In devising the financial pattern recommended—We have been guided by considerations of uniformity, certainty, simplicity and allowing a certain measure of discretion to local institutions."

—*Sadiq Ali Report*, op. cit., P. 178

११

स्थानीय एवं राज्य स्तर पर समिति व्यवस्था

[COMMITTEE SYSTEM AT LOCAL & STATE LEVEL]

समिति व्यवस्था वर्तमान युग में प्रशासनिक यन्त्र की एक महती विशेषता है। किसी भी महत्वपूर्ण प्रश्न को एक व्यक्ति के निर्णय एवं स्वेच्छा पर न छोड़ कर कुछ व्यक्तियों के निर्णय पर छोड़ना आजकल अधिक सुरक्षित समझा जाता है। प्रजातन्त्र का यह एक मूल सिद्धान्त है कि इसमें किसी भी व्यक्ति को अद्वितीय बुद्धि एवं कौशल वाला नहीं माना जाता। यद्यपि तुलनात्मक दृष्टि से विभिन्न व्यक्तियों के बीच कुछ असमानताएं पाई जाती हैं और कुछ व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक योग्य होते हैं किन्तु कोई भी व्यक्ति पूर्ण नहीं है। प्रत्येक में उसकी कमियां और अभाव हैं। प्रशासनिक निर्णयों में विभिन्न व्यक्तियों के श्रेष्ठ गुणों का समावेश हो सके और एक की कमी को दूसरे के द्वारा पूरा किया जा सके, इसके लिए पर्याप्त विचार-विमर्श के बाद निर्णय लेने की व्यवस्था की जाती है। समिति प्रणाली इस व्यवस्था का एक रूप है। समिति में दो से अधिक व्यक्ति होते हैं जो कि समस्या के विभिन्न पहलुओं पर अपनी-अपनी दृष्टि से विचार प्रकट करते हैं और उनके विचारों के विश्लेषण के बाद जो निष्कर्ष निकलता है उसका स्तर, गुण एवं उपयोगिता उस निष्कर्ष से उत्कृष्ट होते हैं जो कि एक व्यक्ति द्वारा लिया गया होता।

स्थानीय प्रशासन को प्रजातन्त्रात्मक रूप देने के लिए तथा उसकी कार्यवाही को अधिक सुविधाजनक बनाने के लिए स्थानीय एवं राज्य स्तर पर समिति व्यवस्था को अपनाया जाता है। राज्य स्तर की समिति व्यवस्था का स्थानीय दृष्टि से महत्व दो कारणों से है। प्रथम तो इसलिए कि राज्य स्तर पर विभिन्न समितियों का गठन एवं कार्य प्रणाली स्थानीय निकायों के आदर्श एवं प्रेरणा स्रोत के रूप में कार्य करती है। दूसरे, राज्य स्तर की कुछ समितियां, विशेष रूप से वित्तीय समितियां स्थानीय प्रशासन पर नियन्त्रण रखने का महत्वपूर्ण कार्य करती हैं। इस दृष्टि से राज्य स्तर की समितियों के रूप एवं संगठन का एक सामान्य परिचय स्थानीय प्रशासन के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

नगरपालिका स्तर पर समितियां
[Committees at Municipal Level]

नगरपालिकाएं जिन कार्यों को सम्पन्न करती हैं उनकी प्रकृति कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका—दोनों ही प्रकार की होती है। वे नियम बनाती हैं और उनको क्रियान्वित भी करती हैं। नगर के प्रशासन का उत्तरदायित्व पूर्ण रूप से उनके कन्धों पर रहता है। इन सभी कार्यों को सम्पन्न करने में नगरपालिका द्वारा दो प्रकार की कठिनाइयों का अनुभव किया जा सकता है। प्रथम तो यह कि वह एक बड़ी निकाय होती है और प्रतिदिन की समस्याओं पर उसमें विचार किया जाना न तो सम्भव है और न उपयोगी ही। अनेक महत्वपूर्ण समस्याएं तो उसके बड़े आकार के कारण अधिक उपयोगी विचार-विमर्श को सम्भव नहीं होने देती और छोटी-छोटी समस्याओं पर समयाभाव के कारण इसमें विचार किया जाना अनुपयोगी होता है। इन दोनों ही प्रकार की समस्याओं को यदि किसी ऐसे निकाय को सौंप दिया जाए जो कि आकार में इससे छोटा हो, योग्यता में इससे कुशल हो और जिसके विशेषज्ञ सदस्य प्रस्तुत की गई समस्याओं पर विचार के लिए पर्याप्त समय खर्च कर सकें। ये सब बातें समिति व्यवस्था के अपनाने पर प्राप्त हो जाती हैं। नगरपालिका परिषद् की बैठक महीने में केवल एक बार होती है। यदि इस बीच कोई समस्या उत्पन्न हो जाए या कोई निर्णय लेना हो तो इसके लिए इतने समय तक प्रतीक्षा नहीं की जा सकती। अतः सुविधाजनक यह समझा जाता है कि परिषद् अपने प्रतिदिन के प्रशासन को संचालित करने की शक्तियां अपने ही अधिकारियों या समितियों को हस्तान्तरित कर दे।

ग्रेट ब्रिटेन के स्थानीय शासन में समिति व्यवस्था का प्रचलन व्यापक रूप से हुआ है। वहां कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सामान्यतः समितियों को सौंप दिया जाता है। भारत में संस्थागत रूप से प्रायः प्रत्येक नगरपालिका में समितियों का संगठन किया जाता है। यद्यपि ये समितियां सरकार के एक कार्यपालिका अंग के रूप में अधिक महत्व नहीं रखती किन्तु फिर भी ये नगर-प्रशासन में निर्वाचित परिषदों को कुछ कार्य करने का अवसर सौंपती हैं।

नगरपालिका की समितियां मुख्य रूप से दो प्रकार की हैं। प्रथम प्रकार की समितियां वे होती हैं जो कि नगरपालिका कानून के अधीन बनाई जाती हैं, इनको कानूनन समितियां कहते हैं। दूसरे प्रकार की समितियों की रचना नगरपालिका कानून के आधार पर नहीं होती वरन् ये समितियां परिषद् द्वारा उसके उपनियमों के अधीन बनाई जाती हैं, इनको अकानूनी समिति कहा जाता है।

कानूनी आधार पर निर्मित समितियां [The Committees formed under the Municipal Law]—इस प्रकार की समितियां केवल बम्बई और मध्य प्रदेश में ही पाई जाती हैं। पश्चिमी बंगाल में भी इनका थोड़ा प्रचलन है। बम्बई में नगरपालिका अधिनियम के अनुसार प्रत्येक नगरपालिका द्वारा एक स्थायी समिति या प्रबन्ध समिति नियुक्त की जाती है। वे इनके अतिरिक्त एक तीर्थ समिति (Pilgirm Committee) भी नियुक्त

जिसके लिए राज्य सरकार विज्ञप्ति द्वारा निर्देशित कर सकती है। स्थायी समिति में सदस्य संख्या छः से लेकर बारह तक होती है। इसके सदस्य परिषद् द्वारा निर्वाचित किए जाते हैं। इस प्रकार की समितियां वारो नगर-पालिकाओं में संगठित होती हैं जबकि छोटी या जिले की नगरपालिकाओं द्वारा प्रबन्ध समितियों (Managing Committee) को नियुक्त किया जाता है। प्रबन्ध समितियों में सदस्यों की संख्या चार से लेकर नौ तक होती है।

इन समितियों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। इनके कार्यकाल पर परिषद एवं अधिनियम द्वारा सीमा लगाई जा सकती है। जिस नगरपालिका में कार्यपालिका अधिकारी नहीं होता उसमें समस्त कार्यपालिका शक्तियां इस प्रकार की समितियों द्वारा ही काम में ली जाती है। इन समितियों में विभिन्न समाजों, क्षेत्रों, एवं हितो को प्रतिनिधित्व देने के लिए इनके सदस्यों का चुनाव करते समय परिषद द्वारा एकत्रीकृत मतदान व्यवस्था (Cumulative Voting System) को अपनाया जाता है। इस सम्बन्ध में कभी-कभी यह भी सुझाव दिया जाता है कि यदि स्थायी समितियों में अधिक व्यक्तियों एवं हितों को नागरिक प्रशासन में भाग लेने का अवसर प्रदान करना है तो इनका आकार बढ़ा दिया जाए। किन्तु इस मत के विरुद्ध यह भी कहा जाता है कि बड़े आकार का कोई भी निकाय नीतियों को क्रियान्वित करने में अच्छा नहीं समझा जाता। वह जितना छोटा होगा उतना ही अधिक कुशल हो सकता है। आलोचकों के मतानुसार जब इन समितियों के निर्वाचन में एकत्रीकृत मतदान व्यवस्था को अपनाया जाता हैं तो यह स्वाभाविक है कि परिषद की नीतियों को क्रियान्वित करते समय वर्गीय एवं संकीर्ण हित उभर आएंगे तथा समिति की कार्यवाही क्षेत्रीय एवं साम्प्रदायिक मतभेदों से पूर्ण हो जाएगी। इसी विचार को ध्यान में रखते हुए काले समिति (Kale Committee) ने इन समितियों की रचना में एकत्रीकृत मतदान व्यवस्था को अपनाने का समर्थन नहीं किया। अधिनियम के अनुसार स्थायी समितियों को एक साधारण प्रबन्ध समिति की अपेक्षा अधिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इसके अतिरिक्त परिषद द्वारा भी इन समितियों को शक्तियां हस्तान्तरित की जा सकती हैं। इस प्रकार इन समितियों की शक्तियां दो प्रकार की होती हैं। एक ओर तो इनको वे शक्तियां प्राप्त होती हैं जो इनको अधिनियम द्वारा सौंपी गई हैं तथा दूसरी ओर अनेक शक्तियां ऐसी भी होती हैं जो कि परिषद द्वारा इन्हें हस्तान्तरित की गई हैं। वम्बई की नगरपालिकाओं में जो तीर्थ समितियां (Pilgrim Committees) हैं उनको परिषद की एक समिति कहने की अपेक्षा यदि नगरपालिका एवं सरकार की समितियां कहा जाय तो अधिक उपयुक्त रहेगा। इस प्रकार की समिति का गठन प्रत्येक नगरपालिका में आवश्यक रूप से नहीं किया जाता। इसे केवल वे ही नगर ालिकाएं गठित करती हैं जिनको तीर्थ कर (Pilgim Tax) लगाने का अधिकार है। तीर्थ समिति में सदस्यों की संख्या छः होती है। इन सदस्यों में एक तो परिषद का अध्यक्ष होता है, तीन ऐसे सदस्य होते हैं जिनको परिषद द्वारा निर्वाचित किया जाता है। इनके अतिरिक्त राज्य सरकार द्वारा नियुक्त दो सरकारी अधिकारी होते हैं। तीर्थ समिति का कार्यकाल परिपद के कार्यकाल का सहवृत होता

है । यह उस समय तक कार्य करती रहती हैं जब तक कि एक नई तीर्थ समिति को नियुक्त न कर दिया जाए । यदि किसी कारणवश परिषद की शक्तियों को छीन लिया गया हो अथवा तीर्थ समिति की शक्तियों को ले लिया गया हो तो ऐसी स्थिति में आयुक्त द्वारा छः व्यक्तियों को नामजद करके एक नई तीर्थ समिति की रचना कर दी जाएगी । इस प्रकार निर्मित समिति उस समय तक अपना कार्य करती रहेगी जब तक कि परिषद को पुनः स्थापित न किया जाए और नई परिषद की नई तीर्थ समिति जन्म न ले ले ।

तीर्थ समिति द्वारा कई महत्वपूर्ण कार्य किए जाते हैं । तीर्थ कर द्वारा प्राप्त जो तीर्थ कोष होता है उसके प्रबन्ध एवं प्रशासन का कार्य यह समिति करती है । इसके अतिरिक्त इस कोष के सम्बन्ध में परिषद को जो भी अधिकार प्राप्त हैं अथवा जो कर्तव्य करने होते हैं उन सब का भार इस समिति पर आ जाता है । परिषद द्वारा नियम बनाकर इस समिति के कार्यों एवं अधिकारों पर प्रतिबन्ध भी लगाए जा सकते हैं । समिति के सम्बन्ध में परिषद को यह अधिकार है कि वह किसी भी समय इसकी कार्यवाही में से किसी भी भाग को मंगा सकती है । वह समिति से सम्बन्धित लेखों या प्रतिवेदन का कोई भी विवरण मांग सकती है । तीर्थ कोष के लेखों को एक ऐसे अभिकरण द्वारा आडिट किया जाता है जिसकी नियुक्ति परिषद करती है । जब लेखे पास हो जाते हैं तो उनको परिषद द्वारा राज्य सरकार के पास भेजा जाता है । समिति का वार्षिक बजट स्वयं समिति द्वारा बनाया जाता है और बाद में इसे परिषद के लिए विचारार्थ भेजा जाता है । यदि परिषद उसे स्वीकार कर लेती है तो यह नगरपालिका के सामान्य बजट का एक भाग बन जाता है । किन्तु यदि परिषद सहमत न हो तो वह पूरे बजट को या उसके कुछ भाग को अपने द्वारा किए गये संशोधनों एवं परिवर्तनों के साथ समिति के विचारार्थ वापस भेज सकती है । यदि परिषद एवं तीर्थ समिति बजट से सम्बन्धित मतभेदों में किसी समझौतेपूर्ण निर्णय तक न पहुंच पाए तो परिषद द्वारा मतभेद वाली बातों को आयुक्त के सम्मुख पेश किया जाता है । आयुक्त का निर्णय इस प्रकार के अवसरों पर अन्तिम होगा । तीर्थ समिति के कार्यों एवं प्रक्रियाओं पर पर्याप्त नियन्त्रण की व्यवस्था की जाती है ताकि उसमें सम्भावित भ्रष्टाचार, अनियमितताएं एवं धांधलेबाजी न हो सके । आयुक्त, जिलाधीश या राज्य सरकार द्वारा नियुक्त कोई भी सरकारी अधिकारी समिति के कार्यों का निरीक्षण कर सकता है । यदि जिलाधीश के मतानुसार समिति की किसी आज्ञा या प्रस्ताव को क्रियान्वित करने से तीर्थ यात्रियों को कोई असुविधा या नुकसान होता है तो वह इस प्रकार की आज्ञाओं को क्रियान्वित होने से रोक सकता है । इस प्रकार की आज्ञाओं को आयुक्त द्वारा स्वीकृत या परिवर्तित भी किया जा सकता है । जब कभी कोई संकटकाल उत्पन्न हो तो जिलाधीश समिति के नाम पर कोई भी कार्य सम्पन्न कर लेगा और उस कार्य में हुए खर्चे को अदा करने के लिए समिति को निर्देश दे देगा । यदि तीर्थ समिति अपने कर्तव्यपालन में अवहेलना की प्रवृति दिखाए तो राज्य सरकार द्वारा उसे कार्य करने के लिए चेतावनी दी जा सकती है । यदि राज्य सरकार यह अनुभव करे कि तीर्थ समिति अपने कार्यों को करने के योग्य

नहीं है और इसे सौंपे गए कर्तव्यों की सम्पन्नता में निरन्तर उदासीनता बरत रही है अथवा वह अपनी शक्तियों से बाहर चली जाती है या उनका दुरुपयोग करती है तो वह समिति को भंग या निलम्बित कर सकती है।

बम्बई एवं पश्चिमी बंगाल की नगरपालिकाओं में प्राथमिक शिक्षा अधिनियम के आधीन शिक्षा समितियों का गठन किया जाता है। इन समितियों की रचना यद्यपि बहुत कुछ नगरपालिकाओं द्वारा की जाती है किन्तु फिर भी यह स्वतंत्र शक्तियों का उपभोग करती है। बम्बई में स्कूल बोर्ड का चुनाव नगरपालिका द्वारा किया जाता है किन्तु इसके सदस्यों को परिषद का सदस्य होना आवश्यक नहीं होता। इस समिति के सदस्यों की संख्या बारह से सोलह तक होती है। इनमें से दो या तीन सदस्य मनोनीत होते हैं तथा साथ ही ये अधिकारी भी होने चाहियें। इन समितियों में अल्पसंख्यकों, स्त्रियों, पिछड़ी जातियों एवं अनधिकृत नगरपालिकाओं के लिए स्थान सुरक्षित रहते हैं। स्कूल बोर्ड द्वारा शिक्षा के सम्बन्ध में सभी शक्तियों का प्रयोग किया जाता है किन्तु वित्त से सम्बन्धित मामलों में इसे स्वायत्तता प्राप्त नहीं होती।

बम्बई की भांति मध्य प्रदेश में भी नगरपालिका अधिनियम के अनुसार नगर की नगरपालिकाओं में स्थायी समितियां Standing Committees) बनाई जा सकती हैं और प्रथम स्तर की नगरपालिकाओं के लिए प्रबन्ध समितियों की नियुक्ति का प्रावधान है। ये नगरपालिकायें वहाँ होती हैं जहां कि परिषदों की संख्या अधिक से अधिक नौ और कम से कम चार होती हैं। इन समितियों का कार्यकाल अधिक से अधिक एक वर्ष होता है। द्वितीय श्रेणी की नगरपालिकाओं में स्वयं नगरपरिषद ही प्रबन्ध समिति (Managing Committee) होती है।

पश्चिमी बंगाल में प्रत्येक नगरपालिका की एक शिक्षा समिति होती है। इस समिति में राज्य सरकार द्वारा नियुक्त शिक्षा अधिकारी या शिक्षा में रुचि लेने वाला व्यक्ति होगा, नगर परिषद के दो से लेकर चार सदस्य होंगे तथा अधिक से अधिक तीन ऐसे व्यक्तियों को परिषद द्वारा नियुक्त किया जाएगा जो कि नगरपालिका क्षेत्र के निवासी हैं किन्तु उसके सदस्य नहीं हैं। शिक्षा समिति परिषद के आधीन कार्य करती है। इसके कार्यों का रूप उन नियमों के अनुसार निर्धारित किया जाता है जो कि राज्य सरकार द्वारा बनाए गए हैं। इस समिति का कर्त्तव्य वित्त, पुस्तकालयों एवं अजायबघरों से सम्बन्धित विषयों की अध्यक्षता करना है। इसके अतिक्ति जब परिषद द्वारा स्कूलों, पुस्तकालयों एवं अजायबघरों को अनुदान दिया जाता है तो यह समिति पूरी की जाने वाली शर्तों को निर्धारित करती है।

कानून के अतिरिक्त बनाई गई समितियां [The Committees formed as Non-Statutory]—बम्बई, मध्य प्रदेश एवं पश्चिमी बंगाल आदि राज्यों की नगरपालिकाओं में स्थित कानून के आधार पर बनाई गई समितियां अन्य राज्यों में नहीं पाई जातीं किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वहां समितियों का प्रयोग ही नहीं किया जाता। अन्य नगरपालिका अधिनियमों में समितियों की रचना यद्यपि कानून द्वारा स्वीकृत नहीं होती किन्तु फिर भी परिषद को सौंपे गए कार्यों की व्यापकता को देखते हुए और

कार्यों को जल्दी से सम्पन्न करने में सुविधा पहुंचाने के लिए नगरपालिका प्रशासन की विभिन्न शाखाओं पर विचारार्थ समितियां नियुक्त करने की आज्ञा दी गई है। कुछ अधिनियमों में तो यह स्पष्ट रूप से बता दिया जाता है कि परिषद द्वारा कौन-कौन सी समितियां बनाई जा सकती हैं। उदाहरण के लिए उड़ीसा नगरपालिका अधिनियम ने कई समितियों की नियुक्ति का सुझाव दिया है; जैसे, वित्त, जनस्वास्थ्य, जन कार्य, शिक्षा, अस्पताल एवं चिकित्सालय और अधिनियमों के उद्देश्यों से सम्बन्धित किसी भी विशेष विषय पर समिति। वहां यह प्रावधान है कि यदि परिषद ने नल का पानी प्रसारित करने का प्रावधान स्वीकार किया है तो इसके लिए परिषद को आवश्यक रूप से एक जलदाय समिति नियुक्त करनी होगी। इस प्रकार की समिति में कुल मिलाकर चार सदस्य होंगे। इनमें से एक सदस्य को राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाएगा। बंगाल की नगरपालिका अधिनियम में एक स्थायी समिति (Standing Committee) की नियुक्ति का सुझाव रखा गया। पंजाब में ऐसा प्रावधान है कि वहां केवल वार्ड समितियां ही नियुक्त की जा सकती हैं, किन्तु इसके लिए राज्य सरकार की पूर्व-स्वीकृति प्राप्त करना जरूरी है। बम्बई में पूर्व वर्णित स्थायी एवं तीर्थ समितियों के अतिरिक्त अन्य कार्यपालिका समितियां एवं परामर्शदाता समितियाँ भी होती हैं। इन सभी राज्यों में यह परिषद पर ही छोड़ दिया गया है कि वह इस प्रकार की समितियों की संख्या, बनावट एवं शक्तियों को निर्धारित करे।

उत्तर प्रदेश एवं बम्बई में इन समितियों का कार्यकाल केवल एक वर्ष है; किन्तु अन्य राज्यों में परिषद द्वारा यह निर्णय किया जाएगा कि समितियों का कार्यकाल एक ही वर्ष रखा जाए या अधिक। उत्तर प्रदेश में कानून द्वारा यह निश्चित कर दिया गया है कि समितियों की रचना एकल संक्रमणीय मत द्वारा की जाए। बम्बई में जब परिषद द्वारा इन समितियों की रचना की जाती है तो वह संग्रहीत मतदान व्यवस्था को काम में लेती हैं। किसी विशेष समिति के सदस्यों की संख्या परिषद द्वारा निश्चित की जाती है। मध्य प्रदेश एवं पंजाब को छोड़कर अन्य राज्यों में यह व्यवस्था है कि यदि परिषद चाहे तो समिति के एक तिहाई सदस्यों को सहवृत सिद्धांत के आधार पर ले ले। इस प्रकार लिये जाने वाले सदस्य वे होते हैं जो कि समिति में कार्य करने के लिए विशेष योग्यताएं रखते हैं किन्तु परिषद के सदस्य नहीं हैं। मध्य प्रदेश में परिषद द्वारा एक रूई बाजार समिति नियुक्त की जाती है। कानून के अनुसार परिषद या तो अपने में से या बाहर से दो व्यक्तियों की नियुक्ति करेगी। इनमें से एक रूई के खरीददारों का प्रतिनिधित्व करेगा और दूसरा रूई बेचने वालों का। यदि ये सदस्य परिषद के सदस्य नहीं हैं तो इनको मत देने का अधिकार नहीं होगा। यहां जब दूसरी समितियों में सदस्यों को सहवृत के रूप में लिया जाता है तो यह देख लिया जाता है कि वे परिषद के सदस्य हैं या नहीं। इस प्रकार मध्यप्रदेश की समिति व्यवस्था में बाहर वाले विशेषज्ञों के लिए कोई स्थान नहीं है। पंजाब में वार्ड समितियों की नियुक्ति सरकार की पूर्व स्वीकृति के बाद उसके द्वारा निर्धारित शर्तों के अन्तर्गत की जाती है। वार्ड समितियों में एक या दो वार्डों के निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं और सरकार द्वारा नियुक्त किए गए व्यक्ति भी

होते हैं। मद्रास में नगरपालिका अध्यक्ष अपने पद के कारण सभी समितियों का सदस्य होता है। बम्बई तथा केरल में यदि अध्यक्ष या उपाध्यक्ष किसी समिति के सदस्य निर्वाचित हो जाएं तो वे उस समिति के पदेन सभापति हो जाते हैं। ऐसा सभापति न होने की दशा में परिषद स्वयं सभापति नियुक्त करती है। यदि परिषद सभापति नियुक्त न करे तो समिति इस पद पर अपने में से किसी सदस्य को चुन लेती है।

इन समितियों की प्रक्रिया के नियम सामान्य रूप से परिषद के उप-कानूनों को द्वारा निर्धारित कर दिए जाते हैं। बम्बई में यदि किसी समिति का सभापति १५ दिन से अधिक के लिए अनुपस्थित रहे तो अध्यक्ष या उपाध्यक्ष उसकी अनुपस्थिति में समिति की बैठक बुला सकता है। एक समिति जब चाहे तब अपनी बैठक बुला सकती है और जब चाहे तब स्थगित कर सकती है। किन्तु यदि समिति का सभापति उचित समझे या परिषद का अध्यक्ष अथवा समिति के दो सदस्य ऐसी प्रार्थना करें तो समिति की विशेष बैठक बुलाई जा सकती है। बम्बई और राजस्थान में समिति का सभापति कोई बैठक बुलाने के स्थान पर अपनी तरफ से या किसी अन्य सदस्य अथवा नगरपालिका अधिकारी की तरफ से लिखित में कुछ प्रस्ताव समिति के सदस्यों को भेज सकता है।

परिषद एवं समितियों के बीच सम्बन्ध (The Relationship between Council and Committees)—नगरपालिका की समितियां प्रायः अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखतीं। वे परिषद का एक अभिन्न भाग होती हैं। बहुधा उनकी नियुक्ति उसमें से ही उसी के द्वारा की जाती है और वे उसी के नियंत्रण में रहकर कार्य संचालित करती हैं। असल में परिषद ही कानूनी रूप से सभी कार्यों को संचालित करने के लिए उत्तरदायी है। समितियों के सभी कार्य स्वीकृति के लिए या अभिलेख रखने के लिए परिषद में प्रतिवेदित किए जाते हैं। वास्तविक शक्तियां परिषद के हाथ में रहती हैं और इसके परिणामस्वरूप कुछ ऐसी महत्वपूर्ण नगरपालिकाओं को छोड़कर जहां पर कि कार्य अधिक और आवश्यक होता है, इन समितियों की बैठक ही नहीं होती। समितियों द्वारा जो कुछ भी कार्य किया जाता है वह मूल रूप से उनके सभापतियों एवं सचिवों द्वारा किया जाता है। समितियां तो केवल कागज पर ही अस्तित्व रखती हैं। नियुक्ति, विभागीय सजा एवं पदोन्नति आदि के मामले समिति के सभापति और परिषद के अध्यक्ष द्वारा विचार-विमर्श करके तय किए जाते हैं। इन दोनों के बीच बैठकें प्रायः अनौ-पचारिक होती हैं। ग्रेट ब्रिटेन में समितियों के महत्वपूर्ण योगदान का उल्लेख करते हुए फाईनर महोदय ने बताया है कि वहां यदि परिषद की बैठकें कुछ ही हों तो विशेषकर बड़े शहरों में समितियों एवं उपसमितियों की प्रतिवर्ष सैकड़ों बैठकें होती हैं। समिति द्वारा अलग-अलग महत्व एवं शक्ति वाले हजारों प्रस्ताव पास किए जाते हैं। व्यापक अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि सभी प्रस्तावों एवं प्रक्रियाओं में से ९५ प्रतिशत बिना किसी चुनौती या वाद-विवाद के पास कर दिए गए और जिन कुछ को चुनौती दी गई वह तर्कपूर्ण

एवं बुद्धिपूर्ण थी।[1] भारतीय नगरपालिकाओं के रूप एवं संगठन का निश्चय करते समय ब्रिटिश व्यवस्था को आदर्श बताया गया है और उसी को यहां साकार करने का प्रयास किया गया है। किन्तु फिर भी वास्तविक व्यवहार को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय नगरपालिकाओं की समितियां कोई महत्त्व नहीं रखतीं। इस सम्बन्ध में अर्गल महोदय का यह कहना उपयुक्त प्रतीत होता है कि समिति व्यवस्था के कार्य की दृष्टि से दोनों देशों के बीच जितना बड़ा एवं स्पष्ट विरोध है उतना अन्य किसी भी विषय में नहीं है।[2]

यदि भारतीय नगरपालिकाओं में प्राप्त समितियों की वास्तविक संख्या, उनकी सदस्य संख्या, कार्यकाल, शक्तियों आदि की दृष्टि से देखा जाए तो स्थान के आधार पर उनके बीच पर्याप्त विभिन्नताएं हैं। पूना में दो कानून समितियां हैं—स्थायी समिति और संशोधन समिति (Revision Committee)। यहां छः अन्य कार्यपालिका समितियां हैं—सफाई एवं नाली समिति, जन कार्य समिति, वित्त समिति, जल-कार्य समिति, बाजार समिति और विशेष समिति। इनके अतिरिक्त एक संविधान समिति भी होती है जिसका नाम कानून एवं सामान्य संदर्भ समिति है। यह समिति नियमों एवं उपनियमों का प्रारूप तैयार करने के प्रश्नों पर परामर्श देती है। प्रत्येक समिति में सात सदस्य होते हैं, केवल स्थायी समिति ही ऐसी है जिसके सदस्यों की संख्या बारह है।

एक राज्य की विभिन्न नगरपालिकाओं में जो समितियों की स्थिति है वह यदि पर्याप्त भेदभाव पूर्ण है तो पूरे देश की नगरपालिकाओं की समिति व्यवस्था के बारे में कोई सामान्यीकरण किया ही नहीं जा सकता। अर्गल के ही शब्दों को पुनः उद्धृत करते हुए हम यह कह सकते हैं कि एक तथ्य ऐसा अवश्य है जिसे कि हम सार्वभौमिक रूप से सच मान सकते हैं और वह यह है कि समिति व्यवस्था सफल नहीं रही है तथा भारत में समितियां वह योगदान नहीं कर रही हैं जो कि उनसे आशा की गई थी। साथ ही उनका स्तर भी वैसा नहीं है जैसा कि उनके समकक्षों का ग्रेट

---

1. "....If there are a few Council meetings, there are specially in big cities, hundr.ds of meetings of the Committees and sub-Committees every year.....Thousands of resolutions are passed in the aggregate by the Committee of varying force and sienificance. They are final passed on to the Council wide spread experience shows that about 95% of all resolutions and proceedings are passed without challenge or discussion, that of the few which are challenged all but an infinite esimate proportion or challenged reasonably and wisely."
   —*Herman Finer* : English Local Govt., P. 224.

2. "In no other matter is the contrast in the two Countries so great and clear as in the working of the Committee system."
   —*R. Argal*, op. cit, P. 97.

ब्रिटेन में है।[1] भारत में समितियों को पर्याप्त अधिकार प्रदान नहीं किए गए हैं; असल में उनको परिषद का सेवक बनाया गया है और उनके प्रत्येक कार्य में परिषद का हस्तक्षेप रहता है। भारतीय नगरपालिका की समितियों को कोई प्रशासनिक अधिकार प्राप्त नहीं है। उनको जो कुछ भी सत्ता हस्तान्तरित की जाती है उस पर इतना नियन्त्रण एवं जवाबदेयता लागू की जाती है कि वे वास्तविक शक्तियों का उपयोग स्वेच्छा से नहीं कर पातीं। इन्हें अपनी बैठकों की प्रक्रिया भी परिषद या बोर्ड में रखनी होती है। मद्रास राज्य में वास्तविक व्यवहार को देखने से प्रतीत होता है कि वहां जो समितियां गठित की गई हैं उनकी संख्या बहुत कम है तथा समितियों द्वारा वहां जो निर्णय लिए जाते हैं उन पर विचार-विमर्श किया जाता है। इसके परिणामस्वरूप समिति का महत्व न के बराबर हो जाता है। वहां नीति सम्बन्धी प्रश्न परिषद द्वारा तय किए जाते हैं और उनको समितियों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है। कुछ-कुछ ऐसी व्यवस्था अन्य राज्यों में भी है। भारतीय नगरपालिकाओं के तुलनात्मक दृष्टि से कम महत्व के लिए अनेक कारण उत्तरदायी हैं। इसका एक सबसे महत्वपूर्ण कारण यह है कि यहां उसके लिए परम्पराओं का अभाव है। प्रारम्भ में जब नगरपालिका सरकार का भारत में जन्म हुआ तो कार्यपालिका कार्यों का निर्वाह स्वयं जिला अधिकारी द्वारा किया जाता था। बाद में जन-शक्तियां परिषद को हस्तांतरित की गईं तो उसके गैर-अधिकारी सभापति ने भी उन्हीं परम्पराओं का निर्वाह किया जो कि अधिकारी अध्यक्ष द्वारा विकसित की गई थीं। इसके अतिरिक्त परिषद की सदस्यता इतनी अधिक नहीं रही कि समिति व्यवस्था को आवश्यक समझा जाए और यदि कहीं पर इस आवश्यकता को समझा भी गया तो वहां परिषद के उत्साही सदस्यों ने उन्हें प्राप्त सत्ता को हस्तान्तरित करना उचित नहीं समझा।

जब परिषद द्वारा ही व्यवस्थापिका सम्बन्धी एवं कार्यपालिका संबंधी कार्यों का निर्वाह किया गया तो स्थिति सन्तोषजनक नहीं रही। साईमन कमीशन के प्रतिवेदन में इस तथ्य को स्वीकार किया गया। उसने बताया कि इन निकायों के उचित कार्य–संचालन के लिए यह जरूरी है कि कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका शाखाओं को अलग–अलग कर दिया जाए। उस समय समितियों को कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करने के लिए अधिक उपयुक्त नहीं समझा गया। साथ ही वे इतनी आकर्षक भी नहीं थीं कि ध्यान को अपनी ओर आकर्षित कर सकें। परिणामस्वरूप उनको कार्यपालिका संबंधी कार्य नहीं सौंपे गए और इनका निर्वाह करने के लिए उत्तरदायित्व या तो अध्यक्ष को सौंपा गया या उसे मुख्य कार्यपालिका बना दिया गया अथवा यह कार्य करने के लिए एक अलग से ही कार्यपालिका का अधिकारी नियुक्त

---

1. "There is however one fact which may be regarded as universally true and that is that Committee system is not a success and the Committees in India do not play the part which they were expected to play, nor do they have the same status which their prototypes in England have"
—*R. Argal*, op cit, P. 98.

कर दिया गया। बम्बई में कार्यपालिका समिति की नियुक्ति उन्नीसवीं शताब्दी में ही प्रारम्भ हो गई थी। वहां समिति व्यवस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहा है किन्तु इस राज्य में भी समिति व्यवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया होती रही क्योंकि इनमें जो नियुक्तियां होती थीं वे योग्यता, उपयुक्तता एवं कार्य के लिए व्यक्ति के गुणों को ध्यान में न रख कर केवल राजनैतिक दृष्टि से होती थीं। इन समितियों का सभापतित्व प्रायः ऐसे व्यक्तियों को सौंपा जाता था जो कि अनुपयुक्त होते थे किन्तु उन्हें खुश करना जरूरी था। काले समिति के प्रतिवेदन में यह बताया गया है कि समिति के इन पदों ने दलीय राजनीति के खेल में ज्यादा का काम किया। जब कार्यपालिका सम्बन्धी उत्तरदायित्वों को विभिन्न समितियों में विभाजित कर दिया गया तो इसके परिणामस्वरूप भी अनेक समस्याएं उत्पन्न हो गईं। विभिन्न कार्यपालिका समितियों के अस्तित्व ने समन्वय के कार्य को असम्भव बना दिया और परिणामस्वरूप कार्य के सम्पादन में देरी होने लगी। कार्यकर्त्ताओं का अधिकांश समय इन निकायों के कार्य की देखभाल में ही व्यर्थ जाने लगा। ऐसी स्थिति में काले समिति ने यह सुझाया कि समस्त कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य एक ही समिति में केन्द्रित कर देने चाहिए, और इस सिफारिश के आधार पर स्थायी समिति (Standing Committee) की नियुक्ति की गई।

पंजाब स्थानीय प्रशासन जांच समिति १६५६ ने भी इस बात का विरोध किया कि स्थायी समिति को कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य सौंप दिए जाएं; क्योंकि उसका यह मत था कि इससे वे सभी बुराइयां उत्पन्न हो जाएंगी जो कि एक बहुलवादी कार्यपालिका में रहती हैं अर्थात् समिति एवं परिषद दोनों साथ मिल कर एक जैसे कार्य में संलग्न रहेंगी। यदि समिति की बनावट में आनुपातिक प्रतिनिधित्व की पद्धति को अपनाया जाए तो बनी हुई समिति, परिषद का ही दोहराव हो जाएगी और यदि इस सिद्धान्त की अवहेलना की जाए तो अल्पसंख्यकों को समिति में कोई स्थान नहीं मिल पाएगा। इन सब कारणों से समिति ने यह सुझाव दिया कि यह प्रयोग केवल उन्हीं नगरपालिकाओं में किया जाना अच्छा रहेगा जो कि प्रथम वर्ग की हैं और जिनमें कि मुख्य निकाय प्रभावशील पर्यवेक्षण रखने में सफल नहीं हो पाता क्योंकि यह प्रबन्ध अन्य स्थानीय निकायों में उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। मि० अर्गल ने ब्रिटिश स्थानीय प्रशासन में समितियों के महत्व को भारतीय प्रशासन में समितियों के योगदान से तुलना करने का प्रयास किया है। ब्रिटिश नगरपालिकाओं में समिति व्यवस्था के केन्द्रीय स्थान का वर्णन करते हुए उन्होंने मि० लास्की को उद्धृत किया है। लास्की के कथनानुसार यह परिषद की समिति होती है जिसमें कि नीति यथार्थ में बनाई जाती है। समितियां ही उस नीति की क्रियान्विति का वास्तव में पर्यवेक्षण करती हैं। सौ वर्षों के विकास ने स्थानीय परिषदों को उनकी समिति के लिए पंजीकरण से कुछ अधिक बना दिया है जिसमें कि निःसन्देह नीति के ऊपर झगड़े किए जा सकते हैं किन्तु उसमें प्रत्यक्ष एवं निरन्तर पहल मुश्किल से ही मिल पाती है।[1] लास्की के इस कथन के सन्दर्भ में जब हम भारतीय स्थिति का अध्ययन

1. "It is in the Committee of the Council that policy is really made, it is in the Committee also that supervision of the

करते हैं तो हम पाते हैं कि यहां एक कार्यपालिका अंग के रूप में समिति के महत्व को कभी नहीं समझा गया तथा समितियों का कार्य केवल परामर्शदाता का ही रहा है।

देहाती स्थानीय प्रशासन में समितियां
[Committees in Rural Local Administration]

शहरी क्षेत्रों की भांति देहाती क्षेत्र में भी प्रशासन को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए यह जरूरी समझा जाता है कि नीति निर्माता निकायों द्वारा समिति व्यवस्था का पूरा-पूरा उपयोग किया जाए तथा उन्ही के माध्यम से नीतियों को क्रियान्वित करने का प्रयास किया जाए। इस प्रकार समितियों के माध्यम से कार्य करना स्थानीय संस्थाओं का एक सुसगठित सिद्धांत है। इस सिद्धान्त के आधार में मुख्य रूप से वही विचार कार्य कर रहे हैं जो कि शहरी क्षेत्र में करते हैं अर्थात् बड़े प्रतिनिधि निकाय स्वयं कार्य को कुशल रूप में संचालित नही कर सकते; अतः उनके द्वारा केवल विस्तृत नीतियां ही निर्धारित करदी जाती हैं। जब नीतियों को क्रियान्वित करने का कार्य समितियों को सौंपा जाता है तो यह व्यवस्था रहती है कि विभिन्न समितियों को अलग-अलग क्षेत्र में सत्ता सौंपी जाए। सादिकअली समिति के मतानुसार समितियां संस्थाओं के कार्य संचालन में निरन्तरता स्थापित करती हैं और कार्य विभाजन के आधार पर सरल एवं कुशल कार्य को सुविधापूर्ण बनाती हैं। समितियों के माध्यम से सदस्यों के सक्रिय योगदान की व्यवस्था भी की जाती है।[1]

देहाती स्तर पर पंचायती राज संस्थाओं में समिति व्यवस्था का पर्याप्त उपयोग किया गया है। पंचायती राज की त्रिसूत्री बनावट में प्रत्येक सूत्र पर कुछ समितियों की व्यवस्था की गई है। कानून के अनुसार जिन समितियों को गठित किया गया है वे केवल पंचायत समिति स्तर पर ही प्राप्त होती हैं। पंचायत एवं जिला परिषद स्तर पर कानूनन समितियों का कोई प्रावधान नहीं है। वैसे इस प्रकार के प्रावधान रखे गए हैं कि जिला परिषद उपसमितियां नियुक्त कर सके। वास्तविक व्यवहार में इस प्रावधान का पूरा-पूरा उपयोग किया गया है। कानून में ऐसा भी कोई प्रावधान नहीं है कि पंचायत समितियों की रचना कर सकें। किन्तु फिर भी राज्य

---

execution is really affected. The evolution of a hundred years has transferred local Councils into little more than organs of registration for their Committees in which no doubt policy be disputed, but in which also direct and continuous initiative is rarely to be sought"

—*Laski and others*, A Century of Municipal Progress, P 82

1. "They provide continuity in the functioning of the institutions and facilitate smooth and efficient work on the basis of division of work. Active participation of members is also secured through the committees"

—Sadiq Ali Report, P. 99

सरकार द्वारा ऐसे प्रशासकीय निर्देश प्रसारित किए गए हैं जिनके आधार पर वे भी समितियों की रचना कर सकती हैं। इन निर्देशों के अनुसार कई एक पचायतों ने उत्पादन एवं शिक्षा आदि विषयों से संबधित समितियां गठित की हैं। कुछ पंचायतों में रचनात्मक कार्य पर पर्यवेक्षण रखने के लिये निर्माण समितियाँ भी कार्य कर रही हैं।

राजस्थान में पंचायत समिति एवं जिला परिषद अधिनियम १९५९ के अनुसार प्रत्येक पंचायत समिति को कम से कम तीन स्थायी समितियां नियुक्त करने का अधिकार सौंपा गया है। ये हैं—उत्पादन, सामाजिक सेवाएं तथा प्रशासन और वित्त। पंचायत समिति द्वारा कुछ अन्य विषयों पर भी एक या दो स्थायी समितियां नियुक्त की जा सकती हैं। असल में पंचायत समितियों द्वारा निर्मित की जाने वाली स्थायी समितियों के लिए कोई अधिक से अधिक सीमा निर्धारित नहीं की गई है। जिला परिषदों को कार्यपालिका क्षेत्र में कोई मौलिक अधिकार प्राप्त नहीं है। वह केवल एक पर्यवेक्षणकर्त्ता एवं परामर्श-दाता निकाय है जो कि जिले में पंचायत समितियों की क्रियाओं को समन्वित करने के लिए उत्तरदायी रहता है। सादिकअली समिति के मतानुसार जिला परिषद के पर्यवेक्षण एवं परामर्श प्रकृति वाले कार्यों की वजह से ही उसकी उप-समितियाँ बहुत कुछ प्रभावशील रूप से कार्य नहीं कर रही हैं।

पंचायत समितियों की स्थायी समितियां क्रमशः अधिक महत्वशील बनती जा रही है क्योंकि इनका अधिकांश कार्य स्थायी समितियों द्वारा ही किया जाता है। सादिकअली समिति का मत था कि इन समितियों ने कुल मिलाकर सन्तोषजनक रूप से कार्य किया है। यद्यपि उनकी सम्पन्नता का स्तर प्रत्येक राज्य में एक जैसा नहीं है। पंचायत समितियों की स्थापना एवं कार्यों के बारे में सादिकअली समिति द्वारा निकाले गये सामान्य निष्कर्ष निम्न प्रकार हैं—

१. स्थायी समितियों ने सामान्यतः सन्तोषजनक रूप से उन नियमों एवं व्यवस्थाओं के आधीन रह कर ही कार्य किया है जो कि बनाई गई हैं। यद्यपि कुछ ऐसे भी उदाहरण प्राप्त हुए हैं जहां कि समिति द्वारा लिए गये निर्णय राजनैतिक अथवा अन्य कारणों से पक्ष-पातपूर्ण थे।

२. समिति ने विकास अधिकारी एवं सम्बन्धित प्रसार अधिकारी के प्रतिवेदन एवं परामर्श पर पर्याप्त ध्यान देकर तथा विचार करके ही निर्णय लिये।

३ स्थायी समितियों ने उन अधिकारों की सीमा में रह कर ही कार्य किया है जो कि पंचायत समिति द्वारा उसको हस्तांतरित किये गये थे। समितियों ने इस सत्ता को पार करने की प्रवृत्ति नहीं दिखाई।

४. एक सामान्य पर्यवेक्षण के अनुसार समिति गणपूर्ति के अभाव में कार्य नहीं कर पाई। गणपूर्ति प्राप्त करने की खातिर बैठकों को स्थगित किया गया।

५. कुछ समितियां कार्य क्षेत्र एवं उपयोगिता की दृष्टि से अधिक उपयोगी थीं और इसी कारण ये अधिक नियमित रूप में कार्य करती रही। वित्त एवं प्रशासन से सम्बन्धित समितियाँ इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

६. कुछ पंचायत समितियों में स्थायी समितियों की संख्या इतनी अधिक है कि उनमें से अधिकांश के पास करने के लिए कोई काम ही नहीं रहता। स्थायी समितियों की संख्या के बारे में कोई सीमा न होने के कारण प्रवृत्ति अधिक से अधिक समितियां नियुक्त करने की ओर रहती है ताकि अधिक से अधिक सदस्यों को उनमें व्यस्त रखा जा सके।

७. स्थायी समितियों में अल्पसंख्यक समूह को किसी प्रकार का प्रतिनिधित्व प्राप्त नहीं हो पाता। इसके अतिरिक्त इस समूह के लोगों को अन्य लाभ प्रदान करने से भी वंचित रखा जाता है।

सादिकअली समिति ने पचायत, पंचायत समिति एवं जिला परिषद संस्थाओं में कार्य करने वाली समितियों के रूप, कार्यकाल, सदस्यता, बैठक, निर्णय, समिति का सचिव आदि विभिन्न विषयों में जो सुझाव प्रस्तुत किये हैं यहां हम उनके अध्ययन करने का प्रयास करेंगे।

पंचायतों की समितियां—पंचायत स्तर पर समिति व्यवस्था का महत्व अधिक है क्योंकि पंचायतें मूल संस्थायें होती हैं तथा इनका जनता के साथ निकट का सबंध रहता है। पंचायतों के कार्य में अधिक लोगों का सक्रिय सहयोग प्राप्त किया जाना चाहिए और इस प्रकार ग्राम जनता में पचायती राज संस्थाओं के बारे में रुचि जागृत करनी चाहिये। यह सब समितियों के द्वारा सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। सादिकअली समिति ने सुझाया कि पंचायतों में समिति बनाने का कानूनी प्रावधान किया जाना चाहिये। इससे पंच लोग अधिक सक्रिय हो सकेंगे और जनता भी अधिक से अधिक आकर्षित होगी। पंचायतों का आकार छोटा होता है और उसकी बैठकें समय-समय पर आसानी से की जा सकती हैं। इनमें समितियों की व्यवस्था का लक्ष्य कार्य सुगम बनाना नहीं है वरन् इनकी समितियों की उपयोगिता तो इसलिए है क्योंकि इनके द्वारा अधिक से अधिक लोगों का योगदान प्राप्त हो पाता है। दूसरी ओर जिला परिषद या पंचायत समिति में इन समितियों की रचना इसलिए की जाती है क्योंकि ये संस्थायें पर्याप्त बड़ी होती हैं तथा इनके कार्य-संचालन में असुविधा रहती है।

ग्राम पंचायत एवं नगर पंचायत दोनों को ही सामयिक (Adhoc) एवं नियमित (Regular) समितियां निर्वाचित करने का अधिकार होना चाहिए। सामयिक समितियों में पंचों एवं अन्य गाँव के लोगों को भी मिलाना चाहिये। ये समितियां विशेष कार्य या उद्देश्य के लिए बनायी जा सकती हैं और उसके पूरा होते ही इनको समाप्त कर दिया जायेगा। नियमित समितियों को उतने ही समय के लिए गठित किया जाना चाहिये जितने समय तक पंचायतें कार्य करती हैं। इनको प्रति दूसरे वर्ष पुनर्गठित कर लिया जाना चाहिये ताकि सदस्यों का हेरफेर होता रहे।

सादिकअली समिति के मतानुसार कानून द्वारा तीन समितियों की रचना प्रत्येक पंचायत को आवश्यक बना देनी चाहिए—उत्पादन एवं स्रोतों पर समिति (Committee on Production and Resources), शिक्षा एवं सामाजिक शिक्षा पर समिति (Committee on Education and Social Education), सामाजिक सुविधाओं एवं कमजोर भागों के लिए समिति (Committee on Social Amenities and Welfare of Weaker Sections)। ग्राम पचायत एक और भी समिति नियुक्त कर सकती है तथा उसे कोई भी कार्य सौंप सकती है।

पंचायतों की समितियों का कार्य मूल रूप से परामर्शदाता का होगा। सभी नीति संबंधी निर्णय, अनुदान एवं कर्जों की स्वीकृति, पंचायत सम्पत्ति के बारे में कोई निर्णय, आबादी भूमि की बिक्री के बारे में निर्णय आदि कार्य स्वय पंचायत द्वारा ही किये जायेंगे।

पंचायत समितियों की सदस्य संख्या पांच होनी चाहिए जिसमें तीन सदस्य पंचों में से लिए जायें तथा अन्य दो सदस्यों को पंचायत से बाहर अर्थात् पंचायत क्षेत्र के मतदाताओं में से लिया जाये। पंचायत मुख्य कार्यालय में स्थित स्कूल के प्रधानाध्यापक को शिक्षा समिति का पदेन सभापति बनाया जाये। समितियों के सभापति निर्वाचित पंचों में से ही लिये जायें। किसी भी पंच को दो से अधिक समितियों का सदस्य तथा एक से अधिक समिति का सभापति न बनने दिया जाये। समिति के सदस्यों की नियुक्ति पंचायत द्वारा ही की जानी चाहिये।

पंचायत समिति की समितियां—पंचायत समिति की समितियां विभिन्न विषयों पर बनायी जाती है। कानून के अनुसार प्रत्येक पंचायत समिति द्वारा कम से कम तीन समितियों का गठन किया जायेगा। समितियों की अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गई है। इसके परिणामस्वरूप अनेक पंचायत समितियों ने आवश्यक रूप से नौ समितियों तक का गठन कर रखा है। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए पचायत समिति द्वारा गठित की जाने वाली समितियों की अधिकतम संख्या भी बता दी जानी चाहिए। पंचायत समितियों को जिन तीन समितियों को गठित करने के बारे में कहा गया है वे प्रशासन, उत्पादन एवं सामाजिक सेवाओं से सम्बन्धित है। शिक्षा सम्बन्धी समिति का इस सूची में उल्लेख नहीं किया गया है जबकि शिक्षा एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है जिस पर कि पंचायत समितियों द्वारा इतना अधिक ध्यान दिया जाता है और उनके कोष का लगभग चालीस प्रतिशत शिक्षा पर ही व्यय किया जाता है।

सादिकअली समिति द्वारा सुझाया गया कि पंचायत समितियों को मुख्य रूप से चार समितियां गठित करनी चाहिए। ये हैं—

१. प्रशासन, वित्त एवं करारोपण पर समिति—कमजोर भागों एवं पिछड़े वर्गों का कल्याण इस समिति का मुख्य उत्तरदायित्व होना चाहिए।
२. उत्पादन पर समिति।
३. शिक्षा पर समिति (इसमें सामाजिक शिक्षा भी सम्मिलित है)।
४. सामाजिक एवं कल्याण सेवाओं पर समिति।

इन समितियों के अतिरिक्त पंचायत समितियों को कुछ विशेष समिति सौंपने का अधिकार भी हो जिनको कि यह अपने अधिकार-क्षेत्र में से कुछ शक्तियां सौंप सके। नियमित समितियों के अलावा कुछ सामयिक समितियां (Adhoc Committees) संगठित करने का भी प्रावधान हो जो कि एक विशेष समस्या के सम्बन्ध में विचारार्थ बनायी जायें तथा इनका अधिक से अधिक समय छः माह हो।

जिला परिषद की समितियां—सादिक अली समिति का कहना था कि जिला स्तर पर जिला परिषद को कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य करने होंगे। अतः यह आवश्यक है कि जिला परिषद में भी समितियों के गठन के लिए कानूनी प्रावधान होना चाहिए। प्रत्येक जिला परिषद को कम से कम चार समितियां उन्हीं विषयों में गठित करनी चाहिए जो कि पंचायत समिति के बारे में बताये गये थे। जिला परिषद एक और भी समिति गठित कर सकती है और उसको अपने कार्यों में से कुछ कार्य सौंप देगी। पंचायत समिति की भांति जिला परिषद को भी सामयिक समितियां नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए।

समितियों की सदस्यता एवं रचना—पंचायत समिति एवं जिला परिषद की समितियों की सदस्यता केवल पांच होनी चाहिए। यदि उसमें कोई पदेन सदस्य भी हो तो अन्य सदस्य चार और होने चाहिए। समिति के सदस्यों का चुनाव आनुपातिक पद्धति के आधार पर किया जाये ताकि अल्प-सख्यकों को भी प्रतिनिधित्व दिया जा सके। यह चुनाव जिला परिषद या पंचायत समिति के सभी सदस्यों द्वारा अपने में से ही किया जाना चाहिए। इन संस्थाओं के जो सहायक या सहवृत सदस्य हैं उनको भी मत देने तथा चुने जाने का अधिकार होना चाहिए। यदि संस्था में अनुसूचित जाति अथवा जन-जाति का कोई सदस्य हो तो उसे सामाजिक एवं कल्याण सेवाओं की समिति में अवश्य लिया जाना चाहिए। इस समिति में तथा शिक्षा सम्बन्धी समिति में कम से कम एक स्त्री भी होनी चाहिए। किसी भी व्यक्ति को दो से अधिक समितियों का सदस्य न बनाया जाये। समिति के विषय से सम्बंधित अनुभव रखने वाले दो अन्य व्यक्तियों को समिति के सदस्यों द्वारा सहवृत किया जा सकता है। ये सहवृत सदस्य पांच सदस्यों के अतिरिक्त होंगे। इस प्रकार लिए गये सदस्यों को समिति का सभापति नहीं बनाया जा सकता। सभापति का चुनाव सदस्यों द्वारा अपने में से ही किया जाना चाहिए। एक व्यक्ति केवल एक ही समिति का सभापति हो सकता है इससे अधिक का नहीं। प्रशासन, वित्त एव करारोपण से सम्बंधित समिति का पंचायत समिति के प्रधान एवं जिला परिषद के प्रमुख को पदेन सदस्य बनाया जाना चाहिए।

सादिक अली समिति का यह विचार था कि अध्यापकों एवं शिक्षा-शास्त्रियों को पंचायत समिति की शिक्षा समिति का पदेन सदस्य बनाया जाये। शिक्षा के क्षेत्र में समिति द्वारा जो भी कार्य किया जायेगा उसमें उनका अनुभव उपयोगी रहेगा तथा क्षेत्र की जनता उससे लाभान्वित हो सकेगी। समिति ने सुझाया कि जिला परिषद की शिक्षा से सम्बंधित समिति में दो से लेकर चार तक सदस्य विभिन्न वर्गों के लोगों में से सहवृत किये जा सकते हैं

जैसे—मिडिल स्कूल, हाई स्कूल या हायर सेकेण्डरी स्कूलों के सेवानिवृत प्रधानाध्यापक, स्वेच्छापूर्ण संस्थाओं में सक्रिय रूप से कार्य करने वाले व्यक्ति, शिक्षा विभाग के सेवानिवृत अधिकारी, कालेजों के सेवानिवृत प्रोफेसर या प्रिंसिपल। पंचायत समिति की शिक्षा समिति में सहवृत के रूप में उन लोगों को लिया जा सकता है जो कि प्राथमिक या मिडिल स्कूल के सेवानिवृत अध्यापक हों अथवा स्वेच्छापूर्ण शिक्षण संस्थाओं में जो सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हों।

समितियों का पुनर्गठन—राजस्थान पंचायत समिति एवं जिला परिषद के प्रावधानों के अनुसार स्थायी समितियों के कम से कम एक तिहाई सदस्यों को प्रतिवर्ष सेवा निवृत होना होता है। समिति के सदस्यों के पद-त्याग से सम्बंधित यह प्रावधान अधिक उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ तथा व्यवहार में इसके द्वारा उन लक्ष्यों की प्राप्ति न हो सकी जिनको कि सोच कर चला गया था। प्रायः यह देखा गया है कि जो सदस्य पद त्याग करते हैं वे ही पुनः निर्वाचित कर लिए जाते हैं। इसके अतिरिक्त पचायत समिति स्तर पर सेवा निवृत्ति की प्रक्रिया को अधिक नियमित से काम में नहीं लाया गया। साथ ही इस विधि के कुछ लाभ तो हैं ही किन्तु कुछ अपने दोष भी हैं। इसके परिणामस्वरूप समिति के सदस्यों के मन में अनिश्चय के भाव भर जाते हैं। यह सब अनावश्यक है अतः सादिक अली समिति ने यह सुझाया कि समिति के सदस्यों को इस प्रकार से सेवा निवृत न किया जाये वरन् इसके स्थान पर यह व्यवस्था की जाये कि समितियां हर दो वर्ष बाद पुनर्गठित होती रहें। इस व्यवस्था से पूर्व वर्णित के दोष तो कम हो ही जायेंगे साथ ही उससे जिन लाभों की आकांक्षा की गई थी वे भी प्राप्त हो जायेंगे अर्थात् अधिक सदस्यों को समिति में सेवा करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा।

समिति की बैठकें एवं निर्णय—सादिक अली समिति ने यह सुझाया कि पंचायत, पंचायत समिति एव जिला परिषद की बैठकें समय-समय पर होती रहें, क्योंकि इन संस्थाओं की बैठकों के बीच पर्याप्त समय लग जाता है। अतः इस काल में रहने वाले कार्यों को सम्पन्न करने के लिए समितियों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाये। समिति में जिन विषयों पर विचार किया जाये उनके सम्बंध में निर्णय पचायत, पंचायत समिति या जिला परिषद की बैठक से पूर्व ही ले लिया जाना चाहिए ताकि वहां भी उन निर्णयों पर विचार किया जा सके।

समिति में जो भी निर्णय लिये जायें उनको मुख्य संस्था की बैठक में पढ़ा जाना चाहिए। जो भी कर्जे या अनुदान दिये जायें उनकी सूची भी सामान्य निकाय के सामने रखी जाये। यदि सामान्य निकाय चाहे अथवा उसका कोई सदस्य कहे तो वह समिति द्वारा लिए गये निर्णयों में परिवर्तन या परिवर्धन भी कर सकती है। सादिक अली प्रतिवेदन में बताया गया है कि वार्षिक नियोजन एव बजट को सामान्य निकाय के अधिकार में ही रखा जाना चाहिए और उसको समिति के हाथ में नहीं सौंपा जाना चाहिए। वार्षिक योजनायें एवं बजट तो विकास अधिकारी अथवा कार्यपालिका

अधिकारी द्वारा बनवाये जायें और उनको स्वीकृति एवं मान्यता के लिए संस्था के सम्मुख भेजा जाये।

समितियों के सचिव—तीनों ही स्तरों पर कार्य करने वाली समितियों के लिए पर्याप्त सचिवालयी सहायता का प्रबन्ध किया गया है। पंचायतों के सचिव इनकी समितियों में भी सचिव का कार्य करेंगे। इसी प्रकार पंचायत समिति का विकास अधिकारी उसकी समितियों के लिए तथा जिला परिषद का मुख्य अधिकारी उसकी समितियों के लिए सचिव का कार्य सम्पन्न करेगा। पंचायत समिति का सम्बंधित प्रसार अधिकारी एवं जिला स्तर पर सम्बन्धित जिला स्तर का अधिकारी अपने-अपने स्तर की समितियों के लिए अतिरिक्त सचिव का कार्य करेंगे। उनका यह कार्य होगा कि सम्बन्धित समिति की बैठकों में भाग लें। उसकी प्रक्रिया एवं कार्यवाही का अभिलेख रखने के लिए सचिव की सहायता करे और समिति द्वारा लिए गए निर्णयों को क्रियान्वित करने का प्रयास करे। विकास अधिकारी एवं मुख्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा सचिवालय सम्बन्धी कार्यों को अपने तथा प्रसार अधिकारी एवं जिला स्तर अधिकारी के बीच इस प्रकार विभाजित किया जाएगा कि वह कार्य की प्रकृति एवं उनकी योग्यता के उपयुक्त हो।

राज्य स्तर पर समिति व्यवस्था
[Committee System at State Level]

प्रशासन की विभिन्न क्रियाओं पर नियंत्रण रखने के लिए राज्य स्तर पर भी समितियों को अपनाया जाता है। ये समितियां कार्यपालिका प्रकृति की नहीं होतीं वरन् इनका प्रमुख कार्य सरकार के वित्तीय एवं प्रशासनिक कार्यों पर नियंत्रण करना होता है। राजस्थान विधान सभा में जिन समितियों का गठन किया गया है वे केन्द्रीय स्तर पर भारतीय संसद में भी पाई जाती हैं। दोनों स्तरों पर प्राप्त समितियों की संख्या एवं संगठन के बीच पर्याप्त अन्तर है। संसद में अनेक समितियां ऐसी भी है जो कि राजस्थान विधान सभा में प्रचलित नहीं हैं। राजस्थान विधान सभा की समितियों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग में वे समितियां आती हैं जो कि प्रतिवर्ष मतदान अथवा मनोनयन द्वारा सगठित की जाती हैं। इनका एक निश्चित कार्य-क्षेत्र होता है। इनको स्थायी समितियां (Standing Committees) कहा जाता है। ये समितियां अपने लिए सौंपे गये कार्यों को सम्पन्न करने के बाद भी बनी रहती हैं।[1] इनका सम्बंध सदन के किसी विशेष कार्य से होता है। राज० विधान सभा में इस प्रकार की नौ समितियां हैं। विषयवस्तु की दृष्टि से इस प्रकार की समितियों को पांच शीर्षकों के

---

1. Mr. K. C. Wheare categarised the British Parliamentary Committees under six headings–
(i) Committees to Advise (ii) Committees to Inquire
(ii) Committees to Negotiate (iv) Committees to legislate
(v) Committees to Administer (vi) Committees to scrutinise and control.

उस समय तक कार्य करती रहेगी जब तक कि नई समिति कार्यभार न सम्भाल ले। समिति के सदस्यों का कार्यकाल समिति के कार्यकाल का Co-extensive होता है। यदि कोई सदस्य समय से पूर्व ही अपने पद को छोड़ना चाहे तो उसके लिए त्यागपत्र देने का प्रावधान भी है। समिति की सदस्यता से दिया जाने वाला त्यागपत्र स्वयं सदस्य द्वारा लिखा जाना चाहिए। इसे स्पीकर के पास भेजा जाता है।

विधान सभा की समितियों के सभापति समिति के सदस्यों में से ही अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यदि सदन का उपाध्यक्ष किसी समिति का सदस्य है तो वह स्वयं ही उस समिति का पदेन अध्यक्ष बन जाता है। अनेक बार शारीरिक एवं मानसिक अस्वस्थता अथवा अन्य किसी कारणवश जब एक सभापति अपने पद के दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ हो जाता है तो ऐसी स्थिति में स्पीकर को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति को सभापति नियुक्त कर दे। यदि सभापति समिति की किसी बैठक में अनुपस्थित हो तो उस बैठक का कार्य चलाने के लिए समिति अपने में से ही किसी एक का सभापति के रूप में चयन कर लेती है।

सामान्य रूप से समिति की कार्यवाही का संचालन करने के लिए एक निश्चित सदस्य संख्या की उपस्थिति अनिवार्य होती है। ऐसी उपस्थिति के अभाव में समिति की कार्यवाही को स्थगित किया जा सकता है। एक समिति का Quorum प्राय: उसकी कुल संख्या का एक तिहाई के लगभग होता है। यदि Quorum के अभाव में सभापति समिति की बैठकों को लगातार दो बार स्थगित कर दे तो उसे इस तथ्य की सूचना सदन को देनी होती है। यदि समिति को अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया गया है तो इस प्रकार की सूचना उसको दी जानी चाहिए।

यदि किसी कारणवश समिति का कोई सदस्य उसकी बैठक से अनुपस्थित रहना चाहे तो इसके लिए उसे सभापति की पूर्व–स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। यदि एक सदस्य समिति के सभापति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये बिना ही समिति की दो या इससे अधिक बैठकों में अनुपस्थित रहता है तो उस सदस्य को समिति से हटाने के लिए सदन में एक-एक प्रस्ताव लाया जा सकता है। यदि सदस्यों को अध्यय द्वारा नियुक्त किया गया हैं तो वही उनको हटाने की कार्यवाही भी कर सकता है।

सदन समिति

(The House Committee)

राजस्थान विधान सभा द्वारा प्रति-वर्ष एक समिति की रचना की जाती है जो कि अपने सदस्यों की सुख सुविधा, जैसे निवास–स्थान का प्रवन्ध आदि की व्यवस्था से सम्बन्धित रहती है। जब विधान सभा के सदस्य सत्र के दौरान अथवा उसके आगे–पीछे राजधानी में ठहरते हैं तो समिति द्वारा उनको ये सुविधायें मुहैया की जाती हैं। सदन के सदस्यों की दैनिक समस्याओं से सम्बन्धित होने के कारण ही यह समिति House Committee कही जाती

कि इसके द्वारा उन सभी सदस्यों की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी जो कि सदन से प्राय: अनुपस्थित रहते हैं। ऐसे सदस्यों की संख्या भी पर्याप्त है।

समितियों का दूसरा प्रकार Adhoc Committees है। इस प्रकार की समितियां किसी विशेष कार्य की सम्पन्नता के लिए नियुक्त की जाती हैं तथा इस कार्य के पूरा होते ही ये समितियां अपना अस्तित्व खो देती हैं। इन समितियों के कार्य क्षेत्र एवं कार्यकाल अत्यन्त सीमित होते हैं किन्तु फिर भी "It is in these adhoc *Committees* that the actual parilamentary *business* is thoroughly *analysed and discussed.*" (B. B. Jena). इन समितियों को Special Committees भी कहा जाता है। ये मुख्यत: दो भागों में विभाजित की जा सकती हैं—Regular Adhoc Committees तथा The Incidental Adhoc Committees। प्रथम प्रकार की समितियां प्राय: नियमित रूप से नियुक्त की जाती हैं। Select Committee *on bills* को इस प्रकार की ही एक समिति माना जा सकता है।[1] दूसरे प्रकार की समितियां केवल तब नियुक्त की जाती हैं जबकि कोई नवीन समस्या व्यवस्थापिका के सामने आती है। सदन इस प्रकार की समस्याओं को ऐसी समिति के सामने रख देता है।[2]

राजस्थान विधान सभा की विभिन्न समितियों को एक Motion के आधार पर सदन द्वारा नियुक्त या निर्वाचित किया जाता है, इनमें से कुछ एक के सदस्यों को स्वयं अध्यक्ष नामजद करते हैं। जिन समितियों के सदस्यों का चयन निर्वाचन के आधार पर होता है उनमें उम्मीदवार सदस्य का नाम प्रस्तावित करने से पूर्व प्रस्तावक को यह निश्चित रूप से सिद्ध करना होता है कि प्रस्तावित व्यक्ति स्वयं ही उस समिति का सदस्य बनने को इच्छुक है।

समिति में होने वाले रिक्त स्थानों की पूर्ति सदन द्वारा की गई नियुक्ति या निर्वाचन द्वारा अथवा अध्यक्ष द्वारा की जाने वाली नामजदगी से की जाती है। इस प्रकार से निर्वाचित, नियुक्त या नामजद सदस्य उतने समय तक ही अपने पद पर कार्य करेगा जितना कि पूर्व सदस्य द्वारा शेष छोड़ा गया है। अध्यक्ष द्वारा नामजद की गई समिति का कार्यकाल नामजदगी के समय ही उल्लिखित कर दिया जाता है। यह समिति सामान्यत:

---

1. 30th Aug. 1954 को प्रक्रिया की नियमावली बनाने के हेतु एक Rules Committee का गठन किया गया। यह समिति Select Committee थी। मुख्य मंत्री श्री जयनारायण व्यास को इसका सभापति बनाया गया। इनके अतिरिक्त समिति में 14 सदस्य और भी थे। (R. L. A. Proceedings, Vol. 5, No 64, Monday 30th Aug., 1954)
2. 13th Oct. 1955 को श्री वेदपाल त्यागी, सदस्य राजस्थान विधान-सभा द्वारा मथुरादास माथुर के आचरण की जांच करने के लिए एक Adhoc Committee के गठन का प्रस्ताव किया गया। (R. L. A. Proceedings, Vol. 7, No. 12, Thursday, 13th Oct., 1955)

उस समय तक कार्य करती रहेगी जब तक कि नई समिति कार्यभार न सम्भाल ले। समिति के सदस्यों का कार्यकाल समिति के कार्यकाल का Co-extensive होता है। यदि कोई सदस्य समय से पूर्व ही अपने पद को छोड़ना चाहे तो उसके लिए त्यागपत्र देने का प्रावधान भी है। समिति की सदस्यता से दिया जाने वाला त्यागपत्र स्वयं सदस्य द्वारा लिखा जाना चाहिए। इसे स्पीकर के पास भेजा जाता है।

विधान सभा की समितियों के सभापति समिति के सदस्यों में से ही अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। यदि सदन का उपाध्यक्ष किसी समिति का सदस्य है तो वह स्वयं ही उस समिति का पदेन अध्यक्ष बन जाता है। अनेक बार शारीरिक एवं मानसिक अस्वस्थता अथवा अन्य किसी कारणवश जब एक सभापति अपने पद के दायित्वों का निर्वाह करने में असमर्थ हो जाता है तो ऐसी स्थिति में स्पीकर को यह अधिकार प्राप्त हो जाता है कि वह उसके स्थान पर अन्य व्यक्ति को सभापति नियुक्त कर दे। यदि सभापति समिति की किसी बैठक में अनुपस्थित हो तो उस बैठक का कार्य चलाने के लिए समिति अपने में से ही किसी एक का सभापति के रूप में चयन कर लेती है।

सामान्य रूप से समिति की कार्यवाही का संचालन करने के लिए एक निश्चित सदस्य संख्या की उपस्थिति अनिवार्य होती है। ऐसी उपस्थिति के अभाव में समिति की कार्यवाही को स्थगित किया जा सकता है। एक समिति का Quorum प्रायः उसकी कुल संख्या का एक तिहाई के लगभग होता है। यदि Quorum के अभाव में सभापति समिति की बैठकों को लगातार दो बार स्थगित कर दे तो उसे इस तथ्य की सूचना सदन को देनी होती है। यदि समिति को अध्यक्ष द्वारा नियुक्त किया गया है तो इस प्रकार की सूचना उसको दी जानी चाहिए।

यदि किसी कारणवश समिति का कोई सदस्य उसकी बैठक से अनुपस्थित रहना चाहे तो इसके लिए उसे सभापति की पूर्व–स्वीकृति प्राप्त करनी होगी। यदि एक सदस्य समिति के सभापति की पूर्व स्वीकृति प्राप्त किये बिना ही समिति की दो या इससे अधिक बैठकों में अनुपस्थित रहता है तो उस सदस्य को समिति से हटाने के लिए सदन में एक-एक प्रस्ताव लाया जा सकता है। यदि सदस्यों को अध्यय द्वारा नियुक्त किया गया हैं तो वही उनको हटाने की कार्यवाही भी कर सकता है।

सदन समिति
(The House Committee)

राजस्थान विधान सभा द्वारा प्रति॰वर्ष एक समिति की रचना की जाती है जो कि अपने सदस्यों की सुख सुविधा, जैसे निवास–स्थान का प्रबन्ध आदि की व्यवस्था से सम्बन्धित रहती है। जब विधान सभा के सदस्य सत्र के दौरान अथवा उसके आगे–पीछे राजधानी में ठहरते हैं तो समिति द्वारा उनको ये सुविधायें मुहैया की जाती हैं। सदन के सदस्यों की दैनिक समस्याओं से सम्बन्धित होने के कारण ही यह समिति House Committee कही जाती

है। इसका सर्वप्रथम गठन ११ अप्रेल, १९५२ को किया गया।[1] केन्द्रीय संसद में इस समिति का गठन २६ मई, १९५२ को किया गया।

सदन समिति में सभापति सहित अधिक से अधिक पांच सदस्य हो सकते हैं।[2] ये सदस्य स्पीकर द्वारा नामजद किये जाते हैं तथा इनका कार्य-काल अधिक से अधिक एक वर्ष होता है। एक बार सदस्य के रूप में सेवा करने के बाद एक व्यक्ति को पुनः इस समिति के लिए नामजद किया जा सकता है।[3] समिति का कार्य प्रारम्भ करने के लिए कम से कम तीन सदस्यों की उपस्थिति अनिवार्य है। गणपूर्ति (Quorum) पूरी न होने पर समिति की कार्यवाही को कुछ समय के लिए अथवा भविष्य के लिए स्थगित किया जा सकता है।

निवास स्थान से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों पर विचार करने के अतिरिक्त यह समिति उन समस्त सुख-सुविधाओं का भी पर्यवेक्षण करती है जो कि भोजन, मैडीकल देखभाल, स्वास्थ्य, सदस्यों के निवास स्थानों में बढ़ोतरी या परिवर्तन आदि से सम्बन्ध रखती है। जयपुर के जिन Hostels एवं Quarters में सदस्यों को ये सुविधायें प्रदान की जाती हैं उनकी समस्यायें इस समिति के विचार का विषय होती हैं। समिति अपने अधिकार-क्षेत्र में रह कर जो भी कार्य करती है उनकी प्रकृति केवल परामर्शदात्री होती है। यह किसी भी कदम को उठाने में निर्णयात्मक रूप से कार्य नहीं कर सकती यह तो सदन को परामर्श मात्र दे सकती है। इस परामर्श को मानना या न मानना स्पीकर की इच्छा पर निर्भर रहता है। फिर भी सामान्य व्यवहार को देखकर यह आसानी से कहा जा सकता है कि सदन समिति द्वारा की गई सभी सिफारिशें बिना अधिक वाद-विवाद के मान ली जाती हैं क्योंकि इनका लक्ष्य सदस्यों को सुविधा प्रदान करना होता है और कोई भी सदस्य इसका विरोध नहीं करना चाहेगा। समिति द्वारा समय-समय पर अपनी ओर से अथवा स्पीकर द्वारा कहे जाने पर उसे परामर्श दिये जाते हैं।

---

1. R. L. A. Proceedings, Vol. 1, No. 9., 11th April, 1952, P. 52.
2. Rules 249 (1), Rules of Procedure and Conduct of Business of R. L A., P. 70
3. No. of members who served the Committee for more than one term:—

Year	No. of members served
1953–54	1
1954–55	2
1955–56	1
1956–57	2
1958–59	3
1962–63	2
1963–64	2
1964–65	2
1965–66	1

सदन समिति अपनी सुविधा के लिए एक या एक से अधिक उप-समितियां नियुक्त कर सकती है। प्रत्येक उप-समिति (Sub-Committee) को प्रायः वे ही अधिकार होंगे जो कि पूर्ण समिति द्वारा प्रयुक्त किये जाते हैं; अर्थात् ये उप-समितियां सदस्यों के रहने का स्थान, भोजन का प्रबन्ध, मेडिकल सहायता एवं उनके निवास-स्थान की अन्य सुविधाओं से सम्बन्धित विशेष विषयों पर विचार करेंगी। यदि इस प्रकार की उप-समिति के प्रतिवेदनों को पूर्ण समिति की बैठक में स्वीकार कर लिया जाये तो इनका इतना ही प्रभाव होता है जितना कि पूर्ण-समिति के प्रतिवेदन का होता है। जिस विषय को विचार करने के लिए उप-समिति को भेजा जाता है उसकी मुख्य बात अथवा बातों का उल्लेख कर दिया जाता है जिन पर कि विचार किया जाता है। उप-समिति का प्रतिवेदन प्राप्त होने पर उसे सम्पूर्ण समिति द्वारा विचार का विषय बनाया जाता है। यदि विधान सभा के किसी भी सदस्य अथवा सदस्यों को समिति की सिफारिशों के प्रति शिकायत है तो वे इसके लिए स्पीकर के सम्मुख अपील कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में स्पीकर के निर्णय को मान्य एवं अन्तिम समझा जायेगा।

समिति का सभापति—समिति के गठन की परम्पराओं का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि डिप्टी-स्पीकर को प्रायः इस समिति का सदस्य बनाया जाता है और इस प्रकार वह इस समिति का पदेन अध्यक्ष बन जाता है। डिप्टी-स्पीकर को समिति का सभापतित्व सौंपना कई कारणों से विशेष उल्लेखनीय है। प्रथम, स्पीकर या डिप्टी-स्पीकर से यह आशा की जाती है कि चाहे वे किसी भी दल के हों और चाहे उनकी कैसी भी मान्यताएँ रही हों वे निष्पक्षतापूर्वक विषय का अध्ययन करेंगे और न्यायपूर्ण ढंग से अपना निर्णय देंगे। ऐसी स्थिति में यदि डिप्टी-स्पीकर को सदन समिति का सभापति बना दिया जाता है तो सदन के सदस्यों को इस सम्बन्ध में राहत मिल जाती है कि उनके हितों एवं सुविधाओं पर किसी निष्पक्ष सत्ता द्वारा विचार किया जायेगा और दलीय अथवा वैयक्तिक भेद-भाव के आधार पर अधिक परेशानियां उत्पन्न नहीं की जावेंगी। दूसरे, समिति के अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि इनके आधार पर या इनको साधन बनाकर सदन के किसी भी सदस्य अथवा सदस्यों को परेशान किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में इस संभावना के दुष्परिणामों को रोकने की दृष्टि से यह उपयोगी रहेगा कि समिति का सभापतित्व निष्पक्ष हाथों में सौंप दिया जावे। तीसरे, सदन समिति के सम्बन्ध में स्पीकर को भारी अधिकार प्राप्त हैं। वह सदस्यों की नियुक्ति करता है, सदस्यों को हटा सकता है तथा प्रतिवेदन इसी को प्रस्तुत किये जाते हैं। समिति की सिफारिशों के विरुद्ध अपीलें भी उसी के सामने रखी जाती हैं। स्पीकर की इन व्यापक शक्तियों के संदर्भ में इस बात की प्रत्येक संभावना रहती है कि स्पीकर एवं समिति के सदस्यों के बीच मतभेद पैदा हो जाय और वह गतिरोध की स्थिति तक पहुंच जाय। जब डिप्टी-स्पीकर को समिति का सभापतित्व सौंप दिया जाता है तो समस्त निर्णय उसकी राय से प्रभावित होकर ही अन्तिम रूप लेते हैं। इन निर्णयों के साथ ही स्पीकर की सहमति की संभावना निश्चितता तक पहुंच जाती है।

सदन समिति की बैठकें उसी प्रकार होती हैं जिस प्रकार कि सदन की अन्य समितियां अपनी बैठकें करती हैं। किन्तु इसकी बैठकें प्राय: तभी की जाती हैं जब कि सदस्यों से सम्बन्धित कोई समस्या सामने आये। अपनी बैठकों में समिति द्वारा प्राय: कार्य, गृह एवं वितरण के मन्त्रियों को तथा वित्त एवं केन्द्रीय जन-कार्य विभाग के मंत्रियों को बुला लिया जाता है। उनसे आवश्यकतानुसार पूछ-ताछ की जा सकती है तथा उनसे सम्बन्धित किसी भी विषय में समिति अपने सुझाव प्रस्तुत करे इससे पूर्व उन विषयों से सम्बन्धित इन विभागों के विशेषज्ञों का परामर्श प्राप्त करले। सदन समिति द्वारा जिन समस्याओं पर विचार किया जाता है उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामान्य नागरिकों से नहीं होता। यही कारण है कि जन-साधारण को इस समिति की उपस्थिति एवं महत्वका भान भी नहीं होता। इस समिति की उपयोगिता इस बात में निहित है कि यह एक ऐसा उपयुक्त वातावरण तैयार करती है जिसमें रहकर सदन के सदस्य दैनिक जीवन की परेशानियों में उलझे बिना सदन से सम्बन्धित अपने दायित्वों का कुशलतापूर्वक निर्वाह कर सकें। इस प्रकार यह समिति जहां एक ओर सदन की कार्यकुशलता में वृद्धि करती है वहां दूसरी ओर उसके समय की बचत करने में भी महत्वपूर्ण योगदान करती है। इस प्रकार सदन समिति द्वारा सदन को सार्थक बनाने में अप्रत्यक्ष रूप से उपयोगी कार्य किया जाता है।

विशेषाधिकार समिति
(The Previleges Committee)

विशेषाधिकार समिति सदन के सदस्यों से सम्बन्धित एक अन्य महत्वपूर्ण समिति है। इसके द्वारा यद्यपि उनकी दैनिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की सिद्धि के लिए प्रयास नहीं किये जाते और न ही यह उनको बाहरी सुविधाएं प्रदान करने से सम्बन्धित रहती है। किन्तु फिर भी यह समिति उन्हें सदन की कार्यवाही में सक्रिय रूप से भाग लेने में सहायता करती है। विधान सभा के सदस्यों को कुछ विशष अधिकार सौंपे गए है जिनका प्रयोग करके ये सदन के वाद-विवाद में स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मत प्रकट कर सकते हैं। इससे पूर्व कि हम राजस्थान विधान सभा के सदस्यों के विशेषाधिकारों पर विचार करने वाली समिति के गठन का अध्ययन करें यह जानना उपयोगी रहेगा कि विधान सभा के सदस्यों को कौन-कौन से विशेषाधिकार एवं स्वतन्त्रताएं प्राप्त रहती हैं।

कामन्स के हैं।[1] उनमें से कुछ एक विशेषाधिकारों का तो स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है और अन्य को यों ही छोड़ दिया गया है। जिन विशेष अधिकारों का उल्लेख कर दिया गया है उनको तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, सदन में बोलने की स्वतन्त्रता का विशेषाधिकार; दूसरे, सदन में या उसकी किसी भी समिति में कुछ भी कहने या कोई भी मत देने के बारे में किसी भी न्यायालय में कार्यवाही होने से स्वतन्त्रता और तीसरे, सदन द्वारा प्रकाशित किसी भी प्रतिवेदन-पत्र, मत या प्रक्रिया से प्रभावित होने से स्वतन्त्रता। ये विशेषाधिकार व्यवस्थापिका के सदस्यों को उन कर्त्तव्यों का निर्वाह करने योग्य बनाते हैं जो कि संविधान द्वारा उनको सौंपे गए हैं। व्यवस्थापिका के सदस्यों को व्यक्तिगत रूप से एवं सामूहिक रूप से पर्याप्त कर्त्तव्य एवं दायित्व सौंपे गए हैं फलस्वरूप उन्हें व्यक्तिगत एवं सामूहिक रूप से उतने ही अधिकार एवं विशेषाधिकार सौंपना जरूरी था। अर्सकिन मे (Sir Erskine May) ने विशेषाधिकारों को सदन के सदस्यों द्वारा प्राप्त ऐसे विशिष्ट अधिकार (Peculiar Rights) माना है जिनके बिना वे अपने कार्यों को सम्पन्न नहीं कर सकते और जो अन्य व्यक्तियों एवं निकायों को प्राप्त नहीं होते। मे (May) के कथनानुसार इस प्रकार विशेषाधिकार यद्यपि देश के कानून का भाग होते हैं किन्तु उन्हें कुछ सीमा तक साधारण कानून से छूट मिली रहती है।[2] सदन को सदस्यों के विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में यह शक्ति प्राप्त है कि वह इन्हें परिभाषित कर सकता है; किन्तु फिर भी न तो भारतीय संसद ने और न ही राजस्थान विधान सभा ने इन विशेषाधिकारों को कभी परिभाषित करने का प्रयास किया है। कई एक ऐसे अवसर आए जब कि इन विशेषाधिकारों, शक्तियों एवं स्वतन्त्रताओं को परिभाषित करने के लिए विधेयक प्रस्तुत करने के सम्बन्ध में विचार किया गया; किन्तु यह अधिक फलदायक न रहा। भारतीय प्रेस आयोग (१९५४) ने अपना मत प्रकट करते हुए बताया कि यदि संसद और राज्यों की व्यवस्थापिकाएं व्यवस्थापन द्वारा शक्तियों, विशेषाधिकारों और स्वतन्त्रताओं को परिभाषित कर लें और उनके भंग होने तथा उसके विरुद्ध कार्यवाही किए जाने का निश्चय कर लें तो अधिक उपयोगी रहेगा। किन्तु तत्कालीन लोक सभा के स्पीकर श्री मावलंकर ने इससे विरोधी मत प्रकट किया। व्यवस्थापिका के अध्यक्षों के सम्मेलन में बोलते हुए २३ जनवरी, १९५५ को राजकोट में उन्होंने बताया कि इस विषय पर प्रेस आयोग ने पूर्णतः प्रेस की दृष्टि से विचार किया है। उसने केवल प्रेस की कठिनाइयों को ही ध्यान में रखा है किन्तु यदि व्यवस्थापिका की दृष्टि से देखा जाए तो इस प्रश्न के सम्बन्ध में हमें दूसरा रुख अपनाना पड़ेगा। यदि विशेषाधिकारों को नियमबद्ध (Codify) कर दिया जाए तो इससे प्रेस को कोई लाभ प्राप्त नहीं होगा किन्तु व्यवस्थापिका के सम्मान और सम्प्रभुता को

---

1. संघ के लिए Article 105 और राज्यों के लिए Article 194.
2. "Thus previlege, though part of the law of the land, is to a certain extent an exemption from the ordinary law."
—*Erskine May*, Parliamentary Practice, *P. 42*

इससे नुकसान होगा। ग्रेट ब्रिटेन में भी कामन्स सभा को नए विशेषाधिकार बनाने की शक्ति नहीं है। वहां केवल उन्हीं विशेषाधिकारों को मान्यता दी गई है जो कि लम्बे समय से चली आ रही परम्पराओं के आधार पर स्थित हैं; अतः इनको नियमबद्ध करने की जरूरत नहीं है।

मि० मावलंकर की राय को मानते हुए आज तक व्यवस्थापिका के सदस्यों के विशेषाधिकारों को केन्द्रीय स्तर पर अथवा राज्य स्तर पर नियमबद्ध नहीं किया गया है। चौथे आम चुनाव के बाद बनी कांग्रेस सरकार के नए कानून मन्त्री श्री पी० गोविन्दा मेनन (Mr P. Govinda Menon) ने संसद में बताया कि सरकार संसद के सदस्यों के विशेषाधिकारों को व्यवस्थापन द्वारा या सांवैधानिक संशोधन द्वारा परिभाषित करने के विचार का स्वागत करेगी।[1] भारतीय जनमत इस बात की मांग करता है कि सदस्यों के विशेषाधिकारों को नियमबद्ध कर देना चाहिए। वर्तमान स्थिति न केवल जनता एवं प्रेस वालों के लिए ही असन्तोषजनक है वरन् यह स्वयं व्यवस्थापिका के सदस्यों के लिए भी कष्टदायक है। संविधान के अनुच्छेद १०५ एवं १९४ के द्वारा जिस व्यवस्थापन की ओर इंगित किया गया है वह अभी तक नहीं किया जा सका। इसके परिणामस्वरूप जब भी कभी विशेषाधिकारों का प्रश्न उठता है तो उस पर विचार करने के लिए ब्रिटेन की कामन्स सभा के व्यवहार की खोजबीन करनी होती है। इसके लिए कामन्स सभा की प्रक्रिया का गहरा अध्ययन किया जाए और कुछ शताब्दियों के सांवैधानिक मुकदमों को देखा जाए। यह बात पूरी तरह से अवास्तविक एवं अबुद्धिपूर्ण होगी कि जब भी कभी एक सामान्य व्यक्ति संसद के कार्यों पर अपना मत प्रकट करना चाहे तो इस प्रकार के कानूनी कार्य को सम्पन्न करे जो कि प्रशिक्षित न्यायाधीशों के लिए भी असम्भव है। ऐसे अवसर बहुत कम आते हैं जबकि संसद द्वारा यह निर्णय किया जाए कि वास्तव में किसी विशेषाधिकार का खण्डन हुआ है; किन्तु विशेषाधिकार प्रस्ताव प्रायः उठते ही रहते हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक व्यक्ति को निश्चित रूप से विशेषाधिकारों की सीमा का ज्ञान कराने के लिए यह जरूरी है कि उन्हें नियमबद्ध कर दिया जाए। नियमबद्ध करने के व्यावहारिक महत्व को जानकर ही कानून-मन्त्री ने अपना मत प्रकट किया है। यदि किसी सदस्य के विशेषाधिकारों का खण्डन किया जाता है या उन्हें छीना जाता है तो सदन को ऐसा करने वाले के विरुद्ध कार्यवाही करने का अधिकार है। यदि सदन अपने कर्तव्य को सम्पन्न करने में असफल हो जाता है तो फिर यह मामले न्यायालय के सम्मुख रखे जा सकते हैं।

सदन के सदस्यों को सदन के वाद-विवाद में भाग लेने का अधिकार है, बोलने की स्वतन्त्रता सदन का एक सामूहिक अधिकार है और सदस्यों का व्यक्तिगत अधिकार भी। भारतीय संविधान ने कुछ विषयों को व्यवस्थापिकाओं के अधिकार-क्षेत्र से बाहर रखा है और इसलिए वे उन पर वाद-विवाद नहीं कर सकतीं। अपने अधिकार क्षेत्र की सीमा में रह कर तथा

1. The Hindustan Times *Weekly*, New Delhi, Sunday, April 2, 1967.

प्रक्रिया के नियमों का पालन करते हुए ये व्यवस्थापिकाएं किसी भी विषय पर विचार-विमर्श कर सकती हैं। सदन का एक अन्य सामूहिक विशेषाधिकार यह है कि वह अपरिचितों को सदन से बाहर करके बन्द दरवाजों में सदन की बैठक कर सके। ऐसा करके वह वाद-विवाद की वैयक्तिकता को बनाए रख सकती है। इस सम्बन्ध में अध्यक्ष को यह शक्ति दी गई है कि जब भी कभी वह उचित समझे सदन के किसी भी भाग में अपरिचितों को हटने की आज्ञा दे दे। सदन का एक अन्य विशेषाधिकार यह है कि वह अपने किसी भी वाद-विवाद अथवा प्रक्रिया के प्रकाशन पर रोक लगा सके। सदन के वाद-विवाद को गलत रूप से या बिगड़े हुए रूप में प्रकाशित करना उसके विशेषाधिकार का उल्लंघन माना जाता है और ऐसा करने वालों के विरुद्ध कार्यवाही करने की उसके पास शक्ति होती है। जब भी कभी अध्यक्ष चाहे वह सदन की प्रक्रिया से किसी भी शब्द अथवा शब्दों को निकलवा सकता है। सदन को अपने आन्तरिक मामलों का नियमन करने की पूरी शक्ति होती है। सदन द्वारा अपनी प्रक्रियाओं पर इतना पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है कि किसी भी सदस्य अथवा अधिकारी को यह स्वतन्त्रता नहीं दी जाती कि वह बिना सदन की स्वीकृति के सदन की प्रक्रिया या वाद-विवाद के सम्बन्ध में कोई गवाही दे दे। कई अवसरों पर न्यायालयों द्वारा व्यवस्थापिका के सदस्यों को गवाही देने के लिए बुलाया जाता है। इस सम्बन्ध में लोक सभा की विशेषाधिकार समिति ने यह सुझाया कि सदन के किसी भी सदस्य या अधिकारी को सदन या सदन की समिति की किसी प्रक्रिया के बारे में कोई गवाही नहीं देनी चाहिए। यह सुझाव कामन्स सभा में प्रचलित अभ्यास के ऊपर आधारित था। भारत में व्यवस्थापिकाओं को एक यह भी अधिकार प्राप्त है कि वे किसी भी व्यक्ति को परीक्षण के लिए या गवाही के लिए बुला सकती हैं। सदन की समितियों को भी यह अधिकार है कि वे किसी भी व्यक्ति को गवाही के लिए या आवश्यक कागजात प्रस्तुत करने के लिए बुला सकें। नियमानुसार ऐसे व्यक्ति को गवाही देने से पूर्व सच बोलने की शपथ खानी होती है। कभी-कभी यह संदेह प्रकट किया जाता है कि ये नियम जो कि कानून नहीं हैं, सदन की चाहरदीवारी के बाहर वाले लोगों पर किस प्रकार लागू किए जा सकते हैं। सदन को एक अन्य विशेषाधिकार यह प्राप्त है कि उसकी प्रक्रियाओं से सम्बन्धित कोई अभिव्यक्ति नहीं की जा सकती और न ही ऐसी कोई पुस्तक ही प्रकाशित की जा सकती है जिसमें कि सदन की प्रक्रिया पर टीका-टिप्पणी की गई हो। द्वितीय लोक सभा की विशेषाधिकार समिति को जब एक पत्र में प्रकाशित लेख पर विचार करने के लिए कहा गया तो उसने अपना मत प्रकट करते हुए बताया कि सदन के चरित्र एवं प्रक्रियाओं पर प्रकाश डालने वाले कथन विशेषाधिकारों का खण्डन हैं। सदन को यह विशेषाधिकार रहता है कि वह उन लोगों को दण्ड दे सके जो कि इसके विशेषाधिकारों का खण्डन करते हैं।

ऊपर वर्णित विशेषाधिकार वे हैं जिनका कि सदस्यों द्वारा सामूहिक रूप से उपयोग किया जाता है। जिस प्रकार बोलने की स्वतन्त्रता का सदस्य सामूहिक रूप से उपभोग करते हैं उसी प्रकार वे व्यक्तिगत रूप से भी करते हैं। सदन में दिया गया भाषण एवं किया गया कार्य स्वतन्त्र होता है जिस पर कि किसी के द्वारा प्रश्न नहीं पूछा जाता। इस विशेषाधिकार के फलस्वरूप

सदस्य किसी भी विधेयक को प्रस्तुत करने के लिए और किसी भी प्रस्ताव या भाषण को देने के लिए अथवा जैसे चाहे वैसे मतदान करने के लिए स्वतन्त्र रहते हैं। इस विशेषाधिकार की कुछ सीमाएं हैं। यह वाद-विवाद में बोले गए शब्दों पर लागू नहीं होता वरन् संसद की सभी प्रक्रियाओं पर लागू होता है। संसद में की गई प्रक्रियाओं पर किसी भी न्यायालय में कोई प्रश्न नहीं किया जा सकता। दूसरे, यदि सदन के सदस्य, सदन के बाहर कोई भी शब्द कहें या कार्य करें तो सामान्यतः उनकी रक्षा नहीं की जाएगी। तीसरे, जो कार्य सदन में बैठ कर नहीं किया गया है किन्तु उसे सदन में ही किया जाना है तो उसकी रक्षा की जाएगी। बाहरी दबाव एवं हस्तक्षेप से स्वतन्त्रता प्रदान करने वाले इस विशेषाधिकार का अर्थ यह नहीं है कि सदस्य सदन की चाहर-दीवारी में जो मन चाहे बोल सके। सदन द्वारा अपने सदस्यों के कार्य का नियन्त्रण किया जाता है और सदन को प्रभावित करने वाले नियमों एवं स्थायी आदेशों के अन्तर्गत रह कर ही बोलने की स्वतन्त्रता के अधिकार का प्रयोग किया जाता है। विशेषाधिकार से सम्बन्धित एक प्रश्न यह है कि सदस्यों द्वारा सदन में दिए गए भाषणों के प्रकाशन को किस प्रकार नियमित किया जाए। जब वाद-विवादों, प्रतिवेदनों, याचिकाओं, आदि को सदन के द्वारा प्रकाशित किया जाएगा तो उनके आधार पर किसी भी सदस्य के विरुद्ध दीवानी या फौजदारी कार्यवाही नहीं की जा सकती। यहां विशेषाधिकार उसका रक्षक बन जाएगा और एक अधिकृत प्रकाशन में प्रकाशित होने के बाद भी किसी कही गई बात या किए गए कार्य के लिए उसके ऊपर कोई मुकदमा नहीं चलाया जाएगा। इसके अतिरिक्त सदन की कार्यवाही, वाद-विवाद, प्रतिवेदन, आदि को छापने वाले एवं प्रकाशित करने वाले की भी रक्षा करने का प्रावधान है। उन समाचार पत्रों एव पत्रिकाओं की भी रक्षा का प्रावधान किया गया है जो कि सदन की कार्यवाही के प्रतिवेदन को ज्यों के त्यों छाप देते हैं। ऐसे किसी भी समाचार पत्र पर न्यायालय में कोई दीवानी या फौज-दारी कार्यवाही नहीं की जा सकती जिसने बिना किसी मनमुटाव के या बिना किसी गलत भावना से प्रेरित हुए प्रतिवेदन को ज्यों के त्यों छाप दिया है।

उपर्युक्त सभी विशेषाधिकार, चाहे वे सामूहिक हों या व्यक्तिगत, ऐसे विशेषाधिकार हैं जिनको कि संविधान में स्पष्ट रूप से उल्लेखित किया गया है। इनके अतिरिक्त भारत में संसद एवं व्यवस्थापिकाओं के सदस्य उन सभी विशेषाधिकारों का भी उपभोग करते हैं जो कि ब्रिटिश संसद के सदस्यों को प्राप्त हैं। ऐसे विशेषाधिकारों में महत्वपूर्ण विशेषाधिकार बन्दी बनाए जाने से स्वतन्त्रता (Freedom from Arrest) है। यह विशेषाधिकार सदन के सदस्यों को उस समय प्राप्त रहता है जब कि वे सदन की बैठकों में भाग लेने के लिए या तो आ रहे हों अथवा भाग लेकर लौट रहे हों। ऐसी स्थिति में उनके किसी कार्य के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करना मना है। मि० एनसन (Anson) के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संसद के किसी भी सदस्य को सत्र के दौरान और इसके प्रारम्भ होने से चालीस दिन पूर्व तथा इसके समाप्त होने के चालीस दिन बाद तक बन्दी नहीं बनाया जा सकता।[1] बन्दी

1. "No member of Parliament can be arrested during the

बनाये जाने से स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त हो जाने के बाद सदन के सदस्य कुछ भी करने के लिए स्वतंत्र नहीं हो जाते। इस अधिकार की भी कुछ सीमायें रखी गई हैं।[1] भारत में व्यवस्थापिकाओं के अध्यक्षों द्वारा कई बार इस बात पर जोर दिया गया है कि सदन का प्रत्येक सदस्य साधारण कानून का विषय है और यदि उसने कोई ऐसा कार्य किया है कि उसे वन्दी बनाया जाना-जरूरी है तो उसे वन्दी बनाया जा सकता है और यह कार्य उसके विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं कहा जायेगा।[2] व्यवस्थापिका के एक सदस्य को निवारक नजरवन्दी कानून के आधीन गिरफ्तार किया जा सकता है अथवा नहीं ?—यह प्रश्न बहुत समय तक वाद-विवाद का विषय रहा। कामन्स सभा की विशेषाधिकार समिति ने केप्टिन रामजे (Captin Ramsay) के मामले में और लोक सभा की विशेषाधिकार समिति ने श्री जी० वी० देशपाण्डे के मामले में यह निर्णय लिया कि इस प्रकार सदस्य को वन्दी बनाया जाना सदन के विशेषाधिकार का खण्डन नहीं है। लोक सभा की समिति ने निर्णय लेते समय रामजे वाले मामले को उदाहरण के रूप में रखा। लोक सभा की विशेषाधिकार समिति के कुछ सदस्यों का यह भी मत था कि रामजे का मामला भारत की परिस्थितियों पर लागू नहीं होता।[3]

व्यवस्थापिका के सदस्यों को जब भी कभी फौजदारी मामलों में गिरफ्तार किया जाये तो उन कारणों की सूचना सदन को दी जानी चाहिए जिनके लिए उन्हें गिरफ्तार किया गया है तथा सदन की सेवा से वंचित रखा गया है। लोक सभा की विशेषाधिकार समिति ने दशरथदेव (Dassarath Dev) के मामले में इस प्रश्न पर विचार किया कि जब एक सदस्य को गिरफ्तार किया जाये और तुरन्त ही उसको जमानत पर छोड़ दिया जाये तो सदन के विशेषाधिकारों के कानून एवं व्यवहार के अनुसार क्या यह आवश्यक माना जायेगा कि स्पीकर को सूचना दी जाये ? समिति ने कामन्स सभा के स्पीकर की रूलिंग तथा मे (May) के संसदीय व्यवहार से कथन को उद्धृत करके यह मत प्रकट किया कि सदस्य को जमानत पर तुरन्त ही छोड़ दिया गया है अतः सदन को सूचित करने का मजिस्ट्रेट का कोई

---

continuance of session, and for for y days before its commencement and after its conclusion."

—*Anson*, P. 163

1. "It never was held to protect members from the consequences of treason, felony or breach of the peace, nor is the privilege claimable for any indictable offence. It does not protect a member from being committed to prison for contempt."

—*S. S. More*, Practice and Procedure of Indian Parliament, Thacker & Co. Ltd. Bombay, 1960, P. 156

2. C A Deb. Vol. I (1948) 21-22, PP. Deb. Vol. II (1950) 971-81

3. Privilege Committee Report, July, 1952, PP. 6-10

कर्त्तव्य नहीं रह जाता ।[1] बाद में इससे सम्बन्धित नियम भी बना दिया गया ।

इस प्रकार व्यवस्थापिका के सदस्यों को जो विशेषाधिकार प्राप्त हैं उनका क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है । इन सभी विशेषाधिकारों का महत्व इस बात पर निर्भर करता है कि सदन द्वारा इनकी रक्षा की क्या व्यवस्था की जाती है और वह कितनी सार्थक है । सदन एवं उसके सदस्यों का सम्मान इस बात पर अवलम्बित है कि सदन द्वारा जनता एवं प्रेस की मौलिक स्वतन्त्रताओं की सीमा में रहकर इन विशेषाधिकारों को किस प्रकार बनाये रखा जाता है । भारत में केन्द्रीय एवं राज्य दोनों स्तरों पर विशेषाधिकारों से सम्बन्धित प्रश्नों पर विचार करने के लिए विशेषाधिकार समिति का गठन किया जाता है । सदन अथवा उसके किसी सदस्य के विशेषाधिकार से सम्बन्धित प्रश्न को सदन द्वारा इस समिति के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है । यह समिति उस प्रश्न से सम्बन्धित सभी प्रश्नों का पूरी तरह, विस्तार के साथ एवं न्यायिक रूप में अध्ययन करती है ताकि यह निर्णय कर सके कि इसे संदर्भित किये गये प्रश्न में किसी विशेषाधिकार का उल्लंघन हुआ है अथवा नहीं हुआ है ।

राजस्थान में विशेषाधिकार समिति का गठन [Organisation of Privileges Committee in Rajasthan Assembly]:—राजस्थान में सदस्यों के विशेषाधिकारों से सम्बन्धित समिति का गठन स्पीकर द्वारा सर्वप्रथम २३ फरवरी, १९५३ को किया गया ।[2] प्रथम लोक सभा ने अपनी विशेषाधिकार समिति का गठन २६ मई, १९५२ को किया था ।[3] राजस्थान विधान सभा की इस समिति में दस सदस्य रखे गये । विधान सभा की प्रक्रिया एवं कार्य संचालन के नियमों के अनुसार स्पीकर द्वारा सदन का सत्र आरम्भ होते ही अथवा समय-समय एक विशेषाधिकार समिति नियुक्त की जायेगी जिसमें दस से अधिक सदस्य नहीं होंगे ।[4] स्पीकर द्वारा सामान्य रूप से इस समिति का गठन इस प्रकार किया जाता है कि न केवल सत्ताधारी दल को ही वरन् अन्य दूसरे दलों को भी पर्याप्त प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सके ताकि किसी भी प्रश्न पर विचार करते समय विभिन्न प्रकार के मत सामने आ सकें । प्रथम समिति में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या छः थी, इनके अतिरिक्त इसमें एक स्वतत्र सदस्य दो संयुक्त दल के सदस्य थे और एक कृषक प्रजा पार्टी का सदस्य था । इसमें यद्यपि कांग्रेस दल को बहुमत प्राप्त था किन्तु फिर भी इसका सभापति मि गोपीलाल यादव को बनाया गया जो कि कृषक प्रजापार्टी का था ।[5] मन्त्रियों को राज० विधान सभा की समितियों की सदस्यता

---

1. Report, July 1952, P. 3
2. The committee was appointed by the speaker in persuance of sub rule (I) of rule 53 of the Rules of Procedure and conduct of business in R. L. A.
3. First Parliament : A Souvenir, P. 93
4. Rule–234
5. Proceedings of R. L. A. Vol. 3, No. 10, 23 Feb , 1953 P. 665

से वंचित रखा जाता है। नियमानुसार यदि समिति के किसी सदस्य को मंत्री बना दिया जाये तो उसे उसी दिन से त्याग-पत्र देना होता है।[1] लोक सभा की विशेषाधिकार समिति के प्रति यह शिकायत की जाती है कि इसमें प्रायः मंत्रियों के नाम भी जोड़ दिये जाते हैं।[2] यह व्यवहार राज. विधान सभा में प्रचलित नहीं है। इस व्यवहार की पृष्ठभूमि में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार के कारण निहित हैं। इसका व्यावहारिक कारण तो यह है कि मंत्रालय के दायित्वों के सम्भाल लेने के बाद एक सदस्य इतना व्यस्त हो जाता है कि वह समिति की बैठकों में भाग लेने के लिए अतिरिक्त समय नहीं निकाल पाता। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह समझा जाता है कि यदि मन्त्री को समिति का सदस्य बना दिया गया तो समिति के निर्णयों की निष्पक्षता मारी जायेगी। जहां तक विशेषाधिकार समिति का सम्बन्ध है उसके कार्य की न्यायिक प्रकृति इस बात की मांग करती है कि इस पद पर कोई निष्पक्ष व्यक्ति ही बिठाया जाना चाहिए। यह निष्पक्षता इसलिए और भी जरूरी हो जाती है क्योंकि अधिकांश विशेपाधिकार के प्रश्न उच्च सरकारी अधिकारियों अथवा प्रमुख मंत्रियों के विरुद्ध ही उठाये जाते हैं। किसी अपराधी को ही उसके अपराध का निर्णय करते समय न्यायाधीश न बनाया जाये इसलिए मंत्री को विशेषाधिकार समिति का सदस्य न बनाने की सिफारिश की जाती है।

समिति के सभापति की नियुक्ति स्पीकर द्वारा की जाती है किन्तु यदि डिप्टी-स्पीकर समिति का सदस्य हो तो वह स्वतः ही इसका पदेन अध्यक्ष बन जाता है।[3] राजस्थान विधान सभा की विशेषाधिकार समिति के सभापति पद पर रहने वाले सदस्य निम्न प्रकार थे—

क्रम संख्या	वर्ष	सभापति का नाम
१.	१९५३	श्री गोपीलाल यादव
२.	१९५४	श्री रामकिशोर यादव
३.	१९५५	डॉ० मंगलसिंह
४.	१९५६	श्री लालसिंह शक्तावत
५	१९५७	श्री भैरोंसिह सेजरला
६.	१९५८	श्री आबिद अली
७.	१९६०	श्री तेजमल बापना
८.	१९६१	,, ,, ,,
९.	१९६२	श्री निरंजननाथ आचार्य
१०.	१९६३	श्री नारायणसिंह मसूदा
११.	१९६४	,, ,, ,,
१२.	१९६५	,, ,, ,,
१३.	१९६६	,, ,, ,,

1. तृतीय विधान सभा के अन्तिम वर्ष में जब जन लेखा समिति के सभापति श्री हरिदेव जोशी को मंत्रालय में ले लिया गया तो समिति का सभापतित्व श्री फूलचंद जैन को सौंपना पड़ा।
2. B. B. Jena, P. 62
3. Rule—183 (1)

विशेषाधिकार समिति के सभापतियों की उक्त सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि इस पद पर गैर-कांग्रेसी तथा कांग्रेसी सदस्यों के बीच कोई भेद नहीं किया गया। कई बार गैर-कांग्रेसी सदस्यों को सभापति पद पर नियुक्त किया गया। १९६३ से १९६६ तक यह पद उपाध्यक्ष को सौंपा गया।

इस समिति द्वारा मुख्य रूप से दो प्रकार के कार्य किये जाते हैं। प्रथम, यह उस प्रत्येक प्रश्न का परीक्षण करेगी जो कि इसके सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जावेगा। उस प्रश्न से सम्बंधित तथ्यों का भी अध्ययन करेगी और इसके बाद यह निश्चय करेगी कि विशेषाधिकार का उल्लंघन किया गया था अथवा नहीं। यदि विशेषाधिकार का उल्लंघन हुआ है तो उसकी प्रकृति क्या है तथा किन परिस्थितियों से प्रेरित होकर यह किया गया। यह सब करने के बाद समिति जैसा उपयुक्त समझे वैसी ही सिफारिश प्रस्तुत करती है।[1] दूसरे, समिति को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह अपने प्रतिवेदन में उस प्रक्रिया का भी उल्लेख कर दे जिसे कि सदन द्वारा इसकी सिफारिशों को क्रियान्वित करते समय अपनाया जाना चाहिए।[2] समिति की शक्तियों पर एक महत्वपूर्ण सीमा यह लगाई गई है कि इसके द्वारा किसी भी प्रश्न को स्वय पहल करके विचारार्थ नहीं लिया जा सकता चाहे उसमें स्पष्ट रूप से विशेषाधिकार का खण्डन किया गया हो। यह अधिकार तो सदन के हाथों में ही सौंपा गया है। नियमानुसार यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी सदस्य के अथवा सदन के विशेषाधिकारों का खण्डन हुआ है तो एक सदस्य स्पीकर की स्वीकृति के बाद उस प्रश्न को सदन में उठायेगा।[3] स्पीकर को यह अधिकार दिया गया है कि वह उस प्रश्न पर अपनी स्वीकृति दे दे तथा उसे सदन में विचारार्थ प्रस्तुत करने के उपयुक्त मान ले। ऐसा होने पर प्रश्नों का समय (Question hour) समाप्त होने पर और सामान्य व्यवहार प्रारम्भ होने के पूर्व वह सम्बंधित सदस्य का नाम बोलेगा तथा सदस्य के खड़े होने पर उसे विशेषाधिकार का प्रश्न उठाने को कहेगा। इस समय वह सदस्य चाहे तो प्रस्ताव से सम्बंधित कुछ कह भी सकता है। ऐसा भी हो सकता है कि स्पीकर द्वारा यह निर्णय लिया जाये कि उसके मतानुसार प्रस्तावित विषय व्यवस्था में (in order) नहीं है। ऐसी स्थिति में यदि वह आवश्यक समझे तो विशेषाधिकार से सम्बंधित उस प्रश्न से सम्बंधित सूचना को सदन में पढ़ देगा तथा यह भी बता देगा कि उसने इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान नहीं की है तथा यह व्यवस्था में नहीं है। यह भी व्यवस्था की गई है कि यदि स्पीकर द्वारा विशेषाधिकार के किसी प्रश्न को अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा जाये तो वह इसे सदन की बैठक में किसी भी समय उठाने की अनुमति दे सकता है। जब विशेषाधिकार से सम्बंधित प्रश्न पर सदन में विचार कर लिया जाता है और सदन यह निर्णय लेता है कि इस प्रश्न को विशेषाधिकार समिति के लिए विचारार्थ भेजा जाना चाहिए तो वह

1. Rule—235 (1)
2. Rule—235 (2)
3. Rule—157
4. Rule—160 (1)

प्रश्न समिति के पास भेज दिया जाता है। भारतीय संसद में कई बार ऐसा भी होता है कि विशेषाधिकार से सम्बंधित प्रश्न को विशेषाधिकार समिति के पास न भेज कर किसी भी सामयिक (Adhoc) समिति के पास भेज दिया जाता है। इस प्रकार का व्यवहार उस समय तो उचित कहा जा सकता है जब कि प्रश्न उठाते समय विशेषाधिकार समिति ही न हो। किन्तु यह न तो उचित है और न उपयोगी ही कि विशेषाधिकार समिति की अवहेलना करके ऐसे प्रश्नों को किसी अन्य समिति में विचारार्थ प्रस्तुत किया जाये। सन् १९५१ के मुद्गल केस की प्रक्रिया के सम्बंध में बोलते हुए श्री एच० वी० कामथ ने इस व्यवहार का प्रतिरोध किया था। मि० कामथ ने स्पीकर से मांग की कि वह सदन को बताये कि समिति की अवहेलना क्यों की गई तथा इस विषय में उससे पूछताछ करने को क्यों नहीं कहा गया। मुद्गल केस को प्रधान मंत्री द्वारा उठाये गये एक मोशन के आधार पर सामयिक समिति (Adhoc Committee) को विचारार्थ भेज दिया गया था। राजस्थान विधान सभा में ऐसा कोई अवसर नहीं आया जबकि सदन ने किसी प्रश्न को विशेषाधिकार समिति के अतिरिक्त किसी समिति में विचारार्थ रखा हो। वैसे नियमानुसार यह प्रावधान अवश्य रखा गया है कि यदि सदन स्वयं ही उस प्रश्न पर विचार करने के बाद किसी निर्णय पर पहुँच जाता है और उसके सम्बंध में सदस्यों के बीच अधिक मत विरोध नहीं रहता तो प्रश्न को समिति के पास भेजना आवश्यक नहीं रह जाता। सदन द्वारा प्रश्न को उस समय तय किया जायेगा जब कि प्रश्न को उठाने वाला सदस्य यह प्रस्ताव रखे कि इस विषय पर अभी विचार किया जाना चाहिए या भविष्य के लिए छोड़ देना चाहिए।[1] संसद में बहस के दौरान स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए बताया था कि मुद्गल केस को विशेषाधिकार समिति को न सौंपने का कारण यह था कि किसी विशेषाधिकार के उल्लंघन की बात स्पष्ट नहीं की अतः आवश्यक जांच के लिए दूसरी समिति नियुक्त की गई। इस समिति के प्रतिवेदन से यदि यह स्पष्ट हो जाता हैं कि किसी विशेषाधिकार का खण्डन किया गया है तो प्रश्न को विशेषाधिकार समिति के सम्मुख विचार के लिए भेजा जा सकता था। विशेषाधिकार समिति के विचार के लिए जो प्रश्न भेजे जाते हैं उन पर विचार करते समय समिति पहले तो सभी सम्बंधित तथ्यों का अध्ययन करती है; फिर यह विचार करती है कि क्या वास्तव में विशेषाधिकार का उल्लंघन किया गया था। यदि समिति इस निर्णय पर आये कि सम्बधित प्रश्न में किसी विशेषाधिकार का उल्लंघन नहीं हुआ है तो वह अपनी प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ाती और अपने निर्णय से सम्बंधित प्रतिवेदन सदन को प्रस्तुत कर देती है। यदि समिति के सदस्य यह निर्णय करें कि विशेषाधिकार का खण्डन हुआ है तो यह देखा जायेगा कि उल्लंघन की प्रकृति क्या है तथा किन परस्थितियों के परिणामस्वरूप यह उल्लंघन किया गया। इन सब के बाद समिति इस बात का निर्णय करती है कि उल्लंघन कर्त्ता के विरुद्ध क्या कार्यवाही की जानी चाहिए। इस सम्बंध में अपने सुझावों को वह सदन में पेश करती है। इस समिति की कार्यवाही के सम्बंध में भी

---

1. Rule—161

स्पीकर को कुछ शक्तियां प्राप्त हैं। जब विशेषाधिकार के प्रश्न पर सदन में अथवा समिति में विचार किया जा रहा होता है,उसकी प्रक्रिया को विनियमित करने के लिए स्पीकर द्वारा आवश्यक निर्देश दिये जा सकते हैं।[1]

विशेषाधिकार समिति का प्रतिवेदन तैयार हो जाने के बाद या तो उसके सभापति द्वारा अथवा अन्य किसी भी सदस्य द्वारा सदन के सामने विचार के लिए रखा जाता है; तब स्पीकर उस प्रश्न को सदन में उठाते हैं। प्रश्न को उठाने से पूर्व स्पीकर उस मोशन पर बहस करने की अनुमति दे सकता है, किन्तु यह बहस आधे घंटे से अधिक समय तक नहीं चलनी चाहिए। इस बहस में प्रतिवेदन की छोटी-छोटी बातों को नहीं लिया जाना चाहिए। इसके बाद जब स्पीकर द्वारा मोशन रख दिया जाता है तो समिति का सभापति या सदस्य सदन में यह प्रस्ताव रखता है कि प्रतिवेदन को स्वीकार कर लिया जाये अथवा संशोधन के साथ स्वीकार किया जाये। सदन में समिति की सिफारिशों पर कई बार महत्वपूर्ण वाद–विवाद भी छिड़ जाता है।

विशेषाधिकार समिति के कार्यों की प्रकृति एक सीमा तक न्यायिक कही जा सकती है, क्योंकि पर्याप्त तथ्यपूर्ण जांच-पड़ताल एवं गवाहियों को सुनने तथा अभिलेखों को देखने के बाद ही इसके द्वारा कोई निर्णय लिया जाता है। जब यह अपने प्रतिवेदन में किसी व्यक्ति को विशेषाधिकार का उल्लंघन-कर्त्ता बताती है तो एक प्रकार से यह न्यायालय जैसा ही कार्य करती है जो कि अपराधियों की जांच करके उनके लिए दण्ड की घोषणा करता है। राजस्थान विधान सभा की विशेषाधिकार समिति ने अब तक दस से कम विशेषाधिकारों पर विचार किया है तथा इनके सम्बन्ध में दिये गये प्रतिवेदनों में जिस व्यक्ति को दोषी पाया, उसके दण्ड की व्यवस्था भी कर दी। इसके द्वारा मुख्यत: जो सजा बताई गई वह थी बिना किसी शर्त के क्षमा मांग लेना। अपराधी को सदन या सम्बन्धित सदस्य से बिना किसी शर्त के क्षमा मांगनी होती थी तथा उस प्रकार का व्यवहार पुन: न करने का वचन देना होता था। समिति की न्यायिक प्रकृति के बारे में विचार प्रकट करते हुए लोक सभा के स्पीकर ने बताया था कि समिति को एक नियमित न्यायालय के रूप में नहीं बनाया जा रहा है। संसद की संप्रभु शक्तियों का प्रयोग करते हुए इस समिति को सम्मान का न्यायालय बनाया जाता है न कि आवश्यक रूप से कानून का न्यायालय; किन्तु सभी व्यावहारिक लक्ष्यों के लिए इस समिति के पास सारी शक्तियां होंगी।[2]

---

1. Rule 163.
2. "We are not constituting it (the committee) as a regular court. In the exercise of sovereign powers of Parliament, we constitute it as a court of Honour and not necessarily as a court of law, but it will have, for all practical pur. oses, all the powers."

—*Provisional Parliamentary Debates, 8.6.1961*

कार्य परामर्शदाता समिति

(Business Advisory Committee)

एक प्रजातन्त्रात्मक देश की विधान सभा के कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्याप : होता है। भारत में लोक कल्याणकारी राज्य एवं समाजवादी समाज की रचना के आदर्श ने कार्यक्षेत्र की व्यापकता को और भी अधिक बढ़ा दिया है। फलस्वरूप राजस्थान विधानसभा में जितने प्रस्ताव रखे जाते हैं, जितने वाद-विवाद होते हैं, जितने कानून बनते हैं तथा जनहित के विषयों पर विचार किया जाता है उन सबके लिए जितने समय की आवश्यकता होती है वह सामान्यत: विधान सभा के पास नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह जरूरी हो जाता है कि प्राथमिकताओं के आधार पर विषयों को लिया जाये। दूसरे शब्दों में विचार-विमर्श के लिए प्राप्त समय में सदन का कार्य किस प्रकार सम्पादित किया जाये इसके लिए आवश्यक योजना बनायी जानी चाहिए। ऐसा होने पर ही व्यवस्थापन के सीमित समय में सरकार के व्यापक कार्यों को पूरा किया जासकता है। कार्य से सम्बन्धित योजना इस प्रकार बनायी जानी चाहिए कि उसमें सरकार की सभी उचित मांगें पूरी हो सकें साथ ही अल्प-संख्यकों के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा की जा सके। मि० रैडलिक (Mr Redlich) के कथनानुसार सदन का अधिकतम कार्यक्रम इस सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित किया जाता है कि दिन का कार्यक्रम सरकार के पक्ष में निश्चित किया जाए तथा इसकी सदस्यों की पहल के विरुद्ध रक्षा की जाये।[1] सदन की कार्यवाहियों में सरकार को अधिक समय दिया जाना अनुचित अथवा अन्यायपूर्ण न होकर आवश्यक ही प्रतीत होता है। सरकार का नेता सदन का नेता माना जाता है। उसके ऊपर उत्तरदायित्वों का जितना भार होता है उसे देखते हुए यह स्वाभाविक है कि व्यवस्थापिका के समय में से अधिकांश समय उसके द्वारा लिया जाये। व्यवस्थापन के तथ्यपूर्ण अध्ययन के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि सदन में विधेयक प्रस्तुत करने के क्षेत्र में की जाने वाली पहल सरकार की ओर से ही होती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि संवैधानिक रूप से तथा राजनैतिक रूप से सरकार सदन का अभिकरण होती है। वह तभी तक अपने पद पर रह सकती है जब तक कि उसे सदन के बहुमत का विश्वास प्राप्त रहे। इसी विश्वास के सहारे सदन द्वारा उसे अपने विषयों एवं उनके नियम पर पूरा प्रभाव रखने की अनुमति दे दी जाती है। इस प्रकार सरकार के व्यक्तित्व के कई रूप हैं। बहुमत दल के नेता के रूप में, सदन के नेता के रूप में, कार्यपालिका शक्तियों की प्रयोगकर्त्ता के रूप में, लोकसेवाओं पर नियंत्रणकर्त्ता के रूप में सरकार को जिन व्यापक दायित्वों का निर्वाह करना होता है वे सदन में उसकी स्थिति को व्यापक बना देते हैं। इस पृष्ठभूमि में यह जरूरी हो जाता है कि

---

1. "....under the application of a great principle, namely, that the day's programme should be fixed in favour of the Govt. and protected against the initiative of the members."

—*Redlich*, pp. 114–115.

सदन की कार्यवाही का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया जाये कि सरकार इन दायित्वों के अनुपात में समय प्राप्त कर सके। जब तक इस प्रकार का कार्यक्रम न बनाया जायेगा तब तक अव्यवस्था एवं अनिश्चय की स्थिति रहेगी। यहां समस्या यह उत्पन्न हो जाती है कि इस कार्यक्रम का निर्धारण किसके द्वारा किया जाये। यदि यह कार्य गैर-सरकारी सदस्यों को दे दिया गया तो सम्भावना है कि सरकार को यथोचित समय प्राप्त नहीं हो सकेगा और यदि सरकार के हाथों में यह कार्य दे दिया गया तो भय है कि गैर-सरकारी सदस्यों में भारी असंतोष रहेगा।

ग्रेट ब्रिटेन में सदन के समय को नियंत्रित करने का अधिकार एक स्थायी आदेश (Standing order) के अधीन सरकार को हस्तांतरित कर दिया जाता है।[1] कामन्स सभा के इस आदेश के अनुसार जब तक सदन द्वारा कुछ अन्य निर्देश न दिया जाये उस समय तक सरकार ही सदन की प्रत्येक बैठक के कार्यक्रम का निश्चय करेगी।[2] इस व्यवस्था को एकपक्षीय होने से बचाने के लिए गैर सरकारी सदस्यों के लिए सप्ताह में कुछ दिन निश्चित कर दिये जाते हैं। ग्रेट ब्रिटेन में सदन की कार्यवाही की सूचना पहले से ही सदस्यों को देने का कार्य कुछ तो आदेश पुस्तिका (Order book) से लिया जाता है और कुछ इसके लिए अनौपचारिक तरीका अपनाया जाता है। जब गैर-सरकारी सदस्यों का दिन होता है तो वे अपने कार्यक्रम का निर्णय मतपत्र के सहारे करते हैं और जब सरकार का दिन हो तो कार्यक्रम को सरकार जैसा चाहे निर्धारित कर लेती है। इस सम्बन्ध में सरकार की स्वेच्छा पर कुछ सीमायें भी लगी हैं अर्थात् कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो मूलतः सरकारी नहीं कहे जा सकते किन्तु जिनको कार्यक्रम में शामिल करना जरूरी होता है। उदाहरण के लिए सैन्सर मोशन (Censure Motion), अदलीय एवं अन्तर्दलीय विषय एवं वित्तीय विषय आदि। यद्यपि आर्थिक विषय निश्चय ही सरकार का कार्य होता है किन्तु यह सरकार के कार्यक्रम का भाग नहीं होता।[3] परम्परागत रूप से वित्तीय विषयों पर सरकार को बहुत समय खर्च करना होता है। कार्यक्रम पर सरकारी स्वेच्छा के ये अपवाद अतीत की प्रथाओं के परिणाम हैं।

भारतवर्ष में सदन के कार्यक्रमों का निर्णय करने की शक्ति स्वयं सदन के हाथों में ही निहित रहती है। उसी के द्वारा यह निर्णय दिया जाता है कि किस कार्य को पहले लिया जाय और किस कार्य में कितना समय दिया जाय। साथ ही यह निर्णय भी उसी के द्वारा किया जाता है कि किसी विशेष कार्य के लिए सदन का कितना समय दिया जायेगा।[4] सैद्धान्तिक रूप से यह

---

1. Campion, P. 112
2. Standing order—4, House of Commons.
3. Campion, P. 114
4. "The house is, technically speaking, the final authority to decide how its time ought to utilised for the different heads of whichever but in actual practice it is Government, with

व्यवस्था होने के बाद भी, व्यावहारिक दृष्टि से ये शक्तियां सरकार द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं और वह सदन के समय पर पर्याप्त नियंत्रण रखती है। सन् १८५४ से लेकर १९२० तक व्यवस्थापिका परिषदों (Legislative Councils) का अधिकांश समय गवर्नर जनरल द्वारा नियंत्रित किया जाता था जो कि उसके सभापति के रूप में कार्य करता था। सन् १९१९ के अधिनियम ने उसे व्यवस्थापिका परिषदों के अध्यक्ष पद से तो हटा दिया किन्तु अब भी वह सार्वजनिक कार्य की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए गैर-अधिकारी सदस्यों के कार्य के लिए समय निश्चित करता था। धीरे धीरे यह शक्ति अध्यक्ष (Presiding officer) के हाथ में आ गई किन्तु भारत की संविधान सभा ने प्रक्रिया समिति नामक यत्र की स्थापना की व्यवस्था की; जो कि सदन के कार्यों के क्रम के सम्बन्ध में सिफारिश करने के लिए तथा सदस्यों को यह निर्देश देने के लिए कि वे अपने कार्यों को किस प्रकार सम्पन्न करें; एक प्रक्रिया समिति नियुक्त की गई। यह समिति सभा की प्रक्रिया का क्रम निश्चित करती थी।[1]

संविधान सभा के व्यवहार को अपनाते हुए, लोकसभा ने भी एक कार्य सलाहकार समिति (Business Advisory Committee) की रचना की जो कि सरकारी व्यापार के विभिन्न विषयों पर वाद-विवाद करने के लिए समय के सम्बन्ध में सिफारिश कर सके। मि० मोरिस जोन्स (Mr Morris Jores) का मत है कि कार्य सलाहकार समिति भारतवर्ष की स्वयं की उपज एवं एक नया प्रयोग है।[2] किन्तु प्रो० बी० बी० जेना (Prof. B. B. Jena) के मतानुसार जोन्स महाशय का कथन तथ्य-संगत प्रतीत नहीं होता क्योंकि कामन्स सभा में भी सदन के कार्य से संबंधित समिति अवश्य है किन्तु उसके कार्य कुछ भिन्न हैं।[3] यह समिति अपना कार्य सदन में सरकारी एवं गैर-सरकारी सभी सदस्यों के सहयोग से सम्पन्न करती है। जहां तक सरकारी कार्यक्रम का सम्बन्ध है उसकी घोषणा सदन के नेता अथवा उसकी ओर से किसी अन्य सदस्य द्वारा शनिवार को कर दी जाती है तथा प्रत्येक सत्र के प्रारम्भ में कर दी जाती है। प्रक्रिया सलाहकार समिति सदन का समय निर्धारित करते समय सरकार द्वारा निश्चित की गई प्राथमिकताओं का पूरा-पूरा ध्यान रखती है। इस समिति द्वारा जो निर्णय दिए जाते हैं उनके आधार पर सदन का सचिव कार्य सूची तैयार करता है जिसके आधार पर कि सरकार अपनी क्रियाओं का संचालन कर सके। जिस कार्य का उल्लेख इस सूची में नहीं किया गया है उस कार्य को कुछ दिन सम्पन्न नहीं किया जा सकता है जब तक

---

the tacit consent of all sections, which really controlls the time and its utilization."

—*S. S. More*, Practice and Procedure of Indian Parliament, P. 193

1. Constituency Assembly Debates, Vol. II No 5, P.P. 251-52
2. Morris Jones, Op. cit., P. 208.
3. Prof. B.B. Jena : Parliamentary Committees in India, Scientific Book Agencies, Calcutta, 1966, P. 219.

कि सदन के अध्यक्ष की स्वीकृति नहीं ले ली जाय। कार्य सलाहकार समिति द्वारा प्रत्येक कार्य के लिए समय की जो सीमा लगा दी जाती है उसका भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता है। इस समिति का गठन करते समय विरोधी दल के सदस्यों को भी प्रतिनिधित्व देने का ध्यान रखा जाता है।

यह समिति अपनी ओर से पहल करके, यह सिफारिश कर सकती है कि सरकार अमुक विषय को सदन के सम्मुख लाये और उस पर बहस करे। जहां तक लोकसभा का प्रश्न है वहां अनेक महत्वपूर्ण मामलों पर विचार इस समिति के पहल करने पर ही किया गया। इन विषयों में अणु शक्ति का शांतिपूर्ण प्रयोग, सरकार की आर्थिक नीति, प्रेस आयोग का प्रतिवेदन आदि मुख्य हैं। यह समिति सबसे पहले इस बात पर विचार करती है कि सत्र के समय को बढ़ाया जाये या नहीं बढ़ाया जाये अथवा किस दिन सदन की बैठक की जाये।

राजस्थान विधान सभा में नियमानुसार या तो सदन की कार्यवाही के प्रथम दिन अथवा समय-समय पर स्पीकर द्वारा कार्य सलाहकार समिति (Business Advisory Committee) की नियुक्ति की जा सकती है। इस समिति में स्पीकर सहित सात सदस्य होते हैं। स्पीकर सदैव ही इस समिति का सभापति होता है।[1] इस समिति के द्वारा उस समय की सिफारिश की जाती है जो कि किसी सरकारी विधेयक के विभिन्न स्तरों पर विचार करते समय सदन द्वारा दिया जाना चाहिए। ये बिल अथवा अन्य कार्य जिस पर कि समिति विचार करती है वह होता है जिसको कि स्पीकर द्वारा सदन के नेता से विचार-विमर्श करने के बाद समिति द्वारा प्रस्तुत किया जाता है समिति द्वारा जो समय सारिणी (Time table) प्रस्तुत की जाती है उसमें वह उन विभिन्न घंटों का उल्लेख भी कर सकती है जो कि एक विधेयक या अन्य व्यापार के विभिन्न स्तरों को पूर्ण करने के लिए दिये जाने चाहिए। नियमानुसार जो कार्य इस समिति को सौंपे गये हैं उनके अतिरिक्त भी स्पीकर समय-समय समिति को अन्य कार्य सौंप सकता है। इस समिति के प्रायः सभी निर्णय सर्व सम्मति से लिये जाते हैं और इन निर्णयों के द्वारा सदन के सामूहिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व किया जाता हैं। समिति की सिफारिशें एक प्रतिवेदन के रूप में सदन के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं। परम्परागत रूप से समिति की सिफारिशों को प्रायः सर्व-सम्मति से स्वीकार कर लिया जाता है। नियमानुसार यह व्यवस्था की गई है कि जब समिति द्वारा सदन में प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाय तो उसके बाद किसी भी समय सदन में एक मोशन (Motion) उठाया जायेगा कि क्या सदन इस रिपोर्ट से सहमत है या संशोधनों के साथ सहमत है या असहमत है। संशोधन यह भी किया जा सकता है कि प्रतिवेदन को किसी विषय के सम्बन्ध में विचार करने के लिए अथवा पूरी तरह से ही पुनर्विचार के लिए, समिति को वापस लौटा दिया जाय। इस प्रकार के मोशन पर विचार के समय आधा घंटे से अधिक का समय नहीं दिया जायेगा और कोई भी सदस्य इस प्रकार के मोशन पर पांच मिनट से अधिक नहीं बोल सकता है।

---

1. Rule—212.

जब समिति द्वारा किसी बिल के सम्बन्ध में निर्धारित समय को या अन्य व्यापार के बारे में निश्चित किये गये समय को सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है तो उसे सदन इस प्रकार से क्रियान्वित करने में लग जाता है मानो वह सदन का ही आदेश था। इसके अतिरिक्त समिति की उन स्वीकृत सिफारिशों को बुलेटिन (Bulletin) में अभिसूचित कर दिया जावेगा। जब स्पीकर द्वारा किसी विधेयक या अन्य कार्य की एक विशेष स्टेज को पूरा करने के लिए समय निश्चित करने के सम्बन्ध में समिति की सिफारिश मांगी जाती है तो स्पीकर द्वारा एक विशेष घंटे की व्यवस्था के लिए भी कहा जा सकता है जिसमें कि सदन के सभी विशेष कार्यों को लिया जा सके। यह प्रावधान रखा गया है कि स्पीकर द्वारा सदन का विचार जानने के बाद किसी भी व्यापार से सम्बन्धित कार्य को बिना किसी मोशन के रखे अधिक से अधिक एक घंटे के लिए बढ़ाया जा सकता है। कार्य सलाहकार समिति उस समय तक समय निर्धारण का कार्य नहीं करती जब तक कि कोई विधेयक सदन के सामने नहीं है। समिति में तथा उसके बाहर के नेता अधिक से अधिक समय निर्धारित कर देते हैं जो कि वे लेना चाहते हैं। उसके बाद समिति अपना मत प्रस्तुत करती है कि एक विशेष विधेयक को पास होने में में कितना समय लगना चाहिए। उस बिल पर सामान्य वाद-विवाद कितने समय में समाप्त हो जाना चाहिए। तीसरे, वाचन को कब प्रारम्भ करना चाहिए आदि-आदि।

लोकसभा की समिति द्वारा सरकारी व्यापार के लिए जो क्रम की व्यवस्था की गई है, उसका उल्लेख प्रो० बी० बी० जेना द्वारा किया गया है।[1]

---

1. समिति द्वारा सरकार के व्यापार को निम्नलिखित क्रम में निश्चित किया गया—

1. Govern Bills.
2. Bills as reported by Joint Committees.
3. Bills to be referred to a Joint Committee as proposed by Rajya Sabha.
4. Bills as reported by a Select Committee.
5. Bills as passed by Rajya Sabha.
6. Bills for reference to Joint Committee
7. Bills for reference to Select Committee.
8. Bills as reported by the Joint Committee of the two Houses and to be passed by Rajya Sabha.
9. Supplementary Demands for grants (General).
10. General Discussion on Railway Budget.
11. Discussion and voting on Demands for grants in respect of Railways.
12. General Discussion on the Budget (General).
13. Demands for grants—Budget (General) in respect of the vari us Ministries and Deptts.
14. Demands for excess grants (General).
15. Discussion on the President's Address.

स्पीकर को इस समिति का सभापति इसलिए बनाया जाता है क्योंकि यह जिस कार्य को सम्पन्न करती है उसमें पूरे सदन की स्वीकृति अनिवार्य समझी जाती है और स्पीकर एक ऐसा व्यक्ति होता है जिसे प्राय: सम्पूर्ण सदन का विश्वास प्राप्त होता है। सदन में समिति के प्रतिवेदन को स्पीकर द्वारा ही प्रस्तुत किया जाता है। इस प्रतिवेदन को स्वीकार करने के सम्बन्ध में जो मोशन (Motion) रखा जाता है उसे स्पीकर द्वारा निर्धारित समिति का कोई भी सदस्य रखता है। इस प्रकार के मोशनों को सदन द्वारा अस्वीकार करने या उन पर बाधा उत्पन्न करने के विरुद्ध लोकसभा के स्पीकर ने यह सिफारिश की थी कि यदि कार्य को संचालित करना है और यदि संसद को कुशल एव सही ढग से कार्य करना है तो कार्य सलाहकार समिति के प्रतिवेदन को स्वीकार करने के सम्बन्ध में रखे जाने वाले मोशनों को केवल औपचारिक समझा जाना चाहिए।[1] समिति की सिफारिशों को सर्वसम्मति से स्वीकार करने और उन्हीं के अनुसार व्यवहार करने के सम्बन्ध में एक जो तर्क दिया जाता है; क्योंकि इस समिति में सभी विरोधी दलों एवं समूहो के प्रतिनिधि होते हैं इसलिए इसके द्वारा जो सिफारिशें की जायं वे सभी के द्वारा मान्य एवं व्यवहृत होनी चाहिएं। स्पीकर ने तो यह भी कहा था कि सदन को समिति की सिफारिशें थोड़ा बहुत परिवर्तन किये बिना ही स्वीकार कर लेनी चाहिएँ। इस समिति के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे समिति में रहकर अपने दलों एवं समूहों के विचारों को स्पष्ट करें, उनका उल्लेख करें न कि अपने व्यक्तिगत विचारों का। यदि कार्य सलाहकार समिति द्वारा प्रस्तुत की गई सिफारिशों में भी संशोधन की आवश्यकता पड़ जाती है तो यह कार्य सदन को सौंपने का महत्व ही क्या हुआ? अच्छा यह रहता कि स्वयं सदन ही इस कार्य को कर लेता। यद्यपि समिति के अन्दर भिन्न-भिन्न मत प्रकट किये जाते हैं और अलग-अलग मत वाले राजनैतिक दलों के प्रतिनिधियों के बीच प्राय: विरोध भी पैदा हो जाते हैं किन्तु प्रयास सदैव ही यह किया जाता है कि समिति द्वारा जो निर्णय लिये जायँ वे सर्व सम्मति से लिये जायँ और इसके लिए पारस्परिक समायोजन कर लिया जाय। लोक सभा में साम्यवादी नेता श्री ए० के० गोपालन के कथनानुसार एक अभिसमय के अनुसार समिति की सिफारिशों को सदन द्वारा ज्यों की त्यों सर्व सम्मति से स्वीकार किया जाना चाहिए।[2] यद्यपि सदन में समिति की

---

16. Discussion on the report submitted by an Enquiry Commission appointed by the Govt
17. Discussion under Rule 193 of the motions.
18. No-day-yet-named-motions tabled by different members

1. '......if business is to be put through and if the Parliament is to function effeciently and properly, such motions to approve the report of the Business Advisory Committee are considered as only formal motions."

—Speaker's observation on the 28th July, 1955.

2. "....as a convention the recommendations of the Committee must be accepted by the House in toto."

—Lok Sabha Debates Part II. 26th July 1965 Cols. 8423—27.

सिफारिशों पर प्रत्येक सदस्य को अपना मत प्रकट करने का अधिकार होता है किन्तु इस अधिकार का प्रयोग करने के तरीके होते हैं। यदि कोई सदस्य कार्य सलाहकार समिति द्वारा निर्धारित समय से असंतुष्ट है तो उसे चाहिए कि वह बजाय कोई सशोधन प्रस्तुत करने के अपने दल के उस सदस्य के सम्मुख अपने असंतोष को व्यक्त करे जो कि कार्य सलाहकार समिति में उस दल का प्रतिनिधित्व कर रहा है। वह उस सदस्य को बता सकेगा कि किसी कार्य के लिए एक निश्चित समय क्यों तय किया गया था। समिति की सिफारिशों को क्रियान्वित करने से पूर्व सदन की सहमति ली जाती है और यदि नई परिस्थितियाँ उत्पन्न होने पर सदन का विचार कुछ और हो जाता है तो निर्णय को बदला जा सकता है।

व्यक्तिगत सदस्य की भांति यदि सरकार एक विशेष विधेयक को किसी विशेष दिन सदन में विचार के लिये लाना चाहती है और यदि उसके लिए कार्य सलाहकार समिति ने कोई समय निश्चित नहीं किया है तो समिति से विचार-विमर्श किया जा सकता है। कार्य सलाहकार समिति द्वारा किसी विषय के लिए जो समय निश्चित किया जाता है उस समय में यद्यपि स्पीकर को परिवर्तन करने की शक्तियां प्राप्त हैं किन्तु वह किसी भी विषय पर विचार के समय को केवल इसलिए बढ़ाता है ताकि समिति द्वारा निर्धारित दिन कार्यवाही को पूरा किया जा सके और उसकी व्यवस्था किसी अन्य दिन करने की आवश्यकता न हो।

राजस्थान विधान सभा में इस समिति द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया गया है। इसके सदस्यों में जिन व्यक्तियों को लिया जाता है वे सदन के माने हुए व्यक्ति होते हैं। सन् १९५७ में जब इस समिति का गठन किया गया तो इसमें सर्व श्री बदरीप्रसाद गुप्ता, राजा मानसिंह, भैरोंसिंह (१४), हरदेव जोशी और चन्दनमल वैद्य को सदस्य बनाया गया। सदन के अध्यक्ष इसके पदेन सभापति थे। सन् १९५८ में इस समिति के अन्य सदस्य प्रायः ज्यों के ज्यों रहे, केवल चन्दनमल वैद्य के स्थान पर श्री मोहब्बतसिंह को ले लिया गया। सन् १९५९ में समिति के चार सदस्य पूर्ववत् रहे तथा मोहब्बतसिंह को हटाकर दो नये सदस्य नियुक्त किये गये थे—सर्व श्री रघुवीरसिंह और श्री भानुसिंह। सन् १९६२ में जब यह समिति गठित की गई तो श्री हरदेव जोशी को छोड़कर अन्य सभी चेहरे नये थे। ये थे सर्वश्री मथुरादास माथुर, मानसिंह महार, भैरोंसिंह, तथा रामानन्द अग्रवाल। द्वितीय राजस्थान विधान सभा की कार्य-सलाहकार समिति ने बीस से अधिक प्रतिवेदन प्रस्तुत किये लग भग इतने ही प्रतिवेदन तृतीय राजस्थान कार्य सलाहकार समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये।

नियम समिति
(Rules Committee)

व्यवस्थापिका की कार्यवाही को संचालित करने में केवल समय की समस्या ही नहीं आती वरन् और भी कई महत्वपूर्ण प्रश्न होते हैं जिनके सम्बन्ध में नियम, उपनियम बनाना अनिवार्य हो जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद ११० (१) के अनुसार संसद के प्रत्येक सदन को यह शक्ति प्रदान

की गई है कि वे अपनी प्रक्रिया एवं व्यवहार के संचालन के लिए नियम बना सकें।

प्रत्येक व्यवस्थापिका के लिए कुछ नियमों का होना अत्यन्त आवश्यक है जिनके आधार पर यह निश्चित किया जा सके कि सदन में बोलते समय सदस्य-गण किस भाषा का प्रयोग करें और कैसे करें, सदन में वाद-विवाद पर क्या सीमाएं लगाई जायं, किसी विधेयक को किस तरह से प्रस्तुत किया जाय और किस प्रकार उसे पास किया जाय, वित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में क्या तरीका अपनाया जाय, आदि-आदि। जब इन विषयों के सम्बन्ध में स्पष्ट नियम बनाये जाते हैं तो संविधान के उपबंधों को पर्याप्त महत्व दिया जाता है। उनको निर्देशक मान कर चला जाता है। सदन में किसी भी ऐसे नियम को सदन की कार्यवाही का आधार नहीं बनाया जा सकता जो कि संविधान के प्रावधानों से भिन्न हो। सदन के नियमों का अपने आप में अत्यन्त महत्व हैं। मि० एस० एस० मूर (S. S. More) ने लिखा है कि एक व्यवस्थापिका की प्रक्रिया के नियमों के महत्व की अतिशयोक्ति करना बहुत कम सम्भव है। कार्य करने के लिए आचरण के ये नियम व्यवस्थापिका निकाय के लिए उतने ही मूल हैं जिस प्रकार कि कानून के न्यायालय के लिए प्रक्रिया की आचार-संहिता होती है।[1]

व्यवस्थापिका एक बड़े आकार का निर्वाचित निकाय होती है। इसकी कार्यवाही में इस बात की पूरी-पूरी सम्भावना रहती है कि सदस्यों के बीच गम्भीर झगड़ा हो जाये या भ्रम पैदा हो जाय। इस संभावना को मिटाने के लिए तथा व्यवस्थापिका को कुशलतापूर्वक संचालित करने के लिए यह जरूरी है कि इसके सदस्य अपने अधिकार एव उत्तरदायित्वों के बारे में सजग हों। व्यवस्थापिका के नियमों का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही दृष्टियों से अत्यधिक महत्व है। सर्वप्रथम इनके द्वारा बहुमत के कार्यों पर प्रतिरोध एवं नियंत्रण रखा जाता है। वे अधिकांश उदाहरणों में शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध अल्पसंख्यकों की रक्षा एवं सहारे का आधार होते हैं।[2] प्रजातन्त्र में शक्ति बहुमत के हाथ में रहती है और इस बात की प्रत्येक संभावना रहती है कि बहुमत के द्वारा अल्पमत के विरुद्ध शक्ति का दुरुपयोग किया जाय। बहुमत को शक्ति के दुरुपयोग के प्रलोभनों से केवल तभी रोका जा सकता है जबकि कुछ ऐसे नियम हों जिनका अल्पमत एवं बहुमत दोनों द्वारा

1. "It is hardly possible to exaggerate the importance of rules of procedure for a legislator. These rules for the conduct of business are as essential for a legislative body as a procedure to a court of law."

—*S. S. More*, Op. cit. P. 16.

2. "......operated as a check and controlled on the actions of the majority, and that they were, in many instances, a shelter and protection to the minority, against the attempts of power."

—*Mr. Onslow*, Quoted in S. S. More, P 17 and B.B. Jena, P. 243

सम्मान किया जाय और उनमें से कोई भी उनका उल्लंघन न कर सके। ये नियम बहुमत की स्वेच्छा पर आधारित न हों। नियमों का दूसरा लाभ यह है कि इनके पालन करने पर विचार-विमर्श में वस्तुगतता (Objectivity) आती है तथा वाद-विवाद एवं निर्णय लेने की प्रक्रिया में निष्पक्षता और न्यायपूर्णता का प्रभाव बढ़ जाता है। तीसरे, नियमों के अनुसार व्यवहार को एक सभ्य समाज का प्रतीक समझा जाता है और यदि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाला एवं सामान्य लोगों के जीवन को नियमित करने वाला निकाय ही यदि नियमानुसार कार्य न करे तो 'यथा राजा यथा प्रजा' वाली उक्ति के अनुसार जनता में अव्यवस्था फैलने की प्रत्येक सम्भावना रहती है। चौथे, नियमों के द्वारा प्रक्रिया के रूप को आवश्यक स्थापित्व प्रदान किया जाता है जिसे कि एक भारतीय स्पीकर द्वारा प्रजातंत्रात्मक माना गया है।[1] पांचवें, स्थापित्व से मिलता-जुलता ही एक दूसरा गुण जो नियमानुसार व्यवहार में प्राप्त होता है, यह है एकरूपता एवं नियमितता। मि० हैरसल (Harsel) के मतानुसार यह अत्यन्त अनिवार्य है कि व्यवस्था ईमानदारी, नियमितता एवं एकरूपता को एक सम्मानपूर्ण सार्वजनिक निकाय में बनाये रखा जाय।[2] छटे, जब एक व्यवस्थापिका कुछ नियमों के अनुसार व्यवहार करने की पद्धति को अपनाती है तो व्यवहार में समय की बचत होने लगती है क्योंकि किये जाने वाले कार्य के बारे में पहले से ही यह अनुमान लगा लिया जाता है कि कार्य किस प्रकार होगा तथा उसके आवश्यक नियम क्या हैं। प्रत्येक सदस्य को यह निश्चय रहता कि न तो वह और न अन्य कोई सदस्य ही इन नियमों का उल्लंघन कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में वह स्वयं यह प्रयास नहीं करेगा कि किसी प्रकार नियमों को भंग किया जाये और न ही इस भय से आतंकित रहेगा कि कोई अन्य सदस्य उसके हितों के विरुद्ध इन नियमों को मोड़ लेगा। इन सबके परिणामस्वरूप कार्यक्रम में एक व्यवस्था आती है तथा प्रत्येक विषय पर पर्याप्त रूप से विचार किया जा सकता है। सातवें, जब कार्यक्रम में एक व्यवस्था, निश्चितता, एकरूपता आदि गुण पाये जाते हैं तो कार्यवाही के बारे में किसी सदस्य के किसी प्रकार के भ्रम के लिए कोई गुन्जाइश नहीं रह जाती। कई बार एक कार्य को करने के लिए प्रक्रिया के अनेक विकल्प होते हैं, इन विकल्पों में किसको अपनाया जाय- यदि इस बात को नियम द्वारा निर्धारित कर दिया जाये तो भ्रम की सम्भावनाएं पूर्ण रूप से समाप्त हो जाती हैं।

---

1. "To my mind, it is essential for the best and most democratic functioning of the house that there should be stability of procedure, which should not be liable to change by implication with every decision of the house, even if the decision is unanimous"

   —L. A. Debates, Vol I (1947), 771-773

2. "It is very material that order, decency, regularity and uniformity be preserved in a dignified public body."

   —*Mr. Harsel*, Precedents of the Proceedings of House of Commons, Vol. II, Third Edition, P. 149

प्रत्येक व्यवस्थापिका को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपनी कार्यवाही के सम्बन्ध में सविधान के प्रावधानों के अनुसार नियम बना सके। पाल मेसन (Paul Mason) के कथनानुसार सदन की प्रक्रिया को नियंत्रित करने के संवैधानिक अधिकारों को इससे कोई भी न तो छीन सकता है और न ही उन्हें प्रतिबधित कर सकता है।[1] मैसन ने बताया है कि व्यवस्थापिका की प्रक्रिया के नियमों को विभिन्न स्रोतों से संग्रहीत किया जाता है, जैसे संविधान, स्वीकृत नियम, स्पीकर के निर्णय और रीति-रिवाज तथा प्रथाएं। जब कभी इन स्रोतों से प्राप्त नियमों के बीच संघर्ष उत्पन्न होता है तो उस नियम को मान्यता दी जाती है जिसके स्रोत का वर्णन पहले किया गया है।

व्यवस्थापिका को अपनी प्रक्रिया के सम्बन्ध में नियम बनाने की शक्ति निरन्तर रूप से प्राप्त रहती है। ऐसा इसलिए किया जाता है क्योंकि किसी भी व्यवस्थापिका द्वारा जो प्रक्रिया निर्धारित की जाती है वह अन्तिम, पूर्ण या सर्वश्रेष्ठ नहीं होती। एक मानवीय रचना होने के कारण प्रक्रिया के नियमों में निरन्तर सुधार होते रहना जरूरी है। जब परिस्थितियां बदल जाती हैं तो उनके प्रभाव से सदन की प्रक्रिया में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। मि० एस० एस० मूर (S. S. More) लिखते हैं कि कुछ परिस्थितियों में जो चीज बुद्धिपूर्ण एवं श्रद्धाजनक है वह दूसरी अवस्थाओं में अबौद्धिक एवं असुविधाजनक बन जाती है।[2] इस प्रकार बदली हुई परिस्थितियों में जब नियमों को बदला जाना जरूरी है तो यह भी आवश्यक है कि व्यवस्थापिका को यह शक्ति प्रदान की जाय कि वह समय-समय पर उन नियमों में आवश्यक परिवर्तन कर सके। नियम बनाने की एवं उनमें संशोधन करने की शक्ति का प्रयोग करते समय व्यवस्थापिका सदैव ही संविधान की सीमाओं में रहकर कार्य करेगी। व्यवस्थापिका का कोई भी ऐसा नियम मान्य नहीं हो सकता जो कि संविधान के प्रावधानों के विपरीत हो। ऐसा होने पर न्यायालयों द्वारा उसे अमान्य घोषित किया जा सकता है। इस प्रकार सदन को कोई ऐसा अधिकार नहीं सौंपा गया है जिसके द्वारा वह संविधान के प्रावधानों का उल्लंघन कर सके। जहां तक नियमों का सवाल है उनके सम्बन्ध में कोई भी बाह्य सत्ता सदन की शक्ति में हस्तक्षेप नहीं कर सकती। सविधान के अनुच्छेद १२२ द्वारा न्यायालयों को संसद की कार्यवाही के बारे में जाँच करने से रोक दिया गया है। न्यायालय किसी प्रकार की अनियमितता के आधार पर संसद से प्रश्न नहीं कर सकता। जिन नियमों की रचना सदन द्वारा की गई है यदि उनका उल्लंघन किया जाता है तो न्यायालय उनकी वैधता पर विचार नहीं कर सकते। सदन द्वारा बनाये गये नियमों को अस्वीकृत किया जा सकता है, उन्हें बदला जा सकता है, उनको छूट दी जा सकती है तथा उनको कुछ समय के लिए रोका जा सकता है।

---

1. *Paul Mason*, Mason's Manual of legislative procedure, PP. 32-33.
2. "What is rational and convenient under one set of circumstances becomes a irrational an inconvenient under another set of conditions."

—*S. S. More, op. cit.*, P. 16

जब किसी सदस्य को ऐसा प्रतीत हो कि एक विशेष प्रश्न पर विचार करते समय उससे सम्बन्धित नियम को यदि रोक दिया जाय तो अधिक उपयोगी रहेगा, क्योंकि वह ऐसा करने के लिए स्पीकर से प्रार्थना करेगा और उसकी स्वीकृति के बाद सदन के सम्मुख तत्सम्बन्धी एक मोशन (Motion) लायेगा। यदि यह मोशन स्वीकार कर लिया जाता है तो वह नियम कुछ समय के लिए रोक लिया जाता है। स्पीकर का समर्थन प्राप्त होने पर सदन द्वारा बनाये गये सभी नियमों को सदस्यों के बहुमत से निलंबित किया जा सकता है। इस प्रकार से नियम लोचशील होते हैं। यह नियमों का निलंबन सदन में साधारण बहुमत द्वारा किया जाना चाहिए अथवा कुल सदस्यता के कम से कम २/३ के बहुमत द्वारा, जैसा कि संयुक्त राज्य अमरीका में किया जाता है। इस सम्बन्ध में अमरीकी पद्धति को अपनाने का एक खतरा यह है कि यदि सदन में कोई शक्तिशाली विरोधी दल नहीं हुआ तो अल्पसंख्यकों के हितों के विरुद्ध बहुमत द्वारा नियमों को मनमाने ढंग से रखा जायेगा। इस नियम को निलंबित करने की सूचना तीन दिन पूर्व दिया जाना जरूरी है ताकि अल्पसंख्यकों को भी इसकी सूचना समय पर प्राप्त हो सके।

राजस्थान विधान सभा ने अपनी प्रक्रिया के लिए बहुत पहले से ही नियमों की रचना कर ली है। इनमें समय-समय पर अनेक परिवर्तन, परि-वर्द्धन एवं संशोधन होते रहे हैं। आजकल सदन द्वारा जिन नियमों के आधार पर कार्य किया जाता है वे अत्यन्त समयानुकूल, व्यावहारिक एवं व्यवस्था-जनक हैं। इसका उत्तरदायित्व नियम समिति को है जो कि समय-समय पर उनके सम्बन्ध में सलाह देती रहती है। प्रक्रिया के नियमों के अनुसार सदन की प्रक्रिया एवं आचरण से सम्बन्धित विषयों पर विचार करने के लिए एक नियम समिति होती है जो कि आवश्यकता के अनुसार इन नियमों के लिए कोई भी संशोधन या परिवर्द्धन की सिफारिश करती है।[1] नियम समिति (Rules Committee) की नियुक्ति स्पीकर द्वारा की जाती है इसमें समिति के सभापति सहित दस सदस्य होते हैं। स्पीकर को समिति का पदेन सदस्य बनाया गया है।[2] इस समिति के संगठन की दो विशेषताएं मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रथम तो यह है कि इसमें सत्ताधारी दल को पर्याप्त स्थान दिया जाता है और दूसरे यह कि इस समिति की सदस्यता में निरन्तरता पाई जाती है।

इस समिति की रचना के आधार पर प्रो० बी० बी० जेना (B B. Jena) ने इसे 'स्पीकर की समिति' कहा है।[3] यह समिति जो सिफारिशें करती है उनको सदन की मेज पर रखा जाता है और इस दिन से लेकर सात दिन तक के समय में कोई भी सदस्य किसी सिफारिश में संशोधन करने की सूचना दे सकता है। समिति की किसी भी सिफारिश के बारे में जब

1. Rule—246
2. Rule—247
3. "But one can say in a way it is the speakers committee he is there as chairman and his nominates are its members."
—*B. B. Jena*, op. cit., P. 249

कोई संशोधन प्रस्तुत किया जाता है तो उसे समिति के सम्मुख विचारार्थ रख दिया जाता है। समिति पर्याप्त विचार करने के बाद यह निर्णय करती है कि वह अपनी सिफारिश में कहां और किस प्रकार का संशोधन करे। संशोधनों को अपना लेने के बाद अन्तिम रूप से प्रतिवेदन को सदन की मेज पर रखा जाता है। इसके बाद जब सदन समिति के सदस्य द्वारा किये गये मोशन के आधार पर प्रतिवेदन को स्वीकार कर लेता है तो सदन द्वारा स्वीकृत संशोधनों को स्पीकर बुलेटिन (Bulletin) में स्थान दे देता है। जब समिति किसी सुझाये गए संशोधन पर विचार कर रही होती है तो वह संशोधन करने वाले सदस्य को अपने विचार प्रगट करने के लिए आमन्त्रित कर सकती है। उसके विचारों को सुनने के बाद समिति प्रस्तावित संशोधन के सभी पहलुओं पर पर्याप्त रूप से विचार करती है और अपने निर्णयों को प्रतिवेदन में स्थान देती है। समिति के सदस्यों के अतिरिक्त समिति के सभापति द्वारा इसकी बैठकों में सदन के अन्य सदस्यों को भी आमन्त्रित किया जा सकता है। प्रायः उन्हीं सदस्यों को आमन्त्रित किया जाता है जो कि विचारणीय विषय में अपने विशेष हित रखते हैं। इस प्रकार विभिन्न हितों को स्थान देकर समिति अपने प्रतिनिधित्वपूर्ण चरित्र का निर्वाह करती है। जब समिति प्रथम बार अपने प्रतिवेदन को सदन के सामने रखती है और उसके बाद सात दिन के अन्दर–अन्दर कोई संशोधन प्रस्तावित नहीं किया जाता तो यह मान लिया जाता है कि सदन ने प्रतिवेदन पर अपनी स्वीकृति दे दी। कोई भी संशोधन उसी समय प्रभावी माना जाता है जबकि उसे बुलेटिन में प्रकाशित कर दिया जाय। भारतीय संसद में १९५४ से पूर्व यह व्यवस्था थी कि लोकसभा के कार्यवाही एवं प्रक्रिया के नियमों में संशोधन करने का अधिकार स्पीकर द्वारा प्रयुक्त किया जाता था। नियम समिति की सिफारिशों के आधार पर स्पीकर सदन की प्रक्रिया के नियमों में संशोधन कर देते थे किन्तु इस व्यवस्था की वैधता को तथा स्पीकर की शक्तियों को चुनौती दी गई और गम्भीर रूप से इसके विरुद्ध ऐतराज किया गया। इसके परिणाम स्वरूप नियमों में संशोधन करने या कुछ जोड़ने का तरीका पूरी तरह से बदल दिया गया। २० सितम्बर, १९५४ को होने वाली अपनी बैठक में लोकसभा की नियम समिति ने यह निर्णय लिया कि उनकी सिफारिशों को पहले सदन द्वारा स्वीकार कर लिया जाना चाहिए। उसके बाद ही प्रक्रिया के नियमों में किसी प्रकार का संशोधन करना चाहिए। १५ अक्टूबर, १९५४ से नवीन व्यवस्था को अपना लिया गया। इसके अनुसार नियमों में संशोधनों एवं परिवर्तनों का प्रस्ताव, नियम समिति द्वारा किया जाता है और इसे स्वीकृति के लिए सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। जब सदन द्वारा प्रतिवेदन को मान्यता दे दी जाती है तो प्रस्तावों को क्रियान्वित किया जाता है।

जनलेखा समिति

[Public Accounts Committee]

जनलेखा समिति का सम्बन्ध सार्वजनिक वित्त से होता है। यह सदन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समिति है क्योंकि इसी के माध्यम से सदन द्वारा कार्यपालिका पर वित्तीय नियन्त्रण स्थापित किया जाता है जिसके अभाव में

सार्वजनिक धन का स्वामित्व उसके हाथ से निकलकर एक छोटे निकाय अर्थात् कार्यपालिका के हाथों में चला जाता है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था का यह एक मुख्य सिद्धान्त माना जाता है कि जनता करों द्वारा प्राप्त किए गए धन पर जनता के प्रतिनिधियों का ही नियन्त्रण रहे। विनियोग अधिनियम पास करके संसद सरकार को यह शक्ति प्रदान करती है कि वह सचित निधि (Consolidated fund) में से धन निकाल सके तथा उस धन को उसी प्रकार खर्च कर सके जैसा कि बजट की मदो में निर्धारित किया गया है। करदाताओं को यह आश्वासन देने के लिए कि उनके धन का दुरुपयोग नहीं किया जायेगा, व्यवस्थापिका में जनता के प्रतिनिधियों को यह शक्ति दे दी जाती है कि वे किए जाने वाले खर्च पर नियन्त्रण रख सकें। व्यवस्थापिका निरन्तर इस बात की जानकारी रखती है कि धन उसी प्रकार तथा उन्हीं कार्यों पर खर्च किया जा रहा है जो कि मतदान द्वारा उसने निश्चित किए हैं। यदि सरकार द्वारा व्यवस्थापिका के वित्तीय अधिकारों को चुनौती दी जाये अथवा उसकी इच्छाओं एवं निर्णयों का व्यवहार में उल्लंघन किया जाए तो इसे प्रजातंत्रात्मक व्यवस्था के विपरीत व्यवहार माना जाएगा।

यद्यपि यह आशा की जाती है कि कार्यपालिका द्वारा जो भी कार्य किया जाएगा वह बचतपूर्ण एव कुशलतापूर्वक जनहित की प्राप्ति के लिए किया गया प्रयास होगा; किन्तु दूसरी ओर सत्ता एव स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की सम्भावनायें भी कम नहीं हैं। व्यावहारिक परिणामों के प्रति सजग रहते हुए व्यवस्थापिका के लिए कुछ ऐसे अभिकरण का संगठन करना जरूरी हो जाता है जो यह देखता रहे कि सरकार द्वारा व्यवस्थापिका की इच्छाओं एव निर्देशों का विश्वास ईमानदारी एवं स्वामिभक्ति पूर्वक क्रियान्वयन किया जा रहा है और जहां कहीं ऐसा नहीं किया जा रहा हो उसकी तुरन्त ही सूचना उसे दे दी जाए। व्यावहारिक दृष्टि से यह माना जाता है कि प्रत्येक कार्य पर नियन्त्रण स्थापित नहीं किया जा सकता और न ही ऐसा करना जरूरी है। कई बार यह ज्ञात होने पर भी कि कार्य कुशलतापूर्वक एवं बुद्धिपूर्वक नहीं किया जा रहा है उस कार्य की कमियों का उल्लेख करना उपयोगी नहीं समझा जाता क्योंकि सम्भावना यह रहती है कि भविष्य में उससे सुधार होने की अपेक्षा नुकसान अधिक होगा। अतः उचित यह रहेगा कि दोनों ही अतिशयों के बीच का मार्ग अपनाया जाय अर्थात् नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण रहे किन्तु इतना नहीं कि वह सरकार को क्रियाहीन बना दे। जे० एन० मिल (J. S. Mill) ने बहुत समय पूर्व ही यह बताया था कि सदन को अपने ही अभिकरण द्वारा सरकार पर निगरानी एवं नियन्त्रण रखना चाहिए ताकि उसके कार्यों को प्रचारित किया जा सके। उनमें से उन सभी कार्यों को न्यायोचित एवं समर्थित किया जा सके जिन्हें किसी के द्वारा आपत्तिजनक माना जाय और यदि वे वास्तव में आपत्तिजनक हैं तो उन पर रोक लगा दी जाय।[1]

---

1. "The house, through its own agency, is exposed to watch and control the Government, to throw the light of publicity on its acts, to compel a full exposition and justification of

जन–लेखा समिति की प्राप्तियों एवं जांच का बहुत महत्व होता है। इसके द्वारा की गई सिफारिशों को सदन में वाद–विवाद के समय उद्धरित किया जाता है साथ ही इसमें दिये गये आंकड़ों को, सार युक्त आंकड़े माना जाता है। ग्रेट ब्रिटेन एवं भारतवर्ष में जन–लेखा–समिति की सिफारिशों को देखने के बाद यह कहा जाता है कि इन्हें व्यावहारिक दृष्टि से पर्याप्त महत्व प्राप्त है और बहुत कम अवसर ऐसे आते हैं जबकि मन्त्रियों द्वारा इनकी अवहेलना की जाये। जनलेखा–समिति के कार्यों में सदन द्वारा अधिक नियन्त्रण नहीं रखा जाना चाहिए। अधिक हस्तक्षेप की स्थिति में समिति द्वारा किये जाने वाले कार्यों का महत्व एवं क्षेत्र कम हो जाता है। अपने स्वरूप, कार्यक्षेत्र एवं स्थिति के परिणामस्वरूप जन-लेखा-समिति सार्वजनिक धन के अपव्यय एवं दुर्व्यय पर प्रभावशाली नियन्त्रण का कार्य करती है और इस प्रकार सार्वजनिक वित्त पर संसदीय नियन्त्रण को प्रभावशाली बना देती है।

भारत में जन-लेखा-समिति के सम्बन्ध में १९२० के भारतीय व्यवस्थापिका नियमों में प्रावधान किया गया था। जन लेखा-समिति का ब्रिटिश काल में इतना शीघ्र ही जन्म होने का कारण यह था कि तत्कालीन महाधिवक्ता (Auditor General) सर फ्रेडरिक गोनलेट (Sir Frederic Gaunlett) ने इसके लिए बहुत प्रयास किया। उनका कहना था कि संवैधानिक विकास का स्तर चाहे कुछ भी हो किन्तु सरकार के वित्तीय कार्यों को व्यवस्थापिका की समिति की जांच के लिए रखा जाना चाहिए। इस काल में जन-लेखा समिति पूरी तरह से एक निर्वाचित निकाय नहीं थी। उसमें कुछ सदस्य चुने हुए होते थे और कुछ को नामजद किया जाता था। १९३५ के संविधान में एक विशेष प्रावधान द्वारा यह व्यवस्था की गई कि लेखों तथा आडिट के प्रतिवेदन को व्यवस्थापिका की मेज पर रखा जाना चाहिए। प्रक्रिया के नियमों के अनुसार एक जन–लेखा–समिति की नियुक्ति का प्रबन्ध किया गया जो कि लेखों तथा आडिट के प्रतिवेदन की जांच कर सके। नये भारतीय संविधान में आडिट तथा लेखों के प्रतिवेदन को राष्ट्रपति के लिए प्रस्तुत करने की व्यवस्था की गई है जो कि उसे सदन के सामने रखेगा। इसके अतिरिक्त सदन द्वारा एक जन–लेखा समिति की नियुक्ति की जायेगी जो कि इन लेखों एवं आडिट से सम्बन्धित प्रतिवेदन की जांच कर सके।

जन–लेखा–समिति का संगठन प्रथम बार सन् १९५१ में किया गया जबकि इसमें लोकसभा से लिए गये पन्द्रह सदस्य थे। इस प्रकार मूल रूप से यह लोक सभा की समिति थी। राज्य सभा के सदस्यों ने इस बात पर जोर दिया कि या तो उनको एक अलग जन–लेखा समिति बनाने दी जाय अथवा वर्तमान समिति में उसके प्रतिनिधियों को भी लिया जाय, क्योंकि ऐसा होने पर ही वह बजट से सम्बन्धित वाद–विवाद में प्रभावशील रूप में भाग ले सकती है और विनियोग विधेयक पर अपने विचार प्रगट कर सकती है। जनवरी, १९५३ में राज्य सभा की नियम समिति ने जन–लेखा समिति की रचना का सुझाव दिया जिसे लोकसभा के पास भेजा गया। इस सुझाव में यह मांग की गई थी कि जन–लेखा समिति के सदस्यों की संख्या को पन्द्रह से बढ़ाकर बाईस कर दिया जाय और सात सदस्य राज्य सभा से लिए जायं। लोकसभा की जन–लेखा समिति ने बताया कि संयुक्त जन–लेखा समिति या

राज्य सभा की पृथक जन–लेखा समिति, संविधान के प्रावधानों से विपरीत है और इसलिए स्पीकर को लोकसभा एव उसकी जन–लेखा समिति के विशेष अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाने चाहिए। अन्त में लोकसभा की समिति ने भी इस विषय पर विचार किया और जन–लेखा समिति के निर्णयों के साथ सहमति प्रकट की। राज्य–सभा लगातार अपने प्रस्ताव को दोहराती रही और अन्त में मई १९५३ में प्रधान मन्त्री द्वारा एक मोशन उठाकर उसकी मांग को स्वीकार कर लिया गया। लोक-सभा के अनेक सदस्यों ने इस व्यवहार के प्रति विरोध प्रकट किया और कहा कि आज जन–लेखा–समिति की बात हो रही है, कल प्राक्कलन–समिति के बारे में यही कहा जायेगा। संविधान द्वारा जिस कार्य को करने के लिए मना किया गया है उसी को करने के लिए इस मोशन द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से अनुमति दी गई है। एक सदस्य के पूछने पर स्पीकर ने बताया कि विस्तार हो जाने के बाद भी यह समिति लोकसभा की समिति के रूप में ही कार्य करेगी और लोकसभा के स्पीकर के नियंत्रण में रहेगी। जहां तक जन–लेखा समिति का सवाल है उसे एक ऐसी संयुक्त समिति नहीं कहा जा सकता जिसमें कि दोनों सदनों को समान अधिकार प्राप्त हों। यह मूल रूप से लोकसभा की ही समिति है जिसमें कि राज्य सभा के कुछ सदस्यों को मिला लिया गया है। जहां तक कार्यवाही एव मतदान का प्रश्न है इस सम्बन्ध में सभी सदस्यों का समान स्तर होगा। यहां तक कि राज्य सभा के सदस्य भी राज्य–परिषद् के सभापति के नियन्त्रण में कार्य करने की अपेक्षा लोकसभा के नियन्त्रण में कार्य करेंगे।

कुछ विचारकों के कथनानुसार केन्द्रीय स्तर पर जन–लेखा समिति की वर्तमान रचना बहुत कुछ संतोषजनक है क्योंकि सार्वजनिक प्रशासन में बचत एवं कार्यकुशलता के प्रश्न से दोनों ही सदनों को समान रूप से सम्बन्धित होना चाहिए। इसके अतिरिक्त यह भी मानना गलत है कि राज्य सभा कोई प्रतिनिधि निकाय नहीं है। राज्य सभा की तुलना ग्रेट ब्रिटेन की लार्ड–सभा से नहीं की जा सकती। वर्तमान व्यवस्था इसलिए भी संतोषजनक है क्योंकि दो समितियों का गठन भी आपत्तिजनक था। जैसा कि मि० ए० आर० मुकर्जी ने बताया है कि यदि दोनों सदनों की दो अलग–अलग जन–लेखा समितियाँ घटित करदी जातीं तो सरकारी विभागों को बहुत परेशानी हो जाती; उन्हें दो समितियों के सम्मुख दो बार मिलना होता।[1] यह तर्क बहुत कुछ सत्यता रखता है क्योंकि एक ही विषय पर दोनों समितियों द्वारा जांच की जा सकती थी और ऐसी स्थिति में दोनों ही समितियां सम्बन्धित विभाग से पूछ–ताछ करतीं। इस प्रकार की सम्भावनाएं प्रायः प्राक्कलन समिति के अस्तित्व के कारण भी पैदा हो जाती हैं। यह समिति भी एक आर्थिक समिति होती है और इसे प्रत्येक उस विषय पर जांच करने का अधिकार होता

1. "They would have to appear twice before the two committees."

—*A. R. Mukherjee*, Parliamentary Procedure in India, 1958, P. 230

है जिसे कि ये चाहे। जन-लेखा समिति के साथ इस समिति के हितों का संघर्ष इसलिए नहीं हो पाता क्योंकि दोनों के बीच पर्याप्त समन्वय की स्थापना कर दी जाती है। इस प्रकार दो जन-लेखा समितियों के होने से उनके बीच कार्यों का संघर्ष पैदा हो सकता था। इस संघर्ष को मिटाने के लिए कुछ लोगों द्वारा यह सुझाव दिया गया कि दोनों समितियों के सभापतियों की नियमित बैठक बुला कर उनके बीच कार्य का विभाजन सही-सही किया जा सकता था। किन्तु इस स्थिति से भी एक अन्य समस्या पैदा होती है वह यह है कि यदि किसी विशेष विषय पर दोनों समितियों का दृष्टिकोण अलग-अलग हो तो सरकार को किसका मत स्वीकार करना चाहिए।[1] दो समितियों की रचना के विरुद्ध दिये जाने वाले इन तर्कों के बावजूद भी कुछ लोग इस आधार पर दो समितियों की व्यवस्था का समर्थन करते हैं कि इससे जन-लेखा समिति को अपना कार्य पूरा करने में सुविधा रहेगी। वैसे वर्तमान स्थिति में यह समिति केवल कुछ विभागों की ही जांच कर पाती है अतः इसे सहयोग के लिए अन्य निकाय की आवश्यकता है। उप-समितियां नियुक्त करने के बाद भी यह अपने कार्य को भली प्रकार से सम्पन्न नहीं कर पाती। इसके अतिरिक्त लोक सभा एक कार्यरत निकाय है। उसके सदस्यों को राहत देने के लिए राज्य सभा की यह समिति नियुक्त कर दी जाये तो अत्यन्त उपयोगी रहेगा। कुल मिलाकर यदि राज्य-सभा की अपनी जन-लेखा समिति का गठन होने लगे तो अत्यन्त उपयोगी रहेगा। इस प्रबन्ध को संविधान के उपबंधों के विपरीत मानकर अस्वीकृत कर दिया गया।

केन्द्रीय स्तर पर जन-लेखा-समिति का संगठन इस प्रकार है कि इसमें लोकसभा के पन्द्रह सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन प्रतिवर्ष एकल संक्रमणीय-पद्धति के आनुपातिक सिद्धांत के आधार पर होता है। कोई मंत्री इस समिति में नहीं चुना जा सकता। यदि ऐसा हो जाय तो उसे अपना एक पद छोड़ना होता है। राजस्थान विधानसभा में भी केन्द्रीय संसद की भांति एक जनलेखा समिति है। इस समिति में अधिक से अधिक दस सदस्य हो सकते हैं जिनको सदन द्वारा अपने में से प्रतिवर्ष एकल संक्रमणीय पद्धति के आनुपातिक सिद्धांत के आधार पर निर्वाचित किया जाता है। राजस्थान में भी यही प्रावधान है कि कोई मन्त्री समिति का सदस्य निर्वाचित नहीं हो सकता। यदि किसी को समिति में निर्वाचित होने के बाद मन्त्री नियुक्त कर दिया जाये तो वह ऐसी नियुक्ति के दिन से ही समिति का सदस्य नहीं रहेगा।[2] इस समिति का कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नहीं होगा।[3] समिति के निर्वाचित गठन के विरुद्ध यह कहा जाता है कि इसमें अनुभवी सदस्य आने

---

1. "....if the two committees differ in their views on any particular matter, they (Govt. department) would not know to whom to hearken, the voice of *Delphi* or *the voice of* Doaona."

—Ibid

2. Rule—230 (1)
3. Rule—230 (2)

से वंचित रह जाते हैं क्योंकि पूर्ववर्ती सदस्यों का चुना जाना निश्चित नहीं होता। प्रतिवर्ष समिति में कई एक नये चेहरे दिखाई देते हैं। लोकसभा की जनलेखा समिति के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जनलेखा-समिति के निर्वाचन के विरुद्ध दिया गया यह तर्क राजस्थान विधानसभा की जनलेखा-समिति के बारे में इतना सारयुक्त प्रतीत नहीं होता। यहां यद्यपि प्रतिवर्ष नये सदस्यों को समिति के कार्य में अनुभव प्राप्त करने का अवसर प्रदान किया जाता है किन्तु फिर भी अनुभवी एवं वरिष्ठ सदस्य पर्याप्त मात्रा में स्थान पा जाते हैं। इस कथन की सत्यता निम्नलिखित टेबिल से स्पष्ट हो जाती है—

Year	Total Members	New Comers	Percent	Remarks
1953	10	10	100 (base year)	
1954	10	4		
1955	10	5		
1956	10	1		
1957	10	2		
1958	10	4		
1959	10	2		
1960	10	1		
1961	10	2		
1962	10	4		
1963	10	5		
1964	10	6		
1965	10	6		

उक्त टेबिल को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि राजस्थान विधानसभा के सदस्य निर्वाचन द्वारा भी अनुभवी एवं वरिष्ठ व्यक्तियों को ही अवसर प्रदान करते हैं इसलिए यहां उन सुझावों का कोई महत्व नहीं है जो कि कुछ विचारकों द्वारा सदस्यों में निरन्तरता स्थापित करने के लिये दिये जाते हैं।[1]

जनलेखा-समिति में सभी दलों को सदन में उनकी शक्ति के अनुपात के आधार पर स्थान दिया जाता है अतः यह स्वाभाविक है कि सत्ताधारी दल को इसमें बहुमत प्राप्त रहता है। समिति का सभापति प्रायः सत्ताधारी दल का सदस्य होता है। जहां तक समिति की कार्यवाही का प्रश्न है वह दलगत भावना से बिल्कुल प्रभावित नहीं होती। सत्ताधारी एवं विरोधीपक्ष दोनों ही प्रकार के सदस्य समिति के लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रायः सहयोगपूर्ण रूप से कार्य करते हैं। सत्ताधारी दल के सदस्य हमेशा इस बात में रुचि लेते हैं कि प्रशासनिक कार्यों को बचत एवं कार्यकुशलता के साथ सम्पन्न किया जाय और यदि अपव्यय एवं अनियमितता के मामलों को खोल दिया जाय तो

---

1. सदस्यों की निरन्तरता के लिए मि० बी. बी. जेना ने यह सुझाव दिया है कि सदस्यों को निर्वाचित करने की अपेक्षा उन्हें मनोनीत करने का स्पीकर को अधिकार दिया जाना चाहिए अथवा निगमों में संशोधन करके निर्वाचित सदस्यों का कार्यकाल लोकसभा के समकक्ष बना दिया जाय।—बी बी जेना, वही पुस्तक, पृष्ठ १८२

यद्यपि तत्काल तो बुराई मिलती है लेकिन भविष्य में इससे अच्छा प्रशासन एवं बचतपूर्ण प्रशासन प्राप्त होगा; और इस प्रकार सरकार को प्रसिद्धि एवं स्थायित्व प्राप्त होगा। दूसरी ओर विरोधी दल के सदस्य भी करदाताओं के प्रतिनिधियों के रूप में यह प्रयास करते हैं कि प्रशासन को कुशलता एवं बचत के साथ सम्पन्न किया जाय। इसके अतिरिक्त विरोधी दल के सदस्यों को भी यह ज्ञात रहता है कि यदि उन्होंने दलीय आधार पर कार्य किया तो नुकसान उन्हीं का होगा क्योंकि सत्ताधारी दल के सदस्य अपने बहुमत के आधार पर अपनी इच्छाओं को क्रियान्वित कर लेंगे किन्तु दलीय आधार पर विरोधी दल के सदस्य अपनी एक भी इच्छा को क्रियान्वित नहीं करा सकते। समिति का सभापति स्पीकर द्वारा समिति के सदस्यों में से ही मनोनीत किया जाता है। यदि उपाध्यक्ष समिति का सदस्य हो तो वह पदेन सभापति बन जाता है। समिति के सभापति का यह मुख्य उत्तरदायित्व है कि सारा कार्य ईमानदारी एवं नेक भावना से किया जाय, औपचारिकता एवं नियमितता अपनाई जाय तथा सरकार के अपव्यय, अबुद्धिपूर्ण एवं अकार्यकुशल व्यवहार के विरुद्ध शक्ति के साथ लड़ा जाय। जनलेखा–समिति के निर्णयों को सफलता की सीमाओं तक पहुंचाना भी इसका उत्तरदायित्व होता है। जहाँ तक राजस्थान विधान सभा का संबंध है, समिति का सभापति सदैव सत्ताधारी दल का सदस्य होता है। निम्नलिखित टेबिल द्वारा यह कथन स्पष्ट हो जाता है—

Year	Name of the Chairman	No. of years Served as Chairman
1953	Kapil Deo Agrawal	One year
1954	Dwarkadas Purohit	Three years
1955	,, ,,	
1956	,, ,,	
1957	Harideo Joshi	Eight years
1958	,, ,,	
1959	,, ,,	
1960	,, ,,	
1961	,, ,,	
1962	,, ,,	
1963	Harideo Joshi	
1964	,, ,,	
1965	(Phool Chand Joshi since 5th June, 1965)	Two years
1966	Phool Chand Jain	

राजस्थान विधान सभा की जनलेखा–समिति द्वारा उन लेखों का परीक्षण किया जाता है जो कि सदन द्वारा प्रदत्त अनुमान का दिग्दर्शन करते हैं या राज्य के व्यय का उल्लेख करते हैं। यह राज्य के वार्षिक वित्तीय लेखों का परीक्षण करती है तथा उन लेखों को देखती है जो कि सदन के सम्मुख पेश किये जायें। यह समिति राज्य के विनियोग लेखों तथा उन पर कम्प्ट्रोलर एवं आडीटर जनरल के प्रतिवेदन की गहरी छानबीन करती है। ऐसा करते समय वह मुख्य रूप से जिन बातों का ध्यान रखती है वे हैं—(i) लेखों द्वारा

जिस धन को खर्च किया हुआ बताया गया है क्या वह कानूनी रूप से उन्हीं सेवाओं एवं लक्ष्यों के लिए था जिनमें कि उसे लगाया गया। (ii) जो व्यय हुआ, क्या वह सही सत्ता द्वारा किया गया। (iii) क्या प्रत्येक पुनर्विनियोग को उपयुक्त सत्ता द्वारा बनाये गये नियमों के प्रावधानों के अनुरूप ही रखा गया।[1] समिति का यह भी कर्त्तव्य होगा कि राज्य-नियमों, व्यापारिक एवं निर्माण योजनाओं तथा प्रोजेक्टों के आय तथा व्यय का वर्णन करने वाले लेखों का परीक्षण करे। साथ ही उनके हानि-लाभ का भी पूरा अध्ययन करे। समिति द्वारा उन स्वायत्त एवं अर्ध-स्वायत्त निकायों के आय-व्यय के लेखों का भी परीक्षण किया जाता है जिनका अंकेक्षण (Audit) राज्यपाल अथवा विधान सभा के कानन के निर्देशन के अनुसार भारत के कम्पट्रोलर तथा आडीटर-जनरल द्वारा किया जाता है। जब कभी राज्यपाल के कहने पर कम्पट्रोलर तथा आडीटर-जनरल किसी स्टोर या स्टाक की प्राप्तियों का अंकेक्षण करता है अथवा उनके लेखों की परीक्षा करता है तथा प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है तो समिति उस प्रतिवेदन पर विचार करती है।[2] जब किसी वित्तीय वर्ष में किसी सेवा पर सदन द्वारा स्वीकृत धन से अधिक धन खर्च कर दिया जाता है तो समिति प्रत्येक मामले के तथ्यों का अध्ययन करती है तथा उन परिस्थितियों को देखती है जिनके कारण यह अतिरिक्त व्यय किया गया और उसके बाद जैसा उपयुक्त समझती है वैसी ही सिफारिशें करती है।[3]

जन-लेखा समिति के कार्यों का प्रसार देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि यह समिति कितनी महत्वपूर्ण है। इसके द्वारा जनता के धन के अपव्यय, गबन, अनियमितता, गैर-कानूनी व्यवहार आदि के द्वारा किए जाने वाले दुरुपयोग को रोका जाता है। उत्तर प्रदेश की विधान-परिषद के सभापति श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर के कथनानुसार "जन-लेखा समिति का कार्य एक बड़ी भारी बात है क्योंकि प्रजातंत्र में जब तक सही हिसाब रखना और सही हिसाब रखकर जनता के सामने आना, इस पर जोर नहीं देंगे और लोग उसके महत्व को नहीं समझेंगे तब तक गणतंत्र नहीं चल सकता।"[4]

जन-लेखा समिति अपने कार्य को सुचारू रूप से संचालित करनेके लिए उप-समितियां नियुक्त करती है। राजस्थान विधानसभा की सन् १९५८ की जन-लेखा समिति ने तीन उप-समितियां गठित कीं। इनमें से एक को सहायता एवं पुनर्वास विभाग के लेखाओं की जांच करने का कार्य दिया गया। शेष दो में से प्रथम उप-समिति गबन के मामले, विभिन्न मामलों में राज्य के विभिन्न अधिकारियों के विरुद्ध की जाने वाली विभागीय जांच तथा राज्य के पक्ष या विरोध में मुकदमों की जांच के लिए बनायी गई। दूसरी उप-समिति का संबंध विभिन्न विभागों द्वारा दिये गये ऋण एवं अग्रिम, सरकारी बकायात की वसूली और राज्य की ओर से गैर-सरकारी एवं सरकारी औद्योगिक संस्थाओं

1. Rule—229 (2)
2. Rule—229 (3)
3. Rule—229 (4)
4. U P. L. C., 4th Report of the Committee on Govt. Assurances, May, 1963.

में किया गया धनराशि का नियोजन आदि विषयों की जांच करने से था। बाद वाली दोनों ही उप–समितियां अगस्त, १९५८ में गठित की गई थीं।[1]

सन् १९५९ की राजस्थान विधान सभा की जन-लेखा समितिने बताया कि राज्य–सरकार द्वारा राज्य की भिन्न-भिन्न निजी संस्थाओं को पर्याप्त आर्थिक सहायता एवं ऋण आदि प्रदान किया जाता है अतः इस राशि के उपयोग पर पूर्ण नियन्त्रण रखना आवश्यक है। समिति ने यह निर्णय लिया कि जिन संस्थाओं को राज्य-सरकार काफी आर्थिक सहायता देती है उसके लेखाओं की जांच जन-लेखा समिति कर सकेगी बशर्ते कि ऐसी जांच के लिए कानून अथवा सम्बन्धित इकरारनामे में प्रावधान हो। साथ ही यह भी निर्णय लिया गया कि जिन गैर-सरकारी उद्योग संगठनों आदि को सरकार से सहायता अनुदान (Grant-in-aid) मिलता हो उनके लेखाओं की आडिट द्वारा परीक्षणात्मक जाँच (Test audit) प्रारम्भ कराई जाये।[2]

जनलेखा-समिति द्वारा विभागों के खर्चे में पाई जाने वाली प्रशासनिक त्रुटियों का उल्लेख किया जाता है, अनुचित व्यय एवं अपव्यय के मामलों का उद्‌घाटन किया जाता है, लेखा सही रूप में रखे गये हैं अथवा नहीं इसकी जांच की जाती है, खरीद के समय पर्याप्त सावधानी एवं बुद्धिपूर्ण ढंग से कार्य करने को कहा जाता है। यदि समिति पाती है कि किसी विभाग के अधिकारी द्वारा सार्वजनिक धन का दुरुपयोग किया गया है तो वह उसको दण्ड देने की सिफारिश भी कर सकती है।[3] अपने इन विभिन्न कार्यों के आधार पर इस समिति ने भारतीय व्यवस्थापिकाओं में एक विशेष स्थान बना लिया है। मि. एस एस मूर (Mr S. S. More) लिखते हैं कि इसने अनेक गड़बड़ियों एवं अपव्ययों का भण्डाफोड़ किया है अतः इस समिति के प्रति नागरिक सेवा में जो भय एवं सम्मान है वह इसकी शक्तियों के अनुपात में अधिक है।[4] इस

1. R. L. A., P. A. C., 6th Report, Ist Part, 1959, P. P. 1-2
2. Ibid, P. 3
3. राजस्थान विधान सभा की जनलेखा समिति ने अपने छटे प्रतिवेदन में विकास एवं योजना विभाग से सम्बन्धित ट्रैक्टरों की खरीद में होने वाली हानि के बारे में विचार करने के बाद संबंधित विभाग के इस कथन का विरोध किया कि उनके यहां के किसी भी अधिकारी ने कोई त्रुटि नहीं की है, अतः किसी के विरुद्ध कार्यवाही की आवश्यकता नहीं है। वस्तुस्थिति के पूर्ण अध्ययन के बाद समिति ने कहा कि उसकी राय में विकास विभाग के अधिकारियों द्वारा इस खरीद में जो गलती की गई है वह क्षम्य नहीं है। समिति यह चाहती है कि अपराधी अधिकारियों को उचित दण्ड दिया जाये ताकि भविष्य में इस प्रकार की घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो।
   (Ibid, P. 14)
4. "It has exposed many blunders and extravagances and therefore the respect and fear entertained in the civil service towards 'this Committee' may seem out of proportion to its powers."
   —S. S. More, op. cit., P. 524.

दृष्टि से यह सुझाया गया कि अपव्यय एवं दुर्व्यय पर बहुत कुछ रोक लगाने के लिए निडरतापूर्ण भण्डाफोड़ अत्यन्त उपयोगी एवं पर्याप्त सिद्ध हो सकता है।[1] जन-लेखा समिति द्वारा जो नियंत्रण रखा जाता है उसकी प्रकृति के आधार पर यह छः प्रकार का होता है। प्रोफेसर बी. बी. जेना के कथनानुसार ये छः प्रकार के हैं—विशेषज्ञ का नियंत्रण (Expert Control), वित्तीय नियंत्रण (Financial Control), न्यायिक नियंत्रण (Judicial Control), गैर-दलीय नियंत्रण (Non-Party Control), प्रतिरोधक नियंत्रण (Deterent Control) एवं क्रियातीत नियंत्रण (Post-Mortem Control)।[2]

भारतीय व्यवस्थापिकाओं में यद्यपि जनलेखा समिति कुशलतापूर्वक उपयोगी कार्य कर रही है किन्तु फिर भी कुछ ऐसी स्थितियां हैं जिनके कारण इस समिति के हाथ बंध जाते हैं और यह वह कार्य नहीं कर पाती जो कि यह कर सकती थी। इस संबन्ध में प्रथम उल्लेखनीय बात यह है कि इस समिति का समस्त परीक्षण भारत के कम्पट्रोलर एवं आडीटर जनरल के प्रतिवेदन पर निर्भर करता है और इसलिये जबतक यह प्रतिवेदन सदन के सम्मुख नहीं आ जाता उस समय तक समिति क्रियाहीन बनी रहती है। क्योंकि इसके बिना यह अपना कार्य प्रारम्भ ही नहीं कर सकती। दूसरे, यह समिति उन विषयों के सम्बन्ध में जांच करने की शक्ति नहीं रखती जो कि सी० तथा ए० जी० (Comptroller and Auditor General) के प्रतिवेदन में नहीं उठाये गए हैं। तीसरे, समिति के सदस्य प्रायः विशेषज्ञ नहीं होते वे मूल रूप से राजनीतिज्ञ होते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कार्यों में भी उनकी रुचियां बंटी रहती हैं। किसी कार्य में विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए जिस श्रम, शक्ति, समय एवं लगन की आवश्यकता रहती है वह प्रायः उनके पास अतिरिक्त मात्रा में नहीं मिल पाता। इस प्रकार समिति के सदस्य अपने विषय के गैर-विशेषज्ञ (Laymen) होते हैं। कठिनाई उस समय उत्पन्न होती है जबकि ये गैर-विशेषज्ञ सदस्य उन गवाहियों से प्रश्न पूछते हैं जो कि अपने विषय के पूरे जानकार होते हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि समस्त पूछताछ सामान्य ज्ञान पर ही आधारित होगी। चौथे, जनलेखा समिति की नियुक्ति का एक बुरा परिणाम बताते हुए कुछ विचारक यह मानते हैं कि इसके कारण व्यवस्थापिका वित्तीय विषयों पर नियंत्रण के कार्य में रुचि लेना छोड़ देती है। समिति की रचना के बाद वह यह सोच लेती है कि उसने अपनी सत्ता का हस्तांतरण कर दिया। ऐसी स्थिति में इन विचारकों को यह आशंका रहती है कि जनलेखा समिति जैसा छोटा-सा निकाय किसके सार्वजनिक व्यय पर प्रभावशाली नियंत्रण रख पायेगा। यदि कहीं गबन या अपव्यय का मामला हुआ तो ये चन्द सदस्य किस प्रकार सत्ताधारियों के विरुद्ध आवाज उठा सकेंगे। सरकार द्वारा आसानी से इस समिति की सिफारिशों को ठुकराया या रद्दी की टोकरी में डाला जा सकता है। यह भी हो सकता है कि सरकार शब्दों में इस प्रतिवेदन को स्वीकार कर ले किन्तु व्यवहार में उसको कोई महत्व ही न दे। असल में यह नियंत्रण तभी प्रभावशाली

1. Taylor, 216–217, Kilpin, 59.
2. Prof. B. B. Jena, op. cit. P. 196.

होगा जबकि व्यवस्थापिका इसमें सक्रिय रुचि ले। पांचवें, जनलेखा समिति की उपयोगिता पर एक मुख्य सीमा इसके अधिकार क्षेत्र की प्रकृति के परिणामस्वरूप स्वतः ही लग जाती है। यह समिति देखती है कि किया गया व्यय विनियोग के अनुकूल था अथवा नहीं। इस प्रकार इसका अध्ययन उस खर्चे के सम्बन्ध में होता है जो कि किया जा चुका है। यह कार्यातीत अध्ययन (Postmortam study) एक प्रकार से उसी तरह है जिस तरह घोड़ा निकल जाने के बाद घुड़साल के दरवाजे को बंद करना। इसके अतिरिक्त जिन नीतियों पर विनियोग आधारित रहते हैं वे भी इस समिति के अधिकार–क्षेत्र से बाहर रहते हैं। इस प्रकार यह समिति प्रशासकीय फीजूलखर्ची को रोकने में अत्यंत उपयोगी है किन्तु यह व्यवस्थापिका द्वारा अपनाई गई अपव्ययपूर्ण नीतियों के विरुद्ध कुछ भी कर सकने में असमर्थ रहती है।

जनलेखा समिति के संगठन, स्वरूप एवं कार्य–प्रणाली की जो विभिन्न आलोचनाएं की गई हैं उनमें निःस्संदेह कुछ सत्यता का अंश अवश्य है किन्तु फिर भी इनको अक्षरशः सत्य नहीं कहा जा सकता। समिति एक छोटा निकाय होते हुए भी पर्याप्त महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली ढंग से कार्य कर रही है, यह उसके वास्तविक व्यवहार के निरीक्षण से ज्ञात हो जाता है। समिति के सदस्य यद्यपि अपने कार्य के पूर्ण विशेषज्ञ नहीं होते किन्तु फिर भी अनुभव एवं व्यवहार से उनमें इतनी योग्यता आ जाती है जितनी कि समिति के दायित्वों का निर्वाह करने के लिए जरूरी होती है। व्यवस्थापिका जनलेखा समिति को उत्तरदायित्व सौंप कर वित्तीय मामलों से पूरी तरह उदासीन हो जाती हो यह कहना बिल्कुल गलत है क्योंकि समिति के अतिरिक्त कुछ अन्य माध्यमों से भी वह प्रशासन पर वित्तीय नियन्त्रण रखती है। जहां तक कार्यातीत अध्ययन की उपयोगिता का प्रश्न है उस सम्बन्ध में सिडनीवेव (Sidney-Web) का वह लोकप्रिय कथन अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है कि यह एक तथ्य है कि कार्यातीत परीक्षण (Postmortam examination) से मरीज को जिन्दा नहीं रखा जा सकता किन्तु यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि कार्यातीत परीक्षण की व्यवस्था के अस्तित्व से हत्याओं को न रोका जा सके।[1] इसके विपरीत जनलेखा समिति ने एक न्यायिक, गैर-राजनैतिक और विशेषज्ञ निकाय के रूप में सभी के दिलों में यह विश्वास पैदा कर दिया है कि यह बनी रह सकेगी तथा सार्वजनिक धन पर नियंत्रण रखने वाले यंत्र के रूप में उपयोगी कार्य करेगी।

जन–लेखा समिति के संगठन में सुधार करने के लिए विभिन्न प्रकार के सुझाव दिये गये हैं। प्रो० बी० बी० जेना ने इस सम्बन्ध में तीन सुझाव प्रस्तुत

---

1. "The fact that postmartom examination does nothing to keep the patient alive is no proof that existence of a system of postmartom examinations does not prevent murders."
—*Sidney Webb*, In his Evidence before the National Expenditure Committee, Nineth Rep. of the Committee, *1980*, P. 138

किये हैं।[1] उनका प्रथम सुझाव यह है कि समिति के सभापति को विरोधी दल के सदस्यों में से स्पीकर द्वारा मनोनीत किया जाना चाहिए। दूसरे, समिति के सदस्यों की संख्या अधिक होनी चाहिए, यह इसलिए ताकि समिति प्रति वर्ष सभी सरकारी विभागों की जांच कर सके। वर्तमान व्यवहार के अनुसार समिति अपने अध्ययन के लिए केवल कुछ विभागों को ही छांट लेती है और जिस विभाग का जिस वर्ष परीक्षण किया गया है उसका परीक्षण कई वर्ष बाद में किया जायगा। इस व्यवस्था से नियंत्रण अधिक सफल एवं सार्थक नहीं बन पाता। यदि समिति को बीस विभागों का अध्ययन करना है तो इसके लिए कम से कम बीस ही उप-समितियां नियुक्त करनी होंगी। यदि एक उप-समिति में तीन सदस्य भी हुए तो जनलेखा समिति में कम से कम साठ सदस्य होने चाहिए। यह सुझाव केवल उपयोगिता एवं व्यवहारिकता को ध्यान में रखते हुए ही प्रस्तुत किया गया है। इसे प्रस्तुत करते समय समिति की मूल प्रकृति को भुला दिया गया है, जिसके अनुसार केवल कुछ ही व्यक्तियों का निकाय एक समस्या पर गहनतापूर्वक छानबीन कर सकता है तथा उसके व्यवहार में अनौपचारिकता बर्ती जा सकती हैं। साठ व्यक्तियों की समिति में ये दोनों ही बातें संभव नहीं हो सकतीं। तीसरे, यह सुझाया गया है कि ब्रिटिश व्यवहार के उदाहरण को अपनाते हुए इस समिति की सिफारिशों का एक संक्षिप्त विवरण (Epitoms) रखा जाये जिससे कि आवश्यकता पड़ने पर उन्हें संदर्भित किया जा सके।

प्राक्कलन समिति

(Estimates Committee)

प्राक्कलन समिति वित्तीय समितियों में एक अन्य वित्तीय समिति है जो कि सार्वजनिक वित्त पर व्यवस्थापिका के नियन्त्रण को क्रियान्वित करने में योगदान करती है। जन-लेखा समिति का कार्य यद्यपि अत्यन्त महत्वपूर्ण रहता है किन्तु यह उस समय कार्य करना प्रारम्भ करती है जबकि धन खर्च किया जा चुका होता है। ऐसी स्थिति में किसी ऐसी समिति की आवश्यकता है जो कि उस समय पर्यवेक्षण रख सके जिस समय कि धन खर्च किया जा रहा है। प्राक्कलन समिति इस आवश्यकता को पूरा करती है। इस प्रकार यह समिति जन लेखा समिति की अनुपूरक होती है। व्यवस्थापिकाओं द्वारा वित्तीय नियंत्रण को प्रभावशाली रूप से तभी रखा जा सकता है जबकि अनुमानों एवं लेखों की गहराई से जांच की जाय। सदन अपने बड़े आकार एवं विस्तृत कार्य भार के कारण यह सब नहीं कर सकता। ऐसा करने के लिए न तो उसके पास समय है और न ही पर्याप्त योग्यता। प्राक्कलन समिति द्वारा उन अनुमानों की जाँच की जाती है जिन्हें कि वह उपयुक्त समझे और इसके बाद वह नीति की उपयुक्त वचत के लिए सुझाव प्रस्तुत करती है। यह समिति व्यवस्थापिका के जीवन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है क्योंकि इसका सम्बन्ध वित्तीय प्रशासन की महत्वपूर्ण समस्या से रहता है। विन्सटिन चर्चिल (Winston Churchill) ने एक बार कहा था कि वित्तीय प्रश्नों के तीन रूप होते हैं ये हैं—नीति (Policy), योग्यता (Merit) और अंकेक्षण

---

1. *Prof. B.B. Jena*, op. cit., P. 198

(Audit) । इनमें से प्रथम प्रश्न के लिए मन्त्रि-मण्डल होता है और द्वितीय के लिए जन-लेखा-समिति । इस प्रकार इन दोनों के बीच एक रिक्त स्थान रह जाता है और वह है व्यय की उपयुक्तता का निर्धारण । यदि इस प्रश्न की अवहेलना कर दी जाय तो वित्तीय नियंत्रण को प्रभावशील नहीं कहा जा सकता । यह जरूरी है कि कार्यपालिका बचतपूर्ण तरीके से कार्य करे और अपव्यय न करे । बी० बी० जेना लिखते हैं कि खर्च में मितव्ययिता के परिणामस्वरूप प्रशासनिक कार्य-कुशलता प्राप्त होती है । मितव्ययिता और कार्यकुशलता सदैव ही एक दूसरे से मिले रहते हैं । ये साथ-साथ चलते हैं ।[1] जब स्टाफ एवं मंत्रालय के संगठन में बचतपूर्ण व्यवहार अपनाया जाता है तो इससे कार्यकुशलता अपने आप प्राप्त हो जाती है । प्रशासनिक प्रक्रियाओं में बचत की व्यवस्था के लिए प्रयास उसी समय किया जा सकता है जबकि व्यय नहीं किया गया है अर्थात् अनुमानों की स्थिति में ही ऐसा किया जा सकता है ।

भारत में प्राक्कलन समिति का गठन लोकसभा स्तर पर अप्रेल १९५० में हुआ । इससे पहिले केन्द्र में केवल एक स्थायी वित्त समिति (Standing Finance Committee) कार्य कर रही थी जिसमें व्यवस्थापिका के सदस्य होते थे और वित्त मन्त्री को इसका सभापति बनाया जाता था । यह समिति सदन के प्रति उत्तरदायी नहीं थी । इसके कार्य भी सीमित थे । स्थायी वित्त-समिति १९५२ में आम चुनाव होने तक कार्य करती रही । इस प्रकार १९५० से लेकर १९५२ तक की प्राविधिक संसद में तीन वित्तीय समितियां कार्य कर रही थीं—जन-लेखा, स्थायी वित्त, एवं प्राक्कलन । कई बार इनके कर्त्तव्यों के बीच भ्रम पैदा हो जाता था और प्रत्येक बिना प्रभावशील समन्वय के अपने रूप में कार्य कर रही थी ।[2] ग्रेट ब्रिटेन में तथा भारतीय संसद में प्राक्कलन समिति की स्थापना के पीछे मूल मान्यता एक जैसी है और वह यह है कि संसद की एक प्रतिनिधि समिति को सरकार के व्यय के अनुमानों का विस्तार के साथ परीक्षण करना चाहिए । भारत की संघीय व्यवस्था में प्रान्तों के लिए अलग से संविधान नहीं है । उनका प्रशासन केन्द्रीय सरकार की तरह ही संचालित किया जाता है । राज्यों की समिति व्यवस्था का संगठन एवं सचालन केन्द्रीय व्यवहार से प्रेरित होता है । राजस्थान में अन्य समितियों की भांति प्राक्कलन समिति भी बहुत कुछ लोकसभा की प्राक्कलन समिति की भांति ही कार्य करती है ।

राजस्थान विधान सभा की प्राक्कलन समिति का गठन सर्वप्रथम ३१ मार्च १९५३ को किया गया और इसने अपनी प्रथम प्रारम्भिक बैठक २९ अप्रेल १९५३ को की । इस समिति में अधिक से अधिक पन्द्रह सदस्य हो सकते हैं ।[3] राजस्थान विधान सभा की प्राक्कलन समिति के सदस्यों की

1. "Economy in expenditure would lead the efficiency of administration. Economy and efficiency are always linked together, hand in hand."
—*B. B. Jena*, op. cit., P. 126
2. *Morris Jones*, P. P. 297-98
3. Rule—232 (1)

यह संख्या उत्तर प्रदेश विधान सभा की प्राक्कलन समिति के सदस्यों की संख्या से भिन्न है, जहां कि इस समिति में पच्चीस सदस्य होते हैं। इस समिति की सदस्यता के लिए यह योग्यता रखी गई है कि प्रत्याशी को राजस्थान विधान-सभा का सदस्य होना चाहिए। ऐसा इसलिए रखा गया है क्योंकि यह समिति मूलत: विधान सभा की समिति है और एक प्रकार से विधान सभा के कार्यों को ही सम्पन्न करती है। बाहर वाले लोग सरकार की वित्तीय नीतियों या व्यवहारों की आलोचना करने या निर्देशित करने के लिए न तो योग्य होते हैं और न वांछनीय ही। एक दूसरा कारण इसका यह हो सकता है कि यदि समिति में बाहर से सदस्यों को लिया जाये तो इसके सुझाव, सिफारिशें एवं आलोचनाएं इतनी प्रभावशील नहीं होंगी तथा सरकार उन्हें आसानी से भुला सकती है। इस समिति के सदस्य प्रति वर्ष सदन द्वारा चुने जाते हैं। इनका चुनाव सदन के सदस्यों में से ही एकल संक्रमणीय मत पद्धति के आनुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा किया जाता है। समिति की सदस्यता के लिए एक अन्य शर्त यह है कि प्रत्याशी को मंत्री मंडल का सदस्य नहीं होना चाहिए। यदि कोई व्यक्ति समिति में चुने जाने के बाद मंत्री बन जाता है तो उसी दिन से उसकी समिति की सदस्यता समाप्त हो जाती है। इस योग्यता का समिति के कार्यों की प्रकृति को देखते हुए अपना विशेष महत्व है। समिति सरकारी विभागों पर वित्तीय नियंत्रण रखती है तथा इस सम्बन्ध में गहरी छान-बीन करती है और एक व्यावहारिक दृष्टि से किसी भी अपराधी को स्वयं के मामले में न्यायाधीश नहीं बनाया जा सकता। समिति का कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नहीं होगा।[1] किन्तु एक सदस्य के दुबारा चुने जाने पर कोई रोक नहीं लगाई गई है। इसके विपरीत प्राय: यह ध्यान रखा जाता है कि एक सदस्य को कम से कम दो या तीन वर्ष तक समिति में रखा जाय। यह विचार कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है—इसका प्रथम कारण यह है कि हमें मानकर चलना चाहिए कि कोई भी नया सदस्य समिति में प्रवेश पाने के बाद उसके कार्य को समझने में आधा या पूरा वर्ष ले सकता है; और यदि एक वर्ष बाद ही समिति से उसका सम्बन्ध छुड़ा दिया जाय तो यह उसकी योग्यता एवं सामर्थ्य के प्रति न्याय नहीं माना जायेगा। उचित यह रहेगा कि सदस्य ने जो इतने समय समिति में रह कर उसकी प्रक्रिया एवं लक्ष्यों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया है उसे वह काम में ला सके। दूसरे, वह अपने अनुभव को तभी काम में ला सकेगा जब कि उसे पहिले वाले स्थान पर ही दुबारा सेवा करने का अवसर प्रदान किया जाय। तीसरे, समिति को सरकारी विभागों का अध्ययन करना होता है, उन पर पर्याप्त विचार-विमर्श करना होता है और उसके बाद वह किन्हीं निर्णयों पर पहुंचती है। कई एक कारणों से यह बड़ा कठिन बन जाता है कि समिति अपना अंतिम प्रतिवेदन एक वर्ष के समय में ही प्रस्तुत कर दे। ऐसी स्थिति में एक समिति के अधूरे कार्य को आने वाली दूसरी समिति द्वारा ही पूरा किया जायेगा। राजस्थान विधान सभा की प्राक्कलन समिति द्वारा जो प्रथम प्रतिवेदन प्रस्तुत किया गया उसकी भूमिका में समिति के सभापति ने इस बात का उल्लेख किया है कि, यह प्रति-

---

1. Rule—232 (2)

वेदन पिछले वर्ष की प्राक्कलन समिति द्वारा तैयार किया जा चुका था किन्तु कुछ तकनीकी कठिनाइयों के कारण इसे पिछले वर्ष सदन में प्रस्तुत नहीं किया जा सका। समिति ने उन सभी तकनीकी मामलों का परीक्षण किया और प्रतिवेदन में कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन भी कर दिये। किसी समिति का कार्य अधूरा रहना कोई अपवाद नहीं है। इस तथ्य से सजग रह कर ही अपूर्ण कार्य के लिए पर्याप्त प्रावधान किया गया है। नियमानुसार यदि कोई समिति अपना कार्य-काल समाप्त होने से पहिले या समिति भंग होने से पहिले अपने कार्य को समाप्त नहीं कर पाती तो नयी समिति इस कार्य को सम्भाल लेगी और वहीं से प्रारम्भ करेगी, जहां पर कि पहिले वाली समिति रुक गई थी।[1] इन सभी परिस्थितियों पर विचार करने के बाद सदन ने यह निर्णय लिया कि समिति के कार्यों में कुशलता लाने के लिए और देरी तथा दोहराव को रोकने के लिए यह उचित रहेगा कि एक सदस्य समिति में दो या तीन वर्ष बना रहे।

अनुमान समिति का गठन उसके चुनाव के लिए रखे गए एक मोशन (Motion) के आधार पर किया जाता है। यह मोशन मंत्रीमण्डल के किसी सदस्य द्वारा और विशेषकर मुख्यमन्त्री द्वारा रखा जाता है। प्रथम प्राक्कलन समिति के गठन के लिए इस प्रकार का मोशन तत्कालीन मुख्यमन्त्री जयनारायण व्यास द्वारा प्रस्तुत किया गया था।[2] सन् १९५८ की प्राक्कलन समिति के गठन के लिए प्रस्ताव वित्तमन्त्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा किया गया।[3] स्पीकर द्वारा इन मोशनों पर सदन की स्वीकृति ली जाती है और उसके बाद वह उन दिनों की घोषणा करता है जिन पर कि नामजदगी फार्म लिए जाएंगे तथा यदि आवश्यक हो तो चुनाव कराए जाएंगे। समिति की सदस्यता के लिए भरे गए नामजदगी पत्रों को विधानसभा के सूचना कार्यालय (Notice Officc) में लिया जाता है। इन सबके लिए निश्चित समय निर्धारित कर दिया जाता है। कभी-कभी ऐसे भी अवसर आ जाते हैं जबकि नामजदगी पत्र इतने लोग नहीं भरते जितने कि सदस्य निर्वाचित किए जाने हैं। प्रथम प्राक्कलन समिति के गठन के समय ही अध्यक्ष को केवल तीन नामजदगी फार्म प्राप्त हुए जो कि सर्वश्री गुरुदयाल

---

1. Rule—210
2. प्राक्कलन समिति के हेतु प्रस्ताव करते समय २४ फरवरी, १९५३ को मुख्य मन्त्री श्री जयनारायण व्यास ने कहा—
   "Sir, I beg to move the following motion that the members of this house do proceed to elect in the manner required by sub-rule (2) of the rule 189 of Rules of Procedure and Conduct of Business in the Assembly, 15 members from amongst their number to be members of the committee on Estimates for the year 1953-54"
   —R. L, A. Proceedings 24 February, 1953, Tuesday, Vol. III No. 11, P. 788
3. R. L. A. Proceedings, 28th March, 1958, Thursday, Vol. III, No 20, PP. 4302-3

सिंह संधू, मानसिंह महार और एच० के० व्यास द्वारा भरे गए। इस पर अध्यक्ष ने सदन से पूछा कि क्या इन सभी को निर्वाचित मान लिया जाए और रिक्त स्थानों की पूर्ति कर ली जाए क्योंकि नाम रिक्त स्थानों की संख्या के अनुसार नहीं थे।[1] इस प्रश्न पर विरोधी दल के सदस्यों एवं सरकार के बीच पर्याप्त बहस हुई। श्री एच० के० व्यास का मत था कि जितने भी नामजदगी फार्म आए हैं उनको स्वीकार करके समिति की रचना की जाए। किन्तु मुख्यमन्त्री श्री जयनारायण व्यास और श्री जशवंतसिंह का मत था कि नामजदगी फार्म नए सिर से आमन्त्रित किए जाएं। अध्यक्ष ने अपना निर्णय देते हुए यह बताया कि जितने नामजदगी फार्म आए हैं उनसे समिति की गणपूर्ति नहीं हो पाती है; इसलिए इनको समिति के गठन का आधार नहीं बनाया जा सकता। परिणामस्वरूप नाम-जदगी फार्म भरने का समय बढ़ा दिया गया और उन्हें नए सिरे से आमन्त्रित किया गया।

नामजदगी फार्म भरे जाने के बाद किसी निर्धारित दिन उनकी छान-बीन (Scrutiny) की जाती है। इस अवसर पर वे सदस्य उपस्थित हो सकते हैं जो कि ऐसा करना चाहें। नामजदगी फार्म वापस लेने के लिए एक-दो दिन का समय दिया जाता है और यदि चुनाव कराया जाना जरूरी हो तो उसके लिए लगभग एक सप्ताह का समय दिया जाता है।

प्रथम प्राक्कलन समिति गठित हुई जिसका महारावल संग्रामसिंह को सभापति बनाया गया। इस समिति के सदस्यों की घोषणा ३१ मार्च १९५३ को की गई थी किन्तु २२ अप्रेल, १९५३ तक इसने कोई कार्य करके नहीं दिखाया। ऐसी स्थिति में विरोधी दल के नेता जशवन्तसिंह को यहां तक कहना पड़ा कि कुछ दिनों पहले जनलेखा समिति और प्राक्कलन समिति का चुनाव हुआ था। इन समितियों का चुनाव हो गया है और आज तक आफीश्यली सुनने में नहीं आया है। क्या इन कमेटियों की काम करने की इच्छा है? कब और क्या करेंगी? इसका चेयरमैन कौन होगा?[2] इसके बाद उसी दिन समिति के सभापति के नाम की घोषणा कर दी गई।[3]

प्राक्कलन समिति के सदस्य अपनी सदस्यता से त्याग-पत्र दे सकते हैं। यह त्याग-पत्र स्वयं सदस्य द्वारा समिति के सभापति को दिया जाता है और स्पीकर द्वारा इसकी सूचना सदन को दी जाती है। प्राक्कलन समिति से जब श्री सम्पतराम ने त्याग-पत्र दिया तो २ मार्च, १९५५ को इसकी सूचना स्पीकर द्वारा सदन को दी गई।[4]

---

1. "Now should we take all these and fill the vacancies. The names are not according to the member of vacancies."
   —R. L. A. Budget session Proceedings, 25th Feb., 1953 Vol. III, No. 12, P. 905
2. R. L. A. Budget Session Proceedings, 22nd April, 1953, Wednesday, Vol. III, No. 30, P. 2263
3. Ibid, P. 2317
4. R L. A. Proceedings, 2nd March, 1955, Vol. VI, No. 3, P. 88

जिस समय राजस्थान राज्य का पुनर्गठन किया गया, सदन की कार्यवाही के लिए राज्य पुनर्गठन अधिनियम १९५६ की धारा ३२ के अन्तर्गत पृथक से अस्थायी नियम बनाए गए। इन नियमों में यह प्रावधान था कि अध्यक्ष द्वारा प्राक्कलन समिति (और जनलेखा समिति भी) के सदस्यों को नामजद किया जा सकता था। यह व्यवस्था इसलिए की गई क्योंकि एकल-संक्रमणीय मत की प्रणाली द्वारा निर्वाचन कराए जाने में अधिक समय की आवश्यकता थी। इस शक्ति का प्रयोग करते हुए सन् १९५६ की प्राक्कलन समिति के सदस्यों को मनोनीत किया गया।[1]

प्राक्कलन समिति को नियमानुसार अनेक महत्वपूर्ण कार्य सौंपे गए हैं। वैसे इस समिति के कार्यों का सही-सही क्षेत्र परिभाषित नहीं किया जा सकता। सामान्य रूप से कहा जाता है कि यह किन्हीं विशेष प्रस्तावों पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करती है किन्तु पूरे लोक प्रशासन के सम्पूर्ण क्षेत्र पर मितव्ययता के प्रश्न के सम्बन्ध में विचार करती है। यह विभिन्न विभागों के अनुमानों का परीक्षण करती है, इसलिए नहीं कि वह उनको पूरी तरह से बदल दे किन्तु इसलिए कि वह सरकार का मार्गदर्शन कर सके। समिति चाहे तो अपने परीक्षण को जारी रखते हुए भी सदन के सम्मुख अपनी प्रगति से सम्बन्धित प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकती है।[2] समिति एक ही समय में सभी विभागों के अनुमानों पर विचार नहीं करती किन्तु प्रत्येक वर्ष यह कुछ विभागों को छांट लेती है तथा तीन या चार वर्षों में सभी विभागों को पूरा कर पाती है। लोकसभा में प्रथम स्पीकर दादा साहिब मावलंकर के कथनानुसार इस समिति द्वारा की गई खोज-बीन विस्तृत होनी चाहिए ताकि यह सरकार के व्यय एवं नीतियों पर प्रभाव रख सके। इसके अध्ययन की प्रकृति विस्तृत होने के कारण किसी विभाग की अवहेलना की आशंका नहीं रहती क्योंकि एक प्रकार से वे सभी परस्पर सम्बन्धित रहते हैं। इनको एक-दूसरे से अलग करके उनमें से किसी भी एक का सम्पूर्ण चित्र नहीं देखा जा सकता।

समिति के कार्यों का विस्तृत विवरण राजस्थान विधानसभा के प्रक्रिया एवं कार्य-संचालन के नियमों में दिया गया है। समिति का प्रथम कार्य यह है कि वह अनुमानों के पीछे जो नीति है उसको ध्यान में रखकर मितव्ययता, संगठन में विकास तथा कार्यकुशलता या प्रशासनिक सुधारों के लिए दिए जा सकने वाले सुझावों के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। दूसरे, प्रशासन में कार्यकुशलता एवं मितव्ययता लाने के लिए वैकल्पिक नीतियां सुझाये। तीसरे, यह देखे कि धन को अनुमानों में निर्धारित नीति की सीमाओं के अन्तर्गत ठीक प्रकार रखा गया है अथवा नहीं। चौथे, अनुमानों को विधान सभा में किस रूप में प्रस्तुत किया जाए इस सम्बन्ध में अपना सुझाव प्रस्तुत करे।[3]

---

1. R. L. A. Proceedings, 12th December, 1956, Wednesday, Vol. I, No. 9, P. 716
2. Rule—233
3. Rule—231

प्राक्कलन समिति के इस कार्य-क्षेत्र को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि यह सदन की एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समिति है। श्री मावलंकर ने बताया है कि जब केन्द्रीय स्तर पर इस समिति ने कार्य प्रारम्भ किया तो इसके दो उद्देश्य थे; प्रथम–देश की सर्वश्रेष्ठ सरकार और दूसरे, सामान्य जन का लाभ। राजस्थान विधान सभा की प्राक्कलन समिति द्वारा अब तक किए गए कार्य को कई दृष्टिकोणों से देखा जा सकता है। प्रथम, इसने एक प्रहरी का कार्य किया है। एक वित्तीय समिति होने के कारण इसके मुख्य कार्यों का सम्बन्ध प्रायः सरकारी व्यय से रहता है। यह वैकल्पिक रूप से विभागों को देखती रहती है कि वे एक विशेष वर्ष के लिए किस प्रकार अनुमान तैयार कर रहे हैं। यदि अनुमान के किसी मद में सरकार एवं सम्बन्धित विभाग को बिना अधिक हानि पहुंचाए कटौती की जा सके तो समिति उस मद के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित करती है। यदि पर्याप्त विचार के बाद समिति उसी निष्कर्ष पर आए जिससे कि उसने प्रारम्भ किया है तो वह अपने प्रतिवेदन में इस बात की सिफारिश करेगी कि अमुक मद सार्वजनिक धन का अपव्यय है और सरकार को उसे रोकना चाहिए। यह मितव्ययता की प्रक्रिया है जिसके द्वारा समिति कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। यह व्यवस्था का, जनता के प्रतिनिधियों का एवं सार्वजनिक धन के स्वामियों का नियन्त्रण है। इस प्रकार की फीजूल खर्चियों के विरुद्ध समिति समय-समय पर सिफारिश करती रहती है। उदाहरण के लिए सन् १९५३ की समिति ने पी० डब्ल्यू० डी० विभाग पर अपने तृतीय प्रतिवेदन के पैरा छः में यह सिफारिश की कि दवाइयों के लिए दो सौ रुपये के मूल्य का बजट प्रावधान मुश्किल से ही न्यायपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि ये सुविधाएं पहले से ही मौजूद हैं। दूसरे, समिति द्वारा प्रशासकीय कार्यकुशलता के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किया जाता है। समिति का यह मुख्य कार्य है कि वह सरकार के उन कार्यों का परीक्षण करती है जिनके द्वारा प्रशासकीय कार्यकुशलता की जड़ें ढीली होती हैं। इसके बाद समिति उन विषयों का उल्लेख करती है जो कि प्रशासन के सहज संचालन के मार्ग की बाधाएं हैं। एक बार जब समिति ने यह देखा कि पी० डब्ल्यू० डी० विभाग के मुख्य अभियन्ताओं की वेतन श्रृंखला में असमानता है तो उसे लगा कि यह इन अधिकारियों के बीच असहयोगपूर्ण सम्बन्धों का कारण बन सकती है। समिति ने कहा कि कुल आय में असमानता, समान स्तर के अधिकारियों के बीच दिल की जलन का कारण बन जाती है।[1] इन मुख्य अभियन्ताओं के वेतन स्तर को निश्चित न करना उल्लेखनीय बात है और यह सेवाओं की कार्यकुशलता पर घातक प्रभाव डालेगी। अतः समिति यह सिफारिश करती है कि वर्तमान विरोधपूर्ण सम्बन्धों को दूर करने के लिए मुख्य अभियन्ताओं के पद की वेतन श्रृंखला निश्चित की जानी चाहिए। तीसरे, प्राक्कलन समिति जन सेवक के रूप में

---

1. "Disparity in the emoluments causes heart-burning amongst the officers of equal rank. The omission to fix the grades of these chief engineers is a glaring one and may eventually tell upon the efficiency of the services. It is therefore, strongly advised that uniform scales of pay should be fixed

कार्य करती है। कार्यकुशलता अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं होती वह तो जन-कल्याण के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए एक साधन मात्र है जिसकी साधना के लिए व्यवस्थापिका और कार्यपालिका सदैव ही प्रयत्नशील रहती हैं। यदि किसी अवसर पर मितव्ययता एवं जन-सुविधा के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाए तो समिति द्वारा बाद वाले को प्राथमिकता दी जाती है। समिति ने अपने उद्धरित प्रतिवेदन में यह बताया कि यदि बीकानेर के कुछ बंगलों से सम्बन्धित बगीचों में पानी दिया जाना आवश्यक है तो केवल मितव्ययता के नाम पर इसकी अवहेलना नहीं की जानी चाहिए इस प्रकार के विषयों में खर्चे में मितव्ययता को एक मात्र मापदण्ड नहीं बनाना चाहिए।[1] इन मूल्यवान भवनों की रक्षा के लिए जल का वितरण सरकारी मूल्य पर किया जाना चाहिए। इसी प्रकार जब समिति भरतपुर में कृषि विभाग का मुख्य कार्यालय रखने के औचित्य पर विचार कर रही थी तो उसने वित्तीय मितव्ययता के स्थान पर जनता की सुविधा पर जोर डाला। चौथे प्राक्कलन समिति एक निर्देशक के रूप में भी कार्य करती है। इसके द्वारा सरकार को वैकल्पिक नीतियां सुनायी जाती हैं ताकि प्रशासन में कार्य-कुशलता एवं मितव्ययता बनाए रखी जा सके। यह समिति की सिफारिशों का एक विधेयात्मक पहलू है जिसके अनुसार यह विभागों के कार्यभार के लिए उत्तरदायी कारणों का उल्लेख करती है। इस प्रकार विधेयात्मक एवं निषेधात्मक दोनों ही रूपों में समिति सरकारी नीति को प्रभावित करने का प्रयास करती है ताकि उसे समग्र जनता के लिए उपयोगी एव लाभदायक बनाया जा सके और प्रजातन्त्रीय सरकार समाजवादी समाज की स्थापना करने में सफल बन सके।

प्राक्कलन समिति एक ऐसी समिति है जिसका मुख्य कार्य सरकारी व्यय की छान-बीन करने एवं उसे नियन्त्रित करने का होता है। ऐसा करते समय समिति कुछ अनुमानों को छांट लेती है जिनका कि एक विशेष वर्ष में अध्ययन किया जाना है; किन्तु नियमानुसार यह समिति उन प्रश्नों पर विचार नहीं कर सकती जो कि अनुमानों के आधार हैं। यह प्रतिबन्ध लोक सभा की प्राक्कलन समिति के अधिकार क्षेत्र पर भी लगा हुआ है। यहां प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि नीति शब्द का अर्थ क्या है और किन विषयों को समिति के विचार क्षेत्र से बाहर रखा जाए। लोक सभा के स्पीकर ने एक बार अपने निर्देश (Direction) में बताया कि इस शब्द का अर्थ संसद अथवा व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकृत नीति से है। यह कार्यपालिका द्वारा बनाई गई नीतियों को अपने कलेवर में नहीं रखती। कार्यपालिका की नीतियों के

---

for the posts of chief engineers to remove the present enomaly."

—Estimates Committee, 3rd Report (1955-56), P.W.D. (B&R). R.L.A Secretariat, Jaipur, P. 2. Para 4

1. "False economy in expenditure for the gardens attached to bungalows should not be permitted. To maintain these valuable assets water should be supplied at Govt. cost."

—*Ibid P. 5, Para 14*

सम्बन्ध में समिति को विचार-विमर्श, आलोचना एवं सिफारिशें करने का अधिकार है किन्तु जो नीतियां संसद या व्यवस्थापिका द्वारा स्वीकार करली जाती हैं उनके सम्बन्ध में साधारण रूप से समिति को कोई शक्ति या अधिकार क्षेत्र प्राप्त नहीं होता। इस प्रावधान के पीछे यह मान्यता है कि समग्र संसद एक सम्प्रभु निकाय है। उसकी यह सम्प्रभुता केवल चन्द व्यक्तियों के हाथ में नहीं सौंपी जा सकती क्योंकि ऐसा करना अप्रजातान्त्रिक माना जाएगा। नीति के विषय में अपनाए गए इस व्यवहार पर अन्य विचारकों ने भिन्न मत प्रकट किया है। उदाहरण के लिए २० नवम्बर, १९५४ को नई दिल्ली में होने वाले प्राक्कलन समिति के सभापतियों के सम्मेलन में ट्रावनकोर को चीन की प्राक्कलन समिति के सभापति ने कहा कि सदन द्वारा केवल नीति सम्बन्धी विस्तृत सिद्धान्त ही निर्धारित किए जा सकते हैं। यह समिति अनुमानों की विस्तृत छानबीन करती है तथा उनका व्यापक परीक्षण करती है इसलिए इसमें यह योग्यता है। अत: इसे यह शक्ति दी जानी चाहिए कि यह वैकल्पिक नीतियों के रूप में सुझाव प्रस्तुत कर सके। यह हो सकता है कि समिति द्वारा जो नीति सुझाई जाए उस पर व्यवस्थापिका द्वारा व्यापक रूप से विचार कर लिया जाए। यद्यपि यह सच है कि समिति को उन नीतियों पर आघात करने का कोई अधिकार नहीं है जो कि संसद या व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित या स्वीकृत की गई हैं किन्तु फिर भी यदि समिति अपने विचार-विमर्श के बाद इस निर्णय पर आए कि सदन की अमुक नीति अपव्यय एवं कुल खर्च का कारण बनी है तो वह सदन का ध्यान उसकी ओर आकर्षित कर सकती है। साथ ही अपनाने के लिए वैकल्पिक नीतियां भी सुझा सकती है। लोक सभा की प्राक्कलन समिति को निर्देश (Direction) भेजते समय २ दिसम्बर, १९५४ को स्पीकर ने बताया कि समिति का मूल लक्ष्य यह निश्चित करना है कि धन को ठीक प्रकार निर्धारित किया गया है। किन्तु यदि गहन परीक्षण के बाद यह प्रतीत हो कि धन की एक बहुत बड़ी मात्रा इसलिए बेकार जा रही है क्योंकि कुछ एक गलत नीतियां अपनाई जा रही हैं तो समिति उन दोषों का उल्लेख कर सकती है तथा नीति में परिवर्तन के कारणों को संसद में विचारार्थ प्रस्तुत कर सकती हैं।[1]

प्राक्कलन समिति के कार्य का विवरण देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि समिति के कार्य-संचालन के मार्ग में अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो सकती हैं। यह समिति अनुमानों का एक विस्तृत परीक्षण करती है। समिति केवल अनुमानों के अध्ययन से ही अपने आपको मर्यादित नहीं रखती वरन्

---

1. "The fundamental objectives of the committee are ensuring that money is well laid out, but if on close examination it is revealed that large sums are going to waste because a certain policy is followed, the committee may point out the defects and give reasons for the change in the policy for the consideration of parliament."

—Speaker's direction to the Estimate Committee of Lok Sabha issued on 2nd December, 1959

यह प्रसंगवश विभागों के संगठन के प्रश्न, सेवी वर्ग की पर्याप्तता, कार्यों की प्रक्रिया, भर्ती की व्यवस्था, तकनीकी कार्यकुशलता और इस प्रकार अनुमानों से सम्बन्धित प्रत्येक विषय से सम्बन्धित रहती है।

वित्तीय समितियां अर्थात् जन-लेखा समिति एवं प्राक्कलन समिति के संगठन तथा कार्यों से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं को ध्यान में रखते हुए इनके कुशल कार्य संचालन के लिए लोक सभा के प्रथम स्पीकर दादा साहिब मावलंकर ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किए। इन सुझावों का सम्बन्ध विभिन्न पदाधिकारियों से सम्बन्धित प्राक्कलन समिति के सदस्यों के दृष्टिकोण से था। समिति के सदस्य एवं मन्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में बताते हुए ५ दिसम्बर, १९५० को उन्होंने कहा कि हमें सच्ची प्रजातन्त्रात्मक प्रकृति की परम्पराएं विकसित करनी चाहिए जिनके द्वारा समिति के सदस्य मन्त्रियों को विश्वसनीय प्रतिनिधि एवं मित्र के रूप में देखें। इसके लिए एक भिन्न मानसिक दृष्टिकोण की आवश्यकता है। संविधान में चाहे कुछ भी प्रावधान हो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। दादासाहब द्वारा दूसरा सुझाव यह दिया गया कि समिति के सदस्यों को स्थायी नागरिक सेवकों के साथ भी एक विशेष दृष्टिकोण अपनाना होगा। स्थायी सेवाओं के सदस्य देश के सेवक होते हैं। उनका दृष्टिकोण थोड़ा बहुत नौकरशाही प्रकृति का हो सकता है किन्तु वे अपने दिलों में देश की अच्छाई और कल्याण की भावना रखते हैं। इसलिए यह होना चाहिए कि जब कभी हम यह सोचें कि अमुक चीज गलत है तो हमें अपने आपको अधिक कठोरता के साथ अभिव्यक्त नहीं करना चाहिए तथा उनको नौकरशाही अथवा अप्रजातान्त्रिक दृष्टिकोण के लिए भला-बुरा नहीं कहना चाहिए। हमारा प्रयास यह रहे कि उनके साथ अच्छा वातावरण और अच्छे सम्बन्ध बने रहें। जब कभी हम अधिकारियों से पूछ-ताछ करें तो ऐसा करते समय हमें यह मान कर नहीं चलना चाहिए कि वे हमारे विरोधी हैं और हम वकीलों की तरह से उनकी गवाहियां ले रहे हैं। तीसरे, समिति को एक न्यायिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि हमको किन्हीं पूर्व मान्यताओं के आधार पर नहीं चलना चाहिए। हम अध्ययन करें और यह पता लगाएं कि सत्य क्या है। यह एक मानवीय कमजोरी है कि हम केवल अपने एक विशेष दृष्टिकोण को समर्थित करने के लिए ही आवश्यक तथ्य ढूंढने लगते हैं, यह एक गलत प्रक्रिया है। जहां तक संसदीय समितियों का सम्बन्ध है उनके प्रतिवेदनों में एक भी ऐसा तथ्य नहीं होना चाहिए जिसे कि प्रमाणों द्वारा समर्थित न किया जा सके। चौथे, समिति के सदस्यों को मानवीय दृष्टिकोण से काम लेना चाहिए। प्रशासन अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं होता। यह देश में एक अच्छी सरकार के लिए प्रयास करता है। समितियों को नियमों एव कानूनों पर अत्यधिक जोर नहीं डालना चाहिए जिसके परिणामस्वरूप सामान्य जन दृष्टि से ओझल हो जाए जिसके लाभ के लिए कि पूरे देश की सरकार संचालित की जा रही है। इसकी प्रक्रिया प्रजातन्त्रीय ढंग से चलाई जानी चाहिए और मानवीय समझ तथा मानवीय दृष्टिकोण को प्रेरक बनाया जाना चाहिए। कुछ आज्ञाओं एवं कानूनों को संचालित करने का यन्त्र बने रहना उचित नहीं हैं। पांचवें, समिति को प्रदत्त समस्या का पर्याप्त अध्ययन करना चाहिए। सरकार की आलोचना करने से

पहले इसे प्रशासन की सम्पूर्ण व्यवस्था, उसकी समस्याओं, उसकी गलतियों तथा अन्य अनेक चीजों की जानकारी करनी चाहिए। छठे, उचित कार्य संचालन के लिए अध्ययन समूह बनाए जाने चाहिए। यदि हम प्रजातन्त्र का विकास करना चाहते हैं तो हमारा उद्देश्य केवल वे मत नहीं हैं जिन्हें हम प्राप्त करते हैं किन्तु हमारी वास्तविक समस्या उन व्यक्तियों को प्राप्त करना है जो कि हमारे सामने की समस्याओं को समझ सकें और रचनात्मक सुझाव दे सकें। जब अध्ययन समूह बना करके कठिनाइयों को जान लिया जाता है तो स्वत: ही रचनात्मक विचार उदित होते हैं। इस प्रकार के अध्ययन समूह ऐसे व्यक्तियों को उत्पन्न करेंगे जो कि बाद में मन्त्रालय सम्भाल सकें। सातवें, समिति को अधिकारियों के नियन्त्रण से स्वतन्त्र रहना चाहिए। असम्बद्ध, स्वतन्त्र एवं नि:स्वार्थ दृष्टिकोण रखने पर समिति कार्यपालिका से सम्बन्धित समस्याओं पर भली प्रकार विचार कर सकती है। अधिकारियों एवं सदस्यों के बीच स्वामी और सेवक का सम्बन्ध नहीं होना चाहिए क्योंकि अब दोनों ही प्रशासन में मितव्ययता और कार्यकुशलता लाने के लिए सामान्य राष्ट्रीय हित में साथ-साथ काम करते हैं। इन सभी सुझावों को स्वीकार करने के लिए भारत में नवीन परम्पराओं एवं प्रथाओं की आवश्यकता है जिनके बिना समिति उन लक्ष्यों को प्राप्त नहीं कर पाएगी जिनके लिए कि उसका गठन किया गया है।

अधीनस्थ विधान पर समिति

[The Committee on Sub-ordinate Legislation]

यह समिति भी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है। इस समिति के महत्व एवं उपयोगिता का सही-सही मूल्यांकन उस समय किया जा सकता है जबकि हम हस्तान्तरित व्यवस्थापन की प्रकृति, जन्म एवं विकास का पर्याप्त अध्ययन करें। अधीनस्थ व्यवस्थापन को कई बार एक आवश्यक बुराई कहा जाता है। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका को शक्तियां हस्तान्तरित करने की जो प्रवृत्ति बढ़ती चली जा रही है, उससे कभी-कभी यह खतरा होने लगता है कि कहीं व्यवस्थापिकाओं की उपयोगिता और यहां तक कि उनका अस्तित्व भी खतरे में न पड़ जाय। अधीनस्थ व्यवस्थापन व्यक्ति-पृथक्कीकरण के सिद्धान्त के बिलकुल विपरीत है। इस व्यवस्था में ऐसी भी परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है जबकि नागरिक स्वतंत्रताएँ समाप्त हो जायें। यह एक प्रकार से संसद को कार्यपालिका के आगे झुकाना है। इससे नौकरशाही सशक्त बनती है। यह प्रक्रिया प्रजातंत्र को तानाशाही एवं स्वेच्छाचारी शासन में बदल सकती है। प्रो० एल० डी० ह्वाइट (L. D. White) के मतानुसार अधीनस्थ व्यवस्थापन की प्रक्रिया में कानून जिस गति से बनाये एवं संशोधित किये जाते हैं उससे नागरिक जीवन, स्वतंत्रता, एवं सम्पत्ति खतरे में पड़ जाती है। अनेक नियमों एवं संशोधनों के परिणाम-स्वरूप स्थिति इतनी अस्पष्ट हो सकती है कि उसे समझना भी मुश्किल पड़ जाय। इसकी अनेक बुराइयां होते हुए भी यह व्यवस्था आजकल इतनी गहरी जम चुकी है कि इसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

सैद्धान्तिक रूप से राज्य में व्यवस्थापिका को ही नियम बनाने की

अन्तिम शक्ति होनी चाहिए। यदि उसकी शक्ति पर कोई प्रतिबन्ध लगाया जाय अथवा इसे विभाजित किया गया तो व्यवस्थापिका की सम्प्रभुता नहीं बनी रह सकती। कार्यपालिका का कार्य तो केवल इन कानूनों को क्रियान्वित करना है। प्रारम्भ में ग्रेट ब्रिटेन की कामन्स सभा ने व्यवस्थापन की शक्ति पर एकाधिकार के लिए एक बड़ा संघर्ष किया। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कानून बनाने की शक्ति के हस्तान्तरण पर जोर दिया जाने लगा। इस प्रकार के हस्तान्तरण का मुख्य समर्थक ऐडविन शेडविक (Edwin Chadwick) था। उसने इस प्रकार के हस्तान्तरण के लिए दो कारण प्रस्तुत किये। प्रथम यह कि संसद का कार्यभार बढ़ता जा रहा है और इसलिए वह तकनीकी प्रकृति के विषयों पर पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाती। दूसरे, यह हस्तान्तरण इसलिए भी सुविधाजनक था क्योंकि प्रयोगों के प्रकाश में इसमें नियमों को शीघ्र परिवर्तित करने की व्यवस्था की। हस्तान्तरित व्यवस्थापन के कुछ नुकसान भी हैं और कुछ लाभ भी। एस० एस० मोर (S. S. More) का यह कहना सही है कि इसके मित्र और शत्रु दोनों हैं।[1] इस व्यवस्था के विरोधियों ने इसको बुरा भला कहने में कोई शब्द बाकी नहीं छोड़ा है। जोसुवा टी० स्मिथ (Joshua T. Smith) ने सन् १६५१ में इस व्यवस्था का इसलिए विरोध किया क्योंकि इससे कई अवगुण पैदा होते हैं। दूसरे, इस व्यवस्था के होने पर यद्यपि प्रतिनिधि संस्थाएँ बनी रहती हैं किन्तु स्वेच्छाचारी एवं अनुत्तरदायी शक्ति असल में कुछ लोगों के हाथों में केन्द्रित कर दी जाती है। यह हस्तान्तरण एक प्रकार से मात्र चैक देने की शक्ति है। यह व्यवस्थापिका विहीन व्यवस्थापन (Lagislation without a legislature) है। लार्ड हीवर्ट (Lord Hewart) ने अधीनस्थ व्यवस्थापन को नयी तानाशाही (New Despotism) कहा है, जिसके सहारे नागरिक सेवा स्वेच्छाचारी बन जाती है।

चाडविक (Chadwick) के अतिरिक्त डायसी आदि विचारकों ने भी हस्तान्तरित व्यवस्थापन का समर्थन किया है। प्रो० लास्की (Lasky) ने भी अधीनस्थ व्यवस्थापन किया है। मि० मोरिसन के मतानुसार लार्ड हीवर्ट की आलोचना *अतिशय एवं अवास्ताविक (irresponsive & unrealistic)* है।[2]

अधीनस्थ व्यवस्थापन को एक आवश्यक बुराई मानने वाले लोग इस वस्तु स्थिति का वर्णन करते हैं कि कोई माने या न माने किन्तु अधीनस्थ व्यवस्थापन की व्यवस्था इतनी जड़ जमा चुकी है कि उसे अब समाप्त नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था के विरोधी भी यह मानने लगे हैं कि इसके बिना व्यवस्थापिकाएँ अपना कार्य नहीं कर सकती। फिर भी उनका कहना है कि इसको जितना भी हो सके कम से कम प्रयुक्त किया जाना चाहिए और जितना इसका प्रयोग किया जाय वह नियंत्रित रूप में होना चाहिए। अधीनस्थ व्यवस्थापन पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण रखने के लिए पर्याप्त सजगता एव जागरूकता अनिवार्य है। इसके बिना इस शक्ति का दुरुपयोग किया जा

1. "This deligator legislation has bo h friends and foes".
—*S. S. More*, op. cit , P. 518

2. Morrison, P. 151.

सकता है। यह नियंत्रण क्रियान्वित करने के लिए व्यवस्थापिका को विशेष समिति नियुक्त करनी चाहिए। भारत में अधीनस्थ व्यवस्थापन की व्यवस्था बहुत पहिले ही प्रारम्भ हो गई थी किन्तु उस पर संसदीय नियंत्रण का अभ्यास नया ही प्रयोग है। यह नियंत्रण सर्व प्रथम उस समय प्रारम्भ हुआ जबकि कानून द्वारा यह व्यवस्था की गई कि सरकार अपने द्वारा बनाये गये नियमों को गजट में प्रकाशित करे और उन्हें सदन के सम्मुख प्रस्तुत करे। कार्य-पालिका द्वारा किये जाने वाले व्यवस्थापन का क्षेत्र भी निरन्तर बढ़ता जा रहा है और साथ ही इस शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावनाएँ भी बढ़ गई हैं। अतः उपयुक्त नियंत्रण लागू करने की दृष्टि से एक संसदीय समिति की रचना को परमावश्यक समझा जाता है। भारतीय संसद में अधीनस्थ व्यव-स्थापन पर प्रथम समिति दिसम्बर, १९५३ में स्थापित की गई। यह समिति डा० बी० आर० अम्बेडकर के शब्दों में हस्तान्तरित व्यवस्थापन की परीक्षा करती है और संसद को इस बात की सूचना देती है कि इस व्यवस्थापन ने संसद की मौलिक भावनाओं के बाहर तो कोई कार्य नहीं किया है अथवा किसी मौलिक सिद्धान्त को तो प्रभावित नहीं किया है। केन्द्रीय स्तर पर जो यह समिति गठित की गई उसमें दस सदस्य थे। नियमों में एक संशोधन द्वारा समिति के सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गई। अब इसके लिए पाँच सदस्य स्पीकर द्वारा नियुक्त किये जा सकते थे। संसदीय समिति के कुल पंद्रह सदस्यों की नियुक्ति स्पीकर द्वारा होती है। राजस्थान विधान सभा की अधीनस्थ विधान पर–समिति में अधिक से अधिक दस सदस्य हो सकते है जिनको कि अध्यक्ष द्वारा नामजद किया जाता है।[1] नियमानुसार इस बात की विशेष व्यवस्था करदी गई है कि किसी मंत्री को समिति के सदस्य के रूप में मनोनीत नहीं किया जायेगा और यदि कोई सदस्य मिति में मनोनीत होने के बाद मंत्री पद पर नियुक्त हो जाता है तो उसी समय वह समिति की सदस्यता से हट जाता है।[2] यह समिति एक वर्ष तक कार्य करती है। केन्द्रीय संसद में यह परम्परा स्थापित हो गई है कि जो स्पीकर समिति के सदस्यों की अपनी नामजदगी को अंतिम रूप देता है तो उससे पहिले वह विभिन्न दलों के नेताओं से वार्ता कर लेता है। इस स्वस्थ परम्परा के द्वारा समिति एक प्रकार से सदन का छोटा रूप बन जाती है। समिति का सभापति समिति के सदस्यों में से अध्यक्ष द्वारा मनोनीत किया जाता है। स्पीकर की इस शक्ति के प्रयोग द्वारा समिति की सदस्यता में कुछ निरन्तरता रहने की व्यवस्था हो जाती है।

अन्य दूसरी समितियों की भांति इस समितिका कार्य भी कुछ विशेषीकृत प्रकृति का है। इस समिति के विशेष उत्तरदायित्वों का पालन करने के लिए व्यक्ति में कानूनी योग्यताओं का होना जरूरी है; क्योंकि अधीनस्थ व्यवस्थापन की भाषा कानूनी होती है अतः यह जरूरी है कि समिति के सदस्यों को कानूनी प्रशिक्षण प्राप्त हो। यह समिति कार्यपालिका के कार्यों की छान-बीन करती है, इसलिए इसका सभापति विरोधी दल का सदस्य होना चाहिए। ग्रेट ब्रिटेन

1. Rule 239 (1).
2. Proviso to Rule—239.

की कामन्स सभा में इस अभ्यास को अपनाया जाता है। यह भारत में भी वांछनीय है। फिर भी वास्तविक व्यवहार को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विरोधी दल के सदस्य को सभापति के पद पर प्राय: बहुत कम बिठलाया जाता है। केन्द्रीय स्तर पर अब तक केवल एक ही अवसर ऐसा आया है जब कि विरोधी दल के सदस्य एन० सी० चटर्जी को सभापति के पद पर नियुक्त किया गया। अन्य सभी सभापतियों को सत्ताधारी दल से लिया गया।[1] राजस्थान विधानसभा की अधीनस्थ विधान पर समिति के सभापति के रूप में जिन सदस्यों को बिठाया गया वे सत्ताधारी दल के कांग्रेसी सदस्य थे।[2]

अधीनस्थ विधान समिति को जो कार्य सौंपे गये हैं उनमें मुख्य यह है कि वह इस बात की जांच करे कि व्यवस्थापिका द्वारा कानून के अनुसार कार्यपालिका को जो शक्ति सौंपी गई है उसका सही रूप में प्रयोग किया जा रहा है। यह समिति सदन को प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है और उन कार्यों का परामर्श देती है जिन्हें यह आवश्यक समझे। यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है, वह यह कि जिस समय समिति अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह कर रही है उसके सदस्य कोई विरोधी दृष्टिकोण अपना कर के कार्य करें। इसका मुख्य उद्देश्य नियम बनाने की प्रक्रिया में एकरूपता लाना है। इसके कार्य अनुपूरक होने चहिए। वैसे सामान्य रूप से यह आशा की जाती है कि कार्यपालिका व्यवस्थापिका की इच्छाओं के अनुसार कार्य करेगी और कानून द्वारा उसे सौंपी गई शक्तियों का व्यवहार करती हुई नियम एवं कानून बनायेगी। किन्तु कभी-कभी ऐसा हो जाता है कि अधिक कार्यकुशलता एवं पूर्णता के साथ कर्त्तव्यों का पालन करने की धुन में कार्यपालिका गलतियां कर बैठती है। कभी कभी वह अधिक एवं विस्तृत अधिकार पाने की धुन में अपनी शक्ति की सीमाओं से बाहर भी चली जाती है। ऐसी स्थिति में समिति उनको सही रास्ते पर लाती है। समिति द्वारा कार्यपालिका को जनता की भलाई के लिए उसके कर्तव्यों का संचालन करने का निर्देशन दिया जाता है। प्रत्यायोजित विधान का एक खतरा यह बताया जाता है कि जो नियम, उपनियम, आदेश आदि बनाए जाते हैं वे सचिवालय के अधिकारी द्वारा उनके कमरों में बैठकर बनाये जाते हैं। वे जनता के साथ बहुत कम सम्पर्क रखते हैं, और इस बात की बहुत कम जानकारी रखते हैं कि किसी विशेष व्यवस्थापन का उन लोगों पर क्या प्रभाव पड़ेगा जिनके लिए कि वह किया जा रहा है। ऐसी स्थिति में समिति द्वारा इस सम्बन्ध में परामर्श एवं निर्देशन दिया जाना अत्यंत अनिवार्य हो जाता है क्योंकि यह व्यवस्थापिका के अभिप्राय से परिचित होती है और जनता की इच्छाओं को भली प्रकार से जानती है।

जैसा कि एक बार लोकसभा के स्पीकर ने बताया था कि अधीनस्थ विधान-पर-समिति को कार्यपालिका या प्रशासन के विरोधी के रूप में कार्य नहीं करना चाहिए किन्तु इसे व्यवस्थापिका द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के एक

1. *B. B. Jena*, op. cit., PP. 97–98
2. इस समिति के सभापति के रूप में सर्व श्री चन्दनमल वैद (१९६१), ब्रजसुन्दर शर्मा (१९६२–६३), तथा फूलचन्द जैन (१९६४) आदि ने कार्य किया।

उत्तरदायी निकाय के रूप में कार्य करना चाहिए तथा अधीनस्थ व्यवस्थापन के व्यापक क्षेत्र पर निर्दलीय भावना तथा स्वतन्त्र एवं स्पष्ट दृष्टिकोण से कार्य करना चाहिए।[1] इस समिति के सदस्यों को जनहितों की रक्षा करनी होती है तथा इसे सत्ता की बुराइयों को तथा संसदीय संप्रभुता पर आघातों को उतना कम करना होता है जितना कि यह कर सके।[2] जब कार्यपालिका द्वारा नियम, उपनियम आदि सदन के सम्मुख प्रस्तुत किए जायं तो अधीनस्थ-विधान-पर-समिति का यह कर्तव्य होगा कि वह उसकी गहरी छान-बीन करे और सदन के लिए प्रतिवेदन प्रस्तुत करे कि संविधान द्वारा सौंपी गई अथवा व्यवस्थापिका द्वारा हस्तान्तरित शक्तियों को उचित रूप से प्रयुक्त किया गया है। राजस्थान विधानसभा की यह समिति जो कार्य करेगी उनका उल्लेख प्रक्रिया की नियमावली एवं आचरण संहिता में किया गया है।[3] जब प्रत्येक नियम को सदन के सम्मुख रख दिया जायेगा तो समिति विशेष रूप से यह विचार करेगी कि क्या यह संविधान के सामान्य उद्देश्यों के अनु-रूप है या उस अधिनियम के अनुसार है जिसके अनुसार इसे बनाया गया है। दूसरे, क्या इसमें कोई ऐसा विषय है जो समिति के मतानुसार व्यवस्था-पिका के कानून में अच्छी प्रकार से विचार का विषय बन सकता था। तीसरे, क्या इसमें कोई कर लगाया गया है? चौथे, यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र को प्रतिबंधित करती है? पांचवें, क्या यह ऐसे किसी प्रावधान का उल्लंघन करती है जिसे करने की शक्ति इसे सविधान या अधिनियम द्वारा नहीं सौंपी गई है? छठे, क्या इसे राज्य की संचित निधि या सार्वजनिक राजस्व में से खर्च करने की बात कही गई है? सातवें, क्या इसके द्वारा उन असाधारण एवं अप्रत्यक्ष शक्तियों का प्रयोग किया गया है जो कि इसे संविधान द्वारा या उस अधिनियम द्वारा जिसके तहत यह बनाया गया है, नहीं सौंपी गई है? आठवें; क्या इसके प्रकाशन (Publication) अथवा व्यवस्थापिका के सम्मुख इसे रखने में कोई अनुचित देरी हुई है? नवें, क्या किसी कारणवश इसको प्रस्तुत करना जरूरी है?, आदि आदि।

इस समिति के कार्यों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इसको प्रायः वे सभी कार्य सौंपे गए हैं जिन्हें ग्रेट-ब्रिटेन की कामन्स-सभा की एक समिति (The Committee on statuatcry instruments) द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। यदि समिति यह अनुभव करे कि किसी नियम का पूरी तरह से या आंशिक रूप से विरोध किया गया है तो वह उसकी सूचना सदन को दे सकती है। यह समिति व्यवस्थापन के क्षेत्र में संसद के अधिकारों एवं सत्ता की रक्षा करती है। वह इस बात की जांच करती है कि सरकार द्वारा कोई कर तो नहीं लगाया गया है क्योंकि कर लगाने की शक्ति केवल संसद के हाथ में है। संविधान के प्रावधान के अनुसार किसी भी व्यक्ति को केवल

1. Speaker's address December, 1954, Journal of Parliamentary Information Vol. III, No. 2 P. 140
2. *N. C. Chatterjee*, First Parliament : A Souvenir P. 14
3. Rule, 241
4. Rule—241 (i to ix)

कानून के माध्यम से ही उसकी व्यक्तिगत सम्पत्ति से वंचित किया जा सकता है। जब कर के रूप में किसी व्यक्ति की सम्पत्ति का कोई भाग लिया जाए तो ऐसा करने के लिए कानून की शक्ति का सहारा लेना होगा। यही कारण है कि कर लगाने की शक्ति को हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। अधीनस्थ विधान से सम्बन्धित यह समिति यह भी देखती है कि सरकार के आदेशों द्वारा संचित निधि में से कोई धन न लिया जाय क्योंकि ऐसा तभी किया जा सकता है जबकि इस सम्बन्ध में व्यवस्थापिका द्वारा विधेयक पारित किया जाय। इस प्रकार किसी भी क्षेत्र में सरकार अपनी शक्ति का इस प्रकार प्रयोग न करे कि उससे संविधान के प्रावधान टूटते हों, यदि ऐसा किया जा रहा हो तो समिति इसकी सूचना सदन को देती है।

अधीनस्थ विधान से सम्बन्धित समिति की प्रक्रिया के रूप में भी थोड़ी जानकारी प्राप्त करना उपयोगी रहेगा। लोकसभा की इस समिति ने ११ दिसम्बर १९५३ को अपनी प्रथम बैठक में यह निर्णय दिया कि जब यह समिति नियमों, विनियमों आदि की जांच करे तो यदि इसे यह अनुभव हो कि कार्यपालिका के अधिकारी उनकी शक्ति की सीमाओं को पार कर रहे हैं तो समिति के सदस्य एक प्रश्नावली बना सकते हैं। दूसरी प्रश्नावली संसदीय सचिवालय द्वारा भी बनाई जा सकती है।[1] जब समिति अपनी कार्यवाही सम्पन्न करती है तो इस दौरान यदि यह आवश्यक समझे तो सम्बन्धित अधिकारियों की जांच कर सकती है, उनसे मत स्पष्टीकरण एवं व्याख्या मांग सकती है। सम्पूर्ण विषय पर पर्याप्त विचार करने के बाद समिति जिन निष्कर्षों पर पहुंचती है उनका प्रतिवेदन सदन के सम्मुख प्रस्तुत करती है। इस प्रतिवेदन में जो मुख्य बातें होती हैं वे हैं– परिचय, परिच्छिन्न नियम व उनसे सम्बन्धित मत, मेज पर आदेशों को रखने में हुई देरी, समिति की विभिन्न सिफारिशों पर सरकार द्वारा की गई अथवा प्रस्तावित कार्यवाही, सिफारिशों का सार, परिशिष्ट एवं संक्षिप्त कार्यवाही। स्पीकर द्वारा दिये गये निर्देश के अनुसार इस प्रतिवेदन के साथ कोई विरोधी मत नहीं प्रकट किया जाता यद्यपि इसके निर्णय उपस्थित लोगों के बहुमत द्वारा लिये जाते हैं।[2] समिति का प्रतिवेदन समिति की ओर से इसके सभापति द्वारा सदन में प्रस्तुत किया जाता है।

अधीनस्थ विधान पर यह समिति महत्वपूर्ण कार्य करती है। इसके द्वारा सिफारिशें प्रस्तुत की जाती हैं जिनको सरकार एवं सदन द्वारा पर्याप्त सम्मान प्राप्त होता है। सरकार इसकी सिफारिशों की अवहेलना नहीं कर सकती। यदि वह ऐसा करने का प्रयास करे तो इसके कई गम्भीर परिणाम हो सकते हैं यहां तक कि उसके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव भी आ सकता है। इस समिति को यह अधिकार है कि किसी को भी बुला ले तथा किसी विषय पर उनसे कितनी ही बार पूछ-ताछ कर ले। यह विभागों से स्पष्टीकरण के लिए अधिकारियों को आमन्त्रित करके नौकरशाही पर एक प्रभावशाली

1. First report of the Committee on Subordinate Legislation, 1954, P. 7.
2. "There shall be no minutee of dissent to the report."
—*Speaker's Direction No.* 68 (3)

प्रतिबंध लगा सकती है। लोकसभा की इस समिति के कार्यों के बारे में लोक सभा के स्पीकर ने पर्याप्त संतोष व्यक्त किया है। बी० बी० जेना के कथनानुसार असल में समिति ने उन विभागों के सभी वरिष्ठ अधिकारियों को बुला भेजा जिनके नियमों पर इसने समय-समय पर विचार किया था और कभी-कभी उनको अपनी सिफारिशें मनवाने के लिए बाध्य भी किया।[1] इस समिति ने अनेक विधायकों तथा कानूनी आदेशों पर विचार किया और यह बताया कि व्यवस्थापन कहां अपनी नियम बनाने की सत्ता की सीमा के बाहर जा रहा है। यह समिति मंत्रियों के नियंत्रण से पूर्णतया स्वतन्त्र रहकर कार्य करती है। विरोधी दल के सदस्यों को इसमें उपयुक्त स्थान दिया जाता है। इस समिति के सदस्य दलीय राजनीति के आधार पर कार्य नहीं करते। यह समिति सदैव इस बात का प्रयास करती है कि कार्यपालिका के आदेशों एवं नियमों को शीघ्र ही सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय और सदन के निर्देशन का शीघ्र ही पालन किया जाय।

सरकारी आश्वासनों पर समिति

(Committee on Government Assurances)

कार्यपालिका पर संसदीय नियंत्रण रखने के लिए एक अन्य समिति सरकारी आश्वासनों पर गठित की गई है जिसका मुख्य कार्य मंत्रियों द्वारा समय समय पर सदन में दिये जाने वाले आश्वासनों, वायदों, उद्यमों, आदि के बारे में छानबीन करके इस बात का प्रतिवेदन प्रस्तुत करना है कि इन आश्वासनों, वायदों एवं उद्यमों को क्रियान्वित किया गया है तथा यदि उन्हें क्रियान्वित किया गया तो क्या उतने कम से कम समय में जो कि उनके लिए अनिवार्य था।[2] इस समिति का भारतीय चरित्र को देखते हुए अत्यन्त महत्व है क्योंकि यहां बड़े-बड़े वायदे किये जाते हैं, ऊंचे-ऊंचे आश्वासन दिये जाते हैं किन्तु उनको क्रियान्वित करने के लिए कभी प्रयास नहीं किया जाता। मोरिस जोन्स (Morris Jones) ने तो यहां तक कहा कि यह समिति भारत की ही नवीन प्रति है।[3] प्रश्न काल में अथवा किसी विधेयक पर बहस के दौरान मंत्री प्राय: यह कह देते हैं कि मैं इस पर विचार करूंगा. मैं इस विषय की जांच करूंगा. मैं इसके सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करूंगा, मैं इस पर विचार कर रहा हूं आदि-आदि। इन कथनों से लगता है कि मंत्रियों द्वारा कोई आश्वासन दिया जा रहा है, कोई वायदा किया जा रहा है, इन आश्वासनों के सहारे सम्बन्धित मंत्री अपने आपको आलोचनाओं से बचाने में सफल हो जाता है। ऐसा बहुत कम देखा जाता है कि कोई मंत्री इन आश्वासनों को गम्भीरतापूर्वक दे या दिये गये आश्वासनों को पूरा करे। सामान्यत: ये बातें आगे

---

1. "The committee has in fact, summoned all the senior officers of the Departments, whose rules were considered by it from time to time and has sometimes compelled them to give effect to the recommendations made by the committee..."
   —*B. B. Jena*, op. cit., P. 115
2. Rule—244
3. *Morris Jones*, op. cit , P. 314

चल कर भुलादी जाती हैं। जिस सदस्य को जिस विषय में रुचि हो वह आगे भी उस प्रश्न को उठा सकता है किन्तु ऐसी स्थिति में भी संतोषजनक कार्यवाही की सम्भावनाएं कम ही रहती हैं।

इसके अतिरिक्त इस विकल्प में अनेक कठिनाइयां भी हैं। प्रथम यह कि इसके लिए उसे नया प्रश्न उठाने की सूचना देनी होगी, या वह इसे बजट पर बहस के समय उठायेगा, दोनों स्थितियों में समय अधिक लगने की सम्भावनाएं हैं। दूसरे, ये आश्वासन अनेक होते हैं इसलिए किसी भी सदस्य के लिए यह सम्भव नहीं है कि वह इनके मनवाने के लिए पीछे लगा रहे। इसके अतिरिक्त ये सभी आश्वासन लिखित रूप में भी प्राप्त नहीं होते। भारत में एक विशेष स्थिति यह है कि किसी भी समस्या को सुलझाने के लिए कोई भी अपन आपको जिम्मेवार नहीं मानता। सभी यह अनुभव करते हैं कि वे अपने उत्तरदायित्वों को पूरा कर चुके तथा उन्होंने कागज को अधीनस्थ अधिकारी तक पहुँचा दिया। ऐसी स्थिति में व्यवस्थापिका का कोई भी सदस्य मंत्री से प्राप्त किसी भी आश्वासन को किस प्रकार क्रियान्वित करा सकता है ? कभी-कभी ऐसा भी हो जाता है कि मंत्री इस बात का दम भरते हैं कि उन्होंने दिये हुए आश्वासन को पूरा कर दिया किन्तु वास्तविकता यह है कि उन्होंने उसे पूरा करने की दृष्टि से कुछ भी नहीं किया है। कुछ मामलों में आश्वासनों को केवल आंशिक रूप से पूरा किया जाता है या बहुत समय बाद पूरा किया जाता है। ये दोनों ही स्थितियां चिन्तनीय हैं। यदि किसी आश्वासन को बहुत देर से क्रियान्वित किया गया तो जनहित की दृष्टि से उसका महत्व एवं उपयोगिता ही समाप्त हो जाती है। सदन में दिये गये आश्वासनों की क्रियान्विति से सम्बन्धित इन विभिन्न समस्याओं के परिणाम-स्वरूप ही व्यवस्थापिका द्वारा पृथक से एक समिति का गठन कर दिया जाता है। केन्द्रीय स्तर पर इस समिति का गठन १ दिसम्बर, १९५३ को किया गया। उस समय इसमें केवल छः सदस्य थे किन्तु १३ मई, १९५४ को इसके सदस्यों की संख्या पन्द्रह हो गई। राजस्थान विधान सभा की आश्वासन समिति का सर्वप्रथम गठन अध्यक्ष द्वारा १३ दिसम्बर, १९५५ को किया गया।

राजस्थान विधानसभा का सर्वप्रथम अधिवेशन २९ मार्च, १९५२ से शुरू हुआ था। उस समय से ही मंत्रियों द्वारा सदन में समय समय पर अनेक आश्वासन दिये जाते रहे हैं। इन आश्वासनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में कुछ सदस्यों द्वारा सदन में यह प्रश्न उठाया गया कि सरकार द्वारा इन आश्वासनों को क्रियान्वित किया जाता है अथवा नहीं ? इसकी जांच के लिए कोई प्रवन्ध किया गया है अथवा नहीं ? इस सम्बन्ध में २६ मार्च, १९५५ को मुख्यमंत्री ने यह स्पष्टीकरण दिया कि आश्वासनों का रिकार्ड (Record) सरकार तथा विधानसभा सचिवालय द्वारा रखा जायेगा। अप्रैल, १९५५ में अध्यक्ष ने विधानसभा सचिवालय को यह आदेश दिया कि सरकार ने १९५२ से लेकर १९५४ तक सदन में जो आश्वासन दिये हैं उनकी सूची बनावें और सम्बन्धित सरकारी विभागों तथा मन्त्रियों को उन्हें भेज कर यह ज्ञात करे कि वे क्रियान्वित किये गये हैं अथवा नहीं। अध्यक्ष द्वारा प्रथम बार नियुक्त की गई आश्वासन समिति ने अप्रैल, १९५६ तक कार्य किया। इस काल में इस समिति की छः बैठकें हुईं। इसने अपनी प्रथम बैठक में उन

शब्दों एवं पदों की सूची तैयार की जिन्हें आश्वासन मानाजाये। १ मई, १९५६ को विधानसभा की प्रक्रिया एवं कार्य-संचालन की नियमावली के अनुसार नयी आश्वासन समिति का गठन किया गया। यह समिति ३१ अक्टूबर, १९५६ तक कार्य करती रही। आश्वासनों की राजस्थान विधानसभा की द्वितीय समिति ने अपनी सोलह बैठकें की। आश्वासनों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण के लिए समिति द्वारा कुछ अधिकारियों को भी बुलाया गया।

राजस्थान विधानसभा की आश्वासन समिति में अधिक से अधिक पांच सदस्य होते हैं, इनको स्पीकर द्वारा मनोनीत किया जाता है। अन्य कई एक समितियों की तरह से मंत्री इस समिति के भी सदस्य नहीं हो सकते। यदि नियुक्त होने के बाद समिति के सदस्य को मंत्रालय में ले लिया जाता है तो उसी दिन से वह समिति का सदस्य नहीं रहेगा। इस समिति के सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष से अधिक नहीं हो सकता।

समिति द्वारा निर्णित वे शब्द एवं पद अनेक हैं जिनके प्रयोग को आश्वासन माना जायेगा। इनमें से मुख्य-मुख्य ये हैं—यह विषय विचाराधीन है, मैं इसकी जाँच करूंगा, जांच पड़ताल हो रही है मैं माननीय सदस्य को सूचित करूंगा, मैं भारत सरकार को लिखूंगा, मैं सदन को विश्वास दिलाता हूं कि माननीय सदस्य के समस्त सुझावों पर ध्यानपूर्वक विचार किया जायेगा, मैं दौरे में मौके की जांच करूंगा, मैं इस विषय पर विचार करूंगा, मैं इस विषय में भारत सरकार को सुझाव दूंगा, हम इस विषय को [illegible] संकल्प के रूप में रखेंगे, मैं देखूंगा कि इस विषय में क्या किया जा सकता है, सुझाव पर विचार किया जायेगा, इस मामले में भारत सरकार से पूछ-ताछ की जायेगी, मेरे पास कोई सूचना नहीं लेकिन मैं इसकी जांच करने को तैयार हूं, आवश्यक आंकड़े इकट्ठे करने का प्रयत्न किया जा रहा है, नियम बनाते समय इन सुझावों को ध्यान में रखा जायेगा, मैं इसे माननीय सदस्य के पास भेज दूंगा, आदि आदि। राजस्थान की आश्वासन समिति ने अपने प्रतिवेदन में कई एक महत्वपूर्ण सुझाव दिये—इसका पहिला सुझाव यह था कि सरकार भविष्य में आश्वासनों को ध्यान में रखते हुए कार्य करे [illegible] और सर्वदा दिये हुए आश्वासनों से परिचित रहें। दूसरे, दिये गये आश्वासनों को साधारणतया तीन महीने की अवधि में पूरा किया जाय और इसकी सूचना समिति को जल्दी से जल्दी दी जाय। जिन आश्वासनों को निर्दिष्ट समय में पूरा नहीं किया जा सकता है उनके उचित कारणों से समिति को अवगत कराया जाय। तीसरे, आश्वासनों को कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में सरकार द्वारा समिति को जो सूचना भेजी जाय वह विशिष्ट एवं पूर्ण होनी चाहिए। चौथे, भविष्य में आश्वासनों को कार्यान्वित करने का [illegible] निर्दिष्ट किया जाये। पांचवें, सरकार को चाहिए कि वह [illegible] विभागों को सचेत कर दे ताकि भविष्य में समिति द्वारा [illegible] स्पष्टतया कम से कम समय में भेजी जा सके। छठे, [illegible] केवल यही नहीं है कि वह आश्वासन की क्रियान्विति के बारे में [illegible] करदे बल्कि उसे यह भी देखना चाहिए कि आश्वासन का [illegible] है

अथवा नहीं। सम्बन्धित अधिकारियों से इस सम्बन्ध में पूरा विवरण मंगवा कर समिति को भेजा जाना चाहिए।[1]

यह समिति मंत्रियों को सदन में कुछ भी आश्वासन देकर बचने और कुछ भी कह कर उसे पूरा न करने की प्रवृत्ति पर कड़ा प्रतिबन्ध लगाती है। इस समिति कार्यवाही का एक निश्चित तरीका है। यह सर्वप्रथम सदन की कार्यवाही में से उन कथनों को छांटती है जो कि आश्वासन कहे जा सकते हैं। समिति की सहायता, व्यवस्थापिका सचिवालय की प्रश्न शाखा द्वारा की जाती है। केन्द्रीय स्तर पर संसदीय मामलों पर मंत्रालय भी सरकार द्वारा दिये गये आश्वासनों, वायदों एवं उद्यमों की एक सूची तैयार करता है। पहिले यह सूची को सत्र समाप्त होने के बाद विभिन्न मंत्रालयों को भेजता था, किन्तु अब यह समय समय पर और यहां तक कि सत्र के दौरान भी यह सूची तैयार करता है और इनमें से एक लोकसभा सचिवालय को तथा एक अन्य सम्बन्धित सरकारी विभागों को भेजता है। जब किसी आश्वासन को क्रियान्वित करने से सम्वन्धित प्रतिवेदन सदन के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है तो समिति उस विषय में जांच करना छोड़ देती है। समिति द्वारा यह देखा जाता है कि जो आश्वासन पूरा किया गया क्या वह पूर्ण रूप से किया गया और यदि ऐसा नहीं किया गया हो तो वह उसके सम्बन्धमें सिफारिश कर सकती है। किस आश्वासन को क्रियान्वित माना जाये, इस सम्बन्ध में संसदीय मामलों से सम्वन्धित मंत्रालय ने यह सुझाव दिया कि एक आश्वासनों को उस समय संतोषजनक रूप से क्रियान्वित माना जाये जब कि इसे क्रियान्वित करने की सूचना इस सीमा तक दे दी जाये कि उन्हें किसी प्रश्न का उत्तर देते समय यह आश्वासन न देना पड़े। लोकसभा की आश्वासन समिति ने इस सुझाव को मानते हुए यह बताया कि प्रत्येक मामले पर उसकी योग्यता के अनुसार विचार किया जाना चाहिए। समिति यह भी अनुभव करती है कि यदि किसी आश्वासन को क्रियान्वित करने में अत्यधिक देरी कर दी जाये तो उसका महत्व ही समाप्त हो जाता है। इसलिए लोकसभा की समिति ने आश्वासन को दो महीने की अवधि में पूरा करने की बात कही। कुछ विषय ऐसे होते हैं जिनसे सम्बन्वित आश्वासनों को क्रियान्वित करने में अधिक समय लग सकता है। ऐसी स्थिति में उपयुक्त कारणों का उल्लेख किया जाना चाहिए। समिति यदि चाहे तो वह सम्बन्धित विभाग के अधिकारियों एवं सचिवों को बुलाकर उनसे पूछ-ताछ कर सकती है। यह प्रक्रिया अत्यंत प्रभावशाली सिद्ध होती है क्योंकि इससे सम्बन्वित अधिकारी को क्रियान्विति में होने वाली देरी का कारण बताना होता है। समिति आश्वासनों की पिछली सूची पुन: देखकर बचे हुए महत्वपूर्ण आश्वासनों के बारे में सिफारिश करती है तथा सम्बन्धित मंत्रालय से उसमें होने वाली देरी के कारणों की जांच करती है। समिति द्वारा उन आश्वासनों को छोड़ दिया जाता है जो कि संतोषजनक रूप से क्रियान्वित हो चुके हैं या जिनकी घोषणा करना जन-हित में नहीं है। आगे

1. राजस्थान विधान सभा, आश्वासन समिति 1956-57 प्रथम प्रतिवेदन, P. P. 4-5

अथवा असंतोष से पूर्ण आश्वासनों के प्रति समिति गम्भीर नोट लगा देती है, और देखा गया है कि समिति द्वारा लगाये गये इन नोटों का पर्याप्त प्रभाव होता है।

याचिका समिति
(Petitions Committee)

भारतीय व्यवस्थापिकाओं में एक अन्य समिति याचिका समिति होती है। याचिका प्रस्तुत करने की परम्परा को संसदीय जीवन की एक पुरानी परम्परा कहा जाता है। याचिकायें विशेष रूप से उन दु:खों को दूर करने के लिए प्रस्तुत की जाती हैं जो कि सामान्य कानून के न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र से बाहर होते हैं। याचिकायें व्यक्तिगत दु:खों से सम्बन्धित भी हो सकती हैं और सामूहिक दु:खों से सम्बन्धित भी। किन्तु आजकल की संसदीय परम्पराओं के अनुसार व्यक्तिगत याचिकायें समाप्तप्राय: हो गई हैं तथा जो याचिकायें प्रस्तुत की जाती हैं वे सार्वजनिक नीति के सामान्य व्यवहार से सम्बन्ध रखती हैं। न्यायालयों का प्रचलन अधिक हो जाने के कारण तथा प्रेस (Press) एवं जनमत की अभिव्यक्ति के अन्य साधनों के विकसित हो जाने के कारण व्यवस्थापिका में याचिकायें प्रस्तुत करने और इस प्रकार अपने दु:खों का निराकरण करने की परम्परा का महत्व अब कम रह गया है। याचिकाओं को प्रस्तुत करने का मुख्य उद्देश्य कुछ सामान्य कष्टों को दूर करना अथवा संसद के विचाराधीन मामलों पर जनता के मत को प्रकट करना होता है। आज के प्रजातन्त्रात्मक युग में जनता का यह निहित अधिकार समझा जाता है कि वह अपने दु:खों को दूर करने, सार्वजनिक महत्व के मामलों पर रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत करने की दृष्टि से याचिकायें प्रस्तुत कर सकती है। जनता भी इसके महत्व से परिचित हो चुकी है। इस व्यवहार से उनमें इस भावना का विकास होता है कि संसद उनकी अपनी है और उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रत्येक दृष्टिकोण पर विचार करना और प्रत्येक समस्या का निराकरण करना उसका कर्तव्य है। याचिकाओं की संख्या अधिक होने के कारण सदन को यह असम्भव प्रतीत होगा कि वह उन पर व्यापक रूप से विचार नहीं कर पाएगा। फलस्वरूप एक याचिका समिति की नियुक्ति की गई। याचिका को प्रस्तुत करना एक विशेष कार्य होता है। इसके लिए नियम यह है कि प्रत्येक याचिका प्रस्तुतकर्ता इसे प्रार्थना के रूप में रखेगा और संक्षिप्त रूप में इस बात का उल्लेख करेगा कि वह क्या चाहता है। कोई भी याचिका छपी हुई नहीं होनी चाहिए तथा उस पर कम से कम एक व्यक्ति के हस्ताक्षर होने चाहिए। याचिका तैयार करने से सम्बन्धित किसी प्रकार की गलती या धोखा-धड़ी को विशेष अधिकारों का उल्लंघन समझा जाएगा। याचिका की भाषा सम्माननीय होनी चाहिए।[1] रेडलिक (Redlich) के मतानुसार क्राउन, संसद, धर्म, न्यायालय, या अन्य किसी संगठित सत्ता के प्रति असम्मानजनक अभिव्यक्तियों से युक्त याचिका को असंसदात्मक माना जाएगा और उसे स्वीकार नहीं किया जायेगा।[2] कोई भी याचिका ऐसी नहीं

1. Compion, op. cit., P. 144
2. *Redlich*, op. cit, P. 240

होनी चाहिए जिसमें कि याचिका प्रस्तुत करने वाले के लिए कुछ धन प्रदान करने की मांग की गई हो। कोई भी याचिका सभा में सदन के सदस्य द्वारा ही प्रस्तुत की जा सकती है। जो सदस्य याचिका को प्रस्तुत करता है यह उसी का उत्तरदायित्व बन जाता है कि वह यह देखे कि याचिका सदन के नियमों एवं आदेशों के अनुकूल है अथवा नहीं। वह अपना नाम भी याचिका पर लिखेगा। याचिकायें, औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही रूपों में प्रस्तुत की जाती हैं। भारत में याचिकाओं का रूप, प्रकृति, व्यवहार, उद्देश्य एवं प्रस्तुत करने का तरीका ग्रेट ब्रिटेन की कामन्स-सभा से मिलता है। केन्द्रीय स्तर पर याचिका समिति की स्थापना सन् १९२४ में ही की जा चुकी थी। उस समय इसका नाम जन-याचिका समिति (The Committee on public petitions) था। स्वतन्त्रता के बाद लोकसभा की प्रथम याचिका समिति २७ मई १९५२ को संगठित की गई। इस समिति के सदस्यों की संख्या उस समय पांच रखी गई किन्तु अप्रैल, १९५४ में इसे बढ़ाकर पंद्रह कर दिया गया ताकि सभी दलों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व दिया जा सके। राजस्थान विधान सभा में याचिका समिति के सदस्यों की संख्या पांच से कम नहीं हो सकती।[1] वास्तविक व्यवहार में यह देखा गया है कि इस समिति में प्राय: दस सदस्यों की नियुक्ति की जाती है। यह समिति सदन के प्रारम्भ में अथवा समय-समय पर स्पीकर द्वारा नियुक्त की जा सकती है। मंत्री को इस समिति का सदस्य नहीं बनाया जा सकता। इसका कारण जैसा कि मि० बी० बी० जेना लिखते हैं, यह है कि यह समिति जांच करने के लिए होती है और सामान्य रूप से जहां जनता कुछ मुसीबतें रखती है उन कुछ मामलों में यह सरकार पर प्रतिबन्ध का कार्य करती है।[2] समिति में प्राय: विरोधी दल के सदस्यों का बहुमत रहता है और जहां तक सम्भव हो समान सदस्य को ही चुन लिया जाता है। समिति का सभापतित्व सदन के एक मान्य सदस्य को सौंपा जाता है। राजस्थान विधानसभा की याचिका समिति का सभापतित्व सन् १९६३ में उपाध्यक्ष श्री नारायणसिंह मसूदा को सौंपा गया जबकि १९६५, १९६६ में सभापतित्व का पद जनसंघ के नेता श्री सतीशचन्द्र अग्रवाल को सौंपा गया। इस समिति का कार्यकाल एक वर्ष तक के लिए सीमित नहीं है। स्पीकर इसका समय नियुक्त कर सकता है। इस समिति के सदस्यों को जब बार-बार इसी समिति में नियुक्त किया जाता है तो वे अनुभवों का पर्याप्त लाभ उठा सकते हैं।

याचिका समिति का मुख्य कार्य यह है कि इसे जो भी याचिका प्रस्तुत की जाये, यह उसका परीक्षण करे। यदि समिति यह देखे कि प्रस्तुत की गई याचिका नियमों के अनुकूल है तो वह याचिका को प्रमाणित करने का निर्देशन दे सकती है। यदि समिति द्वारा ऐसा न किया जाय तो स्वयं स्पीकर

1. Rule—227
2. "The obvious reason for exclusion of the Ministers from the membership of the committee, is that, the committee is a committee to enquire and normally acts as a check on the Government where public has some grievances."
B. B. Jena, op. cit., P. 36

यह निर्देश दे सकता है। बांटी गई याचिका मूल याचिका का वह संक्षिप्त रूप होगा जो कि याचिका समिति अथवा स्पीकर द्वारा तय किया जाय। समिति का यह भी कर्तव्य होगा कि एक याचिका में जो शिकायतें की गई हैं, उनके सम्बन्ध में आवश्यक गवाहियां हों और सम्बन्धित मामले में उपचार के लिए कुछ सुझाव प्रस्तुत करे अथवा भविष्य में ऐसे मामलों की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए कुछ कदम उठाने के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करे।

याचिकायें जो कि सदन में प्रस्तुत की जा सकती हैं और प्रायः की जाती हैं उनको कई भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है—जैसे विधेयकों या व्यवस्थापन सम्बन्धी विषयों पर याचिकायें जनता के दुःखों या प्रशासकीय मामलों पर याचिकायें, मतों एवं सुझावों से सम्बन्धित याचिकायें, वित्तीय मामलों पर याचिकायें एवं व्यक्तिगत दुःखों पर याचनायें।

याचिका समिति द्वारा जो कार्य सम्पन्न किया जाता है वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यह जनता को प्रजातन्त्रात्मक रूप से प्रशिक्षित करके उसे उसके अधिकारों के प्रति पूर्णतया जागरुक बनाती है। यदि समिति के कार्यों को प्रकाशित कर दिया जाय तो निश्चय ही वे जनता में अधिक उत्साह पैदा करेंगे। सरकार का ध्यान भी इस समिति की ओर पर्याप्त आकर्षित रहता है अतः सरकार इसकी सिफारिशों को यथा सम्भव क्रियान्वित करने का प्रयास करती है। समिति द्वारा अपनी सिफारिशों को उस समय तक दोहराया जाता है जब तक कि वे पूर्ण रूप से क्रियान्वित न हो जाय। यह समिति अपनी सिफारिशों को प्रायः कम करती है। इसके परिणामस्वरूप इसकी उपयोगिता घट जाती है और जनता में वांछनीय उत्साह उत्पन्न नहीं होने पाता। इसकी उपयोगिता एवं भारतीय परिस्थितियों में इसके महत्व का वर्णन करते हुए प्रो० बी० बी० जेना लिखते हैं कि यदि शक्तिशाली विरोधी दल के अभाव में हम यदि कार्यपालिका पर संसदीय नियन्त्रण को प्रभावशाली बनाना चाहते हैं तो याचिका की संस्था एवं उससे सम्बन्धित समिति को अधिक प्रभावशील तथा मजबूत बनाना होगा।[1]

सामयिक समितियां

[Adhoc Committees]

सामयिक समितियां पूर्व वर्णित सभी स्थायी समितियों से भिन्न प्रकृति की होती हैं क्योंकि ये नियमित रूप से प्रति वर्ष नियुक्त नहीं की जातीं। इसके विपरीत इनकी नियुक्ति का आधार वह विशेष कार्य होता है जिसे सम्पन्न करने के लिए स्पीकर या सदन इस प्रकार की समितियों का गठन करते हैं। इनमें प्रथम उन प्रवर-समितियों को लिया जा सकता है जो कि विशेष विधेयकों पर विचार करने के लिए नियुक्त की जाती हैं। किसी विशेष विधेयक पर संगठित होने वाली प्रवर-समिति को उस समय नियुक्त किया

---

1. "If parliamentary control over the executive, in the absence of a strong opposition, is to be made effective, the institution of petition and the committee thereon should be more effective and strong."

—*B. B. Jena*, op. cit., P. 57

जाता है जबकि सदन में यह मोशन किया जाये कि अमुक बिल प्रवर समिति को भेजा जाय।[1] इस समिति की कार्यवाहियों में वे सदस्य भी भाग ले सकते हैं जो कि इसके सदस्य नहीं हैं किन्तु ये सदस्य समिति में बोल नही सकते और न ही उसके घेर में बैठ सकते हैं। सभापति की स्वीकृति से एक मंत्री भी यदि चाहे तो समिति में बोल सकता है। प्रवर समिति को यह अधिकार है कि वह जिस विषय पर विचार कर रही है उससे सम्बन्धित विशेषज्ञों के विचार सुन सके तथा प्रभावित विशेष हितों के प्रतिनिधियों की गवाहियां ले सके। यदि किसी विधेयक को समिति के सम्मुख प्रस्तुत करने के बाद उसमें संशोधन का कोई प्रस्ताव रखा जाय तो कोई भी सदस्य इस पर ऐतराज कर सकता है और यह ऐतराज उस समय तक मान्य रहेगा जब तक कि सभापति उस संशोधन को रखने की अनुमति न दे दे। प्रवर समिति की प्रक्रिया जहां तक व्यावहारिक हो, वही रहेगी जो कि सदन के व्यवहार की है। यदि समिति के विचाराधीन विधेयक पर कोई संशोधन प्रस्तुत करना हो तो केवल समिति के सदस्य के माध्यम से ही ऐसा किया जा सकता है।

समिति को ज्योंही एक विधेयक प्रस्तुत किया जाये, वह समय-समय पर उस पर विचार करने के लिए तैयार रहेगी तथा सदन द्वारा निश्चित समय में उस पर अपना प्रतिवेदन देगी। यदि सदन समय निश्चित न करे तो प्रवर समिति को तीन माह के अन्दर-अन्दर प्रतिवेदन प्रस्तुत करना होगा। सदन एक मोशन के द्वारा प्रवर-समिति के प्रतिवेदन प्रस्तुत करने के समय को बढ़ा भी सकता है। प्रवर-समिति के सदस्यों को यह अधिकार है कि वे विचाराधीन विधेयक के सम्बन्ध में अपना विरोधी मत प्रकट कर सकें। किन्तु यह मत ऐसी भाषा में प्रकट किया जाना चाहिए जो कि गैर संसदीय न हो। प्रवर-समिति का प्रतिवेदन उसके सभापति अथवा सभापति की अनुपस्थिति में किसी भी सदस्य द्वारा सदन में प्रस्तुत किया जायेगा। प्रवर-समिति के प्रत्येक प्रतिवेदन को प्रकाशित किया जायेगा तथा उस प्रतिवेदन की एक कापी सदन के प्रत्येक सदस्य के पास भेजी जाएगी विधेयक के साथ इस समिति के प्रतिवेदन को राज-पत्र में प्रकाशित किया जायेगा। सामयिक समितियों का दूसरा प्रकार वे समितियां होती हैं जो कि सदन द्वारा किसी भी समस्या पर विचार करने के लिए नियुक्त की जा सकती हैं। सदन की कार्यवाही के वृत्तान्त का अध्ययन करने के बाद ऐसी अनेक समितियों के उदाहरण देखे जा सकते हैं।

---

1. Rule—219

१२

स्थानीय सरकार की समस्याएं और भविष्य

[THE PROBLEMS & FUTURE OF LOCAL GOVT.]

प्रत्येक मानवीय संस्था में मनुष्यों की प्रकृति, उपलब्ध साधनों की स्थिति, बाहर से मिलने वाला सहयोग आदि बातों के आधार पर अनेक समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं। इन समस्याओं के द्वारा उस संस्था के कार्य संचालन एवं उद्देश्य पूर्ति के क्षेत्र में महत्वपूर्ण रूप से प्रभावशील बाधाएं उत्पन्न की जाती हैं। जब तक इन बाधाओं का निराकरण न किया जाए अथवा बाधाओं के कारणों को विधेयात्मक उपायों द्वारा प्रभावहीन न बनाया जाए उस समय तक इन संस्थाओं की सफलता का भविष्य एक प्रश्नवाचक चिन्ह बना रहता है। भारत में जो स्थानीय संस्थाएं कार्य कर रही हैं वे उद्देश्य एवं परिणाम की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी तथा सार्थक हैं किन्तु इन्हें जिन समस्याओं का सामना करना होता है वे इतनी व्यापक तथा गहरी हैं कि उनका समाधान करने के लिए कोई सरल उपाय नहीं सुझाया जा सकता।

भारत में स्थानीय संस्थाओं की समस्याओं का संबध उनके क्षेत्र, कार्य, संगठन, सेवीवर्ग, नियंत्रण एवं पर्यवेक्षण, वित्तीय प्रबन्ध, जनता का सहयोग आदि बातों से रहता है। जब कभी कोई स्थानीय संस्था अपना कार्य करना बंद कर देती है अथवा गलत करती है अथवा जनता के लिए अनुपयोगी सिद्ध हो जाती है तो इन विभिन्न पहलुओं की दृष्टि से कोई समिति अथवा आयोग नियुक्त किया जाता है। वह जांच आयोग या समिति अपने अधिकार क्षेत्र के अन्तर्गत स्थानीय प्रशासन से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार करती है और इसके सम्बन्ध में अपने सुझाव प्रस्तुत करती है। स्थानीय सरकार की समस्याएं अनेक प्रकार की होती हैं। इनमें कुछ समस्याएं मूलभूत होती हैं अन्य का संबंध समय से होता है। दूसरी समस्याएं यांत्रिक त्रुटि से सम्बन्ध रखती हैं और कुछ एक समस्याएं इसलिए पैदा हो जाती हैं कि कार्यकर्त्ता वर्ग अपने कर्त्तव्यों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दे पाता। मूलभूत समस्याओं में हम उन समस्याओं को समाहित कर सकते हैं जो कि स्थानीय सरकार के मार्ग में प्रायः आती ही हैं। इन समस्याओं को स्वाभाविक अथवा अन्तर्निहित

समस्याएं भी कहा जा सकता है। इनके पीछे एक ऐसी पृष्ठभूमि कार्य करती है जो कि जनता के चरित्र की विशेषताओं से मिल कर बनती है। समय से प्रभावित समस्याएं परिस्थितियों एवं वातावरण के एक विशेष रूप से उत्पन्न होती है और इनका प्रभाव उन परिस्थितियों एवं अवस्थाओं के रहने तक बना रहता है। इस प्रकार की समस्याएं सामयिक होती हैं जो कि समय के साथ उत्पन्न होती हैं तथा समय के साथ ही समाप्त हो जाती हैं। भारत में स्थानीय संस्थाओं द्वारा अधिक उपयोगी कार्य नहीं किए जा रहे तथा उनमें जनता की अभिरुचि अधिक नहीं है। इस समस्या का समाधान भारतीय स्थानीय प्रशासन की एक महती समस्या है।

यह समस्या यहां इसलिये उत्पन्न हुई क्योंकि स्थानीय प्रशासन की परम्पराएं यहां अधिक व्यापक एव गहरी नहीं थीं। परम्पराओं के अभाव में कोई भी संस्थागत प्रबन्ध जनता को स्थानीय प्रशासन के प्रति अभिरुचि पैदा करने में सफल नहीं हो सकता। ये परम्पराएं किसी टॉनिक की तरह से जनता के मानस में नहीं उतारी जा सकतीं। ये समय के साथ-साथ धीरे-धीरे ही विकसित होती हैं। विकास की गति में बहुत सी समस्याएं सुलझ जाती हैं किन्तु अनेक नई समस्याएं पैदा भी हो जाती हैं। इस प्रकार की अनेक समस्याओं को समय द्वारा बिना किसी पूर्व प्रयास एवं अध्यवसाय के सुलझा लिया जाता है। इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ एक समस्याएं इसलिए भी उत्पन्न हो जाती हैं कि जिन स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्रशासन को संचालित किया जा रहा है वे त्रुटिपूर्ण रूप से संगठित होते हैं और उनके अधिकारी एवं कर्मचारी इच्छा एवं उत्साह रखते हुए भी जन-उपयोगी कार्य करने से कतराते हैं। यदि एक संस्था का संगठन भी उचित रूप से किया गया है तो उसमें समस्याओं का जन्म इसलिए भी हो सकता है कि उसके कार्यकर्त्ता अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में सक्रिय रुचि नहीं ले रहे हैं। इस सामान्य पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए हम भारत में स्थानीय सरकार की समस्याओं के संबंध में कुछ अधिक व्यापक रूप से विचार करना अधिक उपयुक्त समझेंगे।

क्षेत्रीय समस्याएं
[Area] Problems]

स्थानीय सरकार एवं प्रशासन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम समस्या यह उठती है कि उसकी संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र को कितना बड़ा रखा जाए। शहरी एवं देहाती क्षेत्रों में कार्य कर रहे विभिन्न स्थानीय निकायों को कितने बड़े क्षेत्र पर अधिकार प्रदान किया जाए तथा उनके द्वारा सेवित व्यक्तियों की अधिकतम एवं कम से कम संख्या क्या रखी जाए। स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र के बारे में अभी तक कोई सर्वमान्य मत सामने नहीं आ पाया है। ऐसा होना सम्भव भी नहीं है क्योंकि अनुभव और व्यवहार के संदर्भ में इन संस्थाओं का क्षेत्र बदलता रहना अधिक उपयोगी समझा जाता है। कई बार क्षेत्र के प्रसार के आधार पर स्थानीय संस्थाओं का संगठन किया जाता है और दूसरे अवसरों पर स्थानीय संस्थाओं की सामर्थ्य एवं उपयुक्तता को देखते हुए उनके क्षेत्र में रद्दोवदल किए जाते है। शहरी क्षेत्र में आकार के आधार पर नगर-निगम, नगरपरिषद, नगरपालिका समिति, छोटी कस्बा समितियां, कस्बा

क्षेत्रीय समितियां, सूचित क्षेत्र समितियां (Notified Area Committees) आदि संस्थाओं को संगठित किया गया है। इनमें सूचित क्षेत्र समितियां तथा छोटी कस्बा समितियां अपनी स्थिति के कारण सीमित शक्तियां तथा सीमित साधन रखती हैं। दूसरी ओर नगर निगम के पास शक्तियां एवं साधन स्रोत दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक होते हैं क्योंकि उनको एक व्यापक क्षेत्र में कार्य करना होता है। स्थानीय सस्थाओं का जब गठन किया जाता है तो उनके लिए एक निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक समझा जाता है किन्तु यह निश्चित क्षेत्र कितना बड़ा होना चाहिये इसके संबंध में कोई एक विचार नहीं बन पाया है तथा विभिन्न राज्यों में इस संबंध में अलग-अलग परम्पराएं अपनाई जा रही हैं। उदाहरण के लिए बंगाल एवं बिहार में कानून द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि राज्य सरकार केवल तभी और वहीं नगरपालिका की स्थापना कर सकती है जबकि उसे यह सन्तोष हो जाए कि किसी कस्बा क्षेत्र की तीन–चौथाई वयस्क पुरुष जनसख्या कृषि स्तर कार्यों में संलग्न है तथा कस्बे में तीन हजार से कम निवासी नहीं हैं और एक वर्गमील में एक हजार से कम लोग नहीं रह रहे हैं। राजस्थान में नगरपालिका की स्थापना उस समय तक नही की जा सकती जब तक कि उस क्षेत्र की जनसंख्या पांच हजार या इससे अधिक न हो।

अन्य राज्यों में कोई ऐसा कानूनी प्रावधान या कोई निश्चित प्रक्रिया नहीं है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जाए कि अमुक स्थान पर नगर पालिका की स्थापना कर दें। उत्तरप्रदेश में एक अतिरिक्त कानून के अनुसार किसी भी कस्बे को उस समय तक नगरपालिका में नहीं बदला जा सकता जब तक कि उसकी जनसंख्या आठ हजार से लेकर दस हजार तक न हो और उसकी वार्षिक आय २५ हजार या इससे अधिक न हो। इस प्रकार से भारत की विभिन्न नगरपालिकाओं की जनसंख्या एवं क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएं वर्तमान हैं। यही कारण है कि उनके संगठव एवं प्रशासन के बारे में कोई एकरूपता नहीं अपनाई जा सकती। उनके कार्य संचालन से सम्बन्धित सुझाव भी सामान्य रूप में नहीं दिए जा सकते। विकेन्द्रीकरण आयोग के प्रतिवेदन में यह कहा गया था कि जो शक्तियां बड़े कस्बों को प्रदान की जा सकती हैं वे नगरपालिकाओं को नहीं दी जा सकतीं जो कि गांवों का संयोग मात्र है।[1] यदि हम नगरपालिकाओं के विभिन्न रूपों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि भारत के राज्यों में अनेक प्रकार की नगरपालिकाएं काम कर रही हैं। बंबई में महत्वपूर्ण कस्बों के लिए बारों नगरपालिकाएं तथा अन्य के लिए जिला नगरपालिकाएं बनाई गई हैं। यदि किसी जिला नगरपालिका की जनसंख्या १५ हजार हो तो उसे राज्य सरकार द्वारा शहर नगरपालिका (City Municipality) कह दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में यह नाम उन नगर–

---

1. "Powers which might well be granted to large towns cannot be extended to Municipalities which are mere collections of villages."

—The Decentralization Commission Report, Para 812

समस्याएं भी कहा जा सकता है। इनके पीछे एक ऐसी पृष्ठभूमि कार्य करती है जो कि जनता के चरित्र की विशेषताओं से मिल कर बनती है। समय से प्रभावित समस्याएं परिस्थितियों एवं वातावरण के एक विशेष रूप से उत्पन्न होती हैं और इनका प्रभाव उन परिस्थितियों एवं अवस्थाओं के रहने तक बना रहता है। इस प्रकार की समस्याएं सामयिक होती हैं जो कि समय के साथ उत्पन्न होती हैं तथा समय के साथ ही समाप्त हो जाती हैं। भारत में स्थानीय संस्थाओं द्वारा अधिक उपयोगी कार्य नहीं किए जा रहे तथा उनमें जनता की अभिरुचि अधिक नहीं है। इस समस्या का समाधान भारतीय स्थानीय प्रशासन की एक महती समस्या है।

यह समस्या यहां इसलिये उत्पन्न हुई क्योंकि स्थानीय प्रशासन की परम्पराएं यहां अधिक व्यापक एव गहरी नहीं थीं। परम्पराओं के अभाव में कोई भी संस्थागत प्रबन्ध जनता को स्थानीय प्रशासन के प्रति अभिरुचि पैदा करने में सफल नहीं हो सकता। ये परम्पराएं किसी टॉनिक की तरह से जनता के मानस में नहीं उतारी जा सकतीं। ये समय के साथ-साथ धीरे-धीरे ही विकसित होती हैं। विकास की गति में बहुत सी समस्याएं सुलझ जाती हैं किन्तु अनेक नई समस्याएं पैदा भी हो जाती हैं। इस प्रकार की अनेक समस्याओं को समय द्वारा बिना किसी पूर्व प्रयास एवं अध्यवसाय के सुलझा लिया जाता है। इन समस्याओं के अतिरिक्त कुछ एक समस्याएं इसलिए भी उत्पन्न हो जाती हैं कि जिन स्थानीय संस्थाओं द्वारा प्रशासन को संचालित किया जा रहा है वे त्रुटिपूर्ण रूप से संगठित होते हैं और उनके अधिकारी एवं कर्मचारी इच्छा एवं उत्साह रखते हुए भी जन-उपयोगी कार्य करने से कतराते हैं। यदि एक संस्था का संगठन भी उचित रूप से किया गया है तो उसमें समस्याओं का जन्म इसलिए भी हो सकता है कि उसके कार्यकर्त्ता अपने उत्तरदायित्वों के निर्वाह में सक्रिय रुचि नहीं ले रहे हैं। इस सामान्य पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए हम भारत में स्थानीय सरकार की समस्याओं के संबंध में कुछ अधिक व्यापक रूप से विचार करना अधिक उपयुक्त समझेंगे।

क्षेत्रीय समस्याएं

[Area] Problems]

स्थानीय सरकार एवं प्रशासन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम समस्या यह उठती है कि उसकी संस्थाओं के अधिकार क्षेत्र को कितना बड़ा रखा जाए। शहरी एवं देहाती क्षेत्रों में कार्य कर रहे विभिन्न स्थानीय निकायों को कितने बड़े क्षेत्र पर अधिकार प्रदान किया जाए तथा उनके द्वारा सेवित व्यक्तियों की अधिकतम एवं कम से कम संख्या क्या रखी जाए। स्थानीय संस्थाओं के क्षेत्र के बारे में अभी तक कोई सर्वमान्य मत सामने नहीं आ पाया है। ऐसा होना सम्भव भी नहीं है क्योंकि अनुभव और व्यवहार के संदर्भ में इन संस्थाओं का क्षेत्र बदलता रहना अधिक उपयोगी समझा जाता है। कई बार क्षेत्र के प्रसार के आधार पर स्थानीय संस्थाओं का संगठन किया जाता है और दूसरे अवसरों पर स्थानीय संस्थाओं की सामर्थ्य एवं उपयुक्तता को देखते हुए उनके क्षेत्र में रद्दोबदल किए जाते है। शहरी क्षेत्र में आकार के आधार पर नगर-निगम, नगरपरिषद, नगरपालिका समिति, छोटी कस्बा समितियां, कस्बा

क्षेत्रीय समितियां, सूचित क्षेत्र समितियाँ (Notified Area Committees) आदि संस्थाओं को संगठित किया गया है। इनमें सूचित क्षेत्र समितियां तथा छोटी कस्वा समितियां अपनी स्थिति के कारण सीमित शक्तियां तथा सीमित साधन रखती हैं। दूसरी ओर नगर निगम के पास शक्तियां एवं साधन स्रोत दोनों ही अपेक्षाकृत अधिक होते हैं क्योंकि उनको एक व्यापक क्षेत्र में कार्य करना होता है। स्थानीय संस्थाओं का जब गठन किया जाता है तो उनके लिए एक निश्चित क्षेत्र का होना आवश्यक समझा जाता है किन्तु यह निश्चित क्षेत्र कितना बड़ा होना चाहिये इसके संबंध में कोई एक विचार नहीं बन पाया है तथा विभिन्न राज्यों में इस संबंध में अलग-अलग परम्पराएं अपनाई जा रही हैं। उदाहरण के लिए बंगाल एवं बिहार में कानून द्वारा यह निर्धारित कर दिया गया है कि राज्य सरकार केवल तभी और वहीं नगरपालिका की स्थापना कर सकती है जबकि उसे यह सन्तोष हो जाए कि किसी कस्वा क्षेत्र की तीन–चौथाई वयस्क पुरुष जनसंख्या कृषि स्तर कार्यों में संलग्न है तथा कस्वे में तीन हजार से कम निवासी नहीं हैं और एक वर्गमील में एक हजार से कम लोग नहीं रह रहे हैं। राजस्थान में नगरपालिका की स्थापना उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि उस क्षेत्र की जनसंख्या पांच हजार या इससे अधिक न हो।

अन्य राज्यों में कोई ऐसा कानूनी प्रावधान या कोई निश्चित प्रक्रिया नहीं है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जाए कि अमुक स्थान पर नगर पालिका की स्थापना कर दें। उत्तरप्रदेश में एक अतिरिक्त कानून के अनुसार किसी भी कस्वे को उस समय तक नगरपालिका में नहीं बदला जा सकता जब तक कि उसकी जनसंख्या आठ हजार से लेकर दस हजार तक न हो और उसकी वार्षिक आय २५ हजार या इससे अधिक न हो। इस प्रकार से भारत की विभिन्न नगरपालिकाओं की जनसंख्या एवं क्षेत्र में अनेक विभिन्नताएं वर्तमान हैं। यही कारण है कि उनके संगठव एवं प्रशासन के बारे में कोई एकरूपता नहीं अपनाई जा सकती। उनके कार्य संचालन से सम्बन्धित सुझाव भी सामान्य रूप में नहीं दिए जा सकते। विकेन्द्रीकरण आयोग के प्रतिवेदन में यह कहा गया था कि जो शक्तियां बड़े कस्वों को प्रदान की जा सकती हैं वे नगरपालिकाओं को नहीं दी जा सकतीं जो कि गांवों का संयोग मात्र है।[1] यदि हम नगरपालिकाओं के विभिन्न रूपों का अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि भारत के राज्यों में अनेक प्रकार की नगरपालिकाएं काम कर रही हैं। बंबई में महत्वपूर्ण कस्वों के लिए बारों नगरपालिकाएं तथा अन्य के लिए जिला नगरपालिकाएं बनाई गई हैं। यदि किसी जिला नगरपालिका की जनसंख्या १५ हजार हो तो उसे राज्य सरकार द्वारा शहर नगरपालिका (City Municipality) कह दिया जाता है। उत्तर प्रदेश में यह नाम उन नगर–

---

1. "Powers which might well be granted to large towns cannot be extended to Municipalities which are mere collections of villages."

—The Decentralization Commission Report, Para 812

पालिकाओं को दिया जाता है जो कि एक लाख या इससे अधिक जनसंख्या वाली होती हैं। पंजाब में नगरपालिकाओं के तीन रूप प्राप्त होते हैं। मैसूर में तीन और २५ हजार की जनसंख्या वाले कस्बों में कस्बा नगरपालिकाएं जो कि बड़ी जनसंख्या वाले स्थानों में नगरपालिकाएं हैं। कुछ राज्यों में नगरपालिकाओं का विभाजन राजस्व के आधार पर किया गया है। राजस्थान में नगरपालिकाओं को केवल दो भागों में विभाजित किया गया है, ये हैं— नगरपालिका और कस्बे की नगरपालिका। कस्बे की नगरपालिका को तीन वर्ष के राजस्व के अनुपात के आधार पर सात भागों में विभाजित किया गया है। मध्यप्रदेश आदि कुछ क्षेत्रों में जनसंख्या एवं राजस्व दोनों ही चीजों को नगरपालिका के विभाजन का आधार माना गया है। इस वर्गीकरण का मुख्य आधार यह होता है कि कस्बों एवं नगरों में कार्यों की प्रकृति अलग-अलग होती है। बड़ी जनसंख्या वाले नगरों, या व्यापारिक केन्द्रों के निवासी अधिक अच्छी नागरिक सुविधाओं की आशा करते हैं, वे अधिक स्तर की मांग करते है तथा आवश्यक धन एकत्रित करने की सामर्थ्य भी रखते हैं।

वस्तु स्थिति को देखने के बाद यह कहा जा सकता है कि शहरी क्षेत्रों में स्थानीय निकायों का क्षेत्र निर्धारित करने में कोई एक सिद्धान्त नहीं अपनाया गया है। कहीं इसका आधार जनसंख्या है, कहीं भूमि प्रदेश है, कहीं राजस्व की मात्रा और कहीं प्रदेश के लोगों का स्तर। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट रूप से समझ में नहीं आता कि किस आधार को मुख्य मान कर उसके अनुसार व्यवहार किया जाए।

क्षेत्र सम्बन्धी समस्या देहाती क्षेत्र के स्थानीय निकायों के बारे में भी उत्पन्न होती है। यह निश्चित करना देहाती स्थानीय सरकार की एक प्रमुख समस्या है कि वहां पचायत, पंचायत समिति एवं जिलापरिषद का आकार क्या रखा जाए। राजस्थान में सन् १९६० से पूर्व तीन हजार से लेकर आठ हजार तक जनसख्या पर एक पंचायत का गठन किया जाता था। सन् १९६० के बाद पंचायत के क्षेत्र को अत्यन्त सीमित करके डेढ़ हजार से लेकर दो हजार जनसंख्या तक कर लिया गया। पंचायत क्षेत्रों के आकार को निश्चित करते समय जिन बातों को ध्यान में रखा जाता वे पूर्ण रूप से वे नहीं होतीं जो कि नगरपालिका के क्षेत्र का निश्चय करते समय हुआ करती हैं। नगरों में नगरपालिकाओं के क्षेत्र के निश्चय का आधार सेवित व्यक्तियों की आवश्यकताएं एवं आकांक्षाएं हुआ करती हैं जबकि गांवों में स्थानीय सरकार की संस्था एवं जनता के बीच निकटस्थ सम्बन्ध को अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। जब पचायत क्षेत्र का निर्धारण करते हैं तो मुख्य रूप से यह बात ध्यान में रखी जाती है कि उस क्षेत्र के चारों कोनों पर रहने वाली जनता पंचायत कार्यालय तक पहुंच सके, अपनी समस्याओं को वहां रख सके और उसके कार्यों में वांच्छित योगदान देती रहे। इसी कारण यह प्रयास किया जाता है कि पंचायत क्षेत्र का कोई भी गांव पंचायत के मुख्य कार्यालय से साधारणत: पांच मील से अधिक दूर न हो। ऐसा होने पर ही पंचायत द्वारा लोगों के दुःख दूर करने एवं उन्हें सुविधा प्रदान करने के जो प्रयास किए जाते हैं वे सभी सफल हो सकते हैं। प्रतिनिधि निकाय एवं गांवों की जनता के बीच सम्बन्ध जितना सम्भव हो सके उतना घनिष्ट बनाया जाना चाहिए। पंचायतों

के क्षेत्र का निर्धारण करते समय एक अन्य बात का ध्यान रखा जाता है कि ये संस्थाएं आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्बी बन सकें। पंचायत स्तर पर क्षेत्र कितना बड़ा रखा जाए इस सम्बन्ध में अलग-अलग मत हैं—कोई छोटे क्षेत्र का समर्थन करता है और कोई बड़े क्षेत्र का। छोटे क्षेत्र के समर्थक अपने पक्ष में उन तर्कों को देते हैं जो कि ऊपर वर्णित किए गए हैं। दूसरी ओर जो लोग बड़े क्षेत्र का समर्थन करते हैं वे अपने पक्ष के समर्थन में यह बताते हैं कि ऐसा क्षेत्र आर्थिक दृष्टि से स्वावलम्ब होगा, उसमें अधिक अच्छा नेतृत्व पनप सकेगा। इसके अतिरिक्त प्रशासनिक व्यय में जो खर्चा किया जाएगा उसकी मात्रा भी कम होगी।

पंचायतों की भांति पंचायत समिति एवं जिला परिषद के आकार के सम्बन्ध में भी पर्याप्त लाभ और हानियों का वर्णन किया जाता है। राजस्थान में पंचायत समितियों को खण्ड स्तर पर गठित किया गया है। एक पंचायत समिति के क्षेत्र में आने वाली जनसंख्या चालीस हजार से एक लाख २५ हजार तक रहती है। औसतन पचायत समितियों की जनसख्या ६८५०० है। पंचायत समितियों को तहसील के सहवृत बनाया जाए अथवा नहीं और यदि बनाया भी जाए तो किस प्रकार—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिनके बारे में समय-समय पर भिन्न-भिन्न विचार प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। जिला परिषद को जिलास्तर पर संगठित किया जाता है। उसे जो कार्य सौंपे गए हैं उन्हें देखते हुए यह आकार एवं क्षेत्र कुछ सीमा तक सन्तोषजनक कहा जा सकता है किन्तु फिर भी समय की बदलती हुई परिस्थितियों में इन संस्थाओं के क्षेत्र की उपयोगिता भी घटती या बढ़ती रहती है और उसमें पर्याप्त परिवर्तन किया जाना अत्यन्त अनिवार्य बन जाता है।

चुनाव सम्बन्धी समस्याएं
(Elections Problems)

भारतीय स्थानीय संस्थाओं को यथा सम्भव प्रजातन्त्रात्मक रूप में संगठित करने का प्रयास किया गया है। इसके अधिकांश पदाधिकारी निर्वाचित होते हैं। प्रशासन में उच्च स्तर इन निर्वाचित पदाधिकारियों को दिया जाता है और अधिकारी कार्यकर्त्ताओं को मुख्य रूप से इनके परामर्श, सहयोग आदि की दृष्टि से रखा जाता है। स्थानीय सस्थाओं के विभिन्न स्तर के विभिन्न पदाधिकारियों का निर्वाचन कैसे किया जाए, यह समस्या अपने प्रभाव एवं प्रकृति की दृष्टि से व्यापक महत्व रखती है। स्थानीय संस्थाओं के निर्वाचन से सम्बन्धित समस्याएं मुख्य रूप से ये हैं—किसको मताधिकार दिया जाए, उम्मीदवारों की क्या-क्या योग्यताएं रखी जाए, मतदान किस प्रकार हो, क्या गुप्त मत पत्रों का प्रयोग किया जाए अथवा हाथ उठा कर के मत मालूम किया जाए, निर्वाचन की व्यवस्था किस प्रकार की जाए अर्थात् क्या क्षेत्र को अनेक वार्डों में विभाजित किया जाए, यदि किया जाए तो इन वार्डों की सख्या किस प्रकार निर्धारित की जाए, मतदाताओं की सूची किस प्रकार तैयार की जाए तथा चुनाव में होने वाली अनियमितताओं एवं गड़बड़ियों के लिए यदि किसी भी पक्ष को याचिका प्रस्तुत करनी हो तो उसका क्या तरीका रखा जाए, आदि-आदि।

नगरपालिका स्तर पर चुनाव की समस्याएं:—नगरपालिका स्तर पर चुनाव की समस्याएं उनसे भिन्नता रखती हैं जो कि पंचायती राज संस्थाओं के निर्वाचन में पाई जाती हैं। वैसे भारत में स्वायत्त सरकार का विकास केवल निर्वाचन व्यवस्था का क्रमिक प्रसार ही है। यह कहा जाता है कि यहां नगरपालिकाओं ने एक शताब्दी के दौरान जो विकास किया उसके परिणाम-स्वरूप पूर्णरूपेण नामजद परिषदों के स्थान पर पूर्णरूपेण निर्वाचित परिषदें बनाई जाने लगीं। आजकल स्थानीय निकायों के निर्वाचन में प्रायः व्यस्क मताधिकार का उपयोग किया जाता है। इसके अनुसार मतदाता को कम से कम २१ वर्ष की उम्र वाला, सम्बन्धित स्थानीय क्षेत्र का निवासी एवं भारत की राष्ट्रीयता प्राप्त होनी चाहिए। स्थानीय क्षेत्र का निवासी का अर्थ क्या होता है यह एक समस्या है जिसका समाधान विभिन्न राज्यों में अलग-अलग प्रकार से किया गया है। बम्बई में क्षेत्रीय निवासी उस व्यक्ति को माना जाता है जो कि सम्बन्धित बारो में अथवा उसके सात मील के क्षेत्र में कम से कम छः माह से रह रहा हो। बंगाल में केवल वही व्यक्ति मत देने का अधिकार रखता है जो कि नगरपालिका क्षेत्र में कम से कम बारह महीने से रह रहा हो या व्यवसाय कर रहा हो। मध्य प्रदेश, राजस्थान, मैसूर, केरल, उत्तर प्रदेश आदि राज्यों में मतदाता का नगरपालिका क्षेत्र में एक निश्चित समय तक रहना आवश्यक माना गया है। नगरपालिकाओं के चुनाव में उस व्यक्ति को मत देने का अधिकार नहीं दिया जाता जिसकी मानसिक स्थिति सुदृढ़ न हो या जिसने नगरपालिका के करों को पूरी तरह न चुकाया हो अथवा एक ऐसा व्यक्ति जो कि एक वर्ष से अधिक समय तक जेल में रहा हो।

चुनाव की दृष्टि से नगरपालिकाओं को राज्य सरकार द्वारा कई एक वार्डों में विभाजित किया जाता है। वह प्रत्येक वार्ड से चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या भी निर्धारित कर देती है। वास्तविक व्यवहार में शहर का वार्डों में विभाजन नगरपरिषद द्वारा ही किया जाता है जो कि जिला-अधिकारी के पर्यवेक्षण में कार्य करती है। यदि वार्डों में विभाजन ठीक प्रकार नहीं किया गया है तो इसके विरोध में जिला अधिकारी से अपीलें की जा सकती हैं। जिला अधिकारी शहर के नक्शे को राज्य सरकार के पास भेजता है जिसकी स्वीकृति उसे अन्तिम रूप देने का कार्य करती है। चुनाव की दृष्टि से अधिकांश नगर-पालिकाओं में जो विभाजन किया जाता है वह 'एक वार्ड एक सदस्य' के आधार पर होता है किन्तु कुछ ऐसे भी उदाहरण हैं जहां बहुसदस्यीय व्यवस्था अपनाई जाती है।

मतदाताओं की भांति उन उम्मीदवारों के लिए भी कुछ योग्यताएं निर्धारित की जाती हैं जो कि चुनाव में खड़े होते हैं और नगर परिषद की सदस्यता के लिए प्रत्याशी होते हैं। किसी भी ऐसे व्यक्ति को उम्मीदवार होने का अवसर नहीं प्रदान किया जाता जिसका नाम मतदाता सूची में न हो, वह नगरपालिका के किसी कार्य के ठेके पर न हो अथवा उसे नगरपालिका के प्रशासन में अन्य रुचि न हो, वह नगर परिषद को दी गई किसी सेवा के बदले उससे कोई आय प्राप्त न करे, वह सरकारी सेवक न हो, वह नैतिक भ्रष्टता के कारण छः महीने या इससे अधिक की जेल भुगता हुआ न हो, वह सरकारी या स्थानीय सेवा से निलम्बित किया हुआ न हो, प्रत्येक व्यक्ति जो

कि निर्वाचन का प्रत्याशी है वह एक मनोनयन पत्र भर कर नियमानुसार उम्मीदवार बनेगा। यह पत्र दो व्यक्तियों द्वारा प्रस्तावित एवं समर्थित किया जाता है। इस प्रकार का नामजदगी पत्र प्रस्तावित दिनांक को या उससे पूर्व रिटर्निंग अधिकारी को दिया जाता है। छानबीन के लिए निश्चित दिनांक को इस अधिकारी द्वारा उस पत्र की वैधानिकता की जांच की जाती है और उपयुक्तों के नाम प्रकाशित कर दिए जाते हैं।

यदि आने वाले नामजदगी पत्रों की संख्या रिक्त स्थानों से अधिक हो तो चुनाव कराए जाते हैं। चुनाव अधिकारी द्वारा उम्मीदवारों के अलग-अलग रंग एवं प्रतीक बांटे जाते है तथा उसके द्वारा इतनी अधिक मत–पेटियां दी जाती हैं जितने कि उम्मीदवार होते हैं। प्रत्येक पेटी पर उम्मीदवार को दिया गया रग या प्रतीक होता है। चुनाव अधिकारी द्वारा पोलिंग स्टेशनों के नाम बता दिए जाते हैं और प्रत्येक पोलिंग स्टेशन पर एक पोलिंग अधिकारी तथा एक पोलिंग सहायक नियुक्त कर दिया जाता है। मतदाताओं को पोलिंग-बूथ में एक-एक करके अन्दर लिया जाता है और पोलिंग सहायक द्वारा मतपत्र प्रदान किये जाते हैं। जहां रंगीन पेटियों की व्यवस्था होती है वहां मतदाता अपने उम्मीदवार की पेटी में मतदान करता है। दूसरे राज्यों मे जहां पर रंगीन व्यवस्था लागू नहीं है उम्मीदवारों के नाम एवं प्रतीक को मतपत्र पर अंकित किया जाता है और मतदाता को अपने उम्मीदवार के सामने एक क्रास का निशान लगाना होता है। मतदान हो जाने के बाद मतों को गिना जाता है और जो उम्मीदवार सबसे अधिक मत प्राप्त करता है उसे निर्वाचित घोषित किया जाता है। नगरपालिकाओं का निर्वाचन करते समय अनेक प्रकार की समस्याएं सामने आती हैं और अधिकारियों को यह सोचने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि चुनाव व्यवस्था का रूप किस प्रकार का रखा जाए ताकि वे अधिक सुविधाजनक, उपयुक्त फलदायक एवं सार्थक बन सकें। इन विभिन्न समस्याओं पर समय–समय पर सम्बन्धित सत्ताओं द्वारा विचार किए जाते रहे हैं। चुनावों से सम्बन्धित ये समस्याएं मूलतः निम्नलिखित हैं—

(१) अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व (Minorities Represen–tation)—चुनाव व्यवस्था में उत्पन्न होने वाली विभिन्न समस्याओं में से एक समस्या यह है कि अल्प–सख्यकों को किस प्रकार प्रतिनिधित्व दिया जाए। पहले इस समस्या को सुलझाने के लिए पृथक निर्वाचन क्षेत्र हुआ करते थे किन्तु भारत में इस व्यवस्था से बड़ा नुकसान हुआ तथा यह प्रणाली अत्यन्त महंगी पड़ी। अतः प्रान्तीय स्वायत्तता के दिनों में पृथक निर्वाचन की व्यवस्था को समाप्त कर दिया गया और पद एक समुदाय के अनुपात में बांटे जाने लगे। किसी भी उम्मीदवार को उस क्षेत्र में रहने वाली जनता मत देती थी। अल्प-संख्यकों के लिए सीटों को आरक्षित कर देना भी परिषद में उनकी सदस्यता को निश्चित बनाने की दृष्टि से एक महत्वपूर्ण तरीका है। बम्बई, मद्रास, बंगाल, उत्तरप्रदेश, आदि राज्यों में इस तरीके को प्रयुक्त किया गया है। यह प्रबन्ध बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र को मान कर चलता है। अतः इन राज्यों में सरकार द्वारा यह निश्चित कर दिया जाता है कि एक वार्ड मे एक ही सदस्य लिया जाएगा अथवा अधिक। स्वतन्त्रता के बाद भारतीय संविधान में जिन मूल्यों को स्थान दिया गया उसके अनुसार केवल पिछड़ी

जातियों को छोड़ कर अन्य किसी के लिए चुनाव क्षेत्र आरक्षित नहीं किया जाता। मद्रास में प्रत्येक नगरपालिका को इतने वार्डों में विभाजित करने का प्रयास किया जाता है कि प्रत्येक वार्ड से बारह निर्वाचित सदस्य लिए जा सकें। अनेक शहरों में तो केवल चार ही वार्ड पाए जाते हैं। उत्तर प्रदेश के अधिनियम के अनुसार प्रत्येक वार्ड से लिए जाने वाले सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक सात और कम से कम तीन हो। बम्बई, बंगाल, बिहार आदि में सदस्यों के लिए कोई निश्चित संख्या निर्धारित नहीं की गई है। बम्बई, बंगाल, मद्रास, उत्तर प्रदेश आदि स्थानों में प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार है जितने कि वहां उम्मीदवार चुने जाने हैं। वह एक उम्मीदवार को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। बिहार तथा उड़ीसा में प्रत्येक मतदाता इतने उम्मीदवारों को वोट दे सकता है जितने कि पद रिक्त हुए हैं। वह जितने मत देने का अधिकार रखता है उन सभी को किसी भी एक उम्मीदवार के लिए भी दे सकता है। इस प्रकार बिहार तथा उड़ीसा ने अपनी अल्प-संख्यकों की संख्या को एकीकृत मतदान प्रणाली (Cumulative Voting System) द्वारा सुलझाने का प्रयास किया है। मध्य प्रदेश और पंजाब में जिस व्यवस्था को अपनाया गया है वह है 'एक व्यक्ति एक मत' और 'एक वार्ड एक सदस्य' की प्रणाली है। इन राज्यों में अल्प-संख्यकों की समस्या को चयन, सहवृत्ति तथा नामजदगी द्वारा सुलझाया गया है। कई बार यह कहा जाता है कि एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र व्यवस्था में अल्प-संख्यक लोग शक्ति प्राप्त कर लेते हैं। असल में नगरपालिका चुनावों में दलों की अपेक्षा व्यक्ति अधिक गिने जाते हैं और यह समस्या उठती ही नहीं कि शक्तिशाली राजनीतिक अल्प-संख्यकों को स्थान नहीं दिया गया है। अनेक स्वतंत्र सदस्य भी इन चुनावों में सफलता प्राप्त करते हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखा जाता है कि प्रभावशाली व्यक्तित्व वाले लोग इन चुनावों में अधिक निर्णयात्मक हाथ रखते हैं। जब एक ही पद के लिए दो या अधिक सदस्य चुनाव लड़ रहे हैं तो यह कहना कठिन होगा कि निर्वाचित सदस्य अल्प-संख्यकों का प्रतिनिधि है।

(२) **उम्मीदवार की योग्यता (The Qualification of Candidate)**—नगरपालिका की सदस्यता के लिए उम्मीदवारों में कुछ योग्यताओं का होना आवश्यक समझा जाता है। उनमें से एक यह है कि सम्बन्धित व्यक्ति उस क्षेत्र का निवासी हो, किसी भी मतदाता को एक से अधिक वार्डों की मतदाता सूची में नहीं रखा जाता, वह केवल उसी वार्ड की मतदाता सूची में रखा जायेगा जिसका कि वह सदस्य है। जो उम्मीदवार नगरपालिका की सदस्यता के लिए चुनाव लड़ रहा है वह किसी भी वार्ड से खड़ा हो सकता है किन्तु वह एक से अधिक वार्डों से खड़ा नहीं होगा। उम्मीदवार के लिए यह जरूरी नहीं है कि वह जिस वार्ड से खड़ा हुआ है उसी का सदस्य हो। उत्तर प्रदेश और केरल में यह व्यवस्था है कि उम्मीदवार एक या अधिक वार्डों से खड़ा हो सकता है किन्तु अन्य राज्यों में यह व्यवस्था नहीं है। वहां कोई उम्मीदवार अपनी मर्जी के अनुसार केवल एक ही वार्ड से खड़ा हो सकता है। इस प्रकार यह एक समस्या है कि क्या एक उम्मीदवार को उसी वार्ड से चुनाव लड़ना चाहिए जहां का वह रहने वाला है अथवा वह किसी

भी वार्ड से चुनाव लड़ सकता है। इस समस्या को विभिन्न राज्यों ने अलग-अलग प्रकार से सुलझाया है। उत्तर प्रदेश नगरपालिका का चुनाव एवं केरल नगरपालिका का चुनाव नियमों ,के अनुसार उत्साह एवं कार्यकुशलता को भोगोलिक आधार पर नहीं बांटा जा सकता और इसलिए परिषद की कार्यकुशलता की दृष्टि से सदस्यों की वार्ड की सदस्यता पर अधिक जोर नहीं दिया जाना चाहिए। कुछ विचारकों के अनुसार यह तर्क प्रतिनिधित्व के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध करता है। एक उम्मीदवार मुख्य रूप से प्रतिनिधि होता है वह कोई योग्य या कुशल कार्यकर्ता नहीं होता और यदि वह अपने मतदाताओं के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध एव उनकी आवश्यकताओं का ध्यान नहीं रखता तो इसमें संदेह नहीं कि वह अपने क्षेत्र की सेवा कर सकेगा जिसके लिए कि उसने दावा किया है। यह भी कहा जाता है कि केवल एक वार्ड के हितों को ध्यान में न रख कर पूरी नगरपालिका क्षेत्र के ही हितों को ध्यान में रखा जाना चाहिए और इस प्रकार एक बस्ती के हितों को शहर के हितों पर बलिदान कर देना चाहिए। इस तर्क में भी कुछ मूल-भूत तथ्यों को भुला दिया जाता है। यह ध्यान नहीं रखा जाता कि प्रत्येक वार्ड व्यापारिक, भौगोलिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से अपनी भिन्न विशेषताएं रखता है। उसके निवासी जाति एवं धर्म के बंधनों के आधार पर एक दूसरे से बंधे रहते हैं। यही कारण है कि एक वार्ड का नाम सुनते ही वे विशेष हित ध्यान में आ जाते है जिनका कि उस वार्ड के द्वारा प्रतिनिधित्व किया जा रहा है। यदि नगरपालिका को पूरे शहर के विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व करना है तो यह प्रावधान होना चाहिए कि एक वार्ड से जो उम्मीदवार खड़ा हो वह आवश्यक रूप से उस वार्ड का सदस्य हो।

(३) **रंगीन पेटी व्यवस्था (Coloured Box System)**—इस व्यवस्था को अपनाना उस क्षेत्र में जरूरी हो जाता है जहाँ कि अधिकांश मतदाता अनपढ़ और निरक्षर होते हैं जो कि उम्मीदवार के प्रतीक को पहिचानने की सामान्य बुद्धि नहीं रखते और उम्मीदवार का नाम पढ़ने के योग्य उनकी शिक्षा नहीं होती। ऐसे मतदाताओं में गुप्त मतदान की व्यवस्था के लिए रंगीन पेटी व्यवस्था को अपनाया जाता है। इस व्यवस्था के अपने कुछ निश्चित लाभ हैं क्योंकि जब एक मतदाता अपने वांछित उम्मीदवार का नाम नहीं पढ़ पाता तो उसे इसके लिए बहुत कुछ पोलिंग अधिकारी पर निर्भर रहना होता है। पोलिंग अधिकारी उसे वांछित उम्मीदवार के निशान या नाम को बताता है और उससे मतदान कराता है। इस व्यवस्था में मतदान गोपनीय नहीं रह पाता। इसके अतिरिक्त भ्रष्टाचार एवं अन्य प्रकार के गलत व्यवहार के लिए भी पर्याप्त गुंजाइश रहती है। रंगीन पेटी व्यवस्था को अपनाने से पूर्व यही होता था कि मतदाता की इच्छानुसार पोलिंग अधिकारी मत पत्र पर निशान लगा कर उसे मत पेटी में डाल देता था। मि० वैंकट राव (*Venkata Rao*) ने इस व्यवस्था के तीन दोष बतलाये है। उनके मतानुसार इससे मतदान की गोपनीयता नष्ट हो जाती है, अशिक्षित और अनपढ़ होने के कारण *अधिकांश* मतदाताओं को पोलिंग अधिकारी की सहायता लेनी पड़ती है और गोपनीयता न रहने के कारण बहुत से मतदाता अपना मतदान करने के लिए नहीं आ पाते। जो आते भी हैं वे अपनी इच्छानुसार

उम्मीदवार को वोट नहीं दे पाते। दूसरे, इस व्यवस्था से बेईमानी और रिश्वतखोरी पनपती है। जो मतदाता रिश्वत ले लेते हैं। उनसे यह कहा जाता है कि वे अपने आपको अशिक्षित घोषित कर दें और इस प्रकार पोलिंग अधिकारी की सहायता प्राप्त करें जिससे कि उम्मीदवार के प्रतिनिधियों को यह ज्ञात होगा कि व्यक्ति ने किसको मत दिया है। यहां तक कि नगरपालिकाओं के स्कूल अध्यापक भी अपने आपको अशिक्षित घोषित कर पोलिंग अधिकारी का सहयोग प्राप्त करते हैं। इस प्रकार मतदान केन्द्र के बाहर के शिक्षित लोग, मतदान केन्द्र के अन्दर अशिक्षित बन जाते हैं। तीसरे, पोलिंग अधिकारी अपनी स्थिति का गलत फायदा उठा लेते हैं। मतदाता चाहे किसी को भी अपना वोट डालना चाहे वह तो मत-पत्र पर उसी का निशान लगाते हैं जिसके लिए कि सभापति द्वारा निर्देशित किया गया है। कई एक पोलिंग अधिकारी तो मत-पत्र पर निशान लगाते समय उम्मीदवार के प्रतिनिधियों को दिखाते भी नहीं। इस प्रकार यह व्यवस्था अत्यन्त दोषपूर्ण थी और अब इसे समाप्त करके पूरी गोपनीयता रखने का प्रयास किया गया है।

रंगीन पेटी व्यवस्था में भी अपनी कुछ त्रुटियां हैं। इस व्यवस्था में जो चुनाव प्रचार किया जाता है उसमें उम्मीदवार का नाम या उसके गुण एवं योग्यताओं के बारे में कुछ भी नहीं कहा जाता और जो कुछ भी कहा जाता है वह रंग या प्रतीक के बारे में कहा जाता है। अर्गल महोदय ने ब्रिटिश शासन के समय का एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बताया कि जब एक उम्मीदवार को काली पेटी प्रदान की गई तो उसने ग्राम सभाओं में जनता के सामने यह कहा कि ब्रिटिश सरकार ने मेरा चेहरा काला किया है। क्या मेरे देशवासी भी मेरे चेहरे को काला करेंगे? उस समय ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति से जो भी व्यक्ति सताया हुआ होता था उसे लोगों की सद्भावना आसानी से प्राप्त हो जाती थी। स्वतंत्रता के बाद भी उम्मीदवार रंग पर अधिक जोर देने लगे। वे गेरुएं अथवा हरे रंग को अधिक पसंद करने लगे क्योंकि गेरुएं रंग से हिन्दू मतदाता को और हरे रंग से मुसलमान मतदाता को अच्छी प्रकार प्रभावित किया जा सकता है। इसी प्रकार प्रतीक को भी प्रचार का साधन बना लिया जाता है और उम्मीदवार का महत्व गौण बन जाता है। साम्प्रदायिक विरोधों के समय में चुनाव निशान के रूप में शेर को बहुत पसंद करते थे क्योंकि हिन्दुओं के लिए शेर दुर्गा माता की सवारी था और वह शैतानों अर्थात म्लेच्छों का नाश कर सकता था। इसी प्रकार मुसलमानों के लिए शेर अली का प्रतीक था जो कि शेरों का देवता है। इस प्रकार वह उम्मीदवार इस्लाम का रक्षक समझा जाता था और मुसलमानों तथा हिन्दुओं दोनों की सहानुभूति उसे प्राप्त हो जाती थी। इन तरीकों से कई बार उम्मीदवार सफलता तो प्राप्त कर लेता था किन्तु इस प्रक्रिया को प्रजातंत्रात्मक नहीं कहा जा सकता। असल में मतदान से सम्बन्धित वे समस्याएं उस समय पैदा होती हैं जबकि मतदाता निराक्षर या अशिक्षित होते हैं।

(४) **भ्रष्ट व्यवहार [Corrupt Practices]**—नगरपालिका के चुनावों में अनेक प्रकार के ऐसे व्यवहार अपनाये जाते हैं जो कि भ्रष्ट कहे जा सकते

हैं। इन भ्रष्ट व्यवहारों में रिश्वत को लिया जा सकता है। कई एक उम्मीदवार अपने मतदाताओं मे पैसा बांटते हैं और उस पैसे के आधार पर उनके ईमान को खरीदना चाहते हैं। इस प्रकार के व्यवहार द्वारा विजयी उम्मीदवार का प्रत्येक प्रयास यह होगा कि वह अपने पद से यथासम्भव लाभ उठाये और इस प्रकार जनता के धन का खुलकर दुरुपयोग करे। दूसरे चुनाव प्रचार के दौरान घटिया दर्जे की चापलूसियां भी की जाती हैं और उनके लिए मतदाताओं को दावतें देना, शराब पिलाना उनका मनोरंजन करना, आदि व्यवहार प्रमुख बन जाते हैं। तीसरे उम्मीदवार द्वारा मतदाताओं पर अनुचित प्रभाव डालने की प्रथा अत्यंत लोकप्रिय एवं सामान्य है। इस दृष्टि से मतदाताओं की श्रेणियां बना ली जाती हैं और उसके बाद यह तय किया जाता है कि किस व्यक्ति को किस प्रकार प्रभावित कर सकते हैं। चौथे, चुनाव प्रचार में वैयक्तिकरण या कुनबा-परस्ती का भी पूरा जोर रहता है। जो लोग अन्य किसी प्रकार से या अपनी योग्यताओं के सहारे मत प्राप्त नहीं कर पाते वे लोग दूर का या नजदीक का नाता, रिश्ता, या सम्बन्ध निकाल कर मतदाता को अपनी ओर खींचने की फिराक में रहते हैं। पांचवें, चुनाव प्रचार की एक आम बात यह बन चुकी है कि विरोधी उम्मीदवार के विरुद्ध जितना अधिक गलत या सही प्रचार किया जा सके उतना ही किया जाय। इस प्रकार का प्रचार सही की अपेक्षा गलत ही अधिक होता है। झूठे और निराधार तर्क दिये जाते हैं तथा जनता को भुलावे में रखा जाता है। छठे उम्मीदवार द्वारा अपने चुनाव अभियान में बहुत अधिक धन खर्च किया जाता है किन्तु इसे बताया नहीं जाता; जो कुछ बताया जाता है और जो वास्तव में खर्च किया जाता है उसके बीच जमीन आसमान का अन्तर रहता है। सातवें, कई बार एक उम्मीदवार मतदाता को यह कह कर भी प्रभावित करना चाहते हैं कि यदि उसने किसी अन्य उम्मीदवार का समर्थन किया तो इससे अमुक देवता नाराज हो जायेगा। आठवें चुनाव अभियान की यह भी एक सामान्य विशेषता बन गई है कि उम्मीदवार अपने मतदाता को जाति, समुदाय, धर्म, सामाजिक बहिष्कार आदि के आधार पर प्रभावित करना चाहते हैं। इस प्रकार के व्यवहारों तथा ऐसे ही कुछ अन्य व्यवहारों को विभिन्न राज्यों के नगरपालिका अधिनियमों ने भ्रष्ट व्यवहार माना है और इनके विरुद्ध कदम उठाने का प्रावधान रखा है। बम्बई राज्य में यदि कोई उम्मीदवार या मतदाता इस प्रकार का व्यवहार करने का दोषी पाया जाय तो उसे सात वर्ष के लिए नगरपालिका की सदस्यता से वंचित किया जा सकता है। बंगाल में इस प्रकार के अपराधों पर छः महीने तक की सजा या जुर्माना अथवा दोनों ही किये जा सकते हैं। उत्तरप्रदेश में मतदाता सूची में कुछ गड़बड़ करने, अन्य चुनाव सम्बन्धी अभिलेखों में हेरफेर करने, किसी मतदाता को जाने बिना ही उसका परिचय देने, चुनाव स्टाफ को उनके कर्त्तव्यपालन में बाधा पहुँचाने आदि कार्यों के लिए ५०० रु० तक जुर्माना किया जा सकता है।

नगरपालिका चुनावों में राजनैतिक दल (Political Parties in Municipal Elections)—नगरपालिकाओं के चुनाव में राजनैतिक दलों का स्थान होना चाहिए अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में अलग-अलग प्रकार के मत प्रकट किये जाते रहे हैं। कुछ विचारकों का मत है कि मतदाताओं की अशिक्षा

से उत्पन्न अनेक दोषों को कुशल राजनैतिक दलों की व्यवस्था द्वारा दूर किया जा सकता है। पं० डी० पी० मिश्रा आदि लेखकों का कहना है कि नगरपालिकाओं के चुनाव में व्यक्ति के पक्ष में मत न दिया जाय बल्कि एक पूर्व-प्रकाशित निश्चित कार्यक्रम से युक्त राजनैतिक दलों को दिया जाय। प्रत्येक दल के लिए जितने मत प्राप्त हों उसके आधार पर उन सदस्यों की संख्या निश्चित की जानी चाहिए जो कि इन नगरपालिकाओं में लिये जायेंगे। किन्तु पं० मिश्रा की यह योजना कितनी सफल हो पायेगी इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। स्थानीय क्षेत्र में राजनैतिक दलों की सार्थकता एवं सफलता के मार्ग की एक सबसे बड़ी बाधा यह है कि इन निकायों का कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं होता। के० वी० पूनिया (K. V. Punniah) का कहना है कि स्थानीय सरकार की प्रकृति एवं उसके कार्यों की संख्या तथा प्रान्तीय या राष्ट्रीय सरकार द्वारा उसकी क्रियाओं पर रखा जाने वाला नियंत्रण, दोनों की दृष्टि से इनका क्षेत्र अत्यंत प्रतिबंधित होता है। उसका सम्बन्ध नीति की अपेक्षा प्रशासन से अधिक रहता है। स्थानीय निकायों द्वारा किये जाने वाले अधिकांश कार्यों की प्रकृति पूर्णतः स्थानीय नहीं होती, किन्तु यह अर्द्ध राष्ट्रीय होती है। इसके कुछ पहलुओं में सम्पूर्ण राष्ट्र रुचि लेता है। इन विषयों में नीति का सामान्य रूप प्रान्तीय सरकार द्वारा निश्चित कर दिया जाता है और स्थानीय निकाय उस नीति को केवल क्रियान्वित करते हैं।[1] ऐसी स्थिति में स्थानीय स्तर पर राजनैतिक दलों का होना अधिक अर्थपूर्ण प्रतीत नहीं होता क्योंकि प्रशासन के क्षेत्र में राजनैतिक दलों के होने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक संभावना रहती है।

प्रशासन आदेश की एकता एवं उद्देश्य के प्रति पूरी लगन चाहता है; इसके अभाव में वह कार्यकुशलता के गुण से वंचित रह जायेगा। राजनैतिक दलों द्वारा स्थानीय निकायों में जो विरोध भाव पैदा किये जायेंगे उनसे कुल मिलाकर प्रशासनिक कार्यकुशलता को नुकसान रहेगा। ग्रेट ब्रिटेन तथा संयुक्तराज्य अमरीका में स्थानीय निर्वाचन दलीय आधार पर होते हैं; किन्तु फिर भी वहां स्थानीय स्तर पर राजनैतिक दल कोई निश्चित कार्यक्रम नहीं रखते। एक बार दलीय सदस्य के रूप में चुने जाने के बाद परिषद के सदस्य स्वतंत्र उम्मीदवारों के रूप में व्यवहार करते हैं। उनके

---

1. "Local Government is so restricted in its scope both in the nature and number of functions and the extent of the control exercised by the provincial or National Government over its activities that it is concerned with administration rather than with policy Most of the functions which local bodies discharge are not purely local in character, but semi-national, in some aspects of which the nation as a whole is inserted In these matters the general line of policy is laid down by the Provinc al Government and the local bodies merely give effect to that policy".

—K.V. Punniah: Party Policy and Administration in local bodies I P P. S. Vol. III, No. 9

बीच जिन विषयों पर विचार–विमर्श होता है वे दलीय भेदभाव के आधार पर नहीं बरते जाते। असल में राष्ट्रीय दल स्थानीय निर्वाचनों में सक्रिय रूप से भाग भी नहीं ले सकते। भारत में राष्ट्रीय दलों की जिनकी निश्चित एवं पृथक नीतियां हैं, वे भी स्थानीय मामलों में दखल नहीं देतीं और सम्भावना यह है कि निकट भविष्य में उनके द्वारा स्थानीय राजनीति में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया जाएगा। राजनीतिक दल स्थानीय चुनावों में भाग लेने की बात सोचते हैं किन्तु प्रथम प्रयास में ही जब उन्हें यह ज्ञात होता है कि स्थानीय स्तर पर किसी व्यक्ति के प्रभाव के कारण वे वांच्छित परिणाम प्राप्त नहीं कर पाए तो वे अपने राष्ट्र–व्यापी चित्र को कलुषित करने के जोखिम नहीं उठाते।

स्थानीय प्रभावशील लोगों का स्थानीय राजनीति पर कितना असर होता है इसका वर्णन करते हुए मि० अर्गल ने पुरी की नगरपरिषद का उदाहरण प्रस्तुत किया है। सन् १९५७ में पुरी नगरपरिषद के पूरे पच्चीस पारषद स्वतंत्र रूप से निर्वाचित हुए थे। यद्यपि ये सभी विभिन्न दलों से सम्बन्धित थे किन्तु चुनाव इन्होंने दलीय आधार पर नहीं लड़ा। इन पच्चीस सदस्यों में से १८ कांग्रेसी, ३ समाजवादी और २ साम्यवादी थे। कांग्रेसी सदस्य बहुमत में होते हुए भी परस्पर मिल नहीं सके। वे अपने व्यक्तिगत मतभेदों के कारण दो गुटों में बँट गए। परिषद का सभापति कांग्रेस पार्टी का सदस्य नहीं था वरन् वह समाजवादी पार्टी का व्यक्ति था और उसे सात कांग्रेसियों का समर्थन प्राप्त था। स्थानीय स्तर पर जो दल कार्य करते हुए सुने जाते हैं उनको दल न कह कर स्थानीय गुट कहा जाए तो ज्यादा अच्छा रहेगा। क्योंकि उनमें न केवल एक निश्चित सामान्य कार्यक्रम का अभाव होता है वरन् उनके पास पार्टी फण्ड भी नहीं होते और वे कोई दलीय सचेतक भी नहीं रखते। उनको दल इसलिए कहा जाता है क्योंकि उनका मुख्य सिद्धान्त लेने और देने की नीति रहती है तथा ये प्रभावशाली स्थानीय व्यक्तियों पर आधारित रहते हैं। समूह द्वारा जो धन खर्च किया जाता है वह उसके व्यक्तियों का अपना व्यक्तिगत धन होता है तथा समूह का जो संगठन होता है वह सम्बन्धित नेता का व्यक्तिगत संगठन होता है।

यद्यपि वस्तु स्थिति के अनुसार राजनीतिक दल स्थानीय राजनीति में कोई स्थान नहीं रखते किन्तु कई बार विचारकों द्वारा यह मत प्रकट किया जाता है कि उनको स्थानीय राजनीति से इस तरह उदासीन नहीं रहना चाहिए। इसका कारण यह है कि नगरपालिका प्रशासन का मुख्य उद्देश्य शहर का विकास करना होता है और वे इस उद्देश्य की प्राप्ति उस समय तक नहीं कर सकतीं जब तक कि उनमें राजनैतिक दलों का सक्रिय सहयोग न रहे। जब नगरपालिका के चुनावों को केवल वार्डों की दृष्टि से देखा जाता है तो उनमें राष्ट्रीय दलों के लिए कोई स्थान नहीं रहता किन्तु जब हम नगरपालिका के चुनावों पर एक व्यापक दृष्टि से तथा पूरे शहर को ध्यान में रख कर विचार करते हैं तो वहां राजनैतिक दलों का हस्तक्षेप सम्भव एवं उपयोगी बन सकता है। इस सम्बन्ध में कभी–कभी यह कहा जाता है कि नगरपालिका के सदस्यों का चुनाव किसी विशेष दल द्वारा न किया जा कर पूरे शहर द्वारा किया जाना चाहिए। इस व्यवस्था में न केवल अच्छे एवं योग्य सदस्य प्राप्त

हो सकेंगे वरन् वे सदस्य शक्तिशाली राष्ट्रीय एवं स्थानीय दलों द्वारा प्रभावशाली रूप से नियन्त्रित भी हो सकेंगे। यह सुझाव दो कारणों से ठुकरा दिया जाता है। प्रथम, यह कहा जाता है कि इस व्यवस्था द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि वार्डों के प्रतिनिधि नहीं होंगे। वे वार्ड की जनता के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क नहीं बना पाएंगे और इसलिए उनके दुख-दर्द में तथा समस्याओं को सुलझाने वे इतना योगदान नहीं कर पाएंगे जितनी कि उनसे आशा की जाती है। दूसरे, इस व्यवस्था के आधीन किया गया परिषद के सदस्यों का चुनाव अत्यन्त महंगा रहेगा। यह हो सकता है कि जिस प्रकार ग्राम्य स्तर पर सरपंच का चुनाव पूरे गांव की जनता द्वारा किया जाता है इसी तरह से नगरपालिका के सभापति का चुनाव भी पूरे शहर की जनता द्वारा किया जाए। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय दल सभापति के चुनाव में भाग ले सकेंगे।

चुनाव याचिकाएं [Election Petitions]—नगरपरिषद के लिए सदस्यों का चुनाव किया जाता है तो कई बार ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है जब कि चुनाव में भ्रष्ट आचरण का उपयोग किया जाए या मत-गणना के समय मतों को अनावश्यक रूप से रद्द किया जाए अथवा रद्द न किया जाए अथवा जो व्यक्ति निर्वाचित हो जाए वह नामजदगी पत्र भरने की योग्यता ही नहीं रखता था अथवा किसी नामजदगी पत्र को गलत रूप से रद्द किया गया हो। इन सभी स्थितियों में किसी भी व्यक्ति के चुनाव पर आपत्ति की जा सकती है और इस आपत्ति के आधार पर चुनाव याचिकाएं प्रस्तुत की जा सकती हैं। कोई भी चुनाव याचिका ऐसी गलती के लिए प्रस्तुत नहीं की जा सकती जो कि तकनीकी दृष्टि से अनियमितता या गलती के कारण हुई हो। मद्रास बम्बई, बंगाल आदि राज्यों में चुनाव याचिका जिले के ऐसे न्यायाधीश के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है जो कि राज्य द्वारा नियुक्त हो और सहायक न्यायाधीश से कम स्तर का न हो। उत्तरप्रदेश में ये याचिकाएं चुनाव पंचालय के सम्मुख प्रस्तुत की जाती हैं जिसमें कि एक या एक से अधिक नागरिक न्यायिक अधिकारी होते हैं और उनको राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है। पंजाब और केरल में चुनाव सम्बन्धी झगड़ों को एक आयोग द्वारा सुना जाता है जिसमें एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्ति होते हैं और जो राज्य सरकार द्वारा नियुक्त किये जाते हैं। आयोग द्वारा जो प्राप्तियां की जाती हैं या अध्ययन किया जाता है उसे राज्य सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है। जब राज्य सरकार को यह प्रतिवेदन प्राप्त होता है तो वह एक सदस्य को व्यवस्थित रूप से निर्वाचित या अनिर्वाचित घोषित कर देती है।

चुनाव याचिकाओं से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने के लिए शक्ति एक ऐसे निकाय को सौंपी जानी चाहिए जिसके हाथ में सत्ता हो। याचिकाओं से सम्बन्धित मामलों में निष्पक्ष दृष्टिकोण प्राप्त करने की दृष्टि से यह उचित समझा जाता है कि याचिका प्रस्तुत करने का अधिकार किसी न्यायिक निकाय को ही सौंपा जाये। जब तक राजनैतिक दल हैं तब तक याचिकाओं से सम्बन्धित सरकार के निर्णय निष्पक्ष रूप से नहीं लिए जा सकते; उनका प्रभाव किसी न किसी रूप में अवश्य रहेगा। चुनाव सम्बन्धी याचिकाओं को कितने दिन में प्रस्तुत किया जाना चाहिए इस सम्बन्ध में भी

स्थान-स्थान पर अलग-अलग व्यवस्थायें की गई हैं। मद्रास और बम्बई में ये याचिकायें सात दिन तक प्रस्तुत की जा सकती हैं व उत्तर प्रदेश में इनको तीस दिन तक प्रस्तुत किया जा सकता है। यदि चुनाव न्यायालय यह अनुभव करे कि किसी व्यक्ति का चुनाव अनुचित रूप से हुआ है तो वह उस चुनाव को रद्द करके हारे हुए सदस्यों में से किसी को निर्वाचित घोषित कर देगा या दुबारा से चुनाव करायेगा। यदि न्यायालय द्वारा यह पाया जाए कि किसी चुनाव में व्यापक रूप से भ्रष्ट तरीके अपनाए गए थे तो वह दुबारा से चुनाव करने के लिए कह सकता है।

देहाती स्तर पर चुनाव समस्यायें [Election Problems at Rural Level]—पंचायती राज संस्थाओं में किए जाने वाले चुनावों की समस्यायें कुछ भिन्न प्रकार की होती हैं। पंचायत स्तर पर पंचों का जो चुनाव किया जाता है उसमें भी पूरे क्षेत्र को कई वार्डों में विभाजित किया जाता है। उसके बाद वयस्क मताधिकार के आधार पर सदस्यों का चुनाव किया जाता है। सदस्यों की योग्यतायें, चुनाव का तरीका आदि बहुत कुछ वैसा ही हैं,जैसा कि शहरी क्षेत्र में पाया जाता है। पंचायत क्षेत्रों में सरपंच का चुनाव बड़े रोचक ढंग से होता है। प्रत्यक्ष होने के कारण उसके चुनाव में कई एक उल्लेखनीय बातें रहती हैं। भारत के कई एक राज्यों में सरपंच के चुनाव को अप्रत्यक्ष रखा गया है जैसे आंध्र प्रदेश, गुजरात, केरल, मध्यप्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर और उड़ीसा आदि। इन राज्यों में सरपंच को पंचों के द्वारा चुना जाता है। राजस्थान, बिहार, आसाम, उत्तरप्रदेश, हिमाचल प्रदेश आदि राज्यों में सरपंच के चुनाव में अप्रत्यक्ष विधि को अपनाया गया है। दोनों ही व्यवस्थाओं के लाभ तथा हानि हैं। इसलिए यह निश्चित करना बड़ा कठिन बन जाता है कि सरपंच के चुनाव को प्रत्यक्ष रूप किया जाए अथवा अप्रत्यक्ष रूप से। यदि सरपंच को अप्रत्यक्ष रूप से चुना जाए तो इसका एक महत्वपूर्ण लाभ यह होता है कि उसे पंचायत के सभी पंचों का पूरा-पूरा विश्वास प्राप्त होगा और वह पंचायत के कार्य को कुशलतापूर्वक चला सकेगा। सरपंच के चुनाव में भाग लेने के कारण पंच लोग अधिक प्रोत्साहित होते हैं और यह प्रयास करते हैं कि पंचायत का कार्य अधिक से अधिक सफलता प्राप्त करे। अप्रत्यक्ष रूप से सरपंच का चुनाव किया जाना कम खर्चीला होता है और उससे परेशानी भी कम होती है। अप्रत्यक्ष रूप से चुना गया सरपंच पंचायत के अन्य सदस्यों के प्रति आभारी रहता है और उसके व्यवहार एवं आचार में समय-समय पर आभार की ये प्रवृत्तियां स्पष्ट होती रहती हैं। ऐसा सरपंच अपने आपको अत्यन्त महत्व प्रदान करके स्वयं शक्तिशाली नहीं बनना चाहेगा। अप्रत्यक्ष रूप से चुने गए सरपंच की व्यवस्था के कुछ अपने दुष्परिणाम भी हैं जो कि बदल कर प्रत्यक्ष रूप से चुने गये सरपंच के लाभ बन जाते हैं। यह कहा जाता है कि ग्राम पंचायत पंचायती राज संस्थाओं की एक आधारभूत निकाय होती है और इस निकाय के शीर्ष पर एक ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जो कि क्षेत्रीय जनता का लोकप्रिय नेता एवं उन्हीं के द्वारा चुना गया व्यक्ति हो, तभी उसे जनता का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो पाएगा और वह पंचायत की विभिन्न नीतियों एवं कार्यक्रमों को आसानी से क्रियान्वित कर पाएगा। प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सरपंच के द्वारा

जनता में जो विश्वास की भावना पैदा की जा सकती है वह अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सरपंच द्वारा नहीं की जा सकती। सरपच के अप्रत्यक्ष चुनाव में जब निर्वाचकों की संख्या थोड़ी सी होती है तो भ्रष्टाचार, दुराचार एवं अनाचार के लिए अवसर बढ़ जाते हैं क्योंकि उन थोड़े से पंचों को व्यक्तिगत प्रभाव, धन के लोभ, पद की लालसा, आदि के सहारे कभी भी खरीदा जा सकता है तथा मनचाहे उम्मीदवार के लिए उनसे मत मांगा जा सकता है। ये सारे खतरे प्रत्यक्ष चुनाव व्यवस्था के अन्दर समाप्त हो जाते हैं क्योंकि इतने बड़े निर्वाचन क्षेत्र के मतदाताओं को भ्रष्ट करना अधिक कठिन काम है। प्रत्यक्ष निर्वाचन व्यवस्था के विरुद्ध प्रायः यह तर्क दिया जाता है कि यह खर्चीली अधिक होती है। इस तर्क के दिखने में जितनी आकर्षकता है, वास्तव में उतना ही निकम्मापन भी है। असल में प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष चुनाव के बीच खर्चे में कोई फर्क नही पड़ता क्योंकि उस समय पंचों के चुनाव तो हो रहे होते हैं। पूरे पचायत क्षेत्र में चुनाव से सम्बन्धित सारी व्यवस्था की ही जाती है। ऐसी स्थिति में यदि पचो के साथ सरपच का भी चुनाव प्रत्यक्ष रूप से ही कराया जाये तो केवल एक ही अतिरिक्त चीज की आवश्यकता पड़ेगी और वह है अतिरिक्त मत पेटियां एवं पृथक मत-पत्र। एक ग्राम पंचायत का सरपच सदैव ही जनता से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित रहता है, उसका चुनाव यदि अप्रत्यक्ष रूप से किया गया तो मतदाताओं से उसकी दूरी अधिक हो जाएगी तथा वह पूरे गांव के केवल कुछ लोगों का ही प्रतिनिधित्व करेगा। इस स्थिति का कुल मिलाकर अच्छा परिणाम नहीं निकलेगा। प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित सरपंच के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करते हुए एक बात यह कही जाती है कि देहाती क्षेत्र में प्रजातन्त्र की जड़ों को गहरी जमाने के लिए ग्राम सभाओं को अधिक सक्रिय बनाया जाना चाहिए। सरपंच को ग्राम-सभा के सभापति के रूप में कार्य करना होता है और इसलिए उसका प्रत्यक्ष रूप में चुना जाना जरूरी है। ऐसा न होने पर वह ग्राम-सभा के लोगों का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकता।

प्रत्यक्ष रूप से सरपंच को निर्वाचित करने की प्रणाली के विरुद्ध जो तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें सबसे अधिक प्रभावशील तर्क यही प्रतीत होता है कि प्रत्यक्ष रूप में निर्वाचित सरपंच तथा अन्य पंचों के बीच यदि मतैक्य न रहा अथवा उसे पंचों का विश्वास प्राप्त न हो सका तो पंचायत के कार्यों में गतिरोध पैदा हो जाएगा। यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से यह तर्क पर्याप्त शक्तिशाली है किन्तु फिर भी व्यवहार में ऐसा प्रायः कभी नहीं होता। इस सम्बन्ध में सादिक अली समिति का यह कथन उपयुक्त ही है कि एक व्यक्ति जो कि पूरे निर्वाचन क्षेत्र के लोगों का विश्वास प्राप्त कर चुका है, उन्हीं निर्वाचकों द्वारा निर्वाचित कुछ लोगों का विश्वास क्यों नहीं प्राप्त कर पाएगा।[1] सरपंच के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष चुनाव से सम्बन्धित लाभ और

1. "A person who commands the support of the majority of he general electorate will also generally enjoy the confience of the ward Panchas who come from different sectors f the same electorate".

—*Sadiq Ali Report, op. cit.*, P. 32

हानियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि प्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था अधिक उपयोगी एवं उचित है।

पचायत समिति एवं जिला परिषदों में निर्वाचित सदस्य नहीं होते। पंचायतों द्वारा पंचायत समितियों का गठन किया जाता है और पंचायत समितियां जिला परिषद का गठन करती हैं। कई बार यह सुझाया जाता है कि जिला परिषद एवं पंचायत समितियों में निर्वाचित सदस्यों को ही लिया जाना चाहिए जो कि निर्णायक इकाइयों की विरोधपूर्ण मांगों के बीच सतुलन स्थापित कर सकें। निर्वाचित सदस्यों को लेने पर इन निकायों के वाद-विवाद एवं कार्य-प्रणाली का स्तर ऊंचा हो जाएगा; इससे स्वतन्त्र नेतृत्व का विकास होगा। जो सदस्य निर्वाचित रूप में लिए जायें उनका चुनाव प्रत्यक्ष विधि से कराना उचित नहीं है। इन सदस्यों को पंचायत समिति के लिए पंचायतों द्वारा और जिला परिषद के लिए पंचायत समितियों द्वारा चुना जाना चाहिए। इस दृष्टि से पचायत समिति को कई निर्वाचन खण्डों में विभाजित कर दिया जाए। प्रत्येक खण्ड एक न्याय-क्षेत्र हो अर्थात् जितनी पंचायतों को मिला कर एक न्याय पंचायत बनाई गई है उतनी ही पंचायतों को इस खण्ड में सम्मिलित किया जाए। प्रत्येक न्याय पचायत क्षेत्र का एक सदस्य निर्वाचित किया जाए। मतदान का अधिकार उस क्षेत्र के सभी पंचों को दिया जाए। उम्मीदवार के रूप में खड़े होने वाले व्यक्ति का नाम उस क्षेत्र की मतदाता सूची में होना चाहिए। इसी प्रकार से जिला परिषद को भी निर्वाचित निर्वाचन खण्डों में विभाजित कर देना चाहिए। प्रत्येक खण्ड में दो या तीन आस-पास की पचायत समितियों को मिला देना चाहिए। प्रत्येक खण्ड से एक सदस्य को चुना जाए, उसके मतदाता उस खण्ड की पंचायत समितियों के सभी सरपंच हों। चुने जाने वाले सदस्य अपने क्षेत्र की मतदाता सूची में नामांकित हों।

पंचायत समिति के प्रधान एवं जिला परिषद के प्रमुख का निर्वाचन किस प्रकार किया जाए यह भी एक समस्या है। प्रधान का चुनाव करते समय पंचायत समिति के और प्रमुख का चुनाव करते समय जिला परिषद के सभी सदस्य भाग लेते हैं जिनमें कि सहवृत सदस्य भी शामिल होते हैं। कई एक लोगों का कहना है कि पंचायत समिति एवं जिला परिषद के मुखियाओं का चुनाव करते समय सहवृत सदस्यों को मताधिकार नहीं दिया जाना चाहिए। इन दोनों ही चुनावों में निम्न दर्जे के भ्रष्टाचारपूर्ण व्यवहार किए जाते हैं। इसका कारण यह है कि इन चुनावों में मतदाताओं की संख्या तीस से लेकर पचास तक होती है और इसलिए इनके ऊपर हर प्रकार का प्रभाव डालने की चेष्टा की जाती है। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि इन थोड़े से मतदाताओं द्वारा चुना गया प्रधान या प्रमुख अपनी कार्यवाहियों तथा अधिकारों के प्रयोग में स्वेच्छा का प्रयोग नहीं कर पाएगा। उसे इन लोगों की इच्छाओं से प्रभावित होना पड़ेगा जो कि उसे निर्वाचन में सफलता दिलाने में सहायक बने थे। इस वस्तु स्थिति का अध्ययन करने के बाद सादिक अली समिति ने यह सुझाया कि पंचायत समिति एवं जिला परिषद के प्रधान तथा प्रमुख का निर्वाचक मण्डल बड़ा होना चाहिए ताकि निर्वाचन में कम से कम भ्रष्टाचार हो और निर्वाचित प्रमुख या प्रधान द्वारा उसकी शक्तियों का स्वेच्छापूर्वक

प्रयोग किया जा सके। पंचायत समिति के प्रधान का निर्वाचन करते समय मतदाताओं में पंचायत समिति के सभी सदस्यों को शामिल किया जाए। इसके सहायक सदस्यों एवं उपसम्भागीय अधिकारियों को छोड़ दिया जाए। इसके अतिरिक्त क्षेत्र की सभी ग्राम पचायतों एवं नगर पंचायतों के सभी पंचों को भी निर्वाचक मण्डल में लिया जाए। इनमें से जो भी सहायक सदस्य हों उनको निकाल दिया जाए। इसी प्रकार के जिला परिषद के प्रमुख के निर्वाचक मण्डल में सहायक सदस्यों एवं मतदान न करने वाले पदेन सदस्यों को छोड़ कर जिला परिषद के सभी सदस्य होंगे तथा जिले की सभी पंचायतों एवं नगर पंचायतों के सभी सरपंच भी लिए जाएंगे।

इस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं के चुनाव में भिन्न-भिन्न तरीकों तथा तकनीकों को अपनाया जाएगा। मतदाताओं द्वारा प्रत्यक्ष चुनाव केवल पंचायत स्तर पर होंगे और वे पंचों तथा सरपंचों के चुनाव करेंगे। अन्य उच्च निकायों की रचना अप्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा की जाएगी। इन दोनों ही प्रकार के चुनावों के बीच कम से कम समय का अन्तर रखा जाना चाहिए ताकि इसमें सक्रिय राजनीति न उलझ सके और चुनाव में अनुचित तरीकों को न अपनाया जा सके। जहां तक हो सके दो या इससे अधिक चुनावों को एक साथ कराना चाहिए।

सेवी वर्ग से सम्बन्धित समस्याएं
[The Problems related with Personnel]

स्थानीय सरकार के संचालन के लिए जिस सेवी वर्ग को रखा जाता है उसकी नियुक्ति, प्रतियोगिता, प्रशिक्षण, पदोन्नति, सेवा निवृति, अनुशासनात्मक नियम, आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएं पैदा हो जाती हैं और वे स्थानीय सरकार के कार्य संचालन पर पर्याप्त प्रभाव डालती हैं। यह कहा जाता है कि यदि स्थानीय सरकार की संस्थाओं का पूरा-पूरा लाभ उठाना है तो उसके सभी वर्ग से सम्बन्धित समस्याओं को पहले दूर किया जाना चाहिए। सेवी वर्ग की संरचना से सम्बन्धित जो सामान्य समस्याएं हैं उनके अतिरिक्त कुछ अन्य समस्याएं भी होती हैं जो कि उनके बाह्य वातावरण से सम्बन्ध रखती हैं और इस प्रकार उनके प्रभावशील कार्य संचालन को प्रभावित करती हैं। ऐसी समस्याओं में एक मुख्य समस्या का सम्बन्ध इन सेवाओं में किए जाने वाले राजनैतिक हस्तक्षेप से है। स्थानीय सरकार जिस रूप में कार्य करती है तथा उनके सेवी वर्ग को जिस प्रकार निर्णय लेने होते हैं उसमें पक्षपात एवं दलीय राजनीति के हस्तक्षेप की गुंजाइश काफी बढ़ जाती है। जहां कहीं भी नागरिक सेवाओं में इस प्रकार का हस्तक्षेप एवं भाई-भतीजावाद पनपता है वहां स्टाफ के मन में असुरक्षा की भावना पनप जाती है। सेवी वर्ग से सम्बन्धित अन्य समस्याएं ये हैं कि उनको प्रशिक्षण किस प्रकार का दिया जाएं, प्रशिक्षक कौन होने चाहिए तथा उनकी क्या विशेषताएं होनी चाहिए, प्रशिक्षणार्थियों को किन विषयों में योग्यता प्रदान की जानी चाहिए और कितने समय तक तथा कब उनको प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। भारत में स्थानीय संस्थाओं के अधिकारी एवं गैर अधिकारी सदस्यों को प्रशिक्षित करने के लिए प्रशिक्षण केन्द्रों की कमी है। जितने भी प्रशिक्षण केन्द्र हैं उनमें पर्याप्त सुवि-

धाएं नहीं जुटाई गई हैं, जिनके द्वारा कि प्रशिक्षणार्थी को आवश्यक ज्ञान प्राप्त करने योग्य बनाया जा सके। कई एक प्रशिक्षण केन्द्रों में पुस्तकालय, वाचनालय, खेल के मैदान तथा इसी प्रकार के अन्य आवश्यक साज-सामान की भी पर्याप्त कमी दिखाई देती है। जब तक इस कमी को पूरा नहीं किया जाता उस समय तक हमारे स्थानीय निकायों को योग्य कार्यकर्ता प्राप्त न हो सकेंगे और जब तक योग्य कार्यकर्ता प्राप्त नहीं होते उस समय तक स्थानीय निकायों की सफलता की आशा नहीं की जा सकती।

सेवी वर्ग से सम्बन्धित एक अन्य समस्या यह है कि क्या इनका प्रान्तीयकरण भी कर दिया जाए। कई बार यह सुझाव दिया गया है कि उच्चतर स्थानीय सेवाओं को प्रान्तीयकरण के द्वारा नागरिक सेवा नियमों के आधीन ले लिया जाए। प्रान्तीयकरण के पीछे एक मूल विचार यह है कि उच्चतर स्थानीय कर्मचारियों को अलग-अलग स्थानीय सत्ताओं की स्वतन्त्र सेवाओं के अधीन न रख कर राज्य स्तर की सेवाओं के अधीन रखा जाए तथा इन को राज्य के किसी अभिकरण द्वारा नियुक्त किया जाए। उनकी पदोन्नति एवं उनसे सम्बन्धित अनुशासनात्मक कार्यवाही राज्य सत्ता द्वारा ही की जाए तथा इन सेवकों को एक स्थानीय निकाय से दूसरे स्थानीय निकाय में स्थानान्तरण किया जा सके। प्रान्तीयकरण की व्यवस्था का मुख्य लाभ यह है कि इससे कर्मचारियों के स्थानान्तरण में सुगमता हो जाती है और पदोन्नति के लिए अवसर बढ़ जाते हैं। प्रान्तीयकरण के अभाव में जो स्थानान्तरण किये जाते हैं उनके फलस्वरूप सेवा टूट जाती है तथा पदोन्नति के लिए पर्याप्त अवसर भी नहीं रह पाते। उत्तर प्रदेश की स्थानीय स्वायत्त सरकार समिति ने प्रान्तीयकरण की योजना को सुझाया। इस समिति के अनुसार स्थानीय निकायों की सर्वोच्च सेवाओं को दो वर्गोंमें विभाजित करने का प्रस्ताव रखा गया है। दोनों का ही प्रान्तीय स्तर होना चाहिए। इन पदों पर नियुक्ति के लिए एक स्थानीय स्वायत्त सरकार, लोक सेवा आयोग बनाया जाए जिसमें कि तीन सदस्य हों—एक तो स्थानीय स्वायत्त सरकार बोर्ड का अध्यक्ष और अन्य दो स्थानीय स्वायत्त सरकार से सम्बन्धित सरकारी अधिकारी। कर्मचारियों की नियुक्ति, स्थानान्तरण, नियन्त्रण एवं सजा आदि विषय बोर्ड के हाथों में रहेंगे जो कि अधिकारियों के सहयोग से कार्य करेंगे। इसके निर्णयों के विरुद्ध अपील सरकार के सम्मुख की जा सकती है। अधीनस्थ सेवकों की नियुक्ति अध्यक्ष अथवा कार्यपालिका अधिकारी द्वारा की जाएगी और वे इस · र अन्तिम रूप से नियन्त्रण रखेंगे।

प्रान्तीयकरण की प्रक्रिया द्वारा सेवी वर्ग से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं को सुलझाने का प्रयास किया गया किन्तु प्रान्तीयकरण का सुझाव पूर्ण रूप से दोषमुक्त नहीं था। इसके विरुद्ध सबसे महत्वपूर्ण बात जो कही गई वह यह थी कि इसके द्वारा स्थानीय निकायों का उनकी सेवाओं पर नियन्त्रण गम्भीर रूप से कम कर दिया गया। प्रान्तीयकरण के द्वारा सेवी वर्ग के कुछ वर्तमान दोषों को दूर किया जा सकता है किन्तु इसके द्वारा अनेक कई उलझनें उत्पन्न कर दी जाती हैं।

सेवी वर्ग से सम्बन्धित एक अन्य विचारणीय समस्या यह है कि क्या स्थानीय स्तर के कर्मचारियों को संघ तथा संस्थाएं बनाने का अधिकार दिया

जाए। कर्मचारियों की संस्थाएं कार्य के स्तर को तथा सेवा की दशाओं को सुधारने में निश्चय ही महत्वपूर्ण कार्य करती हैं किन्तु कुछ विचारकों के मतानुसार वे स्थानीय प्रशासन में राजनीति के गढ़ भी बन जाती हैं। कर्मचारियों के संघों द्वारा सरकार एवं स्थानीय निकाय दोनों को आवश्यक सूचनाएं एवं विशेषज्ञतापूर्ण परामर्श प्रदान किए जाते हैं। ये संघ अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ संस्थाएं सेवा के आधार पर बनाई जाती हैं, जैसे स्थानीय डाक्टरों, अध्यापकों या लेखापालों की संस्थाएं, आदि। ये संस्थाएं अपने सदस्यों के व्यक्तिगत लाभों या दुखों को कम ध्यान में रखती हैं किन्तु वे सेवाओं की कार्यकुशलता को सुधारने में अधिक रुचि रखती हैं। इनके द्वारा स्थानीय अधिकारियों के लिए प्रशिक्षण केन्द्र खोले जाते हैं और जनता को भी भाषणों, वार्ताओं एवं प्रकाशनों द्वारा प्रशिक्षित करने का प्रयास किया जाता है।

जनहित की दृष्टि से तथा अन्य सेवाओं के निर्बाध संचालन की दृष्टि से स्थानीय संघों के संगठन एवं कार्य के तरीकों पर हर जगह कुछ न कुछ प्रतिबन्ध लगाए जाते हैं।

समन्वय की समस्या
[The Problem of Co-ordination]

समन्वय की समस्या प्रत्येक संगठन मे आन्तरिक दृष्टि से भी उतना ही महत्व रखती है जितना कि बाह्य दृष्टि से रखती हैं। किसी भी संगठन का सफल कार्य संचालन एवं कुशल रूप से उसके कर्तव्यों का निर्वाह इस बात पर निर्भर करता है कि उसके विभिन्न अंगों और उन अंगों की कर्मचारियों के बीच कितना समन्वय स्थित है। इस आन्तरिक समन्वय के अतिरिक्त वह विशेष संस्था अपने आसपास की अन्य संस्थाओं से भी उसी प्रकार का सहयोग बना कर चले और समन्वय के आधार पर कार्य करे। समन्वय को एक ऐसी प्रशासकीय प्रक्रिया माना गया है जो कि सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए उद्देश्य में एकता लाने का प्रयास करती है। इन उद्देश्यों को उस समय तक सरकार नहीं बनाया जा सकता जब तक कि एक ही संगठन की विभिन्न इकाइयों के बीच और सामान्य लक्ष्य के लिए कार्य करने वाले विभिन्न अभिकरणों के बीच समन्वय स्थापित न किया जाए। प्रशासन को जनता द्वारा एक पूर्ण के रूप में देखा जाता है और उसकी विभिन्न इकाइयों एवं विभागों के कार्यों को परस्पर सम्बन्धित रूप में किया जाता है। सादिक अली समिति के शब्दों में समन्वय का उद्देश्य सुगम एवं कुशल कार्य प्राप्त करना है, बुराइयों को दूर करना है तथा दोहराव एवं अतिराव के कारण अपव्यय को रोकना है। समन्वय के द्वारा विभिन्न कार्यकर्ताओं एवं संस्थाओं के बीच अच्छे सम्बन्ध भी बनाए जाते हैं।[1]

---

1. "The purpose of coordination is to achieve smooth and efficient functioning, remove bottle-necks and avoid wasteage due to overlapping and duplication. Coordination also ensures better relationship between different functionaries and institutions."

—Sadiq Ali Report, op. cit., P. 213

पंचायती राज संस्थाएं स्थानीय सरकार की इकाई के रूप में कार्य करती हैं। उनको राज्य सरकार के अभिकरण के रूप में काम करना होता है क्योंकि राज्य सरकार अनेक कार्यक्रमों एवं क्रियाओं को इन्हें हस्तांतरित कर देती है। सामुदायिक विकास से सम्बन्धित क्रियाएं जो कि गांवों के आर्थिक जीवन में क्रान्ति लाने वाले प्रमुख निकाय हैं, पंचायती राज संस्थाओं के सहयोग की आकांक्षा करती हैं। इन सब के अतिरिक्त कुछ अन्य सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक सगठन भी होते हैं जो कि स्वेच्छा के आधार पर संगठित होकर जनता के विकास की दिशा में अग्रसर होते हैं। पंचायती राज संस्थाओं को पुलिस, राजस्व, जंगलात आदि विभिन्न सरकारी विभागों से भी सम्बन्ध रखना होता है। यद्यपि सरकारी विभागों द्वारा कुछ कार्य पंचायती राज संस्थाओं को हस्तांतरित कर दिए जाते हैं किन्तु उनके कुल प्रशासन के लिए वे ही उत्तरदायी होते हैं। इन सभी संस्थाओं एवं विभागों के बीच एक निकट का एवं घनिष्ट समन्वय रहना परम आवश्यक है, तभी वांछित परिणाम प्राप्त हो सकेंगे।

पंचायती राज सस्थाओं की बनावट कुछ इस प्रकार की होती है कि उसके निम्न स्तर के निकायों का चुनाव प्रत्यक्ष रूप से किया जाता है और उच्च स्तर के निकाय अप्रत्यक्ष चुनाव के आधार पर गठित होते हैं, अर्थात् निम्न स्तर वाली संस्थाओं के शीर्षस्थ सदस्य ही अगली उच्च संस्थाओं के सदस्य होते हैं। ऐसी स्थिति में इन संस्थाओं के बीच समन्वय होना परमावश्यक है ताकि ये संस्थाएं विरोधी उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए अथवा एक ही उद्देश्य की साधना के लिए प्रयत्नशील न हों वरन् परस्पर अनुपूरक के रूप में कार्य करें। संस्था का निर्वाचित अध्यक्ष एवं कार्यपालिका अधिकारी दोनों यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन संस्थाओं के बीच पर्याप्त समन्वय रखा जाए। पचायत समिति का प्रधान और विकास अधिकारी एक ओर तो पंचायतों को सरपंचों तथा सचिवों से सम्बन्ध रखेंगे और दूसरी ओर प्रमुख तथा मुख्य कार्यपालिका अधिकारी से निकट सम्बन्ध बढ़ाएंगे। एक निकाय में ही पर्याप्त समन्वय रखने की दृष्टि से निर्वाचित अध्यक्ष एव मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को विशेष प्रयास करने होंगे। विकास अधिकारी एवं मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को उनके अधिकारियों की टीम तथा स्टाफ के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क बढ़ाने चाहिए। पर्याप्त समन्वय स्थापित करने की दृष्टि से सादिक अली समिति का यह सुझाव था कि प्रधान एवं जिला प्रमुख को सामूहिक रूप से समितियों के प्रधानों की बैठक करते रहना चाहिए ताकि विस्तृत नीतियों एवं निर्णयों से सम्बन्धित दृष्टिकोण पर विचार-विमर्श किया जा सके, उसकी प्रगति को देखा जा सके, तथा क्रियान्विति के बारे में जानकारी प्राप्त की जा सके। इस प्रकार की बैठकों के द्वारा कार्यों के बीच स्पष्ट सीमा रेखा भी खींची जा सकती है और इससे समितियों के बीच एकीकृत दृष्टिकोण जागृत होगा तथा दोहराव एवं विरोध दूर होगा। सादिक अली समिति ने पंचायती राज संस्थाओं एवं सहकारी संस्थाओं, स्वेच्छापूर्ण अभिकरणों, सरकारी विभागों, आदि के बीच समन्वय पर पर्याप्त विचार किया है। इन सब से सम्बन्धित समिति के विचारों को देखने के बाद देहाती स्तर पर स्थानीय सरकार में समन्वय की समस्या सुलझती हुई सी प्रतीत होती है।

जहां तक पंचायती राज संस्थाओं एवं सहकारी संस्थाओं का प्रश्न है ये दोनों एक ही उद्देश्य के लिए कार्य करती हैं, वह है उस क्षेत्र का विकास। पहली द्वारा विकास के लिए कार्यपालिका अभिकरण प्रदान किया जाता है तो दूसरी द्वारा आर्थिक क्रियाओं के संगठन के लिए एक माध्यम की रचना की जाती है। इन दोनों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए अन्तर्संस्था-गत प्रतिनिधित्व की सिफारिश की गई है। इसका अर्थ यह है कि एक ओर तो पंचायतों, पंचायत समितियों एवं जिला परिषदों में सहकारी संस्थाओं के सदस्य होने चाहिए। दूसरी ओर सहकारी संस्थाओं में भी इन निकायों के सदस्य होने चाहिए। जब एक प्रकार के निकाय के सदस्यों को दूसरे निकाय में लिया जाय तो इन्हें मत देने का कोई अधिकार नहीं होना चाहिए। पंचायत के सचिव को सहकारी समाज का सचिव बनाया जा सकता है। ऐसा उसी स्थिति में किया जायेगा जब कि कार्यभार अपेक्षाकृत कम हो और एक व्यक्ति उसे सम्भाल सकता हो। इसके परिणामस्वरूप दोनों निकायों के बीच आवश्यक समन्वय रहेगा। सादिक अली समिति ने सुझाया कि दोनों ही निकायों का आडिट एक ही संस्था द्वारा किया जाय। जिला स्तर पर जो आडिट संगठन कार्य करता है उसे विकेन्द्रीकृत किया जाये तथा उसे अधिक शक्तिशाली बनाया जाय।

पंचायती राज संस्थाओं एवं अन्य स्वेच्छापूर्ण संगठनों के बीच भी समन्वय स्थापित करना अत्यन्त जरूरी बन जाता है। ये संगठन ग्रामीण जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में विकास के लिए अत्यन्त उल्लेखनीय कार्य करते हैं यदि सामाजिक कार्यकर्ता स्वयंसेवकों की सेवाएं पंचायती राज संस्थाओं द्वारा उपयोग में लायी जा सकें। राज्य स्तर पर जो पंचायती राज की परा-मर्शदाता समिति है उसमें इन संगठनों के कम से कम सात प्रतिनिधि लिए जाने चाहिए। ऐसा प्रतिनिधित्व होने पर ही निकायों को इन संगठनों के सदस्यों की सेवाओं का पूरा लाभ प्राप्त हो सकेगा। इन सदस्यों को निकायों के उन अंगों में समाविष्ट किया जाय जहां कि ये सर्वाधिक उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। शिक्षण संस्थाएं तथा विकास से सम्बन्धित अन्य संस्थाएं इन स्वेच्छापूर्ण संस्थाओं का पंचायती राज्य के कार्यकर्त्ताओं को प्रशिक्षित करने में भी उपयोग किया जा सकता है। राजस्थान में लगभग तीन पंचायती राज प्रशिक्षण केन्द्र कार्य कर रहे हैं जो कि इसी प्रकार के स्वेच्छाचारी संगठनों द्वारा चलाये जा रहे हैं।

पंचायती राज संस्थाओं एवं सरकारी विभागों के बीच समन्वय स्थापित करना भी परमावश्यक होता है, जिन विभागों की क्रियाएं पंचायती राज संस्थाओं को हस्तान्तरित की गई हैं। उन विभागों एवं पंचायती राज संस्थाओं के बीच एक आवश्यक समन्वय को उपयोगी समझा जाता है ताकि ये हस्तान्तरित कार्य सुगमतापूर्वक किये जा सकें और दोनों के बीच किसी प्रकार का गतिरोध पैदा न हो। इस समन्वय के माध्यम से विभागों द्वारा पंचायती राज संस्थाओं को निर्देशित किया जा सकता है। जिला स्तर के अधिकारी को जो कार्य सौंपे जाते हैं वह उनसे सम्बन्धित प्रतिवेदन हर तीसरे महीने जिला परिषद के सम्मुख प्रस्तुत करता है। इसकी एक प्रति सम्बन्धित विभाग के क्षेत्रीय स्तर के अधिकारी के पास भी भेजी जाती है। विभागीय

अध्यक्ष को विकास आयुक्त के सम्मुख एक अर्द्ध-वार्षिक पुनरीक्षा प्रस्तुत की जाती है। जिला परिषद को जिला स्तर के अधिकारी द्वारा प्रस्तुत त्रै-मासिक प्रतिवेदनों पर विचार करना होता है। पंचायती राज संस्थाओं का उन विभागों के साथ भी समन्वय किया जाना चाहिए जिनके कार्य पंचायती राज संस्थाओं को हस्तान्तरित नहीं किये गये हैं चूंकि यह कार्य जिला स्तर पर जिलाधीश द्वारा किया जायेगा। कई बार यह भी सुझाव दिया जाता है कि यदि राजस्व एकत्रित करने का कार्य पंचायती राज संस्थाओं को सौंप दिया जाय तो यह समन्वय अधिक प्रभावशाली रूप से हो सकेगा और साथ ही पंचायती राज संस्थाएं अधिक प्रभावशाली एवं आदरणीय बन जायेंगी।

पंचायती राज संस्थाओं में समन्वय की पूर्णता केवल तभी आ सकती है जबकि उच्च स्तर पर समन्वय को प्रभावशील बनाया जाय। राज्य स्तर पर विभिन्न विभागों की क्रियाओं में समन्वय करने के लिए मुख्य सचिव के सभापतित्व में जो समन्वय समिति कार्य करती है उसे पचायती राज की प्रगति को सामयिक रूप से देखते रहना चाहिए। राज्य सरकार द्वारा कृषि, पशुपालन और सहकारी विभागों को विकास आयुक्त के अधीन रखा गया है जो कि इन विभागों का पदेन सरकारी सचिव होता है। इस प्रकार के प्रयास से अन्य विभागों एवं उस विभाग के बीच अच्छा समन्वय स्थापित हो पाता है। इस सम्बन्ध में एक बात उल्लेखनीय यह है कि यदि निम्न स्तरों पर समन्वय किया जाये तो उच्च स्तरों पर समन्वय स्वतः ही हो जायेगा; और यदि उच्च स्तर पर विभागों में घनिष्ट समन्वय है तो निम्न स्तर पर भी समन्वय एवं सहयोग सुविधाजनक रहेगा। इस प्रकार पंचायती राज संस्थाओं का अन्दर से एवं बाहरी रूप से समन्वय उनके कार्यों की सफलता एवं प्रभावशीलता के लिए परमावश्यक बन जाता है और इस आवश्यकता का निर्वाह तभी हो पाता है जबकि नियोजित एवं सुव्यवस्थित रूप में कार्य किया जाता है।

जनता के योगदान की समस्या [The problem of people's participation]—स्थानीय प्रशासन स्थानीय जनता के सहयोग एवं सद्भावना के आधार पर ही संचालित हो सकता है और तभी उसके लक्ष्यों को साकार किया जा सकता है। यह जनता के सहयोग की अपेक्षा करता है जिसके बिना किसी भी विकास कार्यक्रम को सफल एवं सार्थक नहीं बनाया जा सकता। जनता के सहयोग की धारणा कोई नयी धारणा नहीं है। सभ्यता के अनादिकाल से ही लोक-कल्याण एवं समाज के हित की भावना से लोग एक दूसरे को सहयोग देते आये हैं। भारत में धार्मिक दृष्टि से भी इस प्रकार के प्रयासों को अच्छा माना गया है। सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति इस विचार से प्रेरित है। दान, धर्म, दया, आदि के कारण ही यहां के लोग बड़े २ तालाब और बांध बनवाते थे, धर्मशालाएं खुलवाते थे और प्याऊओं की रचना करवाते थे। इनके अतिरिक्त सार्वजनिक बाग-बगीचे, पार्क आदि भी लगवाते थे। इन सब के परिणामस्वरूप सभ्यता के विकास में सहायता मिलती थी इनके साथ ही लोगों का जनजीवन भी अधिक सुखी बनता था। दान और धर्म की भावना से प्रेरित होकर समर्थ लोगों द्वारा कई एक अस्पतालों तथा सार्वजनिक उपयोग की अन्य इमारतों व

निर्माण कराया जाता था। स्वतंत्रता के बाद देश की सरकार को राष्ट्रीय स्थिति का जो नक्शा मिला वह असंतोषजनक होने के साथ–साथ निराशापूर्ण भी था। निराशापूर्ण इसलिए कि उसे बदलने की शक्ति किसी भी सरकार में न थी चाहे उसका रूप कुछ भी हो और चाहे वह कितना ही सच्ची लगन से काम क्यों न करे। देश की बिगड़ी हुई हालत को सुधारने के लिए यह परमावश्यक था कि इस प्रकार के प्रयासों में जनता का पूरा पूरा योगदान मिले। देश की भारी गरीबी अभावग्रस्तता एवं अन्य जटिल समस्याओं को यहां की जनता के संयुक्त प्रयास द्वारा ही सुलझाया जा सकता था। सामुदायिक विकास कार्यक्रम और पंचायती राज दोनों का गठन एवं स्वरूप इस प्रकार का बनाया गया है कि वे स्थानीय जनता के अधिक से अधिक सहयोग को अपने लक्ष्यों की सिद्धि के समय प्राप्त कर सकें। प्रथम पचवर्षीय योजना में यह कहा गया कि धन या श्रम के रूप में लोगों के स्वेच्छाचारी योगदान की व्यवस्था होनी चाहिए। यह योगदान, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों द्वारा किये जाने वाले प्रयासों की एक आवश्यक पूर्व शर्त होनी चाहिए। किन्तु पंचायती राज संस्थाओं अथवा सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के संदर्भ में यह स्वेच्छापूर्ण योगदान किस प्रकार प्राप्त किया जाये यह एक समस्या बन गई जिसके समाधान में ही इन सभी कार्यक्रमों की सफलता निहित थी।

प्रारम्भ में जब सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को पूरा करने के लिए लोगों के सहयोग की मांग की गई तो जो प्रतिक्रिया हुई वह अत्यन्त उत्साह वर्द्धक थी। अनेक लोग श्रम, धन एवं वस्तुओं के द्वारा इन कार्यक्रमों की सिद्धि के लिए हाथ बंटाने को आगे आये। श्रमदान सप्ताहों का आयोजन किया जाने लगा और इसके द्वारा क्षेत्रीय स्तर पर अनेक महत्वपूर्ण जन-उपयोगी एवं रचनात्मक कार्य किये गये। न केवल गांवों एवं पंचायतों के बीच ही एक स्वस्थ प्रतियोगिता का विकास हुआ वरन् जिलों और यहां तक कि राज्यों में भी इस प्रकार की प्रतियोगिता के बीज अंकुरित हुए। स्थानीय जनता द्वारा अपने कार्यक्रमों के कुछ लक्ष्य निर्धारित कर लिये गये और उन लक्ष्यों को न केवल साकार किया गया वरन् आगे बढ़ाने के भी प्रयास किये गये।

पंचायती राज की स्थापना के बाद से अब तक उसके कार्यों में जनता के योगदान की मात्रा बदलती रही है—यह कभी अधिक हुई और कभी कम। योगदान के कम होने तथा उसकी मात्रा के बढ़ने के पीछे क्या कारण होते हैं और उनका किस प्रकार से लाभ उठाया जा सकता है—यह बात जितनी महत्वपूर्ण है उतनी ही कठिन भी है। जनता के योगदान की मात्रा घटने का उत्तरदायित्व न तो जनता पर रखा जा सकता है, न नेताओं पर और न ही सरकार पर। इनमें से कोई भी पूरी तरह से दोषी नहीं है। असल में जनता का सहयोग प्राप्त करना एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अनेक कारण होते हैं और ये कारण बहुत गहरे होते हैं। यह हो सकता है कि लोग अपने लाभ की योजनाओं में उत्साह दिखायें और मह भी हो सकता है कि वे ऐसी योजनाओं से अपने आपको विमुख करलें। जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए अधिकारी एवं गैर–अधिकारी दोनों ही स्तरों पर नेतृत्व द्वारा पर्याप्त प्रयास किये जाने चाहिए। इस प्रकार के योगदान के लिए यदि देहाती स्तर पर लोगों की भावनाओं को उभाड़ा जा सके तो अधिक उपयोगी

रहेगा। भारतीय जनता, विशेषकर देहाती इलाकों में रहने वाले लोग बौद्धिक तर्कों से इतने प्रभावित नहीं होते जितने कि वे भावनाओं से होते हैं। उदाहरण के लिए जब देश पर विदेशी आक्रमण हुए तो गांव के लोगों ने राष्ट्रीय सुरक्षा कोष में उदारतापूर्वक दान दिया। इससे प्रकट होता है कि यदि सरकार एवं प्रशासन द्वारा लोगों के दिल में यह भावना भरदी जाये कि उनके योगदान का कोई महत्व है और वे जो कुछ भी दे रहे हैं उससे एक बड़े राष्ट्रीय हित का साधन होने वाला है तो वे लोग आसानी से अपना योगदान देने के लिए तत्पर हो जायेंगे।

जब विकास कार्यक्रमों में एवं देहाती प्रशासन के क्षेत्र में जनता के पर्याप्त योगदान को प्राप्त करने की दृष्टि से योजनाएँ बनायी गईं और प्रयास किये गये उनसे संतोषजनक परिणाम प्राप्त नहीं हो सके। इस वस्तुस्थिति के लिए उत्तरदायी कई कारण थे। प्रथम, जब प्रारम्भ में श्रमदान कार्यक्रमों को प्रारम्भ किया गया तो यह एक नयी चीज थी जिसने कि जनता के ध्यान को अपनी ओर आकर्षित किया और उन्हें इनमें भाग लेने के लिए अधिक से अधिक आमंत्रित किया। किन्तु ज्यों-ज्यों समय गुजरा, जनता का उत्साह कम होता चला गया। इसके अतिरिक्त कार्यक्रमों के लिए सौंपे गये धन की मात्रा कम होने के कारण भी लोगों के उत्साह में कमी आ गई। ज्यों-ज्यों सामुदायिक विकास कार्यक्रमों को बढ़ाया गया त्यों-त्यों एक विकास-खण्ड के अधिकार क्षेत्र में अधिक से अधिक कार्य आने लगे और जनता के सहयोग की मांग भी लगातार बढ़ने लगी। दूसरे, सामुदायिक विकास कार्यक्रमों के द्वारा जो योजनाएं प्रसारित की गईं उनमें जनता के कुछ आवश्यक योगदान का प्रावधान था। यह आवश्यक योगदान प्राप्त करना कई बार बड़ा मुश्किल पड़ जाता है और ऐसी स्थिति में राज्य को सहायता प्राप्त करने के लिए लेखों में इधर से उधर करना पड़ता है।

इन सबके परिणामस्वरूप लोगों का उत्साह विपरीत रूप में प्रभावित होता है और श्रमदान आंदोलन में जो एक पवित्र भावना कार्य करती है वह जोड़ बाकी के हिसाब किताब में उलझनों के बाद समाप्त हो जाती है। तीसरे जनता द्वारा स्थानीय संस्थाओं के कार्यों में जो सहयोग प्रदान किया गया वह मुख्य रूप से ऐसे वर्ग द्वारा किया गया जो कि अपेक्षाकृत साधनहीन एवं सामर्थ्यहीन था। समाज का जो धनिक वर्ग था वह इन कार्यक्रमों को सफल बनाने के लिए आगे नहीं आया। यदि श्रमदान कार्यक्रम में गांव वालों को आकर्षित करना है तो इनमें गांव के सभी लोगों को भाग लेने के लिए समझाया जाना चाहिए। ऐसा करने में गरीब और अमीर के बीच किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाय। यदि व्यवहार में ऐसा नहीं किया गया तो इससे कार्यक्रम को हानि होती है। चौथे, अधिक से अधिक जनता आगे न आ सकी तथा श्रमदान में भाग न ले सकी इसका उत्तरदायित्व अधिकारी एवं गैर-अधिकारी दोनों ही प्रकार के नेतृत्व पर आता है। विकास अधिकारी एवं प्रसार-अधिकारी, विकास एवं प्रसार के कार्यों को सम्पन्न करने की अपेक्षा केवल डेस्क पर बैठ कर किये जाने वाले कार्यों में ही उलझे रहे, जबकि गैर-अधिकारी नेतागण शक्ति-राजनीति की उखाड़-पछाड़ में संलग्न रहे। अतः इन दोनों में से कोई भी उपयुक्त लोगों को श्रमदान कार्यक्रमों की ओर आक-

षित नहीं कर सके और न ही उनको किसी रचनात्मक कार्य में लगा सके। पांचवें, पंचायती राज संस्थाओं में मतभेद, विरोध एवं गुटबाजी भी पनपने लगी और पूरा गांव बहुमत पर अल्पमत में विभाजित हो गया। ऐसी स्थिति में यह असम्भव हो गया कि श्रमदान की किसी मांग पर गांव के सभी लोगों को एकत्रित किया जा सके। छटे, सरकार द्वारा रखे गये प्रावधान के अनुसार उसका योगदान विकास कार्यों में केवल तभी मिल पाता है जबकि सम्बन्धित गांव के लोग एक निर्धारित अंश देने के लिए तैयार हों। यह प्रावधान उन क्षेत्रों के लिए अत्यन्त समस्याप्रद है जहां के लोग बुरी तरह से गरीब हैं।

इस प्रकार के क्षेत्रों में बसने वाले लोगों को सरकारी सहयोग की सबसे अधिक आवश्यकता होती है और उनको यह सहयोग मिल नहीं पाता। सातवें, अब आजकल गांव के लोगों में चेतना विकसित हो गई है साथ ही नवीनीकरण की प्रक्रिया के कारण वे शहरों से अधिक सम्पर्क रखने लगे हैं। जब कभी गांव के निवासी शहरों में जाते हैं और यह देखते हैं कि वहां के लोगों को सड़क, सफाई, प्रकाश, घर, शिक्षा आदि सारी सुविधाएं प्राप्त हैं तो उनके दिल में एक ईर्ष्या की भावना जागृत होती है। वे यह सोचने लगते हैं कि शहर के लोग इन समस्त सुविधाओं को प्राप्त करने के लिए कभी भी श्रम शक्ति एवं धन का दान नहीं करते तो फिर उनसे ही ऐसा करने के लिए क्यों कहा जाता है। आठवें, कई बार लोग श्रमदान देने के लिए तैयार भी हो जाते हैं किन्तु जब वे यह देखते हैं कि विकास–कार्य को आगे चलाने के लिए सरकार द्वारा पर्याप्त योगदान नहीं दिया जा रहा है तो वे बहुत निराश हो जाते हैं और उनका उत्साह मंद पड़ जाता है। नवें, जो पंचायतें जनता के सर्वाधिक नजदीक रहती हैं वे भी उनमें पर्याप्त उत्साह पैदा नहीं कर पाती उन्हें चाहिए कि जनता से अधिकाधिक सहयोग एवं पहल को प्राप्त करने के लिए उन्हें प्रेरित करें। दसवें, कई एक क्षेत्रों की जनता अपना योगदान देने के लिए पूरी तरह से तैयार हो जाती है किन्तु इसके लिए उपयुक्त दशाएं बनाना जरूरी होता है। यह योगदान किन शर्तों पर किया जायेगा यह भी स्पष्ट होना चाहिये। जनता को यह विश्वास होना चाहिये कि सार्वजनिक जीवन के सभी स्तरों पर ईमानदारी, सज्जनता और शिष्टता से काम हो रहा है।

यह कहा जाता है कि यद्यपि जनता के योगदान की देश के तीव्रगति से किये जाने वाले आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त आवश्यकता है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि जनता के सहयोग को बनावटी रूप में प्राप्त किया जाय। यदि ऐसा किया गया तो इससे एक ओर तो शोषण होगा और दूसरी ओर भ्रष्टाचार पनपेगा। जनता के योगदान के सिद्धान्त और व्यवहार के बीच कई बार एक बड़ा अन्तर उपस्थित हो जाता है और यह अन्तर इस योगदान को वास्तविकता की अपेक्षा औपचारिक अधिक बना देता है। सादिकअली समिति ने जनता के सहयोग से सम्बन्धित प्रश्न पर पर्याप्त विचार किया और उसके पश्चात उसने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये। सर्वप्रथम समिति ने यह बताया कि लोगों के योगदान का सिद्धान्त अर्थात् सामान्य हित के कार्यों में जनता से सहयोग एक अत्यन्त ही सारपूर्ण सिद्धान्त है किन्तु फिर भी वर्तमान में इसकी जो स्थिति है वह प्रभावशाली नहीं है। अच्छा यह रहे कि जनता का

जो सहयोग मांगा जाये वह धन या वस्तु के रूप में मांगा जाना चाहिए। श्रम के रूप में योगदान मांगने की प्रवृत्ति को कम किया जाना चाहिये। दूसरे, पंचायत एवं पंचायत समितियों को कर–साधनों एवं गैर-कर वाले तरीकों से अपनी आय को बढ़ाना चाहिए। ऐसे प्रयास किये जाने चाहिए कि इन संस्थाओं के पास कोई स्थायी आमदनी का साधन आ जाय। पंचायत समिति के कार्यों में योगदान का रूप व्यक्तिगत नहीं होना चाहिये वरन् ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये कि वहां पचायत समिति के धन को एकत्रित करने में लोग अपना योगदान किया करें। तीसरे, किसी भी कार्यक्रम को प्रारम्भ करने के लिये जनता के योगदान की जो एक आवश्यक शर्त रखी गई है उसे हटा देना चाहिए।

जिला परिषद को यह चाहिए कि वह उस पंचायत समिति या पंचायत से योगदान मांगे जिसके लिए कि उसने अपना योगदान देना निश्चित किया है। इसके लिए जिला परिषद पंचायत समिति या पंचायत को चाहिये कि वह या तो अपने साधनों का विकास करे अथवा विकास कार्यक्रमों को सीमित करके उनको अपने धन की मात्रा के अनुरूप बना ले। यदि इन संस्थाओं को अनुदान एवं सहायता कम दी गई तो ये अपने स्रोत बढ़ाने में तथा अपना योगदान करने में आगे आयेंगे। पांचवें, कार्यों में लगाये गये मजदूरों को उतना वेतन दिया जाना चाहिए जितना कि उस पंचायत क्षेत्र के लोगों को दिया जाता है। पंचायत समिति को चाहिये कि वह कार्यपालिका अधिकारी से विचार करके मजदूरों का वेतन नियत करदे ताकि देहाती क्षेत्रों में कमजोर वर्गों का शोषण न किया जाय। इन सभी उपायों को अपनाने के बाद जनता का सहयोग अधिक प्राप्त किया जा सकेगा।

नगरपालिका प्रशासन की समस्याएं
[The Problems of Municipal Administration]

नगरपालिकाओं के प्रशासन में जो विभिन्न समस्याएं सामने आती हैं उन्हें देखकर ऐसा लगता है कि प्रशासन की इस व्यवस्था को समाप्त करके यदि केवल केन्द्रीय शासन द्वारा स्थानीय सेवाएं जुटाई जायं तो अधिक उपयोगी रहेंगी। जब कभी जनता को अधिक अधिकार दिये जाते हैं तो कार्यों के कुशल सम्पादन से मार्ग में बाधाएं उत्पन्न हो जाती हैं, और इसके परिणामस्वरूप यह सुझाया जाता है कि स्थानीय निकायों की शक्तियों को कम किया जाय और राज्य सरकार के नियन्त्रण को बढ़ाया जाय। भारत में नगरपालिका प्रशासन में भ्रष्टाचार, कार्य में देरी, पक्षपात-पूर्ण व्यवहार, अनावश्यक झगड़े आदि बढ़ जाते हैं। कई एक लेखकों ने तो इस वस्तु स्थिति का अध्ययन करने के बाद यह निष्कर्ष निकाला है कि विकेन्द्रीकरण और अकुशल प्रशासन दोनों साथ-साथ चलते हैं। यह दृष्टिकोण देखने में चाहे कितना भी अस्वीकार्य एवं अटपटा प्रतीत क्यों न हो किन्तु इसमें कुछ सत्यता अवश्य है। इस मत से जो लोग बहुत अधिक प्रभावित होते हैं वे यहां तक निष्कर्ष निकालते हैं कि विकेन्द्रीकृत प्रजातन्त्र की अपेक्षा तो तानाशाही एवं स्वेच्छाचारी शासन के अधीन रहने वाली पूर्णतावादी शासन-व्यवस्था अधिक अच्छी है क्योंकि इससे अधिक कार्य-कुशलता प्राप्त की जा सकती है। यदि हम

विकेन्द्रीकृत व्यवस्था में भी कार्य-कुशलता बनाये रखना चाहते हैं तो इसके लिए यह अनिवार्य होगा कि प्रारम्भिक काल में प्रशासनिक अकार्य-कुशलता को सहने के लिए तैयार रहें और दूसरे, स्थानीय जनता में पहल तथा आन्तरिक जागरूकता की भावना को विकसित करें।

स्थानीय प्रशासन में जनता के सहयोग की आवश्यकता नगरपालिका स्तर पर भी उतनी ही महत्वपूर्ण एवं उपयोगी है जितनी कि यह देहाती क्षेत्र में होती है। प्रजातन्त्रात्मक व्यवस्था को अपनाने के कारण एवं राष्ट्रीय-विकास कार्यक्रमों में स्थानीय हितों एवं मतों को पर्याप्त प्रतिनिधित्व देने के कारण यह जरूरी हो जाता है कि स्थानीय प्रशासन में अधिकाधिक जन-सहयोग प्राप्त किया जाय। विकास कार्यों के क्षेत्र में स्थानीय पहल एवं स्थानीय हितों को तभी जागृत किया जा सकता है जबकि हम एक ऐसी प्रतिनिधि एवं प्रजातन्त्रात्मक संस्था की स्थापना करें जो कि स्थानीय जनता की इच्छाओं एवं आवश्यकताओं के अनुरूप स्थानीय लक्ष्यों पर धन खर्च करने के लिए आवश्यक स्थानीय हित पर्यवेक्षण एवं सावधानी बरते। बलवंतराय मेहता समिति ने प्रजातन्त्रीय विकेन्द्रीकरण के ऊपर पर्याप्त विचार करने के बाद यह बताया कि स्थानीय निकाय को कानून एवं व्यवस्था, न्याय का प्रशासन और राजस्व प्रशासन से सम्बन्धित कुछ कार्य करने के अतिरिक्त क्षेत्र के सम्पूर्ण सामान्य प्रशासन एवं विकास से सम्बन्धित कार्य भी करने चाहिए। इन विस्तृत कार्यों को करने के लिए स्थानीय संस्थाओं को पर्याप्त व्यापक शक्तियां सौंपी जायं तथा आवश्यक कार्य-पालिका यन्त्र एवं वांच्छित साधन प्रदान किये जायं। इन संस्थाओं के ऊपर सरकार या सरकारी अभिकरणों का अतिशय नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। उन्हें भूल करने और भूल करने के बाद सीखने के अवसर प्रदान किये जाने चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि उनको पर्याप्त निर्देशन भी न प्रदान किया जाय। निर्देशन न मिलने पर वे अधिक गलतियां करेंगे। असल में स्थानीय संस्थाओं को स्थानीय विकास के सम्बन्ध में स्थानीय जनता की अभिव्यक्ति का साधन होना चाहिए। बलवंतराय मेहता समिति के सुझावों को देहाती स्तर पर स्थानीय संस्थाओं के सम्बन्ध में लागू किया गया और उनको प्रभावशील एवं शक्तिशाली बनाने के लिए प्रयास किए गए। शहरी स्थानीय संस्थाओं को भी इन सुझावों के प्रकाश में विकसित करना चाहिए ताकि वे अपने बढ़ते हुए उत्तरदायित्वों एवं कार्यों के साथ स्थानीय नेतृत्व एवं पहल को आकर्षित कर सकें।

स्थानीय निकायों को पर्याप्त सत्ता हस्तान्तरित कर दी जाए केवल यही पर्याप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त उनकी पर्याप्त वित्तीय व्यवस्था एवं प्रशासकीय यन्त्र का अधिक कुशल संगठन किया जाना चाहिए। वित्तीय व्यवस्था को पर्याप्त सुदृढ़ बनाने के लिए नगरपालिकाओं को करों की शक्ति अधिक दी जानी चाहिए। करों के द्वारा प्राप्त धन के अतिरिक्त जन उपयोगिता के उद्यमों का विकास करके भी आमदनी में वृद्धि का प्रयास करना चाहिए। राज्य सरकार को चाहिए कि वे नगरपालिकाओं को अल्पकालीन व दीर्घकालीन ऋणों के आधार पर इनका विकास करने की प्रेरणा दे। जो नगरपालिकाएं अत्यन्त छोटी हैं तथा देहाती इलाकों के नजदीक हैं, एवं अपने साधनों का पर्याप्त उपयोग नहीं कर पातीं उनको देहाती प्रशासनिक इकाइयों

साथ मिला देना चाहिए और उन छोटी नगरपालिकाओं को जो कि करों या सरकारी उद्यमों से पर्याप्त धन इकट्ठा नहीं कर पातीं उनको राज्य सरकार द्वारा अतिरिक्त अनुदान दिए जाने चाहिए। जहां तक प्रशासकीय यंत्र का प्रश्न है नगर परिषद के कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका कार्यों के बीच विभाजन किया जाना चाहिए तथा यह उपयोगी रहेगा कि एक राज्य स्तर के कार्यपालिका अधिकारी की नियुक्ति की जाए। इन पदों पर राजस्व अधिकारी की सेवाएं लेना अधिक उपयोगी प्रतीत नहीं होता क्योंकि ये अधिकारी स्थानीय प्रशासन में इतने प्रशिक्षित नहीं होते तथा नए वातावरण में काम भी नहीं कर पाते। इसलिए यह सुझाव दिया जाता है कि स्थानीय सरकार के स्तर पर उसकी अपनी सेवाएं प्रारम्भ की जाएं। इस दृष्टि से कार्यपालिका अभियन्ताओं एवं स्वास्थ्य अधिकारियों के लिए एक जैसी सेवाओं की आवश्यकताएं होंगी। विभिन्न अधिकारियों के बीच समन्वय स्थापित करने के कार्य कार्यपालिका अधिकारी द्वारा किए जाने चाहिए। उसे एक सामान्य प्रबन्धक के रूप में वरिष्ट एवं अन्य कार्यपालिका अधिकारियों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इस अधिकारी को नगरपालिका प्रशासन से सम्बन्धित अपने सभी कार्यों के लिए नगरपरिषद के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए। प्रजातन्त्रात्मक विकेन्द्रीकरण की योजना में राज्य सरकार का योगदान भी काफी रहता है। राज्य सरकार को एक रक्षक के रूप में केवल आडिट करके तथा सामयिक परीक्षाएं करके नगर परिषदों को शक्ति के दुरुपयोग से रोकने मात्र से सम्बन्धित नहीं रहना चाहिए। इसे स्थानीय निकायों के प्रोत्साहन एवं विकास में सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। दूसरी ओर सरकार के ऐसे नियन्त्रण को रोकने का हर सम्भव प्रयास किया जाना चाहिए जो कि स्थानीय स्तर पर पहल को समाप्त कर ले तथा उसकी स्वायत्तता एवं आत्म-निर्भरता को छीन ले। राज्य का नियन्त्रण कुल मिलाकर ऐसा न हो जो कि स्थानीय निकायों के उत्साह को समाप्त कर दे और उन्हें नीति निर्माण एवं क्रियान्विति के कार्य में अयोग्य बना दे।

कमजोर वर्ग की समस्याएं
(The Problems of Weaker Sections)

समाज में हर तरह के लोग होते हैं। मार्क्स की भाषा में उनको पूंजीपति और मजदूर के रूप में समूहीकृत किया जा सकता है। प्रचलित भाषा में इन्हें धनवान और गरीब या समर्थ और असमर्थ या कमजोर और ताकतवर के रूप में विभाजित किया जा सकता है। इन दोनों प्रकार के वर्गों के बीच कई एक बातों में विरोध रहता है तथा पर्याप्त संघर्ष रहता है। इस संघर्ष का परिणाम एक वर्ग द्वारा दूसरे के शोषण के रूप में सामने आता है। यदि इस प्रकार के व्यवहार को चलने दिया जाए तो कुछ समय बाद समाज समाप्त होने लगता है। स्थानीय निकायों को इस तरह व्यवहार करना चाहिए कि यह वर्गीय भेद-भाव समाज की समाप्ति का कारण न बन जाए। इसके लिए उसके व्यवहार को दोनों ही वर्गों के लिए समान रूप से लाभदायक होना चाहिए। कमजोर एवं शक्तिहीन लोगों के लिए विशेष प्रावधान किए जाने चाहिए। समाज में कमजोर भाग उसे माना जाता है जिसमें कि ये विशेषताएं हों—प्रथम,

वे परिवार जिनके पास ऐसी भूमि है जिसका कोई आर्थिक लाभ नहीं है। दूसरे, कृषि कार्य के मजदूर या अन्य मजदूर जो कि भूमि नहीं रखते। तीसरे, गांवों के वे मजदूर और कलाकार जो कि छोटी कलाओं, कुटीर-उद्योगों में, बर्तन बनाने के कार्यों में, डलिया बनाने के कार्यों में तथा ऐसे ही अन्य कार्यों में संलग्न रहते हैं। चौथे, वे समूह जिन्हें ऐतिहासिक या अन्य किसी कार्य से पिछड़े क्षेत्रों में रहने के लिए बाध्य किया गया है और जो आधुनिक वित्तीय जीवन के साथ समायोजित नहीं हो पाते। पांचवें, ग्रामीण समाज का वह भाग जो कि विशेष परिस्थितियों के कारण अपने वंश परम्परागत व्यवसाय में उलझा हुआ है।

इन व्यवसायों में अधिक आय नहीं होती किन्तु फिर भी स्वास्थ्य एवं सफाई की दृष्टि से जोखिमपूर्ण होते हैं। इन लोगों का सामाजिक स्तर भी अत्यन्त नीचा होता है। छठे, समाज के वे भाग जो कि सामाजिक स्तर ऊंचा होते हुए भी आर्थिक दृष्टि से अच्छी स्थिति में नहीं होते। सातवें, स्त्रियां एवं अभागे लोग जैसे विधवाएं, अनाथ, बूढ़े और, बेरोजगार लोग जिनके पास जीविका का कोई साधन नहीं है और शारीरिक दृष्टि से जो असमर्थ हैं, आदि। इस प्रकार समाज के शक्तिहीन भाग में अनेक प्रकार के लोग आ जाते हैं। यह असम्भव है कि इतनी जनसंख्या के लिए कोई ऐसा सामान्य विकास कार्यक्रम अपनाया जा सके जो कि सभी की प्रगति का आधार बन जाये। यही कारण है कि सादिक अली समिति ने शक्तिहीन सम्भागों की परिभाषा को सीमित किया है। उसके मतानुसार इसमें जिन लोगों को समाहित किया जा सकता है वे हैं अनुसूचित जाति एवं जन-जाति के लोग, वे परिवार जिनके पास एक एकड़ से कम भूमि है और जो कोई स्थायी व्यवसाय नहीं रखते, भूमिहीन कृषक मजदूर, गांव के कलाकार और मजदूर जो कि छोटे उद्योगों में संलग्न हैं, तथा वे अभागे, अनाथ, बेरोजगार, अपाहिज लोग जिनका कोई अन्य सहारा नहीं है। गांवों के शक्तिहीन वर्ग को निर्धारित करना एक समस्या है किन्तु इससे भी अधिक गम्भीर समस्या उस वर्ग का विकास करना है। समाज के इन शक्तिहीन वर्गों के विकास के लिए राज्य एवं केन्द्रीय स्तर पर अनेक प्रयास किये जा रहे हैं किन्तु ये प्रयास पर्याप्त नहीं हैं। पंचायती राज संस्थाओं को भी इस वर्ग के लोगों की सहायता के लिए पर्याप्त प्रयास करना होगा। जैसा कि सादिक अली समिति का मत था पंचायती राज संस्थाओं ने इन वर्गों के लाभ के लिए अधिक महत्वपूर्ण कार्य नहीं किये। यद्यपि पंचायती राज संस्थाओं की इस दृष्टि से अपनी कुछ सीमाएं भी है। उनके पास साधन और धन बहुत कम रहता है। इसलिए कमजोर वर्गों के कल्याण के लिए वे बहुत कम हल करने की क्षमता रखते हैं। इन संस्थाओं को जो कार्य हस्तान्तरित किए गये हैं वे इस प्रकार के हैं जिनसे केवल वे ही लोग लाभ उठा पाते हैं जो कि समर्थ हैं और अच्छे परिवार के लोग हैं। यह बात उत्पादन कार्यक्रमों के बारे में विशेष रूप से लागू होती है।

कमजोर वर्गों के कल्याण के क्षेत्र में पंचायती राज संस्थाओं के सीमित एवं कम महत्वपूर्ण प्रयासों को देख कर सादिक अली समिति को भारी निराशा हुई। उसने इस सम्बन्ध में कई उपयोगी सुझाव प्रस्तुत किये। समिति ने बताया कि राज्य सरकार ने कृषि उत्पादन से सम्बन्धित प्रायः सभी कार्य

पंचायती राज संस्थाओं को सौंप दिये हैं। उसे चाहिए कि जिला स्तर पर जिला परिषद को कुछ कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियां प्रदान की जाएं। शिक्षा के क्षेत्र में ये संस्थाएं मिडिल तक की शिक्षा का प्रबन्ध करती हैं। समिति ने समाज कल्याण विभाग की क्रियाएं भी इसे हस्तान्तरित करने का सुझाव दिया। जब ये सब कार्य पंचायती राज संस्थाओं को सौंप दिए जाते हैं तो उनकी शक्ति अधिक हो जाती है और यह आशा बंध जाती है कि वे कमजोर वर्गों की सेवा के लिए अधिक कार्य कर सकेंगी। इसके अतिरिक्त राज्य एवं केन्द्र सरकारों को भी इस दृष्टि से कदम उठाने होंगे। पंचायती राज संस्थाएं कमजोर वर्गों की समस्या की तात्कालिक आवश्यकता को देखते हुए जो कदम उठा सकती हैं वे अनेक हैं।

सादिक अली समिति के अनुसार इन्हें कई भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, कमजोर वर्गों के लाभ की योजनाएं इस प्रकार बनाई जानी चाहिए कि इस वर्ग द्वारा उनका अधिक से अधिक लाभ उठाया जा सके। जो कर्ज एवं सहायताएं दी जाएं उनके नियम एवं प्रक्रिया उदार होनी चाहिए। इन्हें व्यक्ति देख कर नहीं बल्कि कार्य का उद्देश्य देख कर दिया जाना चाहिए। दूसरे, ग्रामीण गृह निर्माण के लिए जो सहायता दी जाए उसे कमजोर वर्ग की सहायता करने के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। इस वर्ग के लोग ऐसी जगह रहते हैं जहां निवास स्थान का अत्यन्त अभाव रहता है। उन्हें रहने की पर्याप्त सुविधा देने के लिए जगह प्रदान की जानी चाहिए। तीसरे, जब अनुदान एवं कर्ज के रूप में शक्तिहीन वर्ग के लोगों को सहायता दी जाए तो यह सहायता उनकी आर्थिक स्थिति को देख कर दी जानी चाहिए अर्थात् जिसकी कम आमदनी है उसे पहले अवसर दिया जाए। चौथे, मुर्गी, मछली और सूअर पालने पर अधिक जोर दिया जाए। साथ ही कला एवं उन व्यापारों के विकास के लिए भी प्रयास किया जाए जिन्हें कि समाज का कमजोर वर्ग अपना सके। पांचवें, इस वर्ग के लोगों को मवेशी, भेड़ और बकरी खरीदने में सहायता दी जानी चाहिए ये सब इन क्योंकि लोगों की आय के स्थायी साधन बन सकते है। छठे, इस वर्ग के लोगों द्वारा संगठित सहकारी समाजों को विकास के लिए अधिक कर्ज एवं सहायता दी जानी चाहिये। इनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की बिक्री से सम्बन्धित लाभ भी मिलना चाहिये। सातवें, जंगलों एवं मजदूर सहकारिताओं को संगठित करने के व्यापक कार्यक्रम अपनाने चाहिए और ठेकेदारों की प्रथा को कम करना चाहिए। आठवें, कृषि के क्षेत्र में इस वर्ग के लोगों को सहकारी समाजों के द्वारा सामान्य सुविधा सेवाएं दी जानी चाहिए। नवें, सहकारी आधार पर कृषि उत्पादन को सुधारने की इकाइयां संगठित होनी चाहिए। दसवें, जिला परिषद को पर्याप्त विशेष धन दिया जावे ताकि वह इस वर्ग के लोगों के कार्यक्रमों में उसे खर्च कर सके। ग्यारहवें, समाज के कमजोर वर्ग के लोगों के लिए कोई अलग समिति न बनाई जाए बल्कि जिला परिषद और पंचायत समिति में प्रशासन और वित्त पर समिति को ही यह कार्य सौंप देना चाहिए। बारहवें, इस वर्ग के लोगों को राज्य सरकार के द्वारा सहकारी समाजों में भागीदार बनने के लिए उधारी ऋण दिए जाने चाहिए। तेरहवें, शिक्षा प्रसार के लिए इस वर्ग के

बच्चों को मुफ्त पुस्तकें और स्लेट दी जाएं। रहने और खाने के प्रबन्ध सहित बोर्डिंग की व्यवस्था की जाए। उच्च कक्षाओं में पढ़ने एवं कालेज होस्टल में रहने के लिए उपयुक्त विद्यार्थियों को वजीफा प्रदान किया जाये। चौदहवें, इस वर्ग के लोगों को भूमि देने के अतिरिक्त बैल खरीदने के लिए, सिंचाई के लिए कुवें बनवाने एवं जमीन को उपजाऊ बनाने के लिए, कर्ज की व्यवस्था की जानी चाहिए। जब तक ये सुविधाएं नहीं दी जायेंगी उस समय तक सौंपी गई भूमि बिना उपयोग किये ही पड़ी रहेगी। पन्द्रहवें, इस वर्ग के लोगों के खेतों को प्रसार अधिकारियों द्वारा प्रदर्शनियों के लिए छांटा जाना चाहिये। सोलहवें, सहकारी समाजों का प्रबन्ध करने के लिये इन लोगों को विशेष प्रशिक्षण की सुविधाएं दी जानी चाहिए। सत्रहवें, कल्याणकारी कार्यों का इस वर्ग के लोगों पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका सामयिक मूल्यांकन किया जाना चाहिए और इस मूल्यांकन के प्रकाश में सभी योजनाओं एवं कार्यक्रमों को बदला जाना चाहिये। अठारहवें, इस वर्ग के लोगों के भाग्य को सुधारने के लिए जिला परिषदों को विशेष उत्तरदायित्व सौंपा जाना चाहिये। उन्नीसवें, जिन कार्यक्रमों में जन सहयोग की जरूरत होती है उनमें कमजोर वर्गों के लोगों को मुक्त कर देना चाहिए। इन सभी प्रयासों के द्वारा एक क्षेत्र के शक्तिहीन वर्ग वाले लोगों को विकास की गति में समाज के अन्य लोगों के साथ तक लाया जा सकेगा।

वित्तीय समस्याएं

[The Financial Problems]

वित्त प्रशासन के लिए जितना आवश्यक एवं महत्वपूर्ण है उसके मार्ग में बाधाएं उत्पन्न करने की दृष्टि से भी यह उतना ही प्रभावशील एवं उल्ले- खनीय है। भारत में शहरी एवं देहाती दोनों ही क्षेत्रों के स्थानीय निकाय वित्त की अपर्याप्तता से प्रभावित हैं। वित्त की अपर्याप्तता स्थानीय निकायों के मार्ग में सामान्यतः अवरोधक बनी रहती है। भारत के संविधान में यह स्पष्ट रूप से उल्लेख नहीं किया गया है कि राज्य सरकार एवं स्थानीय सर- कार के राजस्व क्या होंगे। यही कारण है प्रायः ऐसी शिकायतें सुनने में आती हैं कि राज्य सरकार ने धीरे-धीरे राजस्व के स्थानीय स्रोतों को अपने हाथ में ले लिया। समय-समय पर जो कीमतें बढ़ती रहती हैं, अध्यापकों की वेतन श्रृंखला में वृद्धि होती है कम से कम रोजनदारी वाले नियम को काम में लाया जाता है तो इन स्थानीय निकायों पर वित्तीय बोझ और अधिक बढ़ जाता है। वित्तीय क्षेत्र में उठने वाली समस्याओं एवं प्रश्नों की जांच करने के लिए समय-समय पर विभिन्न राज्यों में वित्तीय जांच समितियां या आयोग गठित किये जाते हैं।

स्थानीय संस्थाओं में वित्तीय साधनों की कमी एक सामान्य विशे- षता रहती है किन्तु इसके अतिरिक्त स्थानीय संस्थाओं के आर्थिक प्रशासन में जो विभिन्न उलझनें उठती हैं वे भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। इन संस्थाओं का बजट किस तरह तैयार होता है व किस तरह से स्वीकार होता है, नये कर किस तरह लगते हैं और पुराने कर किस तरह समाप्त होते हैं, लेखे किस तरह रखे जाते हैं और करों को किस तरह इकट्ठा किया जाता है, आडिट का

रूप क्या है, आदि प्रश्न अत्यन्त महत्व रखते हैं। नगरपालिका स्तर पर बजट कार्यपालिका द्वारा बनाया जाता है और वित्त समिति द्वारा उस पर विचार किया जाता है। परिषद के सामने इस विचार एवं वाद-विवाद के लिये रखा जाये, इससे पूर्व ही इस पर पर्याप्त विचार कर लिया जाता है। बजट को राज्य सरकार द्वारा प्रस्तावित रूप में तैयार किया जाता है। यह आय और व्यय के अनुमान का दिग्दर्शन कराता है। इसके दो भाग होते हैं—प्रथम भाग में बजट की अमूर्त बातें बताई जाती हैं और दूसरे भाग में मुख्य गौण एवं विस्तृत शीर्षकों के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक अनुमान दिये जाते हैं। अलग-अलग राज्यों में बजट निर्माण की अलग-अलग व्यवस्था है। बम्बई में बजट प्रबन्धक या स्थायी समिति के निर्देशन में तैयार किया जाता है और सामान्य बोर्ड द्वारा प्रत्येक वर्ष की पहली मार्च को स्वीकार किया जाता है। पश्चिमी बंगाल मे नगरपालिका परिषद वित्तीय वर्ष समाप्त होने के कम से कम दो माह पूर्व अपने बजट को बनाती है। यदि नगरपालिका क़र्ज़दार है तो किसी उच्च सत्ता की स्वीकृति लेना भी जरूरी रहता है। मद्रास में कार्यपालिका अधिकारी प्रत्यक वर्ष दिसम्बर से पूर्व बजट तैयार करता है और उसे अध्यक्ष को या स्थायी वित्त समिति को प्रस्तुत करता है। मध्य प्रदेश में बजट वित्त समिति द्वारा तैयार किया जाता है और उसे पन्द्रह जनवरी से पूर्व परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है जो कि परिवर्तन सहित या रहित उसे पास करने की शक्ति रखती है।

यदि तथ्य का अध्ययन करें तो हम पाएंगे कि बजट पर राज्य सरकार द्वारा जो नियन्त्रण अपनाया जाता है उसकी मात्रा प्रत्येक राज्य में अलग-अलग होती है। नगरपालिकाओं की वित्तीय व्यवस्था की इस आधार पर पर्याप्त आलोचना की जाती है कि उन्हें उनके बजट एवं व्यय के क्षेत्र में कोई स्वेच्छा या स्वायत्तता प्राप्त नहीं है। इसे परिषद की वित्तीय स्थिति पर एक बहुत बड़ा प्रतिबन्ध माना जाता है। यदि एक निर्वाचित स्थानीय निकाय को जनता की इच्छा के अनुसार बजट बनाने की शक्ति नहीं दी जाय तो इससे प्रजातन्त्रात्मक संस्थाओं का विकास रुक जाएगा। तर्क के लिये कहा जा सकता है कि शिक्षा, मेडीकल राहत और सफाई आदि विषयों में राज्य सरकार की भी पर्याप्त रुचि रहती है; अतः दोनों के बीच नीति सम्बन्धी समन्वय अनिवार्य है। नगरपालिकाओं का वित्तीय प्रशासन उसके वित्त विभाग द्वारा संचालित किया जाता है। केवल कर लगा देने से परिषद की वित्तीय स्थिति नहीं सुधर सकती जब तक कि उन करों को एकत्रित न किया जाए, उचित रूप में लिखे न रखे जाए, संग्रह एव व्यय पर पर्याप्त नियन्त्रण एवं पर्यवेक्षण न रखा जाए और स्टाक के अभिलेख को उचित रूप से न रखा जाए। लेखा कार्यालय के उचित कार्य संचालन के लिये और लेखाओं को रखने के लिये राज्य सरकार द्वारा नगरपालिकाओं के विस्तृत लेखा नियम तैयार किए जाते हैं। इनके अन्तर्गत कर संग्रहकर्त्ता, खजान्ची, लेखापाल आदि के कर्तव्यों एवं परिषद के वित्तीय कार्यों का वर्णन होता है। इसमें यह बताया जाता है कि पत्रिकाएं किस प्रकार रखी जाए, रिक्तस्थानों की पूर्ति किस तरह से की जाए और वरिष्ठ अधिकारियों द्वारा उनको किस तरह जांचा जाए। नगरपालिकाओं के लेखों का सामयिक आडिट किया जाता है। यह

कहा जाता है कि वित्तीय क्षेत्र में आडिट वही कार्य सम्पन्न करता है जो कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने में पुलिस करती है। इसका मुख्य कार्य यह देखना है कि वित्तीय व्यवसाय उचित रूप में संचालित किया जा रहा है तथा जो धन इकट्ठा किया जाना है, क्या वह किया जा रहा है। जब वार्षिक लेखे पूर्ण हो जाते हैं और उन्हें आडिट के लिए तैयार घोषित कर दिया जाता है तो उन्हें स्थानीय कोष लेखों के परीक्षक द्वारा परीक्षित किया जाता है। यह केवल जांच आडिट (Test Audit) होता है। इसमें वर्ष के एक भाग के वित्तीय कार्यों की छानबीन की जाती है। यदि जांच आडिट द्वारा गम्भीर अनियमितताओं एवं गबन के मामलों की शिकायत की जाए तो सरकार द्वारा विशेष आडिट लेखों की आज्ञा दी जा सकती है।

यह कहा जाता है कि बाद में किया जाने वाला आडिट उसी प्रकार से निरर्थक एवं महत्वहीन है जिस तरह से सांप के निकल जाने के बाद उसकी लकीर को पीटते रहना। इसके द्वारा धन का दुरुपयोग किये जाने के मामलों की खोज की जा सकती है किन्तु उनको रोका नहीं जा सकता क्योंकि वे गुजरे समय की बात बन चुकी। इन ऐतराजों को दूर करने के लिये स्थानीय वित्त जांच समिति ने सुझाया कि बड़ी नगरपालिकाओं में एक आन्तरिक आडिट स्टाफ होना चाहिए जो कि प्राप्ति एवं भुगतान की सभी क्रियाओं का प्रारम्भिक आडिट करे। इसके अतिरिक्त छोटी नगरपालिकाओं में जहां पर कि ऐसे आन्तरिक आडिट के लिए पूरा काम नहीं होता; वहाँ जिले की दृष्टि से व्यापक प्रबन्ध किया जाना चाहिये। यद्यपि आन्तरिक आडिट से सम्बन्धित सुझाव उपयोगी प्रतीत होता है किन्तु फिर भी इससे अनेक वित्तीय एवं प्रशासकीय कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती है। नगरपालिका के नियम संग्रह में प्रशासनिक आडिट का प्रावधान रखा गया है और यदि पारषद एवं कार्य-पालिका द्वारा इसका पूरी तरह से अनुगमन किया जाए तो आन्तरिक आडिट के लिये कोई आवश्यकता नहीं रहेगी।

आडिट वित्तीय प्रशासन का अन्तिम चरण माना जाता है और यह वित्तीय अनियमितताओं का उल्लेख करने में ही महत्वपूर्ण कार्य नहीं करता परन्तु पूरी व्यवस्था की कार्य प्रणाली का एक अन्दरुनी चित्र प्रस्तुत करता है। राज्यों की वित्तीय व्यवस्था के असंतोषजनक होने के कई कारण उत्तरदायी हैं। इसका प्रथम कारण दोषपूर्ण बजट है। कभी-कभी बजट को समय पर तैयार नहीं किया जाता और वर्ष के एक भाग में बिना किसी आर्थिक कार्यक्रम के ही प्रशासन को चलाया जाता है। जहां बजट को समय पर तैयार भी कर दिया जाता है वहां वह अनेक दोषों से ग्रसित रहता है; जैसे या तो आय को अधिक आंक लिया जाता है या व्यय को कम आंका जाता है अथवा दोनों ही किये जाते हैं। इसके परिणामस्वरूप राजस्व आशानुकूल इकट्ठा नहीं हो पाता और व्यय आशा से अधिक बढ़ जाता है। ऐसी स्थिति में व्यय को कम करना एक समस्या बन जाती है। यह भी हो सकता है कि बजट में कार्य पर होने वाले खर्च के लिए निश्चित कार्यक्रम न रखा जाए, कार्यों को कभी-कभी बिना विस्तृत अनुमान बनाए शुरू कर दिया जाता है। आवश्यकता के अनुसार समय-समय पर सामान की खरीद करली जाती है और बजट में उनके लिए कोई प्रावधान ही नहीं होता। इसके परिणामस्वरूप हमेशा अति-

रिक्त व्यय होता रहता है। ये सारे दोष बजट के मूल सिद्धान्तों को न समझने अथवा उनकी अवहेलना करने से पैदा होते हैं। इनको चाहने पर दूर किया जा सकता है। एक दूसरा दोष लेखा रखने के नियमों की अवहेलना करने से पैदा होता है। लेखा सम्बन्धी नियमों की प्रायः अवहेलना की जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके संग्रह एवं बकाया को चुकाने में अनेक गबन किये जाते हैं और धोखे दिये जाते हैं। जिन लेखा संबंधी नियमों की प्राय: अवहेलना की जाती है उनमें मुख्य ये हैं—मौलिक प्राप्तियों की वांच्छित प्रतिशत को चेक न करना, मुख्य कार्यपालिका द्वारा खजान्ची की कैश बुक में से पूर्तियों को चेक न करना, संग्रहों को समय पर जमा न करना, सबसे नीचे टेण्डरों को कभी-कभी स्वीकार न करना और सामान्य रूप से स्टोरों को चेक न करना। इस संबंध में एक तीसरा दोष यह है कि जो संग्रह किये जाते हैं उनकी मात्रा सामान्यत: बहुत कम होती है। केवल मद्रास ही ऐसा राज्य है जहां ९७% करों को संग्रहित किया जाता है। दूसरे राज्यों में वह संग्रह ६०% से लेकर ८०% तक होता है।

अधिकांश राज्यों की नगरपालिकाएं वित्तीय संकट के आधीन कार्य करती हैं; ऐसा क्यों होता है इसके लिए मुख्य रूप से तीन कारण बताये जाते हैं। प्रथम यह है कि नगरपालिकाओं के निर्वाचित सदस्य सामान्यत: नये कर लगाने में अनिच्छा दिखाते हैं और स्थित करों का पूरा प्रयोग नहीं करते। यह कहा जाता है कि नगरपालिकाओं की गरीबी के कारण उसके साधनों का दिवाला नहीं निकलता बल्कि वह उसके निर्वाचित सदस्यों की स्थानीय कर लगाने के प्रति अनिच्छा से उत्पन्न होता है। अनेक महत्वपूर्ण सेवाओं जैसे नालियां, प्रकाश आदि पर कोई कर ही नहीं लगाया जाता और इन सेवाओं का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठाया जाता। यदि करों को पूरी तरह से उगाया नहीं जा सकता तो फिर उनको लगा करके नगरपालिका कोष की पवित्रता को कलंकित क्यों किया जाता है। स्थानीय वित्त जांच समिति ने सुझाया था कि जहां स्थानीय निकाय पर्याप्त दर से लगाने में अनिच्छुक रहता है वहां राज्य सरकार को यह अधिकार होना चाहिये कि वह पहले मित्रतापूर्ण परामर्श प्रदान करे और यदि फिर भी स्थानीय निकाय उसे सम्पन्न करने में असफल हो जाए तो राज्य सरकार को अन्तिम हथियार के रूप में यह शक्ति होनी चाहिये कि वह उस कर को स्वयं लगा या इकट्ठा कर सके।[1] मद्रास और उत्तरप्रदेश की सरकारों ने इस प्रकार की शक्तियों को मान लिया है।

नगरपालिकाओं की असन्तोषजनक वित्तीय व्यवस्था का एक दूसरा कारण प्रशासकीय असंगठन (Administrative Disorganization) है। यह कहा जाता है कि करों से प्राप्त राजस्व की मात्रा इस बात पर निर्भर नहीं

---

1. "Where a local body is unwilling to impose a tax at an adequate rate, the State Govt. should have the sight, in the first instance to give friendly advice and if the local body fails to carry it out, the State Govt. should in the last resort, have the power to impose or raise the tax themselves."

—I. F. E. Committee Report, Para 169

करती कि कर किस दर से लगाए जाते हैं वरन् इस बात पर निर्भर करती है कि नगरपालिका के मूल्यांकनकर्त्ता और कर संग्रहकर्त्ता कितने कार्यकुशल हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि अधिकांश नगरपालिकाओं का कर संग्रहकर्त्ता यन्त्र संतोषजनक नहीं है। संग्रहकर्त्ता स्टाफ के ऊपर पर्यवेक्षण नहीं रखा जाता और कार्यपालिका करों को चुकाने के लिए तुरन्त कार्यवाही नहीं करती। इसके परिणामस्वरूप अनेक कर बकाया रह जाते हैं। असल में वित्तीय संगठन के स्थान पर वित्तीय विघटन है। नगरपरिषद द्वारा हर वर्ष लेखों में अनियमितताएं बरती जाती हैं। वित्त के अव्यवस्थित प्रबन्ध के परिणामस्वरूप सार्वजनिक ढंग का अपव्यय होता है और परिषदें उस धन का अच्छी प्रकार उपयोग नहीं कर पाती जिसे कि वे इकट्ठा करती हैं।

वित्तीय प्रशासन के दोष का एक तीसरा कारण यह है कि परिषदों के पास साधनों की कमी रहती है। स्थानीय निकायों को लोक कल्याण के क्षेत्र में जो अधिकार दिए गए हैं उनको निभाने के लिए पर्याप्त वित्तीय स्रोतों का प्रबन्ध नहीं किया गया है। पश्चिमी देशों में भी स्थानीय निकायों की यह शिकायत रहती है कि उनके पास पर्याप्त धन नहीं है। परन्तु उनकी कठिनाई जनता को सुविधाएं देने और आराम प्रदान करने से सम्बन्धित रहती हैं। दूसरी ओर भारतीय परिस्थितियों के सम्बन्ध में वित्तीय स्रोतों की अपर्याप्तता जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं को संकट में डाल देती है, जैसे सड़कें, स्वच्छ पानी का वितरण, सफाई और मेडीकल राहत आदि। भारत में नगरपालिकाओं का वित्त करों से प्राप्त राजस्व, राज्य सरकार के करों में से प्राप्त हिस्से, राज्य सरकार द्वारा दिए गए सहायता अनुदान और नगर परिषद के नियन्त्रण में स्थित गैर कर स्रोतों से प्राप्त राजस्व पर निर्भर करता है। किन्तु जैसा कि कर जांच समिति ने सुझाया था की स्थानीय वित्त एक स्वस्थ व्यवस्था को नियमानुसार स्थानीय करों की स्वस्थ नींव पर निर्भर रहना चाहिए। करों के द्वारा ही मूल राजस्व प्रदान किया जाना चाहिए और अतिरिक्त आय को सहायक समझा जाना चाहिए।

अधिकारी एवं गैर-अधिकारी सदस्यों के बीच सम्बन्धों की समस्या

(The Problem of Relationship between Official and Non-Official Members)

स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचित एवं अनिर्वाचित दोनों ही प्रकार के सदस्य होते हैं। इन सदस्यों को अधिकारी एवं और गैर-अधिकारी सदस्य भी कहा जाता है। गैर-अधिकारी सदस्य निर्वाचित होकर अपने क्षेत्र की जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनकी समस्याओं से संस्था की नीति एवं क्रियान्विति को प्रभावित करते हैं। अनिर्वाचित सदस्यों को सरकार द्वारा नियुक्त किया जाता है अथवा वे राज्य या स्थानीय सेवा के सदस्य होते हैं और इस प्रकार रह कर परिषद को नीतियों को बनाते में परामर्श प्रदान करते हैं तथा उन्हें क्रियान्वित करने में पूरा सहयोग देते हैं। इन दोनों ही प्रकार के सदस्यों में किस प्रकार के सम्बन्ध रहने चाहिए, किसको किसका मातहत अथवा स्वामी होना चाहिए यह एक ऐसी समस्या है जिसका सिद्धान्त रूप में निश्चय करना भी अत्यन्त कठिन है और

यदि ऐसा कर भी दिया जाए तो वह व्यवहार में सार्थक सिद्ध नहीं हो पाता। सदस्यों की इन दोनों ही श्रेणियों के बीच प्राय: अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में झगड़ा और मन-मुटाव बना रहता है। यह शहरी क्षेत्रों की अपेक्षा देहाती क्षेत्र में अधिक रहता है। इसके दो कारण हैं—प्रथम यह कि देहाती क्षेत्रों में शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत नीचा होता है। पचायती राज संस्थाओं के गैर-अधिकारी सदस्य प्राय: अशिक्षित एवं निरक्षर होते हैं। उनमें अपने अधिकारों के प्रति अनावश्यक रूप से झगड़ने की प्रकृति अधिक पाई जाती है। दूसरी ओर नगरपालिकाओं के निर्वाचित सदस्य अपने अधिकारों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक सूचित रहते हैं। वे यदि अधिकारियों से इस आधार पर संघर्ष भी करेंगे तो उसका कारण बुद्धिपूर्ण ही होगा। इसका दूसरा कारण यह है कि गाँवों में पचायती राज संस्थाओं को जो विकास कार्य सौंपे गए हैं उनके परिणामस्वरूप इन संस्थाओं के हाथ में शक्तियाँ और इस प्रकार शक्ति का दुरुपयोग के अवसर अधिक आ गए हैं। यही कारण है कि अधिकारी एवं गैर-अधिकारी सदस्य शक्तियों को व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रयुक्त करने में प्रयत्नशील रहते हैं।

पचायती राज संस्थाएं यह मान कर चलती हैं कि इसमें संस्थाओं के निर्णय लेने के लिए उत्तरदायी निर्वाचित प्रतिनिधि और उन निर्णयों को क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी कार्य करने वाले अधिकारी होते हैं। इन दोनों के बीच घनिष्ट एकरूपता और उचित सम्बन्ध बनाए रखना प्रमुख रूप से महत्वपूर्ण है। इन दोनों के बीच विश्वास, पारस्परिक आदर एवं सहयोग की भावना रहने पर ही अच्छे परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं। ये दोनों ही प्रकार के सदस्य जनकल्याण के सामान्य लक्ष्य के लिए कार्य करते हैं। इनके बीच सामान्यत: हितों का कोई संघर्ष नहीं रहता अर्थात् उनका सम्बन्ध नियुक्तिकर्ता एवं कर्मचारी का सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों ही एक स्वामी के सेवक हैं और इनका स्वामी है सामान्य जनता।

जब निर्वाचित सदस्यों एवं अधिकारी सदस्यों को पंचायती राज की संस्थाओं में एक साथ कार्य करने का अवसर प्रदान किया गया तो वे एक नए परिवेश में आए। राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर नागरिक सेवक पूरी तरह से अलग रह कर कार्य करते हैं। अधिकांश नीतिया मन्त्रियों द्वारा बनादी जाती हैं और इनको क्रियान्वित करने का उत्तरदायित्व नागरिक सेवकों को सौंप दिया जाता है जो कि एक सुव्यवस्थित पदसोपान पूर्ण संगठन में कार्य करते हैं जिसके अनेक स्तर होते हैं। क्रियान्विति की स्थिति में निर्वाचित प्रतिनिधियों का कोई हाथ नहीं रहता। दूसरी ओर कोई यह भी नहीं जान पाता कि मन्त्रियों द्वारा नीति बनाई जा रही थी तो उनको किस प्रकार का परामर्श दिया गया अथवा निर्णय कैसे लिए गए। कभी-कभी जब दोनों के बीच संघर्ष उत्पन्न हो जाता है तो उसे वाद-विवाद द्वारा दूर कर लिया जाता है। [illegible] एवं प्रस्तावों द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में सहायता की जाती है। इस स्तर पर लोक सेवक को यह सन्तोष रहता है कि उसके द्वारा सही परामर्श दिया गया और मन्त्री को यह जानकर प्रसन्नता होती है कि निर्णयों को स्वीकार कर लिया। इस प्रक्रिया में दोनों के मन में पूर्णता के भाव उभरते हैं। राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर की यह वस्तुस्थिति पचायती राज संस्थाओं में

नहीं पाई जाती, वहां बात कुछ और ही है। लोक सेवक जब पंचायत समिति या जिला परिषद में परामर्श देता है तो वह पूरी परिषद के सामने खुल जाता है। निर्वाचित प्रतिनिधि भी जनता की निगाह में खुल जाते हैं। ऐसी स्थिति में छोटी-छोटी भिन्नताएं भी बड़े विरोधों का रूप धारण करके सम्मान के प्रश्न बन जाते हैं। क्रियान्विति के अवसर पर भी निर्वाचित प्रतिनिधि केवल नीति निर्धारित करने वाला नही होता वरन् वह क्रियान्विति की प्रक्रिया में भी भागीदार बनता है।

पंचायती राज संस्थाओं से निर्वाचित प्रतिनिधि एवं लोक सेवक दोनों ही प्रजातन्त्रात्मक सरकार के व्यवहार की परम्पराओं से परिचित नहीं हैं क्योंकि ये संस्थाएं अभी नई हैं। इन सब तत्वों से मिलकर पंचायती राज संस्थाओं का संचालन कठिन बन जाता है। पचायती राज संस्थाओं के निर्वाचित सदस्यों को अनेक व्यक्तियों से सम्बन्ध बनाए रखना पड़ता है। पचायत स्तर पर सरपंच को न केवल पंचायत सचिव से ही वरन् ग्राम सेवक, पटवारी, जंगलात रक्षक, पुलिस के सिपाही, आदि अनेक कार्यकर्ताओं से सम्बन्ध रखना होता है। इसी प्रकार पंचायत समिति स्तर पर प्रधान को भी न केवल विकास अधिकारी से वरन् प्रसार अधिकारियों से भी सम्बन्ध रखना होता है। कार्य के दौरान वह जिला स्तर के अधिकारियों एवं विभागाध्यक्षों के सम्पर्क में भी आता है। यही बात जिला परिषद स्तर पर भी लागू होती है। इस प्रकार की बनावट में लोक सेवकों एवं निर्वाचित प्रतिनिधियों दोनों की स्थिति अत्यन्त कठिन बन जाती है। पंचायती राज में इन दोनों प्रकार के सदस्यों के बीच के सम्बन्ध को एक भिन्न दृष्टिकोण से देखा जाना चाहिए और इसे एक नई विधि से सुलझाया जाना चाहिए। दोनों प्रकार के सदस्यों के बीच सम्बन्ध की समस्या एक प्रसिद्ध समस्या है। पंचायत समितियों में कार्य करने वाले विभिन्न निर्वाचित प्रतिनिधि आपस में अधिक अच्छे सम्बन्ध नहीं रखते। इसी प्रकार विभिन्न अधिकारियों के बीच भी सम्बन्धों से सम्बन्धित कठिनाइयां पाई जाती हैं।

अधिकारी एवं गैर अधिकारी सदस्यों के बीच संघर्ष का कारण—ऐसे अनेक कारण हैं जिनको इन दोनों प्रकार के सदस्यों के बीच मतभेदों को प्रोत्साहित करने वाले तथा सम्बन्धों को कटु बनाने वाले माना जा सकता है। विरोधपूर्ण सम्बन्ध अधिकतर पचायत समितियों के प्रधान एवं विकास अधिकारी के बीच पाए जाते हैं। यह समस्या कुछ पंचायत समितियों में पैदा हुई और इसने आसपास की अन्य पंचायत समितियों को भी प्रभावित किया। इस विरोधपूर्ण सम्बन्ध के परिणामस्वरूप संस्था के कार्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और विकास कार्यक्रमों की प्रगति भी प्रभावित होती है। उच्च स्तर पर अप्रसन्नतापूर्ण सम्बन्ध निम्न स्तर के सम्बन्धों को कटु बना कर सारे वातावरण को कलुषित कर देते हैं। सादिक अली समिति ने अधिकारी एवं गैर-अधिकारी सदस्यों के आपसी सम्बन्धों के बारे में पर्याप्त अध्ययन करने के बाद यह बताया कि ये सम्बन्ध इतने अधिक खराब नहीं हैं, जितना कि इनको कभी-कभी बताया जाता है। दूसरे, सम्बन्धों की इस स्थिति का कारण यह है कि न तो सेवाएं और न ही निर्वाचित प्रतिनिधि स्थानीय सरकार के कार्यों के बारे में कोई अतीत अनुभव रखते हैं। वे स्थानीय

परम्पराओं एवं व्यवहारों से भी परिचित नहीं होते। प्रजातंत्रात्मक प्रक्रियाओं में ज्यों-ज्यों उनका अनुभव बढ़ता जायेगा त्यों-त्यों स्थिति अधिक अच्छी होती चली जायेगी। तीसरे, दोनों प्रकार के सदस्यों के बीच कटु सम्बन्धों का एक कारण यह है कि ये दोनों कार्य करते समय अपनी शक्तियों पर अधिक जोर देते हैं। खराब सम्बन्धों के लिए किसी भी एक पक्ष को दोषी बतलाना गलत होगा इससे दोनों ही पक्षों की ओर से गलतफहमियाँ बढ़ती हैं। अधिकतर मनमुटाव प्रायः गलतफहमियों एवं अज्ञान से पैदा होते हैं न कि जान बूझ करके की जाने वाली गलतियों से। चौथे, जब किसी व्यक्तिगत मामले में प्रशासकीय स्वेच्छा का प्रयोग किया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप प्रधान और विकास अधिकारियों में विरोधपूर्ण सम्बन्ध पैदा हो जाते हैं। कई बार स्टाफ के तबादले एवं नियुक्तियों में भी गलतफहमियां हो जाती हैं। पांचवें, प्रशासकीय नियंत्रण के बारे में जो वर्तमान प्रावधान हैं वे भी गलतफहमी बढ़ाने में मदद करते हैं। कानून के अनुसार प्रधान को स्टाफ पर प्रशासकीय नियंत्रण रखना चाहिए; और इसलिए प्रधान पंचायत समिति के अधिकारियों के साथ प्रत्यक्ष कड़ी रखना चाहता है। इसका विकास अधिकारी द्वारा सामान्यतः विरोध किया जाता है। विकास अधिकारी यह माना करता है कि प्रधान को निम्नतर अधिकारियों पर उसके माध्यम से ही नियंत्रण रखना चाहिए। छठे, विकास अधिकारी को अपने स्टाफ के ऊपर अनुशासनात्मक नियंत्रण रखने की पर्याप्त शक्तियां नहीं होतीं, जिससे कि उसे काम लेना होता है। विकास अधिकारी द्वारा दी गई अनुशासनात्मक आज्ञाओं के विरुद्ध पंचायत समिति की स्थायी समिति को अपील की जा सकती है। इस प्रावधान के द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि पंचायत समिति के कर्मचारी गुटबंदी कर लेते हैं और विकास अधिकारी के आदेशों की परवाह नहीं करते। सातवें, कभी-कभी विकास अधिकारी अपने अधिकारी स्तर के प्रति अधिक सजग हो जाते हैं और प्रधान अपनी राजनैतिक शक्ति एवं सत्ता के प्रति अधिक जागरूक हो जाते हैं। इस प्रवृत्ति से समायोजन की समस्या पैदा बन जाती है। सम्मान और शक्ति की दीवार दोनों ही कार्यकर्त्ताओं के बीच खड़ी हो जाती है। आठवें, जब इनके सम्बन्धों में तथा संस्था के प्रतिदिन के कार्यों में बाहरी हस्तक्षेप किया जाता है तो इनके मतभेद बढ़ते हैं।

सम्बन्ध सुधारने के उपाय—दोनों प्रकार के सदस्यों के बीच अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए कोई स्पष्ट एवं सरल उपाय नहीं बतलाया जा सकता। केवल यह किया जा सकता है कि यथासम्भव झगड़े के कारणों को कम कर दिया जाये और सही वातावरण बनाने की दृष्टि से कुछ प्रयत्न किये जाएं। इस सम्बन्ध में सादिक अली समिति ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम उसने बताया कि दोनों के सम्बन्ध को सुधारने के लिए एक महत्वपूर्ण कदम यह उठाया जा सकता है कि स्थानीय सरकार की प्रकृति एवं इन संस्थाओं के कार्य में स्वस्थ परम्पराओं के विकास से सेवाओं को उन्नत किया जाये। यद्यपि यह एक धीमी प्रक्रिया है किन्तु फिर भी इस प्रकार की सहनता के विकास के लिए कदम उठाये जाने चाहिए। दूसरे, सरकारी सेवकों एवं निर्वाचित प्रतिनिधियों को अपने कार्यों के सम्बन्ध में कुछ इन सिद्धान्तों से परिचित होना चाहिए। ये सिद्धान्त कई हो सकते हैं—

मित हो सकें।[1] आठवें, निर्वाचित प्रतिनिधियों को यह समझ लेना चाहिए कि अधिकारियों को परामर्श देने का अधिकार है और उनसे ऐसा करने की आशा की जाती है। इसके साथ ही अधिकारियों को भी यह मान लेना चाहिए कि निर्वाचित प्रतिनिधियों को उनका दिया हुआ परामर्श अस्वीकृत करने का अधिकार है। नवें, पंचायत समिति और जिला-परिषद् के स्टाफ पर प्रशासकीय नियंत्रण रख कर विकास अधिकारी एवं मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर निश्चित तथा प्रभावशील नियंत्रण रखा जा सकेगा और इस प्रकार अच्छे सम्बन्धों के विकास की प्रक्रिया में सहायता मिलेगी। प्रशासकीय नियंत्रण की शृंखला में एकता रहनी चाहिए अर्थात् प्रधान को विकास अधिकारी पर नियंत्रण रखना चाहिए और विकास अधिकारी को स्टाफ के अन्य कर्मचारियों पर नियंत्रण रखना चाहिए। इसी प्रकार जिला परिषद् स्तर पर प्रमुख को मुख्य कार्यपालिका अधिकारी पर तथा मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को स्टाफ पर नियंत्रण रखना चाहिए। दसवें, विकास अधिकारी को पंचायत समिति में लगाने की नीति निश्चित होनी चाहिए। निश्चित नीति के होने पर गलतफहमियां कम रहने की सम्भावना हो जाती है। इस सम्बन्ध में एक निश्चित नीति होने से समायोजन की प्रक्रिया में सहायता मिलती है।

सादिक अली समिति द्वारा सुझाये गये ये सभी उपाय पंचायती राज संस्थाओं के अधिकारी एवं गैर-अधिकारी सदस्यों के आपसी सम्बन्धों को सुधारने की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं किन्तु इनके प्रभाव के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इन सभी सुझावों की सफलता अवसर और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। वैसे मानवीय सम्बन्धों की समस्याओं को बाहरी प्रयासों एवं यांत्रिक उपायों से नहीं सुलझाया जा सकता। इसके लिए एक मूल सुझाव तो यही है कि लोक सेवक और निर्वाचित सदस्य दोनों ही अपने कार्यों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी रखें। लोक सेवकों में विश्वास रखने के बाद ही निर्वाचित प्रतिनिधि उनसे वांछित सहायता प्राप्त कर सकते हैं। यह समस्या प्रशासन की एक मूलभूत समस्या है। मि० लास्की ने एक बार कहा था कि कार्यकुशल एवं अकार्यकुशल प्रशासन के बीच अंतर केवल इसी आधार पर रहता है कि निर्वाचित व्यक्ति पदाधिकारियों का रचनात्मक प्रयोग किस प्रकार करते हैं।[2] असल में दोनों

---

1. "Officials should bring the experience of training and disciplined service The non-officials should represent and bring that popular urge and enthusiasm which give life to a movement Both have to think and act in a dynamic way and develop intitiative. The official has to develop the qualities of a popular leader the peoples representatives has to develop the discipline and training of official, so that they approximate to each other; and both should be guided by the ideal of disciplined service in a common cause."

—*Jawahar Lal Nehru*

2. "... the whole difference between efficient and in efficient

प्रकार के सदस्यों के अधिकार क्षेत्र को परिभाषित करना बड़ा कठिन है किन्तु फिर भी इस दृष्टि से प्रयास किया जाना भी आवश्यक है।

स्थानीय संस्थाओं की कुछ अन्य समस्याएं
(Some other Problems of Local Institutions)

स्थानीय संस्थाओं की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि इन संस्थाओं में अनेक दोष एवं कमियां वर्तमान हैं और जब तक इनको दूर न किया जाये, उस समय तक कोई उपयोगी कार्य इनके द्वारा नहीं किया जा सकता। ऐसी बहुत कम स्थानीय संस्थाएं हैं जो कि एक प्रजातन्त्रात्मक राजनैतिक संस्था के रूप में लोगों के ध्यान एवं आदर की केन्द्र हों। बहुत कम संस्थाएं ऐसी हैं जो कि कार्य-कुशल और ईमानदार हों और जिनके प्रशासन को उपयुक्त कहा जा सके। वित्तीय स्थिति प्राय: इन सभी की दयनीय रहती है। स्थानीय निकायों के सभापति एवं सदस्य सामान्य रूप से अनुत्तरदायी और अनसमझ होते हैं, इनका प्रशासकीय स्टाफ पूरी तरह से अयोग्य और अनैतिक होता है। इनकी बैठकों में उपस्थित होने वाले सदस्यों का प्रतिशत बहुत कम होता है। ये अधिकतर सरकार द्वारा नियमित एवं लगातार रूप से दिये जाने वाले अनुदानों पर निर्भर रहती हैं। जो सरकारी अनुदान प्राप्त होता है उसे उन कार्यों पर खर्च नहीं किया जाता जिनके लिए वह प्राप्त हुआ है। इन निकायों द्वारा ऊंची-ऊंची दरों वाले टैण्डरों को स्वीकार कर लिया जाता है और नीची दरों वाले टैण्डरों को अस्वीकार कर लिया जाता है। स्टाफ के कर्मचारियों को अनियमित रूप से पदोन्नतियां प्रदान कर दी जाती हैं। स्थानीय निकायों को समय समय पर निरीक्षित करते रहने का जो प्रावधान रखा गया है उसे भी प्राय: पूरा नहीं किया जाता। राज्य सरकार यह चाहती है कि वह स्थानीय निकायों को विकास कार्यों के लिए अधिक से अधिक धन दे किन्तु इस धन का इन निकायों के द्वारा अनुचित लाभ उठाया जाता है। वह अपने लिए निर्धारित करों को उगहाने में उदासीनता दिखलाती है और राज्य सरकार द्वारा प्राप्त सहायता अनुदान से उन कार्यों को सम्पन्न करती है जो कि करों से प्राप्त धन द्वारा किये जाने चाहिए थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय निकाय एक अनुत्तरदायी ढंग से व्यवहार करते हैं। स्वतंत्र भारत में उनके अनुत्तरदायित्व पूर्ण व्यवहार की मात्रा और भी अधिक हो गई है। राज्य सरकार के अधिकारियों द्वारा इनका निरीक्षण करने के बाद जो प्रतिवेदन प्रस्तुत किया जाता है उसकी ओर ये ध्यान ही नहीं देतीं। इन पर नियंत्रण के सामान्य तरीके प्रभावशील बन चुके हैं। स्थानीय सरकार की संस्थाएं इतनी अनुत्तरदायी क्यों बन गई और उन पर रखे जाने वाले नियन्त्रण के सामान्य तरीके सफल क्यों नहीं हो सके, यह एक रुचिकर प्रश्न है।

असल में स्थानीय निकायों को वास्तविक स्वतंत्रता एवं पहल की शक्ति नहीं सौंपी गई उन पर हमेशा अतिशय नियंत्रण रखा गया। उनको कर

administration lies in the creative use of officials by elected persons."

—*H. J. Laski*, A grammar of politics, 1937, Page 424-25

को क्रियान्वित करने में खर्चा अधिक होगा किन्तु फिर भी इसे प्रजातन्त्र के हित में माना जाता है। यदि चुनाव प्रति वर्ष होंगे तो मतदाता सूची बनाने में होने वाला खर्च एवं चिन्ता कम हो जायेगी। तीसरे, भारत के स्थानीय निकायों में जिस समिति व्यवस्था को अपनाया गया है उसे और सशक्त बनाया जाना चाहिए। उनकी नियुक्ति अनिवार्य होनी चाहिए किन्तु अधिनियम में उनके संविधान को प्रस्तावित नहीं करना चाहिए। परिषद् की सभी शक्तियों एवं कार्यों पर सम्बन्धित समिति का पर्याप्त योगदान रहना चाहिए। यद्यपि अन्तिम निर्णय तो परिषद् द्वारा ही लिया जाय किन्तु इससे पूर्व समिति के सुझावों एवं मतों को जान लेना जरूरी होना चाहिए। मूलतः परिषद् को केवल उन सिद्धान्तों पर ही विचार-विमर्श करना चाहिए जिनके द्वारा प्रशासकीय निर्णय प्रसारित किये जायेंगे। चौथे, मुख्य कार्यपालिका अधिकारी को राज्य सरकार की स्वीकृति से परिषद् द्वारा नियुक्त या पदविमुक्त करने की व्यवस्था होनी चाहिए। उसे या तो राज्य लोक सेवा आयोग की सिफारिश पर नियुक्त किया जाय अथवा राज्य सरकार द्वारा स्वीकृत नामों की पैनल में से लिया जाय। अन्य अधिकारियों की नियुक्ति भी इसी आधार पर की जानी चाहिए। इनकी पदोन्नति और दण्ड जैसे विषयों को एक समिति के हाथ में सौंप देना चाहिए जिसमें कि परिषद् और स्टाफ के प्रतिनिधि हों। दूसरे शब्दों में एक सीमित रूप में विप्लववाद को प्रारम्भ कर दिया जाय। पाँचवें, परिषद् पर अन्य मामलों में राज्य सरकार का नियन्त्रण कम कर दिया जाना चाहिए कोई भी नया टैक्स लगाने से पूर्व परिषद् को राज्य सरकार की आज्ञा लेने की आवश्यकता न हो। स्थानीय निकाय यदि राज्य सरकार का कर्जदार है तो भी यह जरूरी न हो कि वह उसके सम्मुख अपना बजट प्रस्तुत करे; किन्तु सरकारी अनुदानों के उपभोग पर पूरा नियन्त्रण रखा जाना चाहिए। गैर-कानूनी रूप से यदि कोई खर्चा किया जाय तो उसे उत्तरदायी सदस्यों से वसूल किया जाना चाहिए। सरकार को अपना नियन्त्रण मुख्यतः आडिट एवं सहायता अनुदान द्वारा रखना चाहिए। जिन कार्यों के लिए अनुदान दिया गया है उनके अतिरिक्त किसी अन्य पर खर्च करने को गैर-कानूनी माना जाना चाहिए और उनसे वसूल किया जाना चाहिए जो कि खर्चे के लिए उत्तरदायी हैं।

भारत में स्थानीय निकायों की वित्तीय समस्याएं मुख्य रूप से दो प्रकार की हैं—प्रथम, वे अपने वर्तमान स्रोतों का पूरा-पूरा लाभ नहीं उठा पाते और दूसरे, यदि वे पूरा पूरा लाभ उठाये तब भी उससे प्राप्त होने वाला राजस्व इतना नहीं होता कि स्थानीय प्रशासन की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। प्रथम समस्या कुछ अधिक गम्भीर एवं सामान्य है। स्थानीय निकायों को उनके वर्तमान राजस्व के स्रोतों का पूरा पूरा लाभ उठाने के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए। एक सामान्य अनुभव के अनुसार मूल्यांकन एवं अनुमान के तरीके संतोषजनक नहीं हैं। करों को संग्रहित करने का कार्य कार्यपालिका अधिकारी को सौंपा जाय और उसे कुछ स्वतंत्र शक्तियां भी दी जायं। जो लोग कर नहीं देते वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं। प्रथम वे जिनका कि अधिक मूल्यांकन कर लिया जाता है और इस प्रकार वे कर को नियमित रूप से अदा करने में कठिनाई अनुभव करते हैं और दूसरे ऐसे धनवान लोग होते हैं जो कि

अपने प्रभाव द्वारा करों की अदायगी से बच जाते हैं। जहां तक प्रथम प्रकार के लोगों का सम्बन्ध है उनसे कर वसूल करने के लिए एक योग्य मूल्यांकन-कर्त्ता को नियुक्त किया जा सकता है किन्तु धनवान व प्रभावशाली व्यक्तियों से कर लेना एक मुश्किल समस्या है, यहां तक कि मुख्य कार्यपालिका अधिकारी भी ऐसे लोगों से कर लेने में कठिनाई का अनुभव करेगा। वह दण्ड देने के तरीकों का प्रयोग नहीं करना चाहेगा। ऐसे लोगों से निपटने का एक प्रभावशाली साधन यह है कि जनता के सामने इनका नाम खोल दिया जाय तथा ऐसे लोगों को स्थानीय चुनावों में मत देने के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिया जाय। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए जिससे लोग समझ सकें कि उनके द्वारा जो धन दिया जा रहा है उसका सदुपयोग किया जायगा, इससे उनमें कर देने की प्रवृत्ति बढ़ेगी। असल में इस समस्या का सम्बन्ध लोगों में स्थानीय प्रशासन की कार्यकुशलता एवं ईमानदारी के प्रति विश्वास पैदा करना है। जनता एवं परिषद् के सदस्यों को यह बता दिया जाना चाहिए कि जब तक कोई कर वसूल नहीं करेंगे तब तक उन्हें सरकारी अनुदान नहीं दिया जायेगा।

SELECT READINGS

1. Report of the U. P. Municipal Taxation Committee 1908.
2. Report of the Bombay Municipal Finance Committee 1938.
3. Report of the Local Finance Enquiry Committee 1951.
4. Report of the L. S. G. Committee, Madras 1882.
5. Report of the L. S. G. Committee, C. P. 1935.
6. Report of the Local Self-Government Committee Bombay 1939.
7. Report of the Local Self-Gavernment Committee, U. P. 1939.
8. Administrative Enquiry Committee Report 1948 (Bombay).
9. Report of the Greater Poona Municipal Constitution Committee Bombay 1948.
10. Bombay General Administration Reports
11. Journal of Local Self-Government Institute, Bombay.
12. Local Self-Government Review, Delhi
13. Aiyangar, P. D., The Law of the Municipal Corporation (1917) second edition 1922
14. Amarnath, The Development of Local Self-Government in the Punjab 1849—1900—Punjab Government Publication.
15. Basu, B D., India under the British Crown, Calcutta 1933
16. Beveridge, Henry, A Comprehensive History of India Vol. III, London 1871.
17. Boman Bahram, The Rise of Municipal Government in the City of Ahmedabad. Bombay, 1942
18. Bisheshwar Prasad, Origin of Provincial Autonomy (Kitabistan, Allahabad 1941).
19. Blunt, Edward, Social Service in India, London, 1938.
20. Buck, A. E, Municipal Finance, New York, 1926.
21. Cambridge History of India, Vol VI.
22. Carstairs, Robert, A Plea for better Local Government in Bengal London 1904
23. Cole, G. D. H., Local and Regional Government, Cassel and Co. Ltd. London 1947.
24. Directory of Local Self-Government in India published by L. S. G. Institute, Bombay, 1941.
25. Finer, Herman, The English Local Government, Metheun, London 1933.
26. Finer, Herman, Municipal Trading, a study in Public Administration, George Allen and Unwin Ltd., London 1941.

27. Forrest, The Indian Municipality and Some Practical Hints on its Every Day Work, Calcutta 1909 and 1925.
28. Gyan Chand, Local Finance in India, Kitabistan, Allahabad 1947.
29. Groves, H. M., Financing Government. New York.
30. Harris, G. M., Local Government in Many Lands, P. S. King and Sons Ltd., London 1933.
31. Halsburry, Laws of England, Vols. 1 to 31, London, 1907.
32 Hunter, William Wilson, Life of Lord Mayo, London 1876.
33. Hunter, W. W., Mayo (Earl of) Oxford 1891.
34. Hunter, W. W., The Indian Empire Its History, People and Products London 1893
35. Laski and Others, A Century of Municipal Progress, George Allen and Unwin Ltd., London 1936.
36. Masani, R. P., Evolution of Local Self-Government in Bombay. Oxford 1929.
37. Masterman, C. F. G., How England is Governed, London 1927.
38. Munro, W. B., Principles and Methods of Municipal Administration, Macmillan, New York 1935.
39. Mill, J. S, Representative Government (World Classics).
40. Pfiffner, John M., Public Administration, The Ronald Press Company, New York 1946.
41. Robson, The Development of Local Government, George Allen and Unwin 1931.
42. Sharma, M. P., Local Government and Finance in U. P. Kitab Mahal Allahabad 1946
43. Local Self-Government in India Hind Kitabs Ltd., Bombay 1951.
44. Shah, K. T. and Bahadurji, Constitution, Functions and Finance of Indian Municipalities, Bombay 1925.
45. Shourie, H. D., A plan of Municipal Reform in India 'Indian Book Co. Ltd., Church Road, Kashmere Gate, Delhi'
46. Shelley, A. N. C., The Councillor, Nelson, London 1939.
47. Sterndale, R. C. Municipal Work in India, Calcutta 1881.
48. Venkatarangaiya, M, The Development of Local Boards in Madras Presidency, Bombay 1938.
Beginning of Local Taxation in the Madras Presidency, Bombay 1928.
49. Wacha, The Rise and Growth of Bombay Municipal Government, Madras 1913.
50. Webb, S. Grants-in-aid, a Criticism and a proposal, London 1920.

51. Willoughby, Principles of Public Administration (Central Book Depot, Allahabad).
52. Zink, M., Government of Cities in the United States, Macmillan New York 1950.
53. Study Group of the Institute of Public Administration. The Elements of Local Government Establishment Work, George Allen and Unwin Ltd., London 1951.
54. Report of the Committee on the Training of Civil Servants Cmd. 6525, 1944 H. M. S. O.
55. Baden-Powell, B. H., The Indian Village Community, London 1896.
56. Banerjea, Sir S. N., A Nation in Making. London, 1925.
57. Barfivala, C. D., The Village Panchayat Manual; an *Analytical Study of the Bombay Village* Panchayats Act. Bombay. 1945.
58. Bhargava, M. B. L., Local Self-Government in India. Lucknow, 1936.
59. Chailley, J., Administrative Problems of British India. *London, 1910.*
60 Cross, C M. P., The Development of Self-Government in India, 1858—1914. Chicago, 1922.
61. *Drummond, J. G. Panchayats in India Bombay, 1937.*
62. Garbett, Sir C. Friend of Friend. Bombay, 1943.
63. Goode, W. S., Municipal Calcutta. Edinburgh, 1916.
64. Hart, S. G., Introduction to Self-Government in Rural Bengal. Calcutta, 1920.
65. Huque, Sir M. A., 'Rural Self-Governing Bodies in India,' Journal of the Royal Society of Arts, 22 June 1943.
66. Ilbert, Sir C., The Government of India. 3rd edn., London, 1915.
67. Katju, Dr. K.N., 'A Scheme for Local Self-Government in Rural Areas', Indian Journal of Economics, xx (1939).
68. Local Self-Government Institute, Bombay. Local Self-Government Year Book, 1928. Poona, 1927.
69. Malabari, P. B. M., Bombay in Making, 1661—1726. London, 1910.
70. Masani, R. P., Evolution of Local Self-Government in Bombay Bombay, 1929.
71. Matthai, J., Village Government in British India. London, 1915.
72. Russell, T. B., The Principles of Local Government in England and their Application in India. Madras, n.d.
73. Venkatarangaya, M., Local Boards in Madras. Madras, 1934.